जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—१

[परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमल जी महाराज की पुण्य स्मृति में आयोजित]

पंचम गणधर भगवत् सुधर्मास्वामि-प्रणीत : प्रथम अंग

आचारांग सूत्र

(प्रथम श्रुतस्कंध)

[मूल पाठ, हिन्दी अनुवाद-विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट युक्त]

सन्निधि ☐

उप प्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री बृजलाल जी महाराज

संयोजक तथा प्रधान सम्पादक ☐

युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर'

सम्पादक-विवेचक ☐

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक ☐

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक १

☐ सम्पादक मण्डल
अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्री रतन मुनि
पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल

☐ प्रबन्ध-सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ संप्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

☐ अर्थसौजन्य
श्रीमान सायरमल जी चोरड़िया एवं श्री जेठमल जी चोरड़िया

☐ प्रकाशन तिथि
वीर निर्वाण संवत् २५०७/वि० स० २०३७। ई० सन् १९८०

☐ प्रकाशक
श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन ३०५९०१

☐ मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
स्वस्तिक आर्ट प्रिंटर्स, सेठगली आगरा-२

☐ मूल्य :
पच्चीस रुपया मात्र (लागत मात्र)

Published at the Holy Remembrance occasion

of

Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

FIFTH GANADHARA SUDHARMA SWAMI COMPILED :
FIRST ANGA

ĀCĀRĀṄGA SŪTRA

[PART I]

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity

Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor

Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor & Annotator

Srichand Surana 'Saras'

Publishers

Sri Agama Prakashan Samiti

Beawar (Raj.)

☐ Jinagam Granthmala : Publication No. 1

☐ Board of Editors
Anuyoga Pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandraji Bharilla

☐ Managing Editor
Srichand Surana 'Saras'

☐ Promoter
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ Financial Assistance
Sri Sayarmalji Chauradiya & Sri Jethamalji Chauradiya

☐ Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipalia Bazar, Beawar (Raj.) [India]
Pin. 305901

☐ Printers
Swastik Art Printers, Seth Gali, Agra-3
under the supervision of Srichand Surana 'Saras'

☐ Price
Rs. Tewentyfive 25/- (Cost-price) only.

समर्पण

जिनवाणी के परम उपासक, वहुभाषाविज्ञ

वयःस्थविर, पर्यायस्थविर, श्रुतस्थविर

श्री वर्धमान जैन श्वेताम्वर स्थानकवासी

श्रमणसंघ के द्वितीय आचार्य

परम आदरणीय श्रद्धास्पद राष्ट्रसंत

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज

को

सादर-सविनय-सभक्ति

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

भगवान श्रीमहावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसंग पर साहित्य प्रकाशन की एक नयी उत्साहपूर्ण लहर उठी थी। उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन और भगवान महावीर के लोकोत्तर जीवन एवं उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ। मुनि श्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर की ओर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इसी प्रसंग पर विद्वद्रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु उनकी मूल एवं पवित्र वाणी जिन आगमों में सुरक्षित है, उन आगमों को सर्व साधारण को क्यों न सुलभ कराया जाय? जो सम्पूर्ण बत्तीसी के रूप में आज कहीं उपलब्ध नहीं है? भगवान महावीर की असली महिमा तो उस परम पावन, सुधामयी वाणी में ही निहित है। मुनिश्री की यह भावना वैसे तो चिरसंचित थी, परन्तु उस वातावरण ने उसे अधिक प्रबल बना दिया।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावकों तथा विद्वानों के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे आगम बत्तीसी के सम्पादन-प्रकाशन की चर्चा बल पकड़ती गई। भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा, जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना न करता? श्रमण भगवान महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है। भगवान की देशना के सम्बन्ध में कहा गया है—'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के लिए ही भगवान की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी। अतएव भगवत्-वाणी का प्रचार और प्रसार करना प्राणीमात्र की रक्षा एवं दया का ही कार्य है। इससे अधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार आगम प्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला। तब मुनिश्री के वि० सं० २०३५ के ब्यावर चातुर्मास में समाज के अग्रगण्य श्रावकों की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया। सुदीर्घ चिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को, जो भगवान महावीर के केवल ज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, आगम बत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा करदी गई और शीघ्र ही कार्य आरम्भ कर दिया गया।

हमें प्रसन्नता है कि श्रद्धेय मुनिश्री की भावना और आगम प्रकाशन समिति के निश्चयानुसार हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने प्रबन्ध सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया और आचारांग के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न आगमों के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया है और कार्य चालू है।

तब तक प्रसिद्ध विद्वान एवं आगमों के गंभीर अध्येता पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी बम्बई से ब्यावर आ गये और उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग भी हमें प्राप्त हो गया। आपके बहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य अति सुगम हो गया और भार हल्का हो गया।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता और सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है कि एक ही वर्ष के अल्प समय में हम अपनी इस ऐतिहासिक अष्टवर्षीय योजना को मूर्त रूप देने में सफल हो सके।

कुछ सज्जनों का सुझाव था कि सर्वप्रथम दशवैकालिक, नन्दीसूत्र आदि का प्रकाशन किया जाय

किन्तु श्रद्धेय मुनि श्री मधुकरजी महाराज का विचार प्रथम अंग आचारांग से ही प्रारम्भ करने का था। क्योंकि आचारांग समस्त अंगों का सार है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में आचारांग आदि क्रम से ही आगमों को प्रकाशित करने का विचार किया गया था, किन्तु अनुभव से इसमें एक बड़ी अड़चन जान पड़ी। वह यह कि भगवती जैसे विशाल आगमों के सम्पादन-प्रकाशन में बहुत समय लगेगा और तब तक अन्य आगमों के प्रकाशन को रोक रखने से सब आगमों के प्रकाशन में अत्यधिक समय लग जाएगा। हम चाहते हैं कि यथासंभव शीघ्र यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जाए तो अच्छा। अतः अब यही निर्णय रहा है कि आचारांग के पश्चात् जो-जो आगम तैयार होते जाएँ उन्हें ही प्रकाशित कर दिया जाए।

नवम्बर १९७९ में महामन्दिर (जोधपुर) में आगम समिति का तथा विद्वानों का सम्मिलित अधिवेशन हुआ था। उसमें सभी सदस्यों ने यह भावना व्यक्त की कि श्रद्धेय मुनि श्री मधुकरजी महाराज के युवाचार्यपद—चादर प्रदान समारोह के शुभ अवसर पर आचारांगसूत्र का विमोचन भी हो सके तो अधिक उत्तम हो। यद्यपि समय कम था और आचारांगसूत्र का सम्पादन भी अन्य आगमों की अपेक्षा कठिन और जटिल था, फिर भी समिति के सदस्यों की भावना का आदर कर श्रीचन्दजी सुराणा ने कठिन परिश्रम करके आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध का कार्य समय पर पूर्ण कर दिया। यदि विद्युत सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित न होती तो सम्पूर्ण आचारांग ही नहीं, वरन् उपासकदशांग सूत्र भी इस प्रसंग पर प्रस्तुत किया जा सकता था। उपासकदशांग सूत्र के मुद्रण का कार्य चालू है। फिर भी आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के रूप में जिनागम ग्रंथमाला का यह प्रथम पुष्प सुज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम हम श्रमणसंघ के युवाचार्य, सर्वतोभद्र, श्री मधुकर मुनिजी महाराज के प्रति अतीव आभारी हैं, जिनकी शासन प्रभावना की उत्कट भावना, आगमों के प्रति उद्दाम भक्ति धर्मज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र उत्कंठा और साहित्य के प्रति अप्रतिम अनुराग की बदौलत हमें भी वीतरागवाणी की किंचित् सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

सेवा के इस सात्त्विक अनुष्ठान में अपने सहयोगियों के भी हम कृतज्ञ हैं। सागरवर-गंभीर श्रावक वर्य पद्मश्री सेठ मोहनमलजी सा. चोरड़िया ने समिति की अध्यक्षता स्वीकार कर और एक बड़ी धनराशि प्रदान कर हमें उत्साहित किया। अर्थ-संग्रह में हमारे साथ श्री कंवरलाल जी बेताला, श्री मूलचन्द्रजी सुराणा, ने परिभ्रमण किया। जोधपुर श्रीसंघ ने अर्थसंग्रह में पूरा योगदान दिया। इन सब उत्साही सहयोगियों के प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। श्रीरतनचन्द्रजी मोदी, कोषाध्यक्ष समिति तथा स्थानीय मंत्री श्री चांदमलजी विनायकिया से समिति के कार्यों में सदा सहयोग प्राप्त होता रहता है।

इस आगम का सम्पूर्ण प्रकाशन व्यय श्रीमान सायरमल जी चोरड़िया एवं श्रीमान जेठमल जी चोरड़िया ने उदारता पूर्वक प्रदान किया है, जो उनकी जिनवाणी एवं श्रद्धेय युवाचार्य श्री के प्रति प्रगाढ-श्रद्धा का परिचायक है। समिति उनके सहयोग की सदा कृतज्ञ रहेगी। समिति कार्यालय की व्यवस्था श्री सुजानमल जी सेठिया आत्मीयता की भावना से कर रहे हैं। इन तथा अन्य सहयोगियों का भी हार्दिक आभार मानना हमारा कर्त्तव्य है।

पुखराज शीशोदिया
कार्यवाहक अध्यक्ष

जतनराज मेहता
महामंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आमुख

जैन धर्म, दर्शन, व संस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ अर्थात् आत्म-द्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं, वे ही तत्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं। परमहितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं।

सर्वज्ञों द्वारा कथित तत्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिवोध-'आगम' शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरों की वाणी मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है, महान प्रज्ञावान गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप देते हैं।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय में वे 'गणिपिटक' कहलाते थे— 'गणिपिटक' में समग्र द्वादशांगी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल में इसके अंग, उपांग, मूल, छेद आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, तब आगमों को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृति-दुर्बलता, गुरु-परम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र ही रह गया। तब देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण ने श्रमणों का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र-उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया और जिनवाणी को पुस्तकारूढ़ करके आने वाली पीढ़ी पर अवर्णनीय उपकार किया, यह जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अदभुत उपक्रम था। आगमों का यह प्रथम सम्पादन वीर-निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ़ होने के बाद जैन आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एवं प्रमाद आदि कारणों से आगम-ज्ञान की शुद्धधारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा, धीरे-धीरे क्षीण होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्व-पूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ़ अर्थ छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणों से आगम-ज्ञान की धारा संकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल

---

[1] 'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणा।

वाद पुनः उसमें भी व्यवधान आ गए। साम्प्रदायिक द्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों का अज्ञान-आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थवोध में वहुत वड़ा विघ्न वन गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठकों को कुछ सुविधा हुई। आगमों की प्राचीन टीकाएँ, चूर्णि व निर्युक्ति जब प्रकाशित हुई तथा उनके आधार पर आगमों का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठकों को सुलभ हुआ तो आगम-ज्ञान का पठन-पाठन स्वभावतः वढ़ा, सैकड़ों जिज्ञासुओं में आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी 'विद्वान भी आगमों का अनुशीलन करने लगे।

आगमों के प्रकाशन-सम्पादन-मुद्रण के कार्य में जिन विद्वानों तथा मनीषी श्रमणों ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव में आज उन सवका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के कुछ महान मुनियों का नाम-ग्रहण अवश्य ही करूंगा।

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ़ संकल्पवली मुनि थे, जिन्होंने अल्प साधनों के वल पर भी पूरे वत्तीस सूत्रों को हिन्दी में अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी वत्तीसी का सम्पादन-प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानकवासी-तेरापंथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामी जी श्री जोरावरमल जी महाराज का एक संकल्प—मैं जव गुरुदेव स्व० स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज के तत्वावधान में आगमों का अध्ययन कर रहा था तव आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह संस्करण यद्यपि काफी श्रमसाध्य है, एवं अव तक के उपलब्ध संस्करणों में काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूल पाठ में व उसकी वृत्ति में कहीं-कहीं अन्तर भी है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज स्वयं जैनसूत्रों के प्रकांड पण्डित थे। उनकी मेधा वड़ी व्युत्पन्न व तर्कणाप्रधान थी। आगम साहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हें बहुत पीड़ा होती और कई वार उन्होंने व्यक्त भी किया कि आगमों का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो वहुत लोगों का भला होगा। कुछ परिस्थितियों के कारण उनका संकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इसी वीच आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज आदि विद्वान् मुनियों ने आगमों की सुन्दर व्याख्याएँ व टीकाएँ लिखकर अथवा अपने तत्वावधान में लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करने का मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान श्रमण स्व० मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत ही व्यवस्थित व उत्तम कोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात मुनि जम्बूविजय जी के तत्वावधान में यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों पर विहंगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज कहीं तो आगमों का मूल मात्र प्रकाशित होरहा है और कहीं आगमों की विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक, पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगम वाणी का भावोद्घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, संक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो। गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। उसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय

में चिन्तन प्रारम्भ किया था। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात गतवर्ष दृढ़ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठकों के हाथों में आगम ग्रन्थ, क्रमशः पहुँच रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्य स्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्य स्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज की प्रेरणाएँ, उनकी आगम-भक्ति तथा आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान मेरा सम्बल बना है। अतः मैं उन दोनों स्वर्गीय आत्माओं की पुण्य स्मृति में विभोर हूँ।

शासनसेवी स्वामी जी श्री वृजलाल जी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-संवर्द्धन, सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्र मुनि का साहचर्य बल, सेवा-सहयोग तथा महासती श्री कानकुँवर जी, महासती श्री झणकारकुँवर जी, परम विदुषी साध्वी श्री उमराव कुँवर जी 'अर्चना' की विनम्र प्रेरणाएँ मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाए रखने में सहायक रही है।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्नसाध्य कार्य सम्पन्न करने में मुझे सभी सहयोगियों, श्रावकों; व विद्वानों का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने में गतिशील बना रहूँगा।

इसी आशा के साथ····

—मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

सम्पादकीय

"आचारांग' सूत्र का अध्ययन, अनुशीलन व अनुचिन्तन—मेरा प्रिय विषय रहा है। इसके अर्थ-गम्भीर सूक्तों पर जब-जब भी चिन्तन करता हूँ तो विचार-चेतना में नयी स्फुरणा होती है, आध्यात्मिक प्रकाश की एक नयी किरण चमकती-सी लगती है।

श्रद्धेय श्री मधुकर मुनि जी ने आगम-सम्पादन का दायित्व जब विभिन्न विद्वानों को सौंपना चाहा तो सहज रूप में ही मुझे आचारांग का सम्पादन-विवेचन कार्य मिला। इस गुरु-गम्भीर दायित्व को स्वीकारने में जहाँ मुझे कुछ संकोच था, वहाँ आचारांग के साथ अनुबंधित होने के कारण प्रसन्नता भी हुयी। और मैंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का नियोजन इस पुण्य कार्य में करने का संकल्प स्वीकार कर लिया।

आचारांग सूत्र का महत्व, विषय-वस्तु तथा रचयिता आदि के सम्बन्ध में श्रद्धेय श्री देवेन्द्र मुनिजी ने प्रस्तावना में विशद प्रकाश डाला है। अतः पुनरुक्ति से वचने के लिए पाठकों को उसी पर मनन करने का अनुरोध करता हूँ। यहाँ मैं आचारांग के विषय में अपना अनुभव तथा प्रस्तुत सम्पादन के सम्बन्ध में ही कुछ लिखना चाहता हूँ।

दर्शन, अध्यात्म व आचार की त्रिपुटीः आचारांग

जिनवाणी के जिज्ञासुओं में आचारांग सूत्र का सबसे अधिक महत्व है। यह गणिपिटक का सबसे पहला अंग आगम है। चाहे रचना की दृष्टि से हो, या स्थापना की दृष्टि से, पर यह निर्विवाद है कि उपलब्ध आगमों में आचारांग सूत्र रचना-शैली, भाषा-शैली तथा विषय वस्तु की दृष्टि से अद्भुत व विलक्षण है। आचार की दृष्टि से तो उसका महत्व है ही किन्तु दर्शन की दृष्टि से भी वह गम्भीर है।

आगमों के विद्वान सूत्रकृतांग को दर्शन-प्रधान व आचारांग को आचार-प्रधान बताते हैं, किन्तु मेरा अनुशीलन कहता है—आचारांग भी गूढ़ दर्शन व अध्यात्म प्रधान आगम है।

सूत्रकृत की दार्शनिकता तर्क-प्रधान है, बौद्धिक है, जबकि आचारांग की दार्शनिकता अध्यात्म-प्रधान है। यह दार्शनिकता औपनिषदिक शैली में गुम्फित है। अतः इसका सम्बन्ध प्रज्ञा की अपेक्षा श्रद्धा से अधिक है। आचारांग का पहला सूत्र दर्शनशास्त्र का मूल बीज है—आत्म-जिज्ञासा[1] और इसके प्रथम श्रुतस्कंध का अन्तिम सूत्र है—भगवान महावीर का आत्म-शुद्धि मूलक पवित्र चरित्र[2] और उसका आदर्श।

आत्म-दृष्टि, अहिंसा, समता, वैराग्य, अप्रमाद, निस्पृहता, निःसंगता, सहिष्णुता—आचारांग के प्रत्येक अध्ययन में इनका स्वर मुखरित है। समता, निःसंगता के स्वर तो बार-बार ध्वनित होते से लगते हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध (आचारचूला) भी श्रमण के आचार का प्रतिपादक मात्र नहीं है, किन्तु उसका भी मुख्य स्वर समत्व, अचेलत्व, ध्यान-सिद्धि व मानसिक पवित्रता से ओत-प्रोत है। इस प्रकार आचारांग का

---

१ के अहं आसी के वा इओ चुते पेच्चा भविस्सामि—सूत्र १

२ एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता……सूत्र ३२३

सम्पूर्ण आन्तर-अनुशीलन करने के वाद मेरी यह धारणा वनी है कि दर्शन-अध्यात्म व आचार-धर्म की त्रिपुटी है—आचारांग सूत्र !

मधुर व गेय पद-योजना

आचारांग (प्रथम) आज गद्य-बहुल माना जाता है, पद्य भाग इसमें वहुत अल्प हैं। डा० शुब्रिंग के मतानुसार आचारांग भी पहले पद्य-बहुल रहा होगा, किन्तु अव अनेक पद्यांश खण्ड रूप में ही मिलते हैं। दशवैकालिक निर्युक्ति के अनुसार आचारांग गद्यशैली का नहीं, किन्तु **चौर्णशैली** का आगम है। चौर्ण शैली का मतलव है—जो अर्थ वहुल, महार्थ, हेतु-निपात उपसर्ग से गम्भीर, वहुपाद, विरामरहित आदि लक्षणों से युक्त हो।[1] वहुपाद का अर्थ है जिसमें वहुत से 'पद' (पद्य) हों। समवायांग तथा नन्दी सूत्र में भी आचारांग के **संखेज्जा सिलोगा** का उल्लेख है।[2]

आचारांग के सैंकड़ों पद, जो भले ही पूर्ण श्लोक न हों, किन्तु उनके उच्चारण में एकलय-वद्धता सी लगती है, छन्द का सा उच्चारण ध्वनित होता है, जो वेद व उपनिषद के सूक्तों की तरह गेयता युक्त है। उदाहरण स्वरूप कुछ सूत्रों का उच्चारण करके पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं।[3]

इस प्रकार की उद्‌भुत छन्द-लय-वद्धता जो मन्त्रोच्चारण-सी प्रतीत होती है, सूत्रोच्चारण में विशेष आनन्द की सृष्टि करती है।

भाषा शैली की विलक्षणता

विषय-वस्तु तथा रचनाशैली की तरह आचारांगसूत्र (प्रथम) के भाषा प्रयोग भी वड़े लाक्षणिक और अद्‌भुत हैं। जैसे—**आमगंधं**—(सदोष व अशुद्ध वस्तु)

अहोविहार—(संयम)

ध्रुववर्ण—(मोक्षस्थान)

विस्रोतसिका—(संशयशीलता)

वसुमान—(चारित्र-निधि सम्पन्न)

महासड्ढी—(महान अभिलाषी)

आचारांग के समान लाक्षणिक शब्द-प्रयोग अन्य आगमों में कम मिलते हैं। छोटे-छोटे सुगठित सूक्त उच्चारण में सहज व मधुर हैं।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से आचारांग सूत्र (प्रथम) अन्य आगमों से विशिष्ट तथा विलक्षण है इस कारण इसके सम्पादन-विवेचन में भी अत्यधिक जागरूकता, सहायक सामग्री का पुनः पुनः अनुशीलन तथा शब्दों का उपयुक्त अर्थ बोध देने में विभिन्न ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है।

---

१ देखें दशवै० निर्युक्ति १७० तथा १७४।

२ समवाय ८६। नन्दी सूत्र ८०।

३

आतंकदंसी अहियं ति णच्चा—सूत्र	५६	अदिस्समाणे कय-विक्कएसु	८८
आरम्भ सत्ता पकरेंति संगं—	६२	सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधे परिव्वए	८८
खणं जाणाहि पंडिते	६८	संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं	९१
भूतेहिं जाण पडिलेह सातं	७६	आरम्भजं दुक्खमिणं ति णच्चा	१०८
सव्वेसिं जीवितं पियं	७८	मायी पमायी पुणरेति गब्भं	१०८
णत्थि कालस्स णागमो	७८	अप्पमत्तो परिव्वए	१०८
आसं च छंदं च विगिंच धीरे	८३	कम्ममूलं च जं छणं	११०
		अप्पाणं विप्पसादए	१२५

प्रस्तुत सम्पादन-विवेचन

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का वर्तमान रूप परिपूर्ण है या खण्डित है—इस विषय में भी मतभेद है। डा० जैकोबी आदि अनुसंधाताओं का मत है कि आचारांग सूत्र का वर्तमान रूप अपरिपूर्ण है, खण्डित है। इसके वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। क्रियापद आदि भी अपूर्ण हैं। इसलिए इसका अर्थ-बोध व व्याख्या अन्य आगमों से कठिन व दुरूह है।

प्राचीन साहित्य में आगम व्याख्या की दो पद्धतियां वर्णित है—

१. छिन्न-छेद-नयिक

२. अच्छिन्न-छेद-नयिक

जो वाक्य, पद या श्लोक (गाथाएं) अपने आप में परिपूर्ण होते हैं, पूर्वापर अर्थ की योजना करने की जरूरत नहीं रहती, उनकी व्याख्या प्रथम पद्धति से की जाती है। जैसे दशवैकालिका, उत्तराध्ययन आदि।

दूसरी पद्धति के अनुसार वाक्य, पद या गाथाओं की पूर्व या अग्रिम विषय संगति, सम्बन्ध, सन्दर्भ आदि का विचार करके उसकी व्याख्या की जाती है।

आचारांग सूत्र की व्याख्या में द्वितीय पद्धति (अच्छिन्न-छेद-नयिक) का उपयोग किया जाता है। तभी इसमें एकरूपता, परिपूर्णता तथा अविसंवादिता का दर्शन हो सकता है। वर्तमान में उपलब्ध आचारांग (प्रथम श्रुतस्कंध) की सभी व्याख्याएं—निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, दीपिका व अवचूरि तथा हिन्दी विवेचन द्वितीय पद्धति का अनुसरण करती है।

वर्तमान में आचारांग सूत्र पर जो व्याख्याएं उपलब्ध हैं, उनमें कुछ प्रमुख ये हैं—

निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु : समय-वि० ५-६ वीं शती)

चूर्णि (जिनदासगणी महत्तर : समय-६-७ वीं शती)

टीका (आचार्य शीलांक : समय-८ वीं शती)

इस पर दो दीपिकाएं, अवचूरि व बालावबोध भी लिखा गया है, लेकिन हमने उसका उपयोग नहीं किया है।

प्रमुख हिन्दी व्याख्याएँ—आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज।
मुनि श्री सौभाग्यमलजी महाराज।
मुनि श्री नथमलजी महाराज।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचारांग के गूढ़ार्थ तथा महार्थ पदों का भाव समझने के लिए निर्युक्ति आदि व्याख्या ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। निर्युक्तिकार ने जहाँ आचारांग के गूढ़ार्थों का नय-शैली से उद्घाटन किया है, वहाँ चूर्णिकार ने एक शब्द-शास्त्री की तरह उनके विभिन्न अर्थों की ओर संकेत किया है। टीका में—निर्युक्ति एवं चूर्णिगत अर्थों को ध्यान में रखकर एक-एक शब्द के विभिन्न सम्भावित अर्थों पर सूक्ष्म चिन्तन किया गया है।

आचारांग के अनेक पद एवं शब्द ऐसे हैं जो थोड़े से अन्तर से, व्याकरण, सन्धि व लेखन के अल्पतम परिवर्तन से भिन्न अर्थ के द्योतक बन जाते हैं। जैसे—

समत्तदंसी—इसे अगर **सम्मत्तदंसी** मान लिया जाय तो इस शब्द के तीन भिन्न अर्थ हो जाते हैं—

समत्तदंसी—समत्वदर्शी (समताशील)

समत्तदंसी—समस्तदर्शी (केवलज्ञानी)

सम्मत्तदंसी—सम्यक्त्वदर्शी (सम्यग्दृष्टि)

प्रसंगानुसार तीनों ही अर्थ अलग-अलग ढंग से सार्थकता सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार एक पद है— तम्हाऽति विज्जो[1]

यहाँ अतिविज्ज—मान लेने पर अर्थ होता है—अतिविद्य (विशिष्ट विद्वान्) यदि तिविज्ज पद मान लिया जाय तो अर्थ होगा—त्रिविद्य (तीन विद्याओं का ज्ञाता)।

'दिट्ठभये'[2] पद के दो पाठान्तर चूर्णि में मिलते हैं—दिट्ठपहे, दिट्ठवहे,—तीनों के ही भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं।

चूर्णि में इस प्रकार के अनेक पाठान्तर हैं जो आगम की प्राचीन अर्थ परम्परा का वोध कराते हैं। विद्वान् वृत्तिकार आचार्य ने इन भिन्न-भिन्न अर्थों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है, जो शब्दशास्त्रीय ज्ञान का रोचक रूप उपस्थित करते हैं।

प्रस्तुत विवेचन में हमने शब्द के विभिन्न अर्थों पर दृष्टि-क्षेप करते हुए प्रसंग के साथ जिस अर्थ की संगति वैठती है, उस पर अपना विनम्र मत भी प्रस्तुत किया है।

हिन्दी व्याख्याएँ प्रायः टीका का अनुसरण करती है। उनमें निर्युक्ति व चूर्णि के विविध अर्थों पर विचार कम ही किया गया है। मुनि श्री नथमलजी ने लीक से हटकर कुछ नया चिन्तन अवश्य दिया है, जो प्रशंसनीय है। फिर भी आचारांग के अर्थ-वोध में स्वतन्त्र चिन्तन व व्यापक अध्ययन-अनुशीलन की स्पष्ट अपेक्षा व अवकाश है।

हमारे सामने आचारांग पर किए गए अनुशीलन की वहुत-सी सामग्री विद्यमान है। अव तक प्राप्त सभी सामग्री का सूक्ष्म अवलोकन कर प्राचीन आचार्यों के चिन्तन का सार तथा वर्तमान सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता पर हमने विचार किया है।

मूलपाठ

इस सम्पादन का मूलपाठ हमने मुनि श्री जम्बूविजयजी सम्पादित प्रति से लिया है।[3] आचारांग सूत्र के अव तक प्रकाशित समस्त संस्करणों में मूलपाठ की दृष्टि से यह संस्करण सर्वाधिक शुद्ध व प्रामाणिक प्रतीत होता है। यद्यपि इसमें भी कुछ स्थानों पर संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गयी है। पदच्छेद की दृष्टि से इसे पूर्ण आधुनिक सम्पादन नहीं कहा जा सकता।

अर्थ-वोध को सुगम करने की दृष्टि से हमने कहीं-कहीं पर पदच्छेद (नया पेरा) तथा श्रुति-परिवर्तन किया है, जैसे अधियास, अहियास आदि। कहीं-कहीं पर पाठान्तर में अंकित पाठ अधिक संगत लगता है, अतः हमने पाठान्तर को मूल स्थान पर व मूल पाठ को पाठान्तर में रखने का स्व-विवेक निर्णय लिया है। फिर भी हमारा मान्य पाठ यही रहा है। चूर्णि के पाठभेद व अर्थभेद भी इसी प्रति के आधार पर लिए गए हैं।

विवेचन-सहायक-ग्रन्थ

प्रायः आगम पाठों का शब्दशः अनुवाद करने पर भी उनका अर्थवोध हो जाता है, किन्तु आचारांग (प्रथमश्रुतस्कंध) के विषय में ऐसा नहीं है। इसके वाक्य, पद आदि शाब्दिक रचना की दृष्टि से अपूर्ण से प्रतीत होते हैं, अतः प्रत्येक पद का पूर्व तथा अग्रिम पद के साथ अर्थ-सम्वन्ध जोड़कर ही उनका अर्थ व विवेचन पूर्ण किया जा सकता है। इस कारण मूल का अनुवाद करते समय कोष्ठकों [ ] में सम्वन्ध जोड़ने वाला अर्थ देते हुए उसका अनुवाद करना पड़ा है, तभी वह योग्य अर्थ का वोधक वन सका है।

अनुवाद व विवेचन करते समय हमने निर्युक्ति, चूर्णि एवं टीका-तीनों के परिशीलन के साथ भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न यही रहा है कि अर्थ अधिक से अधिक मूलग्राही, सरल और युक्ति-संगत हो।

---

१ सूत्र ११२। २ सूत्र ११६। ३ महावीर विद्यालय, वम्बई संस्करण

अनेक शब्दों के गूढ़ अर्थ का उद्घाटन करने के लिए चूर्णि-टीका-दोनों के सन्दर्भ देखते हुए शब्द कोश तथा अन्य आगमों के सन्दर्भ भी दृष्टिगत रखे गए हैं। कहीं-कहीं चूर्णि व टीका के अर्थों में भिन्नता भी है, वहाँ विषय की संगति का ध्यान रखकर उसका अर्थ दिया गया है। फिर भी प्रायः सभी मतान्तरों का प्रामाणिकता के साथ उल्लेख अवश्य किया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अनेक कठिन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ करने में निशीथसूत्र व चूर्णि-भाष्य तथा बृहत्कल्पभाष्य आदि का भी आधार लिया गया है।

हमारा प्रयत्न यही रहा है कि प्रत्येक पाठ का अर्थबोध—अपने परम्परागत भावों का उद्घाटन करता हुआ अन्य अर्थों पर चिन्तन करने की प्रेरणा भी जागृत करता जाए।

कभी-कभी शब्द प्रसंगानुसार अपना अर्थ बदलते रहते हैं। जैसे—स्पर्श[1], गुण[2] एवं आयतन[3] आदि। आगमों में प्रसंगानुसार इनके विभिन्न अर्थ होते हैं, उनका दिग्दर्शन कराकर मूल भावों का उद्घाटन कराने वाला अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

पाठान्तर व टिप्पण—चूर्णि में पाठान्तरों की प्राचीन परम्परा दृष्टिगत होती है। जो पाठान्तर नया अर्थ उद्घाटित करते हैं या अर्थ की प्राचीन परम्परा का बोध कराते हैं, ऐसे पाठान्तरों को टिप्पण में उल्लिखित किया गया है। चूर्णि में विशेष शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं, जो इतिहास व संस्कृति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। उन चूर्णिगत अर्थों का मूलपाठ के साथ टिप्पण में विवरण दिया गया है।

अब तक के प्रायः सभी संस्करणों में टिप्पण आदि प्राकृत-संस्कृत में ही दिए जाने की परिपाटी देखने में आती है। इससे हिन्दी भाषी पाठक उन टिप्पणों के आशय समझने से वंचित ही रह जाता है। हमारा दृष्टिकोण आगम ज्ञान व उसकी प्राचीन अर्थ-परम्परा से जन साधारण को परिचित कराने का रहा है, अतः प्रायः सभी टिप्पणों के साथ उनका हिन्दी-अनुवाद भी देने का प्रयत्न किया है। यह कार्य काफी श्रमसाध्य रहा, पर पाठकों को अधिक लाभ मिले इसलिए आवश्यक व उपयोगी श्रम भी किया है।

इसमें चार परिशिष्ट भी दिए गए हैं। प्रथम परिशिष्ट में 'जाव' शब्द से सूचित मूल सन्दर्भ वाले सूत्र तथा ग्राह्य सूत्रों की सूची द्वितीय में विशिष्ट शब्द-सूची तथा तृतीय परिशिष्ट में गाथाओं की अकारादि सूची भी दी गयी है। चौथे परिशिष्ट में मुख्य रूप में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थों की संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक सूची दी गयी है।

युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज का मार्गदर्शन, आगम अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' की महत्वपूर्ण सूचनाएँ तथा विद्वद्वरेण्य श्रीयुत शोभाचन्दजी भारिल्ल की युक्ति पुरस्सर परिष्कारक दृष्टि आदि इस सम्पादन, विवेचन को सुन्दर, सुबोध तथा प्रामाणिक बनाने में उपयोगी रहे हैं। अतः उन सब का तथा प्राचीन मनीषी आचार्यों, सहयोगी ग्रन्थकारों, सम्पादकों आदि के प्रति पूर्ण विनम्रता के साथ कृतज्ञभाव व्यक्त करता हूँ।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सुन्दर रूप में शीघ्र सम्पन्न करने में मुनि श्री नेमीचन्दजी म० का मार्गदर्शन तथा स्नेहपूर्ण सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

यद्यपि यह गुरुतर कार्य सुदीर्घ चिन्तन, अध्ययन, तथा समय सापेक्ष है, फिर भी अहर्निश के सतत प्रयत्न व युवाचार्य श्री की उत्साहवर्धक प्रेरणाओं से मात्र चार मास में ही इसे सम्पन्न कर पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया है।

विश्वास है, यह अब तक के सभी संस्करणों से कुछ भिन्न, कुछ नवीन और काफी सरल व विशेष अर्थ बोध प्रगट करने वाला सिद्ध होगा। सुज्ञ पाठक इसे सुरुचि पूर्वक पढ़ेंगे—इसी आशा के साथ।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

---

१. देखें पृष्ठ ७। २. पृष्ठ २५। ३. पृष्ठ ५७।

आचारांग सूत्र प्रकाशन में विशिष्ट सहयोगी

श्रीमान सायरमल जी व श्रीमान जेठमल जी चोरड़िया

[संक्षिप्त परिचय]

एक उक्ति प्रसिद्ध है—"**ज्ञानस्य फलं विरतिः**"—ज्ञान का सुफल है—वैराग्य। वैसे ही एक सूक्ति है—"**वित्तस्य फलं वितरणं**"—धन का सुफल है—दान! पात्र में, योग्य कार्य में अर्थ व्यय करना, धन का सदुपयोग है।

नोखा (चांदावतों का) का चोरड़िया परिवार इस सूक्ति का आदर्श उदाहरण है। मद्रास एवं वेंगलूर आदि क्षेत्रों में बसा, यह मरुधरा का दानवीर परिवार आज समाज-सेवा, शिक्षा, चिकित्सा, साहित्य-प्रसार, राष्ट्रीय सेवा आदि विभिन्न कार्यों में मुक्त मन से और मुक्त हाथ से उपार्जित लक्ष्मी का सदुपयोग करके यशोभागी बन रहा है।

नागोर जिला तथा मेड़ता तहसील के अन्तर्गत चांदावतों का नोखा एक छोटा किन्तु-सुरम्य ग्राम हैं। इस ग्राम में चोरड़िया, बोथरा व ललवाणी परिवार रहते हैं। प्रायः सभी परिवार व्यापार-कुशल हैं, सम्पन्न हैं। चोरड़िया परिवार के घर इस ग्राम में अधिक हैं।

चोरड़िया परिवार के पूर्वजों में श्री उदयचन्द जी पूर्व-पुरुष हुए। उनके तीन पुत्र हुए—श्री हरकचन्द जी, श्री राजमल जी व श्री चान्दमल जी। श्री हरकचन्द जी के एक पुत्र थे श्री गणेशमल जी।

श्री राजमल जी के छः पुत्र हुए—श्री गुमानमल जी, श्री माँगीलाल जी, श्री दीपचन्द जी, श्री चंपालाल जी, श्री चन्दनमल जी, श्री फूलचन्द जी।

श्रीमान् राजमल जी अब इस संसार में नहीं रहे। उनका पुत्र-परिवार धर्मनिष्ठ है, सम्पन्न है।

श्री राजमल जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री गुमानमल जी मद्रास जैन-समाज के एक श्रावकरत्न हैं। त्याग-वृत्ति, सेवा-भावना, उदारता, साधर्मि-वत्सलता आदि गुणों से आपका जीवन चमक रहा है।

श्री गणेशमल जी जब छोटे थे, तभी उनके पिता श्री हरकचन्द जी का देहान्त हो गया। माता श्री रूपी वाई ने ही गणेशमल जी का पालन-पोषण व शिक्षण आदि कराकर उन्हें योग्य बनाया। श्री रूपी वाई वड़ी हिम्मत वाली बहादुर महिला थीं, विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने धर्म-ध्यान, तपस्या आदि के साथ पुत्र-पौत्रों का पालन व सुसंस्कार प्रदान करने में बड़ी निपुणता दिखायी।

श्री गणेशमल जी राजमल जी का पिता के तुल्य ही आदर व सम्मान करते तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे।

श्री गणेशमल जी की पत्नी का नाम सुन्दर वाई था। सुन्दर वाई वहुत सरल व भद्र स्वभाव की धर्मशीला श्राविका थीं। अभी-अभी आपका स्वर्गवास हो गया।

श्री गणेशमल जी के दस पुत्र एवं एक पुत्री हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—श्री जोगीलाल जी, श्री पारसमल जी, श्री अमरचन्द जी, श्री मदनलाल जी, श्री सायरमल जी, श्री पुखराज जी, श्री जेठ-

मल जी, श्री सम्पतराज जी, श्री मगलचंद जी व श्री भूरमल जी। पुत्री का नाम लाड़कंवर बाई है। श्री गणेशमल जी ने अपने सभी पुत्रों को काम पर लगाया। वे साठ वर्ष की अवस्था में दिवंगत हो गए।

सभी भाइयों का व्यवसाय अलग अलग है। सभी हिलमिलकर रहते हैं। सभी सम्पन्न धर्मनिष्ठ हैं।

तीसरे भाई श्री अमरचन्द जी का देहान्त हो गया है।

श्री सायरमल जी पांचवें नम्बर के भाई हैं और श्री जेठमल जी सातवें नम्बर के। यद्यपि श्री सायरमल जी पांचवे नम्बर के भाई हैं, फिर भी उनसे बड़े व छोटे सभी भाई उनको पिता के सदृश सम्मान देते हैं और वे स्वयं भी सभी भाइयों के साथ अत्यन्त वत्सलता व स्नेहपूर्ण व्यवहार रखते हैं।

श्री सायरमल जी व श्री जेठमल जी में परस्पर बहुत अधिक प्रेम है। जो सायरमल जी हैं, वही जेठमल जी और जो जेठमल जी हैं, वही सायरमल जी। दोनों की जोड़ी बड़ी अनूठी।

श्री जेठमल जी श्री सायरमल जी के बहुत बड़े सहयोगी व आज्ञाकारी भाई हैं। दोनों भाई धार्मिक व सामाजिक कामों में सदा सतत अभिरुचि रखने वाले हैं।

समाज-सेवा, धार्मिक-उत्सव, दान आदि कार्यों में दोनों भाई सदा अग्रसर रहते हैं।

आपने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में मेड़ता रोड में एक देशी औषधालय बनाया है जिसमें प्रति-मास सैंकड़ों रोगी उपचार का लाभ प्राप्त करते हैं। नोखा में आपका एक कृषि फार्म भी है।

आपके हृदय में जीव-दया के प्रति बहुत गहरी लगन है। यही कारण है कि आपने अपने कृषि फार्म के बाहर पशुओंके पानी पीने की व्यवस्था सदा के लिए बना रखी है।

वि० सं० २०३० में उपप्रवर्तक पूज्य स्वामी जी श्री ब्रजलाल जी म० सा० पं० र० श्री मधुकर मुनि जी म० सा० व मुनि श्री विनयकुमार जी (भीम) का वर्षावास नोखा में हुआ था। वर्षावास की स्मृति में श्री **वर्धमान जैन सेवा समिति** का गठन किया गया। यह संस्था परमार्थ का काम कर रही है। आप इस संस्था के स्तम्भ सदस्य हैं और समय-समय पर अर्थ आदि का सहयोग देकर उक्त संस्था को सुदृढ़ बनाते रहते हैं।

श्री सायरमल जी व श्री जेठमल जी व्यवसाय की दृष्टि से पृथक-पृथक क्षेत्रों में रहते हैं। फिर भी आप दोनों पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि में एक हैं।

श्री सायरमल जी का व्यवसाय-क्षेत्र मद्रास है। आपकी कपड़े की दुकान है, फर्म का नाम है—**चौरड़िया फैन्सी स्टोर।**

श्री जेठमल जी का व्यवसाय-क्षेत्र है—बैंगलौर **'महावीर ड्रग हाउस'** के नाम से आपकी एक अंग्रेजी दवाइयों की बहुत बड़ी दुकान है। दक्षिण भारत में अंग्रेजी दवाइयों के वितरण में इस दूकान का सबसे पहला नम्बर है। श्रीमान जेठमल जी बेंगलोर में रहते हैं। बंगलोर में श्री जेठमलजी की बड़ी अच्छी प्रतिष्ठा है। आप औषधि व्यावसायिक एसोसियेशन के जनरल सेक्रेट्री हैं। अखिल भारत औषधि व्यवसाय एसोसिएशन के आप सहमंत्री भी हैं। बंगलौर श्री संघ के ट्रस्टी हैं। बंगलौर युवक जैन परिषद के अध्यक्ष हैं। बंगलौर सिटी स्थानक के उपाध्यक्ष हैं।

श्री जेठमल जी के तीन पुत्र हैं और एक पुत्री। पुत्रों के नाम—श्री महावीरचन्द, श्री प्रेमचन्द, श्री अशोक कुमार। पुत्री का नाम है—स्नेहलता।

सभी पुत्र ग्रेजुएट हैं—सुयोग्य हैं। श्री जेठमल जी के कार्यभार को सम्भालने वाले हैं।

श्री राजमल जी का समस्त परिवार व श्री गणेशमल जी का समस्त परिवार आचार्य श्री जयमल जी महाराज की सम्प्रदाय का अनुयायी है और स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव जी श्री हजारीमल जी म० सा०

वर्तमान में विराजित उपप्रवर्तक पूज्य स्वामी जी श्री व्रजलाल जी म० सा० युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० सा० आदि पूज्य मुनिराजों का पूर्ण भक्त है।

पूज्य गुरुदेव से सम्वन्धित ऐसा कोई आयोजन नहीं, जिसमें इन परिवारों के सदस्य उपस्थित न रहते हों। श्री सायरमल जी व श्री जेठमल जी तो सभी आयोजनों में सदा अग्रसर रहते हैं। दोनों भ्राताओं के हृदय में परम श्रद्धेय श्रमणसूर्य श्री मरुधरकेसरी जी म० के प्रति भी पूर्ण आस्था है।

आगम-योजना के प्रारम्भ में ही आपने बड़े उत्साह के साथ एक सूत्र का सम्पूर्ण प्रकाशन-व्यय देने का वचन दिया था। तदनुसार आपके पूज्य पिताजी **श्री गणेशमल जी व माता जी श्री सुन्दर बाई की पुण्य स्मृति** में यह आगम प्रकाशित हो रहा है।

भविष्य में भी आगमों के प्रकाशन तथा अन्य साहित्यिक कार्यों में आपका सहयोग इसी प्रकार मिलता रहेगा—इसी आशा के साथ...।

(महामंत्री)—जतनराज मेहता
(मन्त्री)—ज्ञानराज भूथा
(मन्त्री)—चांदमल विनायकिया

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारी समिति)

प्रस्तावना

आगम का महत्त्व

जैन आगम साहित्य का प्राचीन भारतीय साहित्य में अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। वह स्थूल अक्षर-देह से ही विशाल व व्यापक नहीं है अपितु ज्ञान और विज्ञान का, न्याय और नीति का, आचार और विचार का, धर्म और दर्शन का, अध्यात्म और अनुभव का अनुपम एवं अक्षय कोष है। यदि हम भारतीय-चिन्तन में से कुछ क्षणों के लिए जैन आगम-साहित्य को पृथक करने की कल्पना करें तो भारतीय-साहित्य की जो आध्यात्मिक गरिमा तथा दिव्य और भव्य ज्ञान की चमक-दमक है, वह एक प्रकार से धुंधली प्रतीत होगी और ऐसा परिज्ञात होगा कि हम वहुत वड़ी निधि से वंचित हो जायेंगे।

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का है, वौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, पारसी धर्म में जो स्थान 'अवेस्ता' का है, ईसाई धर्म में जो स्थान वाईविल का है ईस्लाम धर्म में जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैन परम्परा में आगम साहित्य का है। वेद अनेक ऋषियों के विमल विचारों का संकलन हैं, वे उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु जैन आगम और वौद्ध त्रिपिटक क्रमशः भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी और विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आगम की परिभाषा

आगम शब्द की आचार्यों ने विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। आचार्य मलयगिरि का अभिमत हैं कि जिस से पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो[1] वह आगम है। अन्य आचार्य का अभिमत है जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।[2] भगवती[3] अनुयोगद्वार[4] और स्थानांग[5] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद हैं। आगम के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये है। उसमें 'महाभारत' 'रामायण' प्रभृति ग्रन्थों को लौकिक आगम में गिना है और आचारांग, सूत्रकृतांग प्रभृति आगमों को लोकोत्तर आगम कहा गया है।

जैन दृष्टि से जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, वे जिन तीर्थंकर और सर्वज्ञ हैं, उनका तत्व चिन्तन, उपदेश और उनकी विमल-वाणी आगम है।[6] उसमें वक्ता के साक्षात् दर्शन और वीतरागता के कारण दोष की किंचित मात्र भी संभावना नहीं रहती और न पूर्वापर विरोध वा युक्तिवाध ही होता है। आचार्य भद्रवाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है-"तप, नियम, ज्ञानरूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी

---

१. (क) आवश्यक सूत्र मलयगिरि वृत्ति। (ख)—नन्दी सूत्र वृत्ति।
२. आगम्यन्ते मर्यादयाऽववुद्ध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः—रत्नाकरावतारिका वृत्ति।
३. भगवती सूत्र ५।३।१९२।
४. अनुयोगद्वार सूत्र
५. स्थानाङ्ग सूत्र ३३८-२२८
६. (क) अनुयोग द्वार सूत्र—४२, (ख)—नन्दीसूत्र सूत्र—४०-४१, (ग)—वृहत्कल्प भाष्य गाथा—८८

केवली भगवान् भव्य-आत्माओं के विबोध के लिये ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट में उन सभी कुसुमों को झेलकर प्रवचन-माला गूंथते हैं।[१]

तीर्थंकर भगवान केवल अर्थ रूप ही उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं।[२] अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिये आगमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा है।[३] प्रबुद्ध पाठकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य की जो प्रामाणिकता है उसका मूल कारण गणधरकृत होने से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं किन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं[४]।

आचार्य मलयगिरि आदि का अभिमत है कि गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्व क्या है? उत्तर में तीर्थंकर "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी के आधार पर जिस आगम साहित्य का निर्माण होता है, वह आगम साहित्य अंगप्रविष्ट के रूप में विश्रुत होता है और अवशेष जितनी भी रचनाएँ हैं, वे सभी अंगबाह्य हैं।[५] द्वादशांगी त्रिपदी से उद्भूत है, इसीलिये वह गणधरकृत भी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गणधरकृत होने से सभी रचनाएँ अंग नहीं होतीं, त्रिपदी के अभाव में मुक्त व्याकरण से जो रचनाएँ की जाती हैं भले ही उन रचनाओं के निर्माता गणधर हों अथवा स्थविर हों वे अंगबाह्य ही कहलायेंगी।

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये हैं, वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंग साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते हैं या कहते हैं उसमें किञ्चित् मात्र भी विरोध नहीं होता।

आचार्य संघदासगणी का अभिमत है कि जो बात तीर्थंकर कह सकते हैं उसको श्रुतकेवली भी उसी रूप में कह सकते हैं।[६] दोनों में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्व को प्रत्यक्षरूप से जानते हैं, तो श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं। उनके वचन इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं कि वे नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं।[७]

अंगप्रविष्ट: अंग बाह्य

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि 'अंगप्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में बनाया हुआ हो, गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के द्वारा समाधान किया हुआ हो और अंगबाह्य-श्रुत वह है जो स्थविरकृत हो और गणधरों के जिज्ञासा प्रस्तुत किये बिना ही तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित हो।[८]

समवायांग और अनुयोगद्वार में केवल द्वादशांगी का निरूपण हुआ है, पर देववाचक ने नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद किये हैं। साथ ही अंगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त,

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८९, ९०।
२. (क)—आवश्यक निर्युक्ति गाथा—१९२। (ख)—धवला भाग—१:—पृष्ठ ६४ से ७२।
३. नन्दीसूत्र सूत्र—४०
४. (क)—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५० (ख)—बृहत्कल्पभाष्य—१४४ (ग)—तत्त्वार्थभाष्य १—२०। (घ)—सर्वार्थसिद्धि—१—२०।
५. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पत्र ४८।
६. बृहत्कल्पभाष्य गाथा ९६३ से ९६६।
७. बृहत्कल्पभाष्य गाथा १३२।
८. गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क-वागरणाओ वा।
धुव-चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥ —विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५५२।

कालिक और उत्कालिक इन आगम साहित्य की शाखा व प्रशाखाओं का भी शब्दचित्र प्रस्तुत किया है।[1] उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में अंग-उपांग-मूल और छेद के रूप में आगमों का विभाग किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को मेरे द्वारा लिखित "जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा" ग्रन्थ अवलोकनार्थ नम्र सूचनाहै।

चाहे श्वेताम्वर परम्परा हो और चाहे दिगम्वर परम्परा हो, अंगप्रविष्ट आगम साहित्य में द्वादशांगी का निरूपण किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. आचारांग	७. उपासकदशा
२. सूत्रकृतांग	८. अन्तकृत् दशा
३. स्थानांग	९. अनुत्तरोपपातिकदशा
४. समवायांग	१०. प्रश्नव्याकरण
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	११. विपाक
६. ज्ञाता धर्मकथा	१२. दृष्टिवाद

दिगम्वर परम्परा की दृष्टि से अंगसाहित्य विच्छिन्न हो चुका है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष है जो षट्खण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है। पर श्वेताम्वर दृष्टि से पूर्व साहित्य विच्छिन्न हो गया है, जो दृष्टिवाद का एक विभाग था। पूर्व साहित्य में से निर्यूढ आगम आज भी विद्यमान हैं। जैसे आचारचूला[2], दशवैकालिक[3], निशीथ[4], दशाश्रुतस्कन्ध[5], बृहत्कल्प[6], व्यवहार[7], उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन[8] आदि। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव हैं और शेष आगमों के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं जो श्रुतकेवली के रूप में विश्रुत हैं। आगम विच्छिन्न होने का मूल कारण भगवान् महावीर के पश्चात् होने वाले दुष्काल आदि रहे हैं, क्योंकि उस समय आगम लेखन की परम्परा नहीं थी। आगम लेखन को दोषरूप माना जाता था। वर्तमान में जो आगम पुस्तक रूप में उपलब्ध हो रहे हैं, उसका सम्पूर्ण श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को है। जिनका समय वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी है।

आचारांग का महत्व

अंग साहित्य में आचारांग का सर्वप्रथम स्थान है। क्योंकि संघ-व्यवस्था में सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। श्रमण जीवन की साधना का जो मार्मिक विवेचन आचारांग में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। आचारांग निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है—मुक्ति का अव्यावाध सुख सम्प्राप्त करने का मूल आचार है। अंगों का सार तत्त्व आचार में रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से आचार सम्पूर्ण प्रवचन की आधार शिला है।

एक जिज्ञासा प्रस्तुत की, अंग सूत्रों का सार आचार है तो आचार का सार क्या है ? आचार्य ने समाधान की भाषा में कहा—आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोग का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का

---

१. नन्दीसूत्र सूत्र-९ से ११९।
२. आचारांग वृत्ति-२९०।
३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६ से १८।
४. (क) निशीथभाष्य-६५०० (ख) पंचकल्पचूर्णी पत्र-१।
५. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१।
६. पंचकल्पभाष्य गाथा-११।
७. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१।
८. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ६९।

केवली भगवान् भव्य-आत्माओं के विबोध के लिये ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट में उन सभी कुसुमों को झेलकर प्रवचन-माला गूँथते हैं।[1]

तीर्थंकर भगवान केवल अर्थ रूप ही उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं।[2] अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिये आगमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा है।[3] प्रबुद्ध पाठकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य की जो प्रामाणिकता है उसका मूल कारण गणधरकृत होने से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं किन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं[4]।

आचार्य मलयगिरि आदि का अभिमत है कि गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्व क्या है? उत्तर में तीर्थंकर "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी के आधार पर जिस आगम साहित्य का निर्माण होता है, वह आगम साहित्य अंगप्रविष्ट के रूप में विश्रुत होता है और अवशेष जितनी भी रचनाएँ हैं, वे सभी अंगबाह्य हैं।[5] द्वादशांगी त्रिपदी से उद्भूत है, इसीलिये वह गणधरकृत भी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गणधरकृत होने से सभी रचनाएँ अंग नहीं होतीं, त्रिपदी के अभाव में मुक्त व्याकरण से जो रचनाएँ की जाती हैं भले ही उन रचनाओं के निर्माता गणधर हों अथवा स्थविर हों वे अंगबाह्य ही कहलायेंगी।

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये हैं, वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंग साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते हैं या कहते हैं उसमें किञ्चित् मात्र भी विरोध नहीं होता।

आचार्य संघदासगणी का अभिमत है कि जो बात तीर्थंकर कह सकते हैं उसको श्रुतकेवली भी उसी रूप में कह सकते हैं।[6] दोनों में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्व को प्रत्यक्षरूप से जानते हैं, तो श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं। उनके वचन इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं कि वे नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं।[7]

अंगप्रविष्टः अंग बाह्य

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि 'अंगप्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में बनाया हुआ हो, गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के द्वारा समाधान किया हुआ हो और अंगबाह्य-श्रुत वह है जो स्थविरकृत हो और गणधरों के जिज्ञासा प्रस्तुत किये बिना ही तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित हो।[8]

समवायांग और अनुयोगद्वार में केवल द्वादशांगी का निरूपण हुआ है, पर देववाचक ने नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद किये हैं। साथ ही अंगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त,

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ५८, ६०।
२. (क)—आवश्यक निर्युक्ति गाथा—१९२। (ख)—धवला भाग—१ :—पृष्ठ ६४ से ७२।
३. नन्दीसूत्र सूत्र—४०
४. (क)—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५० (ख)—बृहत्कल्पभाष्य—१४४ (ग)—तत्त्वार्थभाष्य १—२०। (घ)—सर्वार्थसिद्धि—१—२०।
५. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पत्र ४८।
६. बृहत्कल्पभाष्य गाथा ९६३ से ९६६।
७. बृहत्कल्पभाष्य गाथा १३२।
८. गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क-वागरणाओ वा।
ध्रुव-चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥ —विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५५२।

कालिक और उत्कालिक इन आगम साहित्य की शाखा व प्रशाखाओं का भी शब्दचित्र प्रस्तुत किया है।[1] उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में अंग-उपांग-मूल और छेद के रूप में आगमों का विभाग किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को मेरे द्वारा लिखित "**जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा**" ग्रन्थ अवलोकनार्थ नम्र सूचना है।

चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो और चाहे दिगम्बर परम्परा हो, अंगप्रविष्ट आगम साहित्य में द्वादशांगी का निरूपण किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. आचारांग	७. उपासकदशा
२. सूत्रकृतांग	८. अन्तकृत्दशा
३. स्थानांग	९. अनुत्तरोपपातिकदशा
४. समवायांग	१०. प्रश्नव्याकरण
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	११. विपाक
६. ज्ञाता धर्मकथा	१२. दृष्टिवाद

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अंगसाहित्य विच्छिन्न हो चुका है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश अवशेष है जो षट्खण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है। पर श्वेताम्बर दृष्टि से पूर्व साहित्य विच्छिन्न हो गया है, जो दृष्टिवाद का एक विभाग था। पूर्व साहित्य में से निर्यूढ आगम आज भी विद्यमान हैं। जैसे आचारचूला[2], दशवैकालिक[3], निशीथ[4], दशाश्रुतस्कन्ध[5], बृहत्कल्प[6], व्यवहार[7], उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन[8] आदि। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव हैं और शेष आगमों के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं जो श्रुतकेवली के रूप में विश्रुत हैं। आगम विच्छिन्न होने का मूल कारण भगवान् महावीर के पश्चात् होने वाले दुष्काल आदि रहे हैं, क्योंकि उस समय आगम लेखन की परम्परा नहीं थी। आगम लेखन को दोषरूप माना जाता था। वर्तमान में जो आगम पुस्तक रूप में उपलब्ध हो रहे हैं, उसका सम्पूर्ण श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को है। जिनका समय वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी है।

आचारांग का महत्व

अंग साहित्य में आचारांग का सर्वप्रथम स्थान है। क्योंकि संघ-व्यवस्था में सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। श्रमण जीवन की साधना का जो मार्मिक विवेचन आचारांग में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। आचारांग निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है—मुक्ति का अव्याबाध सुख सम्प्राप्त करने का मूल आचार है। अंगों का सार तत्त्व आचार में रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से आचार सम्पूर्ण प्रवचन की आधार शिला है।

एक जिज्ञासा प्रस्तुत की, अंग सूत्रों का सार आचार है तो आचार का सार क्या है? आचार्य ने समाधान की भाषा में कहा—आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोग का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का

---

१. नन्दीसूत्र सूत्र-९ से ११९।
२. आचारांग वृत्ति-२९०।
३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६ से १८।
४. (क) निशीथभाष्य-६५०० (ख) पंचकल्पचूर्णी पत्र-१।
५. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१।
६. पंचकल्पभाष्य गाथा-११।
श्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१।
राध्ययन निर्युक्ति गाथा ६९।

सार सम्यक् चारित्र और सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है; निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है।[1] इस प्रकार आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है। उससे आत्मा पर लगा हुआ अनन्त काल का कर्म-मल छँट जाता है।

तीर्थंकर प्रभु तीर्थ-प्रवर्तन के प्रारम्भ में आचारांग के अर्थ का प्ररूपण करते हैं और गणधर उसी क्रम से सूत्र की संरचना करते हैं। अत: अतीत काल में प्रस्तुत आगम का अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। आचारांग का अध्ययन किये विना सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य का अध्ययन नहीं किया जा सकता। था।[2] जिनदास महत्तर ने लिखा है आचारांग का अध्ययन करने के वाद ही धर्मकथानुयोग; गणितानुयोग, और द्रव्यानुयोग पढ़ना चाहिए।[3] यदि कोई साधक आचारांग को विना पढ़े अन्य आगम-साहित्य का अध्ययन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4] व्यवहारभाष्य में वर्णन है कि आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से नवदीक्षित श्रमण की उपस्थापना की जाती थी और उसके अध्ययन से ही श्रमण भिक्षा लाने के लिए योग्य वनता था।[5] आचारांग का अध्ययन किये विना कोई भी श्रमण आचार्य जैसे गौरव-गरिमायुक्त पद को प्राप्त नहीं कर सकता था।[6] गणि वनने के लिए आचार-धर होना आवश्यक है, आचारांग को जैन दर्शन का वेद माना है। भद्रवाहु आदि ने आचारांग के महत्व के सम्वन्ध में जो अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं वे आचारांग की गौरव-गरिमा का दिग्दर्शन है।

आचारांग की प्राथमिकता ?

प्राचीन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट है कि द्वादशांगी में आचारांग प्रथम है, पर वह रचना की दृष्टि से प्रथम है या स्थापना की दृष्टि से ? इस सम्बन्ध में विभिन्न मत है। नन्दी चूर्णी में आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सूचित किया है कि जव तीर्थंकर भगवान् तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं उस समय वे पूर्वगत सूत्र का अर्थ सर्वप्रथम कहते हैं। एतदर्थ ही वह पूर्व कहलाता है। किन्तु जव सूत्र की रचना करते हैं तो 'आचारांग-सूत्रकृतांग' आदि आगमों की रचना करते हैं और उसी तरह वे स्थापना भी करते हैं। अत: अर्थ की दृष्टि की पूर्व सर्वप्रथम हैं, किन्तु सूत्र-रचना और स्थापना की दृष्टि से आचारांग सर्वप्रथम है।[7] इसका समर्थन आचार्य हरिभद्र[8] तथा आचार्य अभयदेव ने भी किया है।[9]

आचारांग चूर्णी में लिखा है कि जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे आचारांग का अर्थ सर्वप्रथम कहते

---

१. अंगाणं किं सारो ? आयारो तस्स हवइ किं सारो ?
अणुओगत्थो सारो, तस्स वि य परूवणा सारो ।।
-सारो परूवणाए चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणावित्ति ।। —आचारांग निर्युक्ति—गा० १६।१७

२. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२।

३. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२।

४. निशीथ १९—१

५. व्यवहार भाष्य ३। १७४—१७५।

६. आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढम गणिट्ठाणं ।।
—आचारांग निर्युक्ति गाथा० १०

७. आचारांग निर्युक्ति गाथा० ८

८. (क)—नन्दी सूत्र वृत्ति पृष्ठ ८८
(ख)—नन्दी सूत्र चूर्णी पृष्ठ ७५

९. समवायांग वृत्ति पृष्ठ १३०-१३१

हैं और उसके बाद ग्यारह अंगों का अर्थ कहते हैं। और उसी क्रम से गणधर भी सूत्र की रचना करते हैं।[1]

आचार्य शीलाङ्क का भी यही अभिमत है कि तीर्थंकर आचारांग के अर्थ का प्ररूपण ही सर्वप्रथम करते हैं। और गणधर भी उसी क्रम से स्थापना करते हैं।[2] समवायांगवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने यह भी लिखा है कि आचारांग-सूत्र स्थापना की दृष्टि से प्रथम है किन्तु रचना की दृष्टि से वह बारहवाँ है।[3]

पूर्व साहित्य से अंग निर्यूढ़ है इस दृष्टि से आचारांग को स्थापना की दृष्टि से प्रथम माना है पर रचना क्रम की दृष्टि से नहीं। आचार्य हेमचन्द्र[4] और गुणचन्द्र[5] ने, जिन्होंने भगवान् महावीर के जीवन की पवित्र गाथाएँ अंकित की हैं, उन्होंने लिखा है कि भगवान् महावीर ने गौतम प्रभृति गणधरों को सर्वप्रथम त्रिपदी का ज्ञान प्रदान किया। और उन्होंने त्रिपदी से प्रथम चौदह पूर्वों की रचना की और उस के बाद द्वादशांगी की रचना की।

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अंगों से पहले पूर्वों की रचना हुयी तो द्वादशांगी की रचना में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार है? समाधान है; पूर्वों की रचना प्रथम होने पर भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान मानने पर बाधा नहीं आती है। कारण कि बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका ये पाँच विभाग हैं। उस में से एक विभाग पूर्व है।[6] सर्वप्रथम गणधरों ने पूर्वों की रचना की, पर बारहवें अंग दृष्टिवाद का बहुत बड़े हिस्से का ग्रन्थन तो आचारांग आदि के क्रम से बारहवें स्थान पर ही हुआ है। ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं है कि दृष्टिवाद का ग्रथन सर्वप्रथम किया हो, इसलिये निर्युक्तिकार का यह कथन कि आचारांग रचना व स्थापना की दृष्टि से प्रथम है, युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

आचारांग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए चूर्णिकार[7] और वृत्तिकार[8] ने लिखा है कि अतीत काल में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सभी ने सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश दिया, वर्तमान में जो तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र में विराजित हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और भविष्यकाल में जितने भी तीर्थंकर होंगे वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे।

आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने का कारण यह है कि संघ-व्यवस्था की दृष्टि से आचार-संहिता की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। जब तक आचार-संहिता की स्पष्ट रूप रेखा न हो वहाँ तक सम्यग् प्रकार से आचार का पालन नहीं किया जा सकता। अतः किसी का भी आचारांग की प्राथमिकता के सम्बन्ध में विरोध नहीं है। यहाँ तक कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने अंग साहित्य में आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया है। आचारांग में विचारों के ऐसे मोती पिरोये गये हैं जो प्रबुद्ध पाठकों के दिल को लुभाते हैं, मन को मोहते हैं। यही कारण है कि संक्षिप्त शैली में लिखित सूत्रों का अर्थ रूपी शरीर

---

१. सव्व तित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खन्ति, ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताएच्चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गंथंति। इयाणि पढममंगंति किं निमित्तं आयारो पढमं ठवियो।

—आचारांग चूर्णी

२. आचारांग वृत्ति, पृष्ठ ६।

३. समवायांग वृत्ति, पृष्ठ १०१

४. त्रिषष्ठि० १०।५।१६५

५. महावीरचरियं ८।२५७ श्री गुणचन्द्राचार्य !

६. अभिधान चिन्तामणि १६० !

७. आचारांग चूर्णी, पृष्ठ ३

८. आचारांग शीलांक वृत्ति, पृष्ठ ६।

सार सम्यक् चारित्र और सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है; निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है ।[1] इस प्रकार आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है। उससे आत्मा पर लगा हुआ अनन्त काल का कर्म-मल छँट जाता है ।

तीर्थंकर प्रभु तीर्थ-प्रवर्तन के प्रारम्भ में आचारांग के अर्थ का प्ररूपण करते हैं और गणधर उसी क्रम से सूत्र की संरचना करते हैं। अतः अतीत काल में प्रस्तुत आगम का अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। आचारांग का अध्ययन किये बिना सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य का अध्ययन नहीं किया जा सकता। था।[2] जिनदास महत्तर ने लिखा है आचारांग का अध्ययन करने के बाद ही धर्मकथानुयोग; गणितानुयोग, और द्रव्यानुयोग पढ़ना चाहिए।[3] यदि कोई साधक आचारांग को बिना पढ़े अन्य आगम-साहित्य का अध्ययन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4] व्यवहारभाष्य में वर्णन है कि आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से नवदीक्षित श्रमण की उपस्थापना की जाती थी और उसके अध्ययन से ही श्रमण भिक्षा लाने के लिए योग्य बनता था।[5] आचारांग का अध्ययन किये बिना कोई भी श्रमण आचार्य जैसे गौरव-गरिमायुक्त पद को प्राप्त नहीं कर सकता था।[6] गणि बनने के लिए आचारधर होना आवश्यक है, आचारांग को जैन दर्शन का वेद माना है। भद्रबाहु आदि ने आचारांग के महत्व के सम्बन्ध में जो अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं वे आचारांग की गौरव-गरिमा का दिग्दर्शन है।

आचारांग की प्राथमिकता ?

प्राचीन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट है कि द्वादशांगी में आचारांग प्रथम है, पर वह रचना की दृष्टि से प्रथम है या स्थापना की दृष्टि से ? इस सम्बन्ध में विभिन्न मत है। नन्दी चूर्णी में आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सूचित किया है कि जब तीर्थंकर भगवान् तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं उस समय वे पूर्वगत सूत्र का अर्थ सर्वप्रथम कहते हैं। एतदर्थ ही वह पूर्व कहलाता है। किन्तु जब सूत्र की रचना करते हैं तो 'आचारांग-सूत्रकृतांग' आदि आगमों की रचना करते हैं और उसी तरह वे स्थापना भी करते हैं। अतः अर्थ की दृष्टि की पूर्व सर्वप्रथम हैं, किन्तु सूत्र-रचना और स्थापना की दृष्टि से आचारांग सर्वप्रथम है।[7] इसका समर्थन आचार्य हरिभद्र[8] तथा आचार्य अभयदेव ने भी किया है।[9]

आचारांग चूर्णी में लिखा है कि जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे आचारांग का अर्थ सर्वप्रथम कहते

---

१. अंगाणं किं सारो ? आयारो तस्स हवइ किं सारो ?
अणुओगत्थो सारो, तस्स वि य परूवणा सारो ॥
सारो परूवणाए चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणाविंति ॥ —आचारांग निर्युक्ति—गा० १६।१७
२. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२।
३. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२। ४. निशीथ १६—१
५. व्यवहार भाष्य ३। १७४—१७५।
६. आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढम गणिट्ठाणं ॥
—आचारांग निर्युक्ति गाथा० १०
७. आचारांग निर्युक्ति गाथा० ८
८. (क)—नन्दी सूत्र वृत्ति पृष्ठ ८८
(ख)—नन्दी सूत्र चूर्णी पृष्ठ ७५
९. समवायांग वृत्ति पृष्ठ १३०-१३१

हैं और उसके वाद ग्यारह अंगों का अर्थ कहते हैं। और उसी क्रम से गणधर भी सूत्र की रचना करते हैं।[१]

आचार्य शीलाङ्क का भी यही अभिमत है कि तीर्थंकर आचारांग के अर्थ का प्ररूपण ही सर्वप्रथम करते हैं। और गणधर भी उसी क्रम से स्थापना करते हैं।[२] समवायांगवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने यह भी लिखा है कि आचारांग-सूत्र स्थापना की दृष्टि से प्रथम है किन्तु रचना की दृष्टि से वह वारहवाँ है।[३]

पूर्व साहित्य से अंग निर्यूढ़ है इस दृष्टि से आचारांग को स्थापना की दृष्टि से प्रथम माना है पर रचना क्रम की दृष्टि से नहीं। आचार्य हेमचन्द्र[४] और गुणचन्द्र[५] ने, जिन्होंने भगवान् महावीर के जीवन की पवित्र गाथाएँ अंकित की हैं, उन्होंने लिखा है कि भगवान् महावीर ने गौतम प्रभृति गणधरों को सर्वप्रथम त्रिपदी का ज्ञान प्रदान किया। और उन्होंने त्रिपदी से प्रथम चौदह पूर्वों की रचना की और उस के वाद द्वादशांगी की रचना की।

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अंगों से पहले पूर्वों की रचना हुयी तो द्वादशांगी की रचना में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार है? समाधान है; पूर्वों की रचना प्रथम होने पर भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान मानने पर वाधा नहीं आती है। कारण कि वारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका ये पाँच विभाग हैं। उस में से एक विभाग पूर्व है।[६] सर्वप्रथम गणधरों ने पूर्वों की रचना की, पर वारहवें अंग दृष्टिवाद का वहुत वड़े हिस्से का ग्रन्थन तो आचारांग आदि के क्रम से वारहवें स्थान पर ही हुआ है। ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं है कि दृष्टिवाद का ग्रथन सर्वप्रथम किया हो, इसलिये निर्युक्तिकार का यह कथन कि आचारांग रचना व स्थापना की दृष्टि से प्रथम है, युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

आचारांग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए चूर्णिकार[७] और वृत्तिकार[८] ने लिखा है कि अतीत काल में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सभी ने सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश दिया, वर्तमान में जो तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र में विराजित हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और भविष्यकाल में जितने भी तीर्थंकर होंगे वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे।

आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने का कारण यह है कि संघ-व्यवस्था की दृष्टि से आचार-संहिता की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। जव तक आचार-संहिता की स्पष्ट रूप रेखा न हो वहाँ तक सम्यग् प्रकार से आचार का पालन नहीं किया जा सकता। अतः किसी का भी आचारांग की प्राथमिकता के सम्बन्ध में विरोध नहीं है। यहाँ तक कि श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनों ही परम्पराओं ने अंग साहित्य में आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया है। आचारांग में विचारों के ऐसे मोती पिरोये गये हैं जो प्रबुद्ध पाठकों के दिल को लुभाते हैं, मन को मोहते हैं। यही कारण है कि संक्षिप्त शैली में लिखित सूत्रों का अर्थ रूपी शरीर

---

१. सव्व तित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खन्ति, ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताएच्चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गंथंति। इयाणि पढममंगंति किं निमित्तं आयारो पढमं ठवियो।
—आचारांग चूर्णी

२. आचारांग वृत्ति, पृष्ठ ६।

३. समवायांग वृत्ति, पृष्ठ १०१

४. त्रिषष्ठि० १०।५।१६५

५. महावीरचरियं ८।२५७ श्री गुणचन्द्राचार्य!

६. अभिधान चिन्तामणि १६०!

७. आचारांग चूर्णी, पृष्ठ ३

८. आचारांग शीलांक वृत्ति, पृष्ठ ६।

विराट् है, जब हम आचारांग के व्याख्या-साहित्य को पढ़ते हैं तो स्पष्ट परिज्ञात होता है कि सूत्रीय शब्द-विन्दु में अर्थ-सिन्धु समाया हुआ है। एक-एक सूत्र पर, और एक-एक शब्द पर विस्तार से ऊहापोह किया गया है। इतना चिन्तन किया गया है, कि ज्ञान की निर्मल गंगा बहती हुई प्रतीत होती है। श्रमणाचार का सूक्ष्म विवेचन और इतना स्पष्ट चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने कहा है "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में जो यहाँ है वह अन्यत्र भी है, और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है। आचारांग में वाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के आचार का गहराई से विश्लेपण किया गया है।

आचारांग का विषय

पूर्व पंक्तियों में यह बताया है कि आचारांग का मुख्य प्रतिपाद्य विषय "आचार" है। समवायांग[1] और नन्दीसूत्र[2] में आचारांग में आये हुए विषय का संक्षेप में निरूपण इस प्रकार है—

आचार-गोचर, विनय, वैनयिक, (विनय का फल) उत्थितासन, णिषण्णासन और शयितासन, गमन, चंक्रमण, अशन आदि की मात्रा, स्वाध्याय प्रभृति में योग नियुञ्जन, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्तपान, उद्गम-उत्थान, एषणा प्रभृति की शुद्धि, शुद्धाशुद्ध के ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि।

आचारांग-निर्युक्ति में[3] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों का सार संक्षेप में इस प्रकार है।

(१) जीव-संयम, जीवों के अस्तित्व का प्रतिपादन और उसकी हिंसा का परित्याग।

(२) किन कार्यों के करने से जीव कर्मों से आबद्ध होता है और किस प्रकार की साधना करने से जीव कर्मों से मुक्त होता है।

(३) श्रमण को अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग समुपस्थित होने पर सदा समभाव में रहकर उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए।

(४) दूसरे साधकों के पास अणिमा, गणिमा, लघिमा आदि लब्धियों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य को निहार कर साधक सम्यक्त्व से विचलित न हों।

(५) इस विराट् विश्व में जितने भी पदार्थ हैं वे निस्सार हैं, केवल सम्यक्त्व रत्न ही सार रूप हैं। उसे प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करें।

(६) सद्गुणों को प्राप्त करने के पश्चात् श्रमणों को किसी भी पदार्थ में आसक्त बन कर नहीं रहना चाहिये।

(७) संयम-साधना करते समय यदि मोह-जन्य उपसर्ग उपस्थित हों तो उसे सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिये। पर साधना से विचलित नहीं होना चाहिये।

(८) सम्पूर्ण गुणों से युक्त अन्तक्रिया के सम्यक् प्रकार से आराधना करनी चाहिये।

(९) जो उत्कृष्ट-संयम-साधना, तपःआराधना भगवान् महावीर ने की, उसका प्रतिपादन किया गया है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं। चार चूलिकाओं से युक्त द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं, इस तरह कुल पच्चीस अध्ययन हैं। आचारांग निर्युक्ति में जो अध्ययनों का क्रम निर्दिष्ट

---

१. समवायांग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र ८९।

२. नन्दीसूत्र सूत्र ८०।

३. आचारांग निर्युक्ति गाथा ३३, ३४।

है, वह समवायांग के अध्ययन-क्रम से पृथक्ता लिये हुए हैं। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययनों का क्रम इस प्रकार है।

आचारांग निर्युक्ति[1]	समवायांग[2]
१. सत्थपरिण्णा	१. सत्थपरिण्णा
२. लोगविजय	२. लोकविजय
३. सीओसणिज्ज	३. सीओसणिज्ज
४. सम्मत्त	४. सम्मत्त
५. लोगसार	५. आवंती
६. धुत	६. धुत
७, महापरिण्णा	७. विमोहायण
८. विमोक्ख	८. उवहाणसुय
९. उवहाणसुय	९. महपरिण्णा

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में समवायांग के क्रम का ही अनुसरण किया है। पांचवें अध्ययन के दो नाम प्राप्त होते हैं—लोकसार और आवंती ! आचारांग-वृत्ति से यह परिज्ञात होता है कि उन्हें ये दोनों नाम मान्य थे।[3] आचारांग निर्युक्ति में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ अध्ययन माना है।[4] और चूर्णिकार तथा वृत्तिकार इन दोनों ने भी आचारांग निर्युक्ति के मत को मान्य किया है।[5] परन्तु स्थानांग[6] समवायांग[7] और प्रशमरति प्रकरण[8] में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ न मानकर नवम अध्ययन माना है।

आवश्यक निर्युक्ति तथा प्रभावकचरित आदि ग्रन्थों के आधार से यह स्पष्ट है कि वज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से ही आकाशगामिनीविद्या प्राप्त की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि वज्रस्वामी के समय तक महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था। किन्तु आचारांग वृत्तिकार के समय महापरिज्ञा अध्ययन नहीं था। विज्ञों का अभिमत है कि चूर्णिकार के समय महापरिज्ञा अध्ययन अवश्य रहा होगा पर उसके पठन-पाठन का क्रम बन्द कर दिया गया होगा।

आचारांग निर्युक्ति में आठवें अध्ययन का नाम "**विमोक्खो**" है तो समवायांग में उसका नाम "**विमोहायतन**" है। आचारांग में चार स्थलों पर "विमोहायतन" शब्द व्यवहृत हुआ है। जिससे प्रस्तुत अध्ययन का नाम "विमोहायतन" रखा है या विमोक्ष की चर्चा होने से विमोक्ष कहा गया हो।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार चूलायें हैं उनमें प्रथम और द्वितीय चूला में सात-सात अध्ययन हैं, तृतीय और चतुर्थ चूला में एक-एक अध्ययन हैं। चूर्णिकार की दृष्टि से **रुवसत्तिक्कय** यह द्वितीय चूला का चतुर्थ अध्ययन है; और **सद्दसत्तिक्कय** यह पांचवाँ अध्ययन है।

आचारांग सूत्र की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में और आचारांग की शीलांकवृत्ति में तथा प्रशमरति ग्रन्थ में **सद्दसत्तिक्कय** के पश्चात **रुवसत्तिक्कय**। इस प्रकार का क्रम सम्प्राप्त होता है।

---

१. आचारांग निर्युक्ति–गाथा–३१, ३२ पृष्ठ ९
२. समवायांग सूत्र प्रकीर्णक, समवाय सूत्र—८९
३. आचारांग वृत्ति पृष्ठ १९६।
४. आचारांग निर्युक्ति गाथा ३१-३० पृष्ठ ९।
५. आचारांग चूर्णी।
६. स्थानांग सूत्र ९।
७ समवायांग सूत्र ८९।
८. प्रशमरति प्रकरण ११४-११७।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ति, तत्त्वार्थराजवर्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के मननीय ग्रन्थों में आचारांग का जो परिचय प्रदान किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग में मन, वचन, काया, भिक्षा, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन और विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पूर्ण रूप से यह वर्णन प्राप्त होता है।

आचारांग का पद प्रमाण

आचारांगनिर्युक्ति[1] हारिभद्रीयनन्दीवृत्ति[2] नन्दीसूत्रचूर्णि[3] और आचार्य अभयदेव की समवायांगवृत्ति[4] में आचारांग सूत्र का परिमाण १८ हजार पद निर्दिष्ट है। पर, प्रश्न यह है कि पद क्या है ? जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[5] ने पद के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि पद अर्थ का वाचक और द्योतक है। बैठना, बोलना, अश्व वृक्ष आदि पद वाचक कहलाते हैं। प्र, परि, च, वा आदि अव्यय पदों का द्योतक कहा जाता है। पद के नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक और मिश्र आदि प्रकार हैं। अनुयोगद्वार वृत्ति[6] दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी[7] दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति[8] आचारांग शीलांक वृत्ति[9] में उदाहरण सहित पद का स्वरूप प्रतिपादित किया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने[10] पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अर्थ समाप्ति का नाम पद है।' पर आचारांग आदि में अठारह हजार पद बताये गए हैं। किन्तु पद के परिमाण के सम्बन्ध में परम्परा का अभाव होने से पद का सही स्वरूप जानना कठिन है। प्राचीन टीकाकारों ने भी स्पष्ट रूप से कोई समाधान नहीं किया है।

जयधवला में प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यमपद, ये तीन प्रकार बताये हैं। आठ अक्षरों वाला प्रमाण पद है। चार प्रमाण पदों का एक श्लोक या गाथा होती है। जितने अक्षरों से अर्थ का बोध हो वह अर्थपद है। १६३४८३०७८८८ अक्षरों वाला मध्यम पद कहलाता है। जय धवला का अनुसरण ही धवला-गोम्मटसार, अंगपण्णत्ती में हुआ है। प्रस्तुत दृष्टि से आचारांग के अठारह हजार पदों के अक्षरों की संख्या की परिगणना २९४ २६६ ५४१ १९८ ४००० होती है। और अठारह हजार पदों के श्लोकों की संख्या ९१९ ५८२ २३११ ८७००० बताई गई है।

यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पद-परिमाण प्रतिपादित किया गया है उस में काल क्रम की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। वर्तमान में जो आचारांग उपलब्ध है उस में कितनी ही प्रतियों में दो हजार छः सौ चमालीस श्लोक प्राप्त होते हैं तो कितनी ही प्रतियों में दो हजार चार सौ चोपन, तो कितनी प्रतियों में दो हजार पांच सौ चोपन भी मिलते हैं। यदि हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के उजाले की भाँति यह ज्ञात हुये बिना नहीं रहेगा कि जैन आगम-साहित्य के साथ ही यह बात नहीं हुयी है किन्तु बौद्ध त्रिपिटिक-मज्झिम निकाय, दीघनिकाय, संयुक्त निकाय में जो सूत्र संख्या बताई गई है वह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। वही बात वैदिक-परम्परा मान्य ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और पुराण-साहित्य के

---

१. आचारांग निर्युक्ति गाथा ११।
२. हारिभद्रीया नन्दीवृत्ति पृष्ठ ७६।
३. नन्दीसूत्र चूर्णी पृष्ठ ६२।
४. समवायांग वृत्ति पृष्ठ १०८।
५. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १००३, पृष्ठ ४८-६७।
६. अनुयोगद्वार वृत्ति पृष्ठ २४३-२४४।
७. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी, पृष्ठ ९।
८. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति १।१
९. आचारांग शीलांकवृत्ति १।१
१०. कर्मग्रन्थ—प्रथम कर्मग्रन्थ गाथा ७।

सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मैं चाहूँगा कि आगम के मूर्धन्य मनीषी गण इस सम्बन्ध में प्रमाण पुरस्सर तर्कयुक्त समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि समवायांग और नन्दी सूत्र में आचारांग की जो अठारह हजार पद-संख्या बताई है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों की है, यह बात आचार्य भद्रबाहु और अभयदेवसूरि ने पूर्ण रूप से स्पष्ट की है। यह हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि महापरिज्ञा अध्ययन चूर्णिकार के पश्चात् विच्छिन्न हो गया है। यह सत्य है कि आचार्य शीलांक के पहले उस का विच्छेद हुआ है। ऐसी अनुश्रुति है कि महापरिज्ञा अध्ययन में ऐसे अनेक चामत्कारिक मन्त्र आदि विद्याएँ थीं जिस के कारण गम्भीर पात्र के अभाव में उस का पठन-पाठन बन्द कर दिया गया। पर, प्रस्तुत अनुश्रुति के पीछे ऐतिहासिक प्रबल-प्रमाण का अभाव है। निर्युक्तिकार का ऐसा अभिमत है कि आचार-चूला के सातों अध्ययन महापरिज्ञा के सात उद्देशकों से निर्यूढ़ किये गये हैं।[1] इससे यह स्पष्ट है कि महापरिज्ञा में जिन-विषयों पर चिन्तन किया गया उन्हीं विषयों पर सातों अध्ययनों में चिन्तन-निर्यूढ़ किया गया हो। मनीषियों का ऐसा भी मानना है कि महापरिज्ञा से उद्धृत सातों अध्ययन पठन-पाठन में व्यवहृत होने लगे। तब महापरिज्ञा अध्ययन का पठन-पाठन बन्द हो गया होगा अथवा उसके अध्ययन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की जाने लगी होगी। जिससे वह विच्छिन्न हुआ।

आचारांग के नाम

आचारांग निर्युक्ति में आचारांग के दश पर्यायवाची नाम प्राप्त होते हैं।[2]

१. **आयार**—यह आचरणीय का प्रतिपादन करने वाला है। एतदर्थ आचार है।
२. **आचाल**—यह निविड बंध को आचालित (चलित) करता है अतः आचाल है।
३. **आगाल**—चेतना को सम धरातल में अवस्थित करता है अतः आगाल है।
४. **आगर**—यह आत्मिक-शुद्धि के रत्नों को पैदा करने वाला है अतः आगर है।
५. **आसास**—यह संत्रस्त चेतना को आश्वासन प्रदान करने में सक्षम हैं, अतः आश्वास है।
६. **आयरिस**—इसमें इतिकर्तव्यता का स्वरूप देख सकते हैं अतः यह आदर्श है।
७. **अङ्ग**—यह अन्तस्तल में अहिंसा आदि जो भाव रहे हुए हैं, उनको व्यक्त करता है अतः अंग है।
८. **आइण्ण**—प्रस्तुत आगम में आचीर्ण धर्म का निरूपण किया गया है अतः यह आचीर्ण है।
९. **आजाइ**—इससे ज्ञान आदि आचारों की प्रसूति होती है अतः आजाति है।
१०. **आमोक्ख**—बन्धन-मुक्ति का यह साधन है अतः आमोक्ष हैं।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने[3] लिखा है कि शिष्यों के अनुग्रहार्थ श्रमणाचार के गुरुतम रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये आचारांग की चूलाओं का आचार में से निर्यूहण किया गया है। किस-किस अध्ययन को कहाँ-कहाँ से निर्यूढ किया गया है उसका उल्लेख आचारांग चूर्णी में[4] भी और आचारांग वृत्ति[5] में भी प्राप्त होता है। वह तालिका इस प्रकार है

---

१. आचारांग निर्युक्ति गाथा—२९०
२. आचारांग निर्युक्ति गाथा ७
३. आचारांग निर्युक्ति गाथा ७ से १० तक।
४. आचारांग चूर्णी सूत्र ८७, ८८, ८९, २४०, १६२, १६६, १०२
५. आचारांग वृत्ति पृष्ठ ३१९ से ३२० तक।

निर्यूहण-स्थल आचारांग अध्ययन	उद्देशक	निर्यूढ़ अध्ययन आचार चूला अध्ययन
२	५	१, २, ५, ६, ७
८	२	१, २, ५, ६, ७
५	४	३
६	५	४
७	१–७	१८–४
१		१५
६	२–४	१६

प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवां प्राभृत।

आचार—प्रकल्प (निशीथ)

आचारांग निर्युक्ति में केवल निर्यूहण स्थल के अध्ययन और उद्देशकों का संकेत किया है। कहीं-कहीं पर चूर्णीकार[1] और वृत्तिकार[2] ने निर्यूहण सूत्रों का भी संकेत किया हैं।

निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में जिन निर्देशों का सूचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि आचार चूला आचारांग से उद्धृत नहीं है अपितु आचारांग के अति संक्षिप्त पाठ का विस्तार पूर्वक वर्णन है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि आचारांग निर्युक्ति से भी होती है।[3] आचाराग्र में जो अग्र शब्द आया है वह वहाँ पर उपकाराग्र के अर्थ में है। आचारांग चूर्णी में उपकाराग्र का अर्थ पूर्वोक्त का विस्तार और अनुक्त का प्रतिपादन करने वाला होता है। आचाराग्र में आचारांग के जिस अर्थ का प्रतिपादन हैं, उस अर्थ का उसमें विस्तार तो है ही साथ ही उसमें अप्रतिपादित अर्थ का भी प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए उसको आचार में प्रथम स्थान दिया गया है।

आचारांग के रचयिता

आचारांग के प्रथम वाक्य से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर महावीर थे और सूत्र के रचयिता पंचम गणधर सुधर्मा! यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् अर्थ रूप में जब देशना प्रदान करते हैं तो प्रत्येक गणधर अपनी भाषा में सूत्रों का निर्माण करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे और नौ गण थे। ग्यारह गणधरों में आठवें और नौवें तथा दशवें और ग्यारहवें गणधरों की वाचनायें सम्मिलित थीं जिस के कारण नौ गण कहलाये। भगवान् महावीर के समय इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर शेष गणधरों का निर्वाण हो चुका था। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जिस के कारण वर्तमान में जो अंग-साहित्य उपलब्ध है वह सुधर्मा स्वामी की देन है।

आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम आचार या ब्रह्मचर्य तथा नव ब्रह्मचर्य ये नाम उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मचर्य नाम तो है ही! किन्तु नौ अध्ययन होने से नव ब्रह्मचर्य के नाम से भी वह प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रसिद्ध है। विज्ञों की यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित ही है किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वह स्थविरकृत है।[4]

---

१. जैन आगम साहित्यः मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण १

२. जैन आगम साहित्यःमनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण २

३. आचारांग निर्युक्ति गाथा २८६।

४. आचारांग निर्युक्ति गाथा २८७।

स्थविर का अर्थ चूर्णीकार ने गणधर किया है[1]। और आचार्य शीलांक ने चतुर्दशपूर्वविद् किया है[2]! किन्तु स्थविर का नाम उल्लिखित नहीं है। यह माना जाता है प्रथम श्रुतस्कन्ध के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग का अर्थ आचाराग्र में प्रविभक्त किया।

सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि पाँचों चूलाओं के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति है? क्योंकि आचारांग निर्युक्ति में स्थविर शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है[3] जिससे यह ज्ञात होता है कि उसके रचयिता अनेक व्यक्ति होने चाहिये। समाधान है कि 'स्थविर' शब्द का बहुवचन में जो प्रयोग हुआ है वह सम्मान का प्रतीक है। पाँचों की चूलाओं के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

आचारांग चूर्णि में वर्णन है कि स्थूलिभद्र की बहन साध्वी यक्षा महाविदेह-क्षेत्र में भगवान् सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ गयी थीं। लौटते समय भगवान ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन दिये[4]। आचार्य हेमचन्द्र ने[5] परिशिष्ट पर्व में यक्षा साध्वी के प्रसंग का चित्रण करते हुए लिखा है कि भगवान सीमंधर ने भावना और विमुक्ति, रतिवाक्या (रतिकल्प) और विविक्तचर्या के चार अध्ययन प्रदान किये। संघ ने दो अध्ययन आचारांग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप में और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप में स्थापित किये। आवश्यक चूर्णि में दो अध्ययनों का वर्णन है—तो परिशिष्ट-पर्व में चार अध्ययनों का उल्लेख है। आचार्य हेमचन्द्र ने दो अध्ययनों का समर्थन किस आधार से किया हैं? आचारांग-निर्युक्ति और दशवैकालिक-निर्युक्ति में प्रस्तुत घटना का कोई संकेत नहीं है। फिर वह आवश्यक-चूर्णि में किस प्रकार आ गयी यह शोधार्थी के लिये अन्वेषणीय है।

कितने ही निष्ठावान् विज्ञों का अभिमत है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता गणधर सुधर्मा ही है क्योंकि समवायांग और नन्दी में आचारांग का परिचय है। उससे यह स्पष्ट है कि वह परिशिष्ट के रूप में बाद में जोड़ा हुआ नहीं है।

निर्युक्तिकार ने जो आचारांग का पद-परिमाण बताया है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का है। पाँच चूलाओं सहित आचारांग की पद संख्या बहुत अधिक है। निर्युक्तिकार के प्रस्तुत कथन का समर्थन नन्दी चूर्णि और समवायांग वृत्ति में किया गया है। पर एक ज्वलन्त प्रश्न यह है कि आचारांग के समान अन्य आगमों में भी दो श्रुतस्कन्ध हैं पर उन आगमों में प्रथम श्रुतस्कन्ध की और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पद संख्या कहीं पर भी अलग-अलग नहीं बतायी है। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का पद-परिमाण किस आधार से दिया है? इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार व चूर्णिकार तथा वृत्तिकार मौन हैं। धवला और अंगपण्णत्ति जो दिगम्बर परम्परा के माननीय-ग्रन्थ हैं, इन में आचारांग की पद-संख्या भी श्वेताम्बर ग्रन्थों की तरह अठारह हजार बतायी है। उन्होंने जिन विषयों का निरूपण किया है वे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रतिपादित विषयों के साथ पूर्ण रूप से मिलते हैं।

समवायांग और नन्दी में, दृष्टिवाद में चौदह पूर्वों में चार पूर्वों के अतिरिक्त किसी भी अंग की चूलिकाएँ नहीं बतायी है। जबकि प्रत्येक अंग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, पद और अक्षरों तक की संख्या का निरूपण है। वहाँ पर चार पूर्वों की चूलिकायें बतायीं हैं किन्तु आचारांग की चूलिकाओं का निर्देश नहीं है। इस से यह स्पष्ट होता है कि चार पूर्वों के अतिरिक्त अन्य किसी भी आगम की चूलिकायें नहीं थीं।

निर्यूहण-स्थल आचारांग		निर्यूढ अध्ययन आचार चूला
अध्ययन	उद्देशक	अध्ययन
२	५	१, २, ५, ६, ७
८	२	१, २, ५, ६, ७
५	४	३
६	५	४
७	१–७	१८–४
१		१५
६	२–४	१६

प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवां प्राभृत ।

आचार—प्रकल्प (निशीथ)

आचारांग निर्युक्ति में केवल निर्यूहण स्थल के अध्ययन और उद्देशकों का संकेत किया है। कहीं-कहीं पर चूर्णीकार[1] और वृत्तिकार[2] ने निर्यूहण सूत्रों का भी संकेत किया हैं।

निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में जिन निर्देशों का सूचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि आचार चूला आचारांग से उद्धृत नहीं है अपितु आचारांग के अति संक्षिप्त पाठ का विस्तार पूर्वक वर्णन है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि आचारांग निर्युक्ति से भी होती है।[3] आचाराग्र में जो अग्र शब्द आया है वह वहाँ पर उपकाराग्र के अर्थ में है। आचारांग चूर्णी में उपकाराग्र का अर्थ पूर्वोक्त का विस्तार और अनुक्त का प्रतिपादन करने वाला होता है। आचाराग्र में आचारांग के जिस अर्थ का प्रतिपादन हैं, उस अर्थ का उसमें विस्तार तो है ही साथ ही उसमें अप्रतिपादित अर्थ का भी प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए उसको आचार में प्रथम स्थान दिया गया है।

आचारांग के रचयिता

आचारांग के प्रथम वाक्य से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर महावीर थे और सूत्र के रचयिता पंचम गणधर सुधर्मा! यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् अर्थ रूप में जब देशना प्रदान करते हैं तो प्रत्येक गणधर अपनी भाषा में सूत्रों का निर्माण करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे और नौ गण थे। ग्यारह गणधरों में आठवें और नौवें तथा दशवें और ग्यारहवें गणधरों की वाचनायें सम्मिलित थीं जिस के कारण नौ गण कहलाये। भगवान् महावीर के समय इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर शेष गणधरों का निर्वाण हो चुका था। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जिस के कारण वर्तमान में जो अंग-साहित्य उपलब्ध है वह सुधर्मा स्वामी की देन है।

आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम आचार या ब्रह्मचर्य तथा नव ब्रह्मचर्य ये नाम उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मचर्य नाम तो है ही! किन्तु नौ अध्ययन होने से नव ब्रह्मचर्य के नाम से भी वह प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रसिद्ध है। विज्ञों की यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित ही है किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वह स्थविरकृत है।[4]

---

१. जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण १

२. जैन आगम साहित्य:मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण २

३. आचारांग निर्युक्ति गाथा २८६।

४. आचारांग निर्युक्ति गाथा २८७।

स्थविर का अर्थ चूर्णीकार ने गणधर किया है[1]। और आचार्य शीलांक ने चतुर्दशपूर्वविद् किया है[2]! किन्तु स्थविर का नाम उल्लिखित नहीं है। यह माना जाता है प्रथम श्रुतस्कन्ध के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग का अर्थ आचाराग्र में प्रविभक्त किया।

सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि पाँचों चूलाओं के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति है? क्योंकि आचारांग निर्युक्ति में स्थविर शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है[3] जिससे यह ज्ञात होता है कि उसके रचयिता अनेक व्यक्ति होने चाहिये। समाधान है कि 'स्थविर' शब्द का बहुवचन में जो प्रयोग हुआ है वह सम्मान का प्रतीक है। पाँचों की चूलाओं के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

आचारांग चूर्णि में वर्णन है कि स्थूलिभद्र की बहन साध्वी यक्षा महाविदेह-क्षेत्र में भगवान् सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ गयी थीं। लौटते समय भगवान ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन दिये[4]। आचार्य हेमचन्द्र ने[5] परिशिष्ट पर्व में यक्षा साध्वी के प्रसंग का चित्रण करते हुए लिखा है कि भगवान सीमंधर ने भावना और विमुक्ति, रतिवाक्या (रतिकल्प) और विविक्तचर्या के चार अध्ययन प्रदान किये। संघ ने दो अध्ययन आचारांग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप में और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप में स्थापित किये। आवश्यक चूर्णि में दो अध्ययनों का वर्णन है—तो परिशिष्ट-पर्व में चार अध्ययनों का उल्लेख है। आचार्य हेमचन्द्र ने दो अध्ययनों का समर्थन किस आधार से किया हैं? आचारांग-निर्युक्ति और दशवैकालिक-निर्युक्ति में प्रस्तुत घटना का कोई संकेत नहीं है। फिर वह आवश्यक-चूर्णि में किस प्रकार आ गयी यह शोधार्थी के लिये अन्वेषणीय है।

कितने ही निष्ठावान् विज्ञों का अभिमत है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता गणधर सुधर्मा ही है क्योंकि समवायांग और नन्दी में आचारांग का परिचय हैं। उससे यह स्पष्ट है कि वह परिशिष्ट के रूप में बाद में जोड़ा हुआ नहीं है।

निर्युक्तिकार ने जो आचारांग का पद-परिमाण बताया है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का हैं। पाँच चूलाओं सहित आचारांग की पद संख्या बहुत अधिक है। निर्युक्तिकार के प्रस्तुत कथन का समर्थन नन्दी चूर्णि और समवायांग वृत्ति में किया गया है। पर एक ज्वलन्त प्रश्न यह है कि आचारांग के समान अन्य आगमों में भी दो श्रुतस्कन्ध हैं पर उन आगमों में प्रथम श्रुतस्कन्ध की और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पद संख्या कहीं पर भी अलग-अलग नहीं बतायी है। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का पद-परिमाण किस आधार से दिया है? इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार व चूर्णिकार तथा वृत्तिकार मौन हैं। धवला और अंगपण्णत्ति जो दिगम्बर परम्परा के माननीय-ग्रन्थ हैं, इन में आचारांग की पद-संख्या भी श्वेताम्बर ग्रन्थों की तरह अठारह हजार बतायी है। उन्होंने जिन विषयों का निरूपण किया है वे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रतिपादित विषयों के साथ पूर्ण रुप से मिलते हैं।

समवायांग और नन्दी में, दृष्टिवाद में चौदह पूर्वों में चार पूर्वों के अतिरिक्त किसी भी अंग की चूलिकाएँ नहीं बतायी है। जबकि प्रत्येक अंग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, पद और अक्षरों तक की संख्या का निरूपण है। वहाँ पर चार पूर्वों की चूलिकायें बतायीं हैं किन्तु आचारांग की चूलिकाओं का निर्देश नहीं है। इस से यह स्पष्ट होता है कि चार पूर्वों के अतिरिक्त अन्य किसी भी आगम की चूलिकायें नहीं थीं।

---

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३२६।
२. आचारांग वृत्ति, पत्र २९०।
३. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८७।
४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १८८।
५. परिशिष्ट पर्व–९।९७–१०० पृष्ठ–९०।

आचारांग और आचार प्रकल्प ये दोनों एक नहीं है। क्योंकि आचारांग कहीं से भी निर्यूढ नहीं किया गया हैं, जबकि आचार-प्रकल्प प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु आचार-नामक बीसवें प्राभृत से उद्धृत है। यह बात निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में स्पष्ट रूप से आयी है और यह बहुत ही स्पष्ट है कि साध्वाचार के लिए महान उपयोगी होने से चूला न होने पर भी चूला के रूप में उसे स्थान दिया गया है। समवायांग-सूत्र में "आयारस्स भगवओ सचूलियागस्स" यह पाठ आता है। संभव है पाठ में चूलिका शब्द का प्रयोग होने के कारण सन्देह-प्रद स्थिति उत्पन्न हुइ हो। जिससे पद संख्या और चूलिका के सम्बन्ध में आचारांग के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के रूप में आचारांग से भिन्न आचारांग की चूलिकायें आचाराग्र और आचारांग का परिशिष्ट मानने की निर्युक्तिकार आदि को कल्पना करनी पड़ी हो।

यह स्पष्ट है कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा बिलकुल पृथक् है, जिसके कारण चिन्तकों में यह धारणा बनी हुई है कि दोनों के रचयिता पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। पर आगम के प्रति जो अत्यन्त निष्ठावान है, उनका अभिमत हैं कि दोनों श्रुतस्कन्धों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में तात्त्विक-विवेचन की प्रधानता होने से सूत्र-शैली में उसकी रचना की गयी है। जिसके कारण उसके भाव-भाषा और शैली में क्लिष्टता आयी है और द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में साधना के रहस्य को व्याख्यात्मक दृष्टि से समझाया गया है। इसलिए उसकी शैली बहुत ही सुगम और सरल रखी गयी है। आधुनिक युग में कितने ही लेखक जब दार्शनिक पहलुओं पर चिन्तन करते हैं उस समय उनकी भाषा का स्तर अलग होता है और जब वे बाल-साहित्य का लेखन करते हैं उस समय उनकी भाषा पृथक् होती है। उसमें वह लालित्य नहीं होता और न वह गम्भीरता ही होती है। यही बात प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

सभी मूर्धन्य मनीषियों ने इस सत्य को एक स्वर से स्वीकारा है कि आचारांग सर्वाधिक प्राचीन आगम है। उसमें जो आचार का विश्लेषण हुआ है वह अत्यधिक मौलिक है।

रचना शैली

आचारांग सूत्र में गद्य और पद्य दोनों ही शैली का सम्मिश्रण है। गद्य का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। दशवैकालिक चूर्णि में[1] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गद्य के विभाग में रखा है। उसकी शैली चौर्ण पद मानी है। आचार्य हरिभद्र ने भी यही मत व्यक्त किया है।[2] आचार्य भद्रबाहु ने चौर्ण पद की व्याख्या करते हुए लिखा है "जो अर्थबहुल, महार्थ हेतु-निपात और उपसर्ग से गम्भीर बहुपाद अव्यवच्छिन्न गम और नय से विशुद्ध होता है वह चौर्णपद है।"[3]

प्रस्तुत परिभाषा में बहुपाद शब्द आया है जिसका अर्थ है पाद का अभाव ! जिसमें केवल गद्य ही होता है। पर चौर्ण वह है जिसमें गद्य के साथ बहुपाद (चरण) भी होते हैं। आचारांग सूत्र में गद्य के साथ पद्य भी है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आठवें अध्ययन का आठवां उद्देशक और नवम अध्ययन पद्य रूप में है। शेष छः अध्ययनों में पन्द्रह पद्य तो स्पष्ट रूप से प्राप्त होते है। टीकाकार ने जहाँ-जहाँ पर पद्य है उसका सूचन किया है। केवल ७८ और ७९ उन दो श्लोकों का उल्लेख टीका में नहीं है। तथापि मुनि श्री जम्बूविजयजी ने उसे पद्य रूप में दिये हैं। ९९ सूत्र पद्यात्मक है ऐसा सूचन अनेक स्थलों पर हुआ है। तथापि उसमें छन्द की दृष्टि से कुछ न्यूनता है। आचारांग में ऐसे अनेक स्थल पद्य रूप में प्रतीत होते हैं पर वे गद्य-रूप में ही आचारांग में व्य[illegible] वे पद्य होंगे किन्तु आज वे पद्य रूप में व्यवहृत नहीं है। कितने

१. दशवैकालिक चूर्णि पृ० ७८।
२. दशवैकालिक वृत्ति पृ० ८८।
३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा, १७४।

आनन्द ले सकते है और पद्य-रूप में भी ! द्वितीय श्रुतस्कन्ध का अधिकांश भाग गद्य रूप में है। पन्द्रहवें अध्ययन में अठारह पद्य प्राप्त होते हैं और सोलहवाँ अध्ययन पद्य रूप में है। वर्तमान में आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में १४६ पद्य उपलब्ध हैं। समवायांग और नन्दीसूत्र में जो आचारांग का परिचय उपलब्ध हैं उसमें संख्येय वेष्टक और संख्येय श्लोक बताये हैं।

डाक्टर शुब्रिंग ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पद्यों की तुलना बौद्धत्रिपिटक-सुत्तनिपात के साथ की है। आचारांग के पद्य विविध छन्दों में उपलब्ध होते हैं। उसमें आर्या, जगती, त्रिष्टुभ, वैतालिय अनुष्टुप श्लोक आदि विविध छन्द हैं। आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम दो चूलिकाएँ पूर्ण गद्य में हैं, तृतीय चूलिका में भगवान् महावीर के दान-प्रसंग में छः आर्याओं का प्रयोग हुआ है, दीक्षा, शिविका में आसीन होकर प्रस्थान करने का वर्णन ग्यारह आर्याओं में हैं और जिस समय दीक्षा ग्रहण करते हैं उस समय जन-मानस का चित्रण भी दो आर्याओं में किया गया है। महाव्रतों की भावनाओं का वर्णन अनुष्टुप् छन्दों में किया गया है। चतुर्थ चूलिका में जो पद्य हैं वे उपजाति प्रतीत होते हैं। सुत्तनिपात के आमगन्ध सुत्त में इस तरह के छन्द के प्रयोग दृग्गोचर होते हैं।

आचारांग की भाषा

सामान्य रूप से जैन आगमों की भाषा अर्ध मागधी हैं, यद्यपि जैन परम्परा का ऐतिहासिक-दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होगा कि जैन-परम्परा ने भाषा पर इतना बल नहीं दिया है, उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि मात्र भाषा ज्ञान से न तो मानव की चित्त-शुद्धि हो सकती है और न आत्म-विकास ही हो सकता है। चित्त-विशुद्धि का मूलकारण सद्विचार है। भाषा विचारों का वाहन है, इसलिए जैन मनीषिगण संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य प्रान्तीय भाषाओं को अपनाते रहे हैं और उनमें विपुल-साहित्य का भी सृजन करते रहे हैं। यही कारण है आचारांग सूत्र की भाषा-शैली में भी परिवर्तन हुआ है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा बहुत ही गठी हुई सूत्रात्मक हैं तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा कुछ शिथिल और व्यास-प्रधान है।

यह स्पष्ट हैं कि भाषा के स्वरूप में परिवर्तन होता आया है। आचार्य हेमचन्द्र ने आगमों की भाषा को आर्ष-प्राकृत कहा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक हैं कि वैदिक परम्परा में ऋषियों के शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया किन्तु अर्थ की सुरक्षा पर उतना बल नहीं दिया गया है ? जिसके फलस्वरूप वेदों के शब्द प्रायः सुरक्षित हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से विज्ञों में पर्याप्त मत-भेद है, वैदिक विज्ञों ने आज दिन तक शब्दों की सुरक्षा के लिए बहुत ही प्रयास किया है पर अर्थ की दृष्टि से कोई विशेष प्रयास नहीं हुआ। पर जैन परम्परा ने शब्द की अपेक्षा अर्थ पर विशेष बल दिया है इस कारण पाठ भेद तो मिलते हैं, किन्तु अर्थ भेद नहीं मिलता। आचारांग सूत्र में भी पाठ-भेद की एक लम्बी परम्परा है। विभिन्न प्रतियों में एक ही पाठ के विविध रूप मिलते हैं। विशेष जिज्ञासु शोध कर्ताओं को मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित आचारांग-सूत्र के अवलोकन की मैं प्रेरणा करता हूँ। प्रस्तुत सम्पादन में भी महत्त्वपूर्ण पाठान्तर और उनकी भिन्न अर्थवत्ता का सूचन कर नई दृष्टि दी है। विस्तार-भय से उनकी चर्चा मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ पाठक स्वयं इसे पढ़कर लाभ उठायें। हाँ एक बात और है कि वेद के शब्दों में मन्त्रों का आरोपण किया गया, जिससे वेद के मन्त्र सुरक्षित रह गये। पर जैनागमों में मन्त्र-शक्ति का आरोपण न होने से अर्थ सुरक्षित रहा है, पर शब्द नहीं।

जैन आगमों की भाषा में परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि जैन आगम प्रारम्भ में लिखे नहीं गये थे। सुदीर्घकाल तक कण्ठस्थ करने की परम्परा रही। समय-समय पर द्वादश वर्षों के दुष्कालों ने आगम के बहुत अध्याय विस्मृत करा दिये। उनकी संयोजना के लिए अनेक वाचनाएँ हुईं। वीर निर्वाण ९८० में वल्लभीपुर नगर में देवार्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में आगमों को लिपिबद्ध किया गया। उसके पश्चात् आगमों का निश्चित-रूप स्थिर हो गया।

दार्शनिक विषय

आचारांग सूत्र में जैन दर्शन के मूलभूत तत्त्व गर्भित हैं, आचारांग के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। उस युग के अन्य दार्शनिकों के विचार से श्रमण भगवान महावीर की विचारधारा अत्यधिक भिन्न थी। पाली-पिटकों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर के समय अन्य अनेक श्रमण परम्पराएँ भी थीं। उन श्रमणों की विचारधारा क्रियावादी, अक्रियावादी के रूप में चल रही थी जो कर्म और उसके फल को मानते थे वे क्रियावादी थे। उसे जो नहीं मानते थे वे अक्रियावादी थे। भगवान महावीर और तथागत बुद्ध ये दोनों ही क्रियावादी थे। पर इन दोनों के क्रियावाद में अन्तर था। तथागत बुद्ध ने क्रियावाद को स्वीकार करते हुए भी शाश्वत आत्मवाद को स्वीकार नहीं किया। जबकि भगवान महावीर ने आत्मवाद की मूल भित्ति पर ही क्रियावाद का भव्य-भवन खड़ा किया है। जो आत्मवादी है वह लोकवादी है और जो लोकवादी है, वह कर्मवादी है, जो कर्मवादी है वह क्रियावादी है।[१] इस प्रकार भगवान महावीर का क्रियावाद तथागत बुद्ध से पृथक् है। कर्मवाद को प्रधानता देने के कारण ईश्वर, ब्रह्म आदि से संसार की उत्पत्ति नहीं मानी गई। सृष्टि अनादि है, अतएव उसका कोई कर्ता नहीं है। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा—जब तक कर्म है, आरम्भ-समारम्भ है, हिंसा है, तब तक संसार में परि-भ्रमण है, कष्ट है।[२]

जब आत्मा कर्म-समारम्भ का पूर्ण रूप से परित्याग करता है, तब उसके संसार-परिभ्रमण की परम्परा रुक जाती है। श्रमण वही है जिसने कर्म-समारम्भ का परित्याग किया है।[३] कर्म-समारम्भ का निषेध करने का मूल कारण यह है इस विराट्-विश्व में जितने भी जीव हैं उन्हें सुख-प्रिय है, कोई भी जीव दुःखों की इच्छा नहीं करता।[४] अन्य जीवों को जो दुःख का निमित्त बनता है वही कर्म है, हिंसा है। यह जानना आवश्यक है कि जीव कौन है और कहाँ पर है? आचारांग में जीव-विद्या को लेकर गहराई से चिन्तन हुआ है, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, त्रसकाय और वायुकाय इन जीवों का परिचय कराया गया है[५], यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्य आगम साहित्य में वायु को पाँच स्थावरों के साथ गिना है, पर यहाँ पर त्रसकाय के पश्चात्; यह किस अपेक्षा से अतिक्रम हुआ है यह चिन्तनीय है। और यह स्पष्ट किया है कि इन जीवनिकायों की हिंसा मानव अपने स्वार्थ के लिए करता है, पर उसे यह ज्ञात नहीं कि हिंसा से कितने कर्मों का बन्धन होता है। इसलिए सभी तीर्थंकरों ने एक ही उपदेश दिया कि तुम किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।[६] हिंसा से सभी प्राणियों को अपार कष्ट होता है इसलिए हिंसा कर्मबन्ध का एक कारण है।

मौलिक रूप में सभी आत्माएँ समान स्वभाव वाली हैं, किन्तु कर्म-उपाधि के कारण उनके दो रूप हो जाते हैं एक संसारी आत्मा और दूसरी मुक्त आत्मा। आत्मा तभी मुक्त बनता है जब वह कर्म से रहित बनता है। इसलिये कर्म विघात के मूल साधन ही आचारांग में प्राप्त होते हैं। आत्मा को विज्ञाता भी बताया है।[७] आत्मा ज्ञानमय है। इस प्रकार की मान्यताएँ हमें उपनिषदों में भी प्राप्त होती हैं।

भगवान महावीर ने लोक को ऊर्ध्व, मध्य और अधः इन तीन विभागों में विभक्त किया है[८]

---

१. आचारांग सूत्र १।३
२. आचारांग १०९
३. आचारांग ६, १३
४. आचारांग ८०
५. आचारांग ४८, ४६, ९, १, १३, १३
६. आचारांग सूत्र १२६
७. आचारांग सूत्र—१६५।
८. आचारांग सूत्र—९३।

अधोलोक में दुःख की प्रधानता है, मध्यलोक में सुख और दुःख इनकी मध्यम स्थिति है, न सुख की उत्कृष्टता है और न दुख की। ऊर्ध्वलोक में सुख प्रधान रूप से रहा हुआ है। लोकातीत स्थान सिद्धिस्थान और मुक्त स्थान कहलाता है। ऊर्ध्वलोक में देव लोक है, मध्यलोक में मानव प्रधान है और अधोलोक में नरक है। मध्यलोक एक ऐसा स्थान है जहाँ से जीव ऊपर और नीचे दोनों स्थानों पर जा सकता है। नारकीय जीव देव नहीं वन सकता और देव नारकीय नहीं वन सकता, पर मानव लोक का जीव नरक में भी जा सकता है देव भी वन सकता है। उत्कृष्ट पाप के फल को भोगने का स्थान नरक है और पुण्य के फल को भोगने का स्थान स्वर्ग है। अच्छे कृत्य करने वाला स्वर्ग में पैदा होता है और बुरे कृत्य करने वाला नरक में। यदि मनुष्य वनकर वह साधना करता है तो मुक्त वन जाता है। वह संसार चक्र को समाप्त कर देता है। लोक और अलोक का स्पष्ट[1] उल्लेख प्राप्त होता है।

आचारांग के अनुसार अहिंसक जीवन का अर्थ है—संयमी-जीवन ! भगवान महावीर और बुद्ध दोनों ने सदाचार पर बल दिया है, यहाँ जातिवाद को विलकुल महत्त्व नहीं दिया गया है।

आचारांग में साधना-पक्ष—

तथागत बुद्ध साधना के उषा-काल में उग्रतम साधना करते रहे पर उन्हें उस से आनन्द की उपलब्धि नहीं हुयी। जिसके कारण उन्होंने उग्र-साधना का परित्याग कर ध्यान का आलम्बन लिया। उनका यह अभिमत वन गया कि उग्र साधना ध्यान-साधना में वाधक हैं। पर प्रभु महावीर की साधना का जो शब्दचित्र आचारांग में प्राप्त है वह वहुत ही कठोर थी। प्रभु महावीर चार-चार माह तक एक ही स्थान पर अवस्थित होकर साधना करते थे। उन्होंने छः माह तक भी अन्न और जल ग्रहण नहीं किया तथापि उनकी वह उग्र-साधना ध्यान में वाधक नहीं अपितु साधक थी। प्रभु महावीर निरन्तर ध्यान-साधना में लगे रहते थे। उन्होंने अपने श्रमण-संघ की जो आचार-संहिता वनाई वह भी अत्यन्त उग्र साधना युक्त थी। श्रमण के अशन, वशन, पात्र, निवास-स्थान के सम्वन्ध में यह नियम बनाया; कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई गई हो या पुरातन-पदार्थ में नवीन-संस्कार किया गया हो तो वह भी भिक्षु के लिये अग्राह्य हैं। वह उद्दिष्ट-त्यागी है। यदि उसे अनुद्दिष्ट मिल जाए तो और उसके लिये उपयोगी हो तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। जैन श्रमण अन्य बौद्ध और वैदिक परम्परा के भिक्षुओं की तरह किसी के घर पर भोजन का निमन्त्रण भी ग्रहण नहीं करता था। बौद्ध-साहित्य में बौद्ध-श्रमणों के लिये स्थान-स्थान पर आवास हेतु विहारों के निर्माण का वर्णन है। और वैदिक परम्परा के तापसों के लिये आश्रमों की व्यवस्था वताई गई है किन्तु जैन-श्रमणों के लिये किसी भी प्रकार में निवास-स्थान का निर्माण करना निषिद्ध माना गया था। यदि निर्माण भी उसके निमित्त किया गया हो तो उसमें श्रमण अवस्थित नहीं हो सकता था। वौद्ध-भिक्षुओं के लिये वस्त्र-ग्रहण करना अनिवार्य था। श्रमणों के निमित्त क्रय करके जो गृहस्थ वस्त्र देता था उसे तथागत-बुद्ध सहर्ष-स्वीकार करते थे। बुद्ध ने श्रमणों के निमित्त से दिये गये वस्त्रों को ग्रहण करना उचित माना था। पर जैन श्रमणों के लिये वस्त्र-ग्रहण करना उत्सर्ग मार्ग नहीं था और उसके निमित्त निर्मित-क्रीत वस्त्र को वह ग्रहण भी नहीं कर सकता था। और न वह वहुमूल्य, उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता था। उसके पास वस्त्र होने पर ग्रीष्म-ऋतु आदि में वस्त्र-धारण करना आवश्यक न होता तो वह उसे धारण नहीं करता और आवश्यक होने पर लज्जा-निवारणार्थ अनासक्त-भाव से वस्त्र का उपयोग करता था। श्रमण भिक्षा से अपना जीवनयापन करता था। भोजन के निमित्त से होने वाली सभी प्रकार की हिंसा से वह मुक्त था। भगवान महावीर के युग में स्थूल जीवों की हिंसा से जन-मानस परिचित था। पर त्यागी और संन्यासी कहलाने वाले व्यक्तियों को भी सूक्ष्म-हिंसा का परिज्ञान नहीं था। वे नित्य नयी मिट्टी खोदकर लाते और आश्रम का लेपन करते थे। अनेकों वार स्नान करने में धर्म का अनुभव करते

---

१. आचारांग सूत्र १२०।

तथागत बुद्ध भी पानी में जीव नहीं मानते थे[1] वैदिक परम्परा में 'चउसट्ठीए मट्टियाहि स ण्हाति" वह चौसठ बार मिट्टी से स्नान करता है। पंचाग्नि तप तापने में साधना की उत्कृष्टता मानी जाती, विविध प्रकार से वायुकाय के जीवों की विराधना की जाती और कन्द-मूल-फल-फूल के आहार को निर्दोष आहार माना जाता। वैदिक-परम्परा के ऋषिगण गृह का परित्याग कर पत्नी के साथ जंगल में रहते थे। वे गृह-त्याग तो करते थे पर पत्नी-त्याग नहीं।

भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा कि श्रमण को स्त्री-संग का पूर्ण त्याग करना चाहिये। क्योंकि स्त्री-संग से नाना प्रकार के प्रपंच करने पड़ते हैं। जिसमें केवल बन्धन ही बन्धन है। अतः सन्तों को गृह-त्याग ही नहीं सर्व-संग-परित्यागी होना चाहिये। अहिंसा महाव्रत के पूर्ण रूप से पालन करने से अन्य सभी महाव्रतों का पालन सहज संभव था। श्रमण किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करे और न दूसरों को करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन ही करे—मन, वचन और काया से। अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा के लिये रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है। श्रमण को भिक्षा में जो भी वस्तु उपलब्ध होती है वह उसे समभावपूर्वक ग्रहण करता था। परीषहों को सहन करते समय उसके मन में किंचित मात्र भी असमाधि नहीं होती थी। उसके मन में आनन्द की ऊर्मियाँ तरंगित होती रहती थीं। शारीरिक कष्ट का असर मन पर नहीं होता। क्योंकि ध्यानाग्नि से वह कषायों को जला देता था। भगवान महावीर का मुख्य लक्ष्य शरीर-शुद्धि नहीं आत्म-शुद्धि है। जिसके जीवन में अहिंसा की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है उसे ही आर्य कहा गया है और जिसके जीवन में हिंसा की प्रधानता है वह अनार्य है।

आचारांग सूत्र में ऐसे अनेक शब्द व्यवहृत हुये हैं जिनमें विराट् चिन्तन छिपा हुआ है। आचारांग के व्याख्याकारों ने उन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आचारांग में पवित्र आत्मार्थी श्रमणों के लिए "वसु" शब्द का प्रयोग मिलता है। "वसु" शब्द का प्रयोग वेद और उपनिषदों में पवित्र आत्मा का ही प्रतीक है उसे हँस भी कहा है। "वसु" शब्द का वही अर्थ पारसी धर्म के मुख्य ग्रन्थ "अवेस्ता" में भी है। कहीं कही पर "वसु" शब्द का प्रयोग "देव" और धन के अर्थ में आया है।

आचारांग में **आमगंध** शब्द का प्रयोग हुआ है। वह अपवित्र पदार्थ के अर्थ में है। वही अर्थ बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। बुद्धने कहा—प्राणघात, वध, छेद, चोरी, असत्य, वंचना, लूट, व्यभिचार आदि जितनी भी अनाचार मूलक प्रवृत्ति है वह सभी आमगंध है। इस प्रकार अनेक शब्द भाषा-प्रयोग की दृष्टि से व्यापकता लिए हुए हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

आचारांग सूत्र में जो सत्य तथ्य प्रति-पादित हुए हैं, । उन की प्रतिध्वनि वैदिक और बौद्ध वाङ्मय में निहारी जा सकती है। सत्य अनन्त है, उस अनन्त सत्य की अभिव्यक्ति कभी-कभी सहज रूप से एक सदृश होती है। यह कहना तो अत्यन्त कठिन है, कि किस ने किस से कितना ग्रहण किया ? पर एक-दूसरे के चिन्तन पर एक-दूसरे के चिन्तन का प्रभाव पडना सहज है। वह सत्य की सहज अभिव्यक्ति है। यदि धार्मिक-साहित्य का गहराई से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो सहज ही ज्ञान होगा कि कन्हीं भावों में एकरूपता है तो कहीं परिभाषा में एकरूपता है। कहीं पर युक्तियों की समानता है तो कहीं पर रूपक और कथानक एक सदृश आये हैं। यहाँ हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चिन्तन कर रहे हैं जिस से यह सहज परिज्ञात हो सके कि भारतीय परम्पराओं में कितना सामँजस्य रहा है।

---

१. न हि महाराज उदकं जीवति, नत्थि उदके जीवो वा सत्ता वा'

—**मिलिन्द पण्हो**, पृ० २५३ से २५५

आचारांग में आत्मा के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए कहा गया है—सम्पूर्ण लोक में किसी के द्वारा भी आत्मा का छेदन नहीं होता ? भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता और न हनन ही होता है।[1] इसी की प्रतिध्वनि सुवालोपनिषद्[2] और भगवद् गीता[3] में प्राप्त होती है। आचारांग में आत्मा के ही सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस का आदि और अन्त नहीं हैं उस का मध्य कैसे हो सकता हैं।[4] गौडपादकारिका में भी यही बात अन्य शब्दों में दुहराई गई है।[5]

आचारांग में जन्म-मरणातीत, नित्य, मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते हैं—समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती हैं। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता है।

मुक्त आत्मा न दीर्घ हैं, न ह्रस्व है, न वृत्-गोल है। वह न त्रिकोण हैं, न चौरस, न मण्डलाकार। वह न कृष्ण है, न नील, न पीला न लाल और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धि वाला है और न दुर्गन्धि वाला है। वह न तिक्त है न कड़ुआ न कषैला न खट्टा है न मधुर है। वह न कर्कश है, न कठोर है, न भारी है, न हल्का हैं, वह न शीत है, न उष्ण हैं, न स्निग्ध है न रूक्ष है।

वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है न नपुँसक है।

वह ज्ञाता हैं, वह परिज्ञाता है। उस के लिये कोई उपमा नहीं हैं। वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद हैं। वचन अगोचर के लिए कोई पद-वाचक शब्द नहीं। वह शब्द रूप नहीं; रूप मय नहीं हैं, गन्ध रूप नहीं हैं, रस रूप नहीं हैं, स्पर्श रूप नहीं हैं वह ऐसा कुछ भी नहीं। ऐसा मैं कहता हूँ।[6]

यही बात केनोपनिषद्,[7] कठोपनिषद,[8] वृहदारण्यक[9] माण्डुक्योपनिषद्[10] तैत्तिरीयोपनिषद्[11] और ब्रह्मविद्योपनिषद्[12] में भी प्रतिध्वनित हुयी है।

आचारांग में[13] ज्ञानियों के शरीर का विश्लेपण करते हुए लिखा है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते है, उन का माँस और रक्त शुष्क हो जाता है। यही बात अन्य शब्दों में नारद परिव्राजकोपनिषद्[14] एवं संन्यासोपनिषद्[15] में भी कही गई है।

---

१ स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ, कं च णं सव्वलोए—आचारांग १। ३। ३।

२ न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनो ऽयमात्मा॥
—सुवालोपनिषद् ९ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद् पृष्ठ २१०

३ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽ शोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलो ऽयं सनातनः॥ —भगवद्गीता अ - २, श्लोक-२३

४ आचारांग सूत्र १। ४। ४।

५ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने ऽवि तत्तथा —गौडपादकारिका, प्रकरण २ श्लोक—६

६ आचारांग सूत्र—१। ५। ६।

७ केनोपनिषद् खण्ड-१, श्लोक —३

८ कठोपनिषद् अ० १ श्लोक १५

९ बृहदारण्यक, ब्राह्मण ८ श्लोक -८

१० माण्डुक्योपनिषद्, श्लोक-७

११ तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २ अनुवाद-४

१२ ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१

१३ आगयपन्नाणाणं किसा बाहा भवंति पयणुए मंस-सोणिए —आचारांग १। ६। ३।

१४ नारद परिब्राजकोपनिषद्- ७ उपदेश।

१५ संन्यासोपनिषद् १ अध्याय

पाश्चात्य विद्वान् शुब्रिंग ने अपने सम्पादित आचारांग में आचारांग के वाक्यों की तुलना धम्मपद और सुत्तनिपात से की है। मुनि सन्तबालजी ने आचारांग की तुलना श्रीमद्गीता के साथ की है। विशेष जिज्ञासुओं को वे ग्रन्थ देखने चाहिये। हमने यहां पर केवल संकेत मात्र किया है।

व्याख्या साहित्य

आचारांग के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट करने के लिए समय-समय पर व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ है। उस आगमिक व्याख्या साहित्य को हम पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) निर्युक्तियाँ
(२) भाष्य
(३) चूर्णियाँ
(४) संस्कृत टीकाएँ
(५) लोकभाषा में लिखित व्याख्या साहित्य

निर्युक्ति

जैन आगम साहित्य पर प्राकृत भाषा में जो पद्य-बद्ध टीकाएँ लिखी गईं, वे निर्युक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तियों में प्रत्येक पद्य पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की हैं। निर्युक्ति की व्याख्या-शैली निक्षेप पद्धतिमय है। निक्षेप-पद्धति में किसी एक पद से संभावित अनेक अर्थ कहने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह शैली न्यायशास्त्र में प्रशस्त मानी जाती है। भद्रबाहु ने निर्युक्तियों का निर्माण किया। निर्युक्तियाँ सूत्र और अर्थ का निश्चित अर्थ बताने वाली व्याख्या है। निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति निर्युक्ति है।

जर्मन विद्वान् शारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं। डाक्टर घाटके ने निर्युक्तियों को तीन भागों में विभक्त किया है।

(१) मूल निर्युक्तियां; जिसमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।

(२) जिनमें मूल भाष्यों का संमिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र आदि की निर्युक्तियाँ।

(३) वे निर्युक्तियाँ, जिन्हें आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य कहते हैं। जिनमें मूल और भाष्य में इतना संमिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकते, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

यह वर्गीकरण वर्तमान में जो निर्युक्ति साहित्य उपलब्ध है उसके आधार से किया गया है। जैसे वैदिक-परम्परा में महर्षि व्यास ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या रूप निघण्टु भाष्य रूप में निरुक्त लिखा। वैसे ही जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखी। आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि श्रुत केवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखी। उसके पश्चात् गोविन्द-वाचक जैसे आचार्यों ने निर्युक्तियाँ लिखी। उन सभी निर्युक्ति गाथाओं का संग्रह कर तथा अपनी ओर से कुछ नवीन गाथा बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों को व्यवस्थित रूप दिया। यह सत्य है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगम-काल में भी थी। 'सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' यह पाठ उपलब्ध होता है। उन्हीं मूल निर्युक्तियों को आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने उसे अन्तिम रूप दिया है।

इस समय दश आगमों पर निर्युक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार है—

१—आवश्यक
२—दशवैकालिक
३—उत्तराध्ययन
४—आचारांग
५—सूत्रकृतांग
६—दशाश्रुतस्कन्ध
७—वृहत्कल्प
८—व्यवहार
९—सूर्यप्रज्ञप्ति
१०—ऋषिभाषित

आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों पर निर्युक्ति प्राप्त होती है। मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट दिल्ली द्वारा मुद्रित "आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च" की प्रस्तावना में मुनि श्री जम्बूविजय जी ने आचारांग की निर्युक्ति का गाथा-परिमाण ३६७ बताया है और महावीर विद्यालय द्वारा मुद्रित "आयारंग सुत्तं" प्रस्तावना में उन्होंने यह स्पष्ट किया है। आचारंग सूत्र की चतुर्थ चूला तक आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित ३५६ गाथायें हैं। मुनि श्री जम्बूविजयजी का यह अभिमत है कि निर्युक्ति की ३४६ गाथाएँ और महापरिज्ञा अध्ययन की ७ गाथाएँ—इस प्रकार ३५३ गाथाएँ हैं। (पृष्ठ ३५९) तीन गाथाएँ मुद्रित होने में छूट गई हैं। किन्तु ऋषभदेव जी केशरीमलजी रतलाम की ओर से प्रकाशित आवृत्ति में ३५६ गाथाएँ हैं। पर, हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति की गाथा १८ है। इस प्रकार ३६७ गाथाएँ मिलती है। 'जैन साहित्य का बृहद इतिहास' भाग तीन, पृष्ठ ११० पर ३५७ गाथाओं का उल्लेख है। निर्युक्ति की प्राचीनतम प्रति का आधार ही विशेष विश्वनीय है।

आचारांग-निर्युक्ति, उत्तराध्ययन निर्युक्ति के पश्चात् और सूत्रकृतांग निर्युक्ति के पूर्व रची हुई है। सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार कर आचार, अंग, श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र-परिज्ञा, संज्ञा और दिशा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। चरण के छह निक्षेप हैं, दिशा के सात निक्षेप हैं और शेष चार-चार निक्षेप हैं। आचार के पर्यायवाची एकार्थक शब्दों का उल्लेख करते हुए आचारांग के महत्व का प्रतिपादन किया है। आचारांग के नौ ही अध्ययनों का संक्षेप में सार प्रस्तुत किया है। शस्त्र और परिज्ञा इन शब्दों पर नाम, स्थापना आदि निक्षेपों से चिन्तन किया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी अग्र शब्द पर निक्षेप दृष्टि से विचार करते हुए उसके आठ प्रकार बताये हैं। १—द्रव्याग्र २—अवगाहनाग्र ३—आदेशाग्र ४—कालाग्र ५—क्रमाग्र ६—गणनाग्र ७—संचयाग्र ८—भावाग्र। भावाग्र के तीन भेद हैं—१—प्रधानाग्र, २ प्रभूताग्र, ३ उपकाराग्र। यहाँ पर उपकाराग्र का वर्णन है। चूलिकाओं के अध्ययन की भी निक्षेप की दृष्टि से व्याख्या की है।

चूर्णि

निर्युक्ति के पश्चात् "हिमवन्त थेरावली" के अनुसार आचार्य गन्धहस्ती द्वारा विरचित आचारांग-सूत्र के विवरण की सूचना है। आचार्य गन्धहस्ती का समय सम्राट् विक्रम के २०० वर्ष के पश्चात् का है। आचार्य शीलांक ने भी प्रस्तुत विवरण का सूचन करते हुए कहा है कि 'वह अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण मैं बहुत ही सरल और सुगम वृत्ति लिख रहा हूँ।' पर आज वह विवरण उपलब्ध नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ भी लिखा नहीं जा सकता।

आचारांग सूत्र पर कोई भी भाष्य नहीं लिखा गया है। उसकी पाँचवी चूला निशीथ है। उस पर भाष्य मिलता है। निर्युक्ति पद्यात्मक है, किन्तु चूर्णि गद्यात्मक है। चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। आचारांग चूर्णि में उन्हीं विषयों का विस्तार किया गया है, जिन विषयों पर आचारांग निर्युक्ति में चिन्तन किया गया है। अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा,

दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्वी, अप्-तेज-काय, लोकविजय, परिताप, विहार, रति-अरति, लोभ, जुगुप्सा, गोत्र, ज्ञाति, जातिस्मरण, एषणा, देशना, बन्ध, मोक्ष, परीषह, तत्त्वार्थ-श्रद्धा, जीव-रक्षा, अचेलकत्व, मरण-संलेखना, समनोज्ञत्व, तीन याम, तीन वस्त्र, भगवान महावीर की दीक्षा, देवदूष्य आदि प्रमुख विषयों पर व्याख्या की गई है। चूर्णिकार ने भी निर्युक्तिकार की तरह निक्षेप दृष्टि का उल्लेख करके शब्दों के अर्थ की उद्भावना की है।

चूर्णिकार के सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय प्राप्त नहीं होता है। यों प्रस्तुत चूर्णि के रचयिता जिनदास गणी माने जाते हैं। कुछ ऐतिहासिक विज्ञों का मत है कि आचारांग चूर्णि के रचयिता गोपालिक महत्तर के शिष्य होने चाहिये; यह तथ्य अभी अन्वेषणीय है।[1]

आगम प्रभावक मुनि पुण्यविजय जी का मन्तव्य है[2] कि चूर्णि साहित्य में नागार्जुनीय वाचना के उल्लेख अनेक बार आये हैं। आचारांग चूर्णि में भी पन्द्रह बार उल्लेख हुआ है। चूर्णि में अत्यन्त ऐतिहासिक सामग्री का सँकलन है। सूत्र (२००) की चूर्णि में लोक-स्वरूप के सम्बन्ध में शून्यवादी बौद्धदर्शन के जाने-माने नागार्जुन के मत का भी निर्देश है। बौद्ध-सम्मत क्षणभंगुरता के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। साँख्य-दर्शन के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। प्राचीन-युग में जैन परम्परा में यापनीय संघ था उस यापनीय संघ के कुछ विचार श्वेताम्बर परम्परा से मिलते थे। आचारांग-चूर्णि में यापनीय संघ के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार आचारांग-चूर्णि का व्याख्या-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व है।

टीका

चूर्णि के पश्चात् आचारांग सूत्र के व्याख्या-साहित्य में टीका साहित्य का स्थान है। चूर्णि साहित्य में प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ था और गौणरूप में संस्कृत भाषा का। पर टीकाओं में संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है, उन्होंने प्राचीन व्याख्या साहित्य के आलोक में ऐसे अनेक नये तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक आनन्द-विभोर हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से जिस समय टीकाएँ निर्माण की गई उस समय अन्य मतावलम्बी जैनाचार्यों को शास्त्रार्थ के लिये चुनोतियाँ देते थे। जैनाचार्यो ने अकाट्य तर्कों से उनके मत का निरसन करने का प्रयत्न किया।

आचारांग पर प्रथम संस्कृत टीकाकार आचार्य शीलांक हैं। उनका अपर नाम शीलाचार्य और तत्त्वादित्य भी मिलता है। उन्होंने प्रभावक-चरित के अनुसार नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं। पर इस समय आचारांग और सूत्रकृतांग इन दो आगमों पर ही उनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं। शीलांक का समय विक्रम की नौवीं दशमीं शताब्दी है। आचारांग की टीका मूल और निर्युक्ति पर अवलम्बित है। प्रत्येक विषय पर विस्तार से विवेचन किया है। पर शैली और भाषा सुबोध है, पूर्व के व्याख्या-साहित्य से यह अधिक विस्तृत है। वर्तमान में आचारांग को समझने के लिये यह टीका अत्यन्त उपयोगी है। इस वृत्ति के श्लोकों का परिमाण १२००० है। प्रस्तुत वृत्ति में नागार्जुन वाचना का दसस्थानों पर उल्लेख हुआ है। यह सत्य है कि वृत्तिकार के सामने चूर्णि विद्यमान थी। इसलिये उन्होंने अपनी वृत्ति में उल्लेख किया है।

आचार्य शीलांक के पश्चात् जिन आचार्यों ने आचारांग पर टीकाएँ लिखी हैं, उन सब का मुख्य आधार आचार्य शीलांक की वृत्ति रही है। अंचल गच्छ के मेरुतुंग सूरि के शिष्य माणक्यशेखर द्वारा रचित एक दीपिका प्राप्त होती है। जिनसमुद्रसूरि के शिष्य रत्न जिनहस की दीपिका भी मिलती है। हर्ष कल्लोल के शिष्य लक्ष्मी कल्लोल की अवचूरि और पार्श्वचन्द्र सूरि का बालावबोध उपलब्ध होता है। विस्तार भय से हम उनका यहाँ परिचय नहीं दे रहे हैं।

---

१. देखें; उत्तराध्ययन चूर्णि पृष्ठ-२८३।
२. जैन आगमधर और प्राकृतवाङ्मय।

स्थानकवासी परम्परा के विद्वान् आचार्य घासीलाल जी म० द्वारा आगमों पर रचित संस्कृत टीकाएँ भी अपने ढंग की है।

टीका साहित्य के पश्चात अँग्रेजी, हिन्दी और गुजराती में आचाराङ्ग का अनुवाद साहित्य भी प्रकाशित हुआ। डाक्टर हर्मन जेकोवी ने आचाराङ्ग का अँग्रेजी में अनुवाद किया और उस पर महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखी। मुनिश्री सन्तवाल जी ने आचाराङ्ग सूत्र का भावानुवाद प्रकाशित करवाया। श्रमणी विद्यापीठ घाटकोपर (वम्बई) से मूलपाठ के साथ गुजराती अनुवाद निकला है। इसके पूर्व रवजीभाई देवराज के और गोपालदास जीवाभाई पटेल के गुजराती में सुन्दर अनुवाद प्रकाशित हुए थे। हिन्दी में आचार्य अमोलक ऋषि जी म० ने और पण्डित रत्न सौभाग्यमल जी म० ने आचार्य सम्राट आत्माराम जी म० ने आचाराङ्ग पर हिन्दी में विवेचन लिखा, हिन्दी-विवेचन हृदयग्राही है। प्रवुद्ध पाठकों के लिए वह विवेचन उपयोगी है। हीराकुमारी जैन ने आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का वंगला में अनुवाद प्रकाशित करवाया तथा तेरापंथी समुदाय के पण्डित मुनि श्री नथमल जी ने मूल और अर्थ के साथ ही विशेष स्थलों पर टिप्पण लिखे हैं। इस प्रकार आधुनिक-युग में अनुवाद के साथ आचाराङ्ग के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। मूलपाठ के रूप में भी कुछ ग्रन्थ आये हैं। उनमें आगम प्रभावक मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित मूलपाठ संशोधन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्थानकवासी समाज एक महान् क्रान्किारी समाज है। समय-समय पर पर उसने जो क्रान्तिकारी चिन्तन पूर्वक कदम उठाये हैं उससे विज्ञगण मुग्ध होते रहे हैं। आचार्य अमोलक ऋषि जी म०, पूज्य घासीलाल जी म०, धर्मोपदेष्टा फूलचन्द जी म० के द्वारा आगम वत्तीसी का प्रकाशन हुआ है। उन प्रकाशनों में कही पर बहुत ही संक्षेप शैली अपनाई गई और कहीं पर अतिविस्तार हो गया। जिसके फलस्वरूप आगमों के आधुनिक संस्करण की माँग निरन्तर बनी रही। स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस ने भी अनेक वार योजनाएँ वनायीं, पर वे योजनाएँ मूर्त रूप न ले सकी। सन् १९५२ में स्थानकवासी समाज का एक संगठन वना और उसका नाम 'वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ' रखा गया, श्रमण-संघ के प्रत्येक सम्मेलन में आगम प्रकाशन के सम्बन्ध में प्रस्ताव-पारित होते रहे पर वे प्रस्ताव क्रियान्वित नहीं हो सके।

परम आह्लाद का विषय है कि मेरे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० के स्नेही साथी व सहपाठी श्री मधुकर मुनि जी म० ने आगम प्रकाशन की योजना को मूर्त्त रूप देने का दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने कार्य में प्रगति लाने के लिए सम्पादक मण्डल का संयोजन किया। एक वर्ष तक आगम प्रकाशन व सम्पादन के सम्बन्ध में चिन्तन चलता रहा। इस वीच आचार्य प्रवर आनन्द ऋषि जी म० ने आपश्री को युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आपके प्रधान सम्पादकत्व में आचारांग सूत्र का प्रकाशन हो रहा है।

प्रस्तुत आगम का मूल पाठ प्राचीन प्रतियों के आधार से शुद्धतम रूप में देने का प्रयास किया गया है। मूलपाठ के साथ ही हिन्दी में भावानुवाद भी दिया गया है और गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में विवेचन भी लिखा गया है। इस तरह प्रस्तुत आगम के अनुवाद व विवेचन की भाषा सरल सरस और सुवोध है, शैली चित्ताकर्षक है। विवेचन में अनेक कठिन पारिभाषिक शब्दों का गहन अर्थ उद्घाटित किया गया है। प्रस्तुत आगम का सम्पादन; सम्पादन-कला-मर्मज्ञ श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। सुराना जी विलक्षण-प्रतिभा के धनी हैं। आज तक उन्होंने पाँच दर्जन से भी अधिक पुस्तकों और ग्रन्थों का सम्पादन किया है। उनकी सम्पादन-कला अद्भुत और अनूठी है। युवाचार्य श्री के दिशा-निर्देशन में इसका सम्पादन हुआ है। मुझे आशा हीं नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत आगम रत्न सर्वत्र समादृत होगा। क्योंकि इसकी सम्पादन शैली आधुनिकतम हैं व गम्भीर अन्वेषण-चिन्तन के साथ सुवोधता लिए हुए है।

इस सम्पादन में अनेक परिशिष्ट भी है। विशिष्ट शब्द सूची भी दी गई है जिनसे प्रत्येक पाठक के लिए प्रस्तुत संस्करण अधिक उपयोगी बन गया है। 'जाव' शब्द के प्रयोग व परम्परा पर सम्पादक ने संक्षिप्त में अच्छा प्रकाश डाला है। इसी तरह अन्य आगमों का प्रकाशन भी द्रुतगति से हो रहा है। मैं बहुत ही विस्तार के साथ प्रस्तावना लिखना चाहता था और उन सभी प्रश्नों पर चिन्तन भी करना चाहता था जो अभी तक अनछुए रहे। पर निरन्तर विहार यात्रा होने से समयाभाव व ग्रन्याभाव के कारण लिख नहीं सका, पर जो कुछ भी लिख गया हूँ वह प्रबुद्ध पाठकों को आचारांग के महत्त्व को समझने में उपयोगी होगा ऐसी आशा करता हूँ।

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

दि० १८–२–८०
फाल्गुन शुक्ला; २०३६
जैन स्थानक, बोरीवली बम्बई

□□

अनुक्रमणिका

आचाराङ्ग सूत्र [प्रथम श्रुतस्कन्ध : अध्ययन १ से ९]

शस्त्रपरिज्ञा : प्रथम अध्ययन (७ उद्देशक) पृष्ठ ३ से ३७

लोकविजय : द्वितीय अध्ययन (६ उद्देशक) पृष्ठ ४० से ८२

पंचमगणहर-भयवं-सिरिसुहम्मसामिविरइयं पढमं अंगं

आयारंगसुत्तं

पढमो सुयक्खंधो

चमगणधर-भगवत्-सुधर्मास्वामि-प्रणीत प्रथम अंग

आचारांग सूत्र

प्रथम श्रुतस्कन्ध

आचाराङ्ग सूत्र

शस्त्रपरिज्ञा—प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम 'शस्त्रपरिज्ञा' है।
- शस्त्र का अर्थ है— हिंसा के उपकरण या साधन। जो जिसके लिए विनाशक या मारक होता है, वह उसके लिए शस्त्र है।[1] चाकू, तलवार आदि हिंसा के बाह्य साधन, द्रव्य-शस्त्र हैं। राग-द्वेषयुक्त कलुषित परिणाम भाव-शस्त्र हैं।
- परिज्ञा का अर्थ है—ज्ञान अथवा चेतना। इस शब्द से दो अर्थ ध्वनित होते हैं—'ज्ञ-परिज्ञा' द्वारा वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान तथा 'प्रत्याख्यानपरिज्ञा' द्वारा हिंसादि के हेतुओं का त्याग।
- शस्त्र-परिज्ञा का सरल अर्थ है—हिंसा के स्वरूप और साधनों का ज्ञान प्राप्त करके उनका त्याग करना।
- हिंसा की निवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा का मुख्य आधार है—आत्मा। आत्मा का ज्ञान होने पर ही अहिंसा में आस्था दृढ़ होती है, तथा अहिंसा का सम्यक् परिपालन किया जा सकता है।
- प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में सर्वप्रथम 'आत्म-संज्ञा'—आत्म-बोध की चर्चा करते हुए बताया हैं कि कुछ मनुष्यों को आत्म-बोध स्वयं हो जाता है, कुछ को उपदेश-श्रवण व शास्त्र-अध्ययन आदि से होता है। आत्म-बोध होने पर आत्मा के अस्तित्त्व में विश्वास होता है, तब वह आत्मवादी बनता है। आत्मवादी ही अहिंसा का सम्यक् परिपालन कर सकता है। इस प्रकार आत्म-अस्तित्त्व की चर्चा के बाद हिंसा-अहिंसा की चर्चा की गई है। हिंसा के हेतु—निमित्त कारणों की चर्चा, षट्काय के जीवों का स्वरूप, उनकी सचेतनता की सिद्धि, हिंसा से होने वाला आत्म-परिताप, कर्मबन्ध, तथा उससे विरत होने का उपदेश[2]—आदि विषयों का सजीव शब्दचित्र प्रथम अध्ययन के सात उद्देशकों एवं बासठ सूत्रों में प्रस्तुत किया गया है।

---

१. जं जस्स विणासकारणं तं तस्स सत्थं भण्णति—नि० चू० उ० १ अभिधानराजेन्द्र भाग ७ पृष्ठ ३३१ 'सत्थ' शब्द।

२. आचारांग निर्युक्ति—गाथा २५।

'सत्थपरिण्णा' पढमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

शस्त्रपरिज्ञा; प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

अस्तित्व बोध

१ : सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—
इहमेगेसिं णो सण्णा भवति । तं जहा—
पुरत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगतो अहमंसि,
पच्चत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
उत्तरातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
उड्ढातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
अहेदिसातो वा आगतो अहमंसि,
अन्नतरीतो दिसातो वा अणुदिसातो वा आगतो अहमंसि ।

एवमेगेसिं णो णातं भवति—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी, के वा इओ चुओ पेच्चा भविस्सामि ।

१ : आयुष्मन् ! मैंने सुना है । उन भगवान (महावीर स्वामी) ने यह कहा है—यहाँ संसार में कुछ प्राणियों को यह संज्ञा (ज्ञान) नहीं होती । जैसे—

मैं पूर्व दिशा से आया हूँ
अथवा दक्षिण दिशा से आया हूँ
अथवा पश्चिम दिशा से आया हूँ
अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ
अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ
अथवा अधोदिशा से आया हूँ
अथवा किसी अन्य दिशा से या अनुदिशा (विदिशा) से आया हूँ ।

इसी प्रकार कुछ प्राणियों को यह ज्ञान नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक—जन्म धारण करने वाली है अथवा नहीं ? मैं पूर्व जन्म में कौन था ? मैं यहां से च्युत होकर/आयुष्य पूर्ण करके अगले जन्म में क्या होऊँगा ?"

विवेचन—चूर्णि एवं शीलांकवृत्ति में आउसं के दो पाठान्तर भी मिलते हैं—आमसंतेणं तथा आमुसंतेणं । क्रमशः उनका भाव है—भगवान के निकट में रहते हुए, तथा उनके चरणों

आचाराङ्ग सूत्र

शस्त्रपरिज्ञा—प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

- ☆ आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम 'शस्त्रपरिज्ञा' है।

- ☆ शस्त्र का अर्थ है— हिंसा के उपकरण या साधन। जो जिसके लिए विनाशक या मारक होता है, वह उसके लिए शस्त्र है।[1] चाकू, तलवार आदि हिंसा के बाह्य साधन, द्रव्य-शस्त्र हैं। राग-द्वेषयुक्त कलुषित परिणाम भाव-शस्त्र हैं।

- ☆ परिज्ञा का अर्थ है—ज्ञान अथवा चेतना। इस शब्द से दो अर्थ ध्वनित होते हैं—'ज्ञ-परिज्ञा' द्वारा वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान तथा 'प्रत्याख्यानपरिज्ञा' द्वारा हिंसादि के हेतुओं का त्याग।

- ☆ शस्त्र-परिज्ञा का सरल अर्थ है—हिंसा के स्वरूप और साधनों का ज्ञान प्राप्त करके उनका त्याग करना।

- ☆ हिंसा की निवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा का मुख्य आधार है—आत्मा। आत्मा का ज्ञान होने पर ही अहिंसा में आस्था दृढ़ होती है, तथा अहिंसा का सम्यक् परिपालन किया जा सकता है।

- ☆ प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में सर्वप्रथम 'आत्म-संज्ञा'—आत्म-बोध की चर्चा करते हुए बताया हैं कि कुछ मनुष्यों को आत्म-बोध स्वयं हो जाता है, कुछ को उपदेश-श्रवण व शास्त्र-अध्ययन आदि से होता है। आत्म-बोध होने पर आत्मा के अस्तित्त्व में विश्वास होता है, तब वह आत्मवादी बनता है। आत्मवादी ही अहिंसा का सम्यक् परिपालन कर सकता है। इस प्रकार आत्म-अस्तित्त्व की चर्चा के बाद हिंसा-अहिंसा की चर्चा की गई है। हिंसा के हेतु—निमित्त कारणों की चर्चा, षट्काय के जीवों का स्वरूप, उनकी सचेतनता की सिद्धि, हिंसा से होने वाला आत्म-परिताप, कर्मबन्ध, तथा उससे विरत होने का उपदेश[2]—आदि विषयों का सजीव शब्दचित्र प्रथम अध्ययन के सात उद्देशकों एवं बासठ सूत्रों में प्रस्तुत किया गया है।

---

१. जं जस्स विणासकारणं तं तस्स सत्यं भण्णति—नि० चू० उ० १ अभिधानराजेन्द्र भाग ७ पृष्ठ ३३१ 'सत्य' शब्द।

२. आचारांग निर्युक्ति—गाथा २५।

'सत्थपरिण्णा' पढमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

शस्त्रपरिज्ञा; प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

अस्तित्व बोध

१ : सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—
इहमेगेसिं णो सण्णा भवति । तं जहा—
पुरत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगतो अहमंसि,
पच्चत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
उत्तरातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
उड्ढातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
अहेदिसातो वा आगतो अहमंसि,
अन्नतरीतो दिसातो वा अणुदिसातो वा आगतो अहमंसि ।

एवमेगेसिं णो णातं भवति—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी, के वा इओ चुओ पेच्चा भविस्सामि ।

१ : आयुष्मन् ! मैंने सुना है। उन भगवान (महावीर स्वामी) ने यह कहा है—यहाँ संसार में कुछ प्राणियों को यह संज्ञा (ज्ञान) नहीं होती। जैसे—
मैं पूर्व दिशा से आया हूँ
अथवा दक्षिण दिशा से आया हूँ
अथवा पश्चिम दिशा से आया हूँ
अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ
अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ
अथवा अधोदिशा से आया हूँ
अथवा किसी अन्य दिशा से या अनुदिशा (विदिशा) से आया हूँ।

इसी प्रकार कुछ प्राणियों को यह ज्ञान नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक—जन्म धारण करने वाली है अथवा नहीं ? मैं पूर्व जन्म में कौन था ? मैं यहां से च्युत होकर/आयुष्य पूर्ण करके अगले जन्म में क्या होऊँगा ?"

विवेचन—चूर्णि एवं शीलांकवृत्ति में आउसं के दो पाठान्तर भी मिलते हैं—**आवसंतेणं** तथा आमुसंतेणं। क्रमशः उनका भाव है—भगवान के निकट में रहते हुए तथा उनके चरणों

का स्पर्श करते हुए मैंने यह सुना है। इससे यह सूचित होता है कि सुधर्मास्वामी ने यह वाणी भगवान महावीर से साक्षात् उनके बहुत निकट रहकर सुनी है।

संज्ञा का अर्थ है, चेतना। इसके दो प्रकार है, ज्ञान-चेतना और अनुभव-चेतना। अनुभव-चेतना (संवेदन) प्रत्येक प्राणी में रहती है। ज्ञान-चेतना—विशेष-बोध, किसी में कम विकसित होती है, किसी में अधिक। अनुभव-चेतना (संज्ञा) के सोलह एवं ज्ञान-चेतना के पाँच भेद हैं।[1]

चेतन का वर्तमान अस्तित्व तो सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु अतीत (पूर्व-जन्म) और भविष्य (पुनर्जन्म) के अस्तित्व में सब विश्वास नहीं करते। जो चेतन की त्रैकालिक सत्ता में विश्वास रखते हैं वे आत्मवादी होते हैं। यद्यपि बहुत से आत्मवादियों में भी अपने पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती, कि 'मैं यहाँ—संसार में किस दिशा या अनुदिशा से आया हूँ। मैं पूर्वजन्म में कौन था ?' उन्हें भविष्य का यह ज्ञान भी नहीं होता कि 'यहाँ से आयुष्य पूर्ण कर मैं कहाँ जाऊँगा ? क्या होऊँगा ?'

पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी ज्ञान-चेतना की चर्चा इस सूत्र में की गई है।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने 'दिशा' शब्द का विस्तार से विवेचन करते हुए बताया है[2] 'जिधर सूर्य उदय होता है उसे पूर्वदिशा कहते हैं। पूर्व आदि चार दिशाएँ, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य एवं वायव्यकोण; ये चार अनुदिशाएँ, तथा इनके अन्तराल में आठ विदिशाएँ, ऊर्ध्व तथा अधोदिशा—इस प्रकार १८ द्रव्य दिशाएँ हैं। मनुष्य, तिर्यंच, स्थावरकाय और वनस्पति की ४-४ दिशायें तथा देव एवं नारक इस प्रकार १८ भाव दिशाएँ होती हैं।

मनुष्य की चार दिशाएँ—सम्मूर्च्छिम, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तरद्वीपज।
तिर्यंच की चार दिशाएँ—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।
स्थावरकाय की चार दिशाएँ—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय।
वनस्पति की चार दिशाएँ—अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज और पर्वबीज।

२. से ज्जं पुण जाणेज्जा सहसम्मुइयाए[3] परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा, तं जहा—पुरत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि एवं दक्खिणाओ वा पच्चत्थिमाओ वा उत्तराओ वा उड्ढाओ वा अहाओ वा अन्नतरीओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगतो अहमंसि।

एवमेगेसिं जं णातं भवति–अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरति, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सो हं।

३. से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी।

---

१. अनुभव संज्ञा—[1]आहार, [2]भय, [3]मैथुन, [4]परिग्रह, [5]सुख, [6]दुःख, [7]मोह, [8]विचिकित्सा, [9]क्रोध, [10]मान, [11]माया, [12]लोभ, [13]शोक, [14]लोक, [15]धर्म एवं [16]ओघसंज्ञा। —आचा० शीलांकवृत्ति पत्रांक ११
ज्ञान संज्ञा—[1]मति, [2]श्रुत, [3]अवधि, [4]मनःपर्यव एवं [5]केवलज्ञान-संज्ञा।—निर्युक्ति ३८

२. निर्युक्ति गाथा ४७ से ५४ तक।

३. 'सह समुतियाए' 'सह सम्मइयाए' 'सहसम्मइए'—पाठान्तर है।

२. कोई प्राणी अपनी स्वमति—पूर्वजन्म की स्मृति होने पर स्व-बुद्धि से, अथवा तीर्थंकर आदि प्रत्यक्षज्ञानियों के वचन से, अथवा अन्य विशिष्ट श्रुतज्ञानी के निकट में उपदेश सुनकर यह जान लेता है, कि—मैं पूर्वदिशा से आया हूँ, या दक्षिणदिशा, पश्चिमदिशा, उत्तरदिशा, ऊर्ध्वदिशा या अधोदिशा अथवा अन्य किसी दिशा या विदिशा से आया हूं।'

कुछ प्राणियों को यह भी ज्ञात होता है—'मेरी आत्मा भवान्तर में अनुसंचरण करने वाली है, जो इन दिशाओं, अनुदिशाओं में कर्मानुसार परिभ्रमण करती है। जो इन सब दिशाओं और विदिशाओं में गमनागमन करती है, वही मैं (आत्मा) हूँ।

३. (जो उस गमनागमन करने वाली परिणामी नित्य आत्मा को जान लेता है) वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है।

विवेचन—उक्त दो सूत्रों में चर्मचक्षु से परोक्ष आत्मतत्त्व को जानने के तीन साधन बताये हैं—

१. पूर्वजन्म की स्मृतिरूप जाति-स्मरणज्ञान तथा अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान होने पर, स्व-मति से,

२. तीर्थंकर, केवली आदि का प्रवचन सुनकर,

३. तीर्थंकरों के प्रवचनानुसार उपदेश करने वाले विशिष्ट ज्ञानी के निकट में उपदेश आदि सुनकर।[1]

उक्त कारणों में से किसी से भी पूर्व-जन्म का बोध हो सकता है। जिस कारण उसका ज्ञान निश्चयात्मक हो जाता है कि इन पूर्व आदि दिशाओं में जो गमनागमन करती है, वह आत्मा 'मैं' ही हूँ।

प्रथम सूत्र में **"के अहं आसी ?"** मैं कौन था—यह पद आत्मसम्बन्धी जिज्ञासा की जागृति का सूचक है। और द्वितीय सूत्र में 'सो हं' "वह मैं हूँ" यह पद उस जिज्ञासा का समाधान है—आत्मवादी आस्था की स्थिति है।[2]

परिणामी एवं शाश्वत आत्मा में विश्वास होने पर ही मनुष्य आत्मवादी होता है। आत्मा को मानने वाला लोक-(संसार) स्थिति को भी स्वीकार करता है, क्योंकि आत्मा का भवान्तर-संचरण लोक में ही होता है। लोक में आत्मा का परिभ्रमण कर्म के कारण होता है,

---

१. आचा० शीलांकवृत्ति पत्रांक १८

२. कुछ विद्वानों ने आगमगत **'सो हं'** पद की तुलना में उपनिषदों में स्थान-स्थान पर आये **'सोऽहं'** शब्द को उद्धृत किया है। हमारे विचार में इन दोनों में शाब्दिक समानता होते हुए भी भाव की दृष्टि से कोई समानता नहीं है। आगमगत 'सो हं' शब्द में भवान्तर में अनुसंचरण करने वाली आत्मा की प्रतीति करायी गई है, जबकि उपनिषद्गत **'सोऽहं'** शब्द में आत्मा की परमात्मा के साथ सम-अनुभूति दर्शायी गई है। जैसे—**'सोहमस्मि स एवाहमस्मि'**—छां० उ० ४।११।१। आदि।

इसलिए लोक को मानने वाला कर्म को भी मानेगा तथा कर्मवन्ध का कारण है—क्रिया, अर्थात् शुभाशुभ योगों की प्रवृत्ति। इस प्रकार आत्मा का सम्यक् परिज्ञान हो जाने पर लोक का, कर्म का, क्रिया का परिज्ञान भी हो जाता है। अतः वह आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी भी है।

आगे के सूत्रों में हिंसा-अहिंसा का विवेचन किया जायेगा। अहिंसा का आधार आत्मा है। आत्म-बोध होने पर ही अहिंसा व संयम की साधना हो सकती है। अतः अहिंसा की पृष्ठभूमि के रूप में यहाँ आत्मा का वर्णन किया गया है।

आस्रव-संवर-बोध

४. अकरिस्सं च हं, काराविस्सं च हं, करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि।

५. एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

४. (वह आत्मवादी मनुष्य यह जानता/मानता है कि)—
मैंने क्रिया की थी। मैं क्रिया करवाता हूँ। मैं क्रिया करने वाले का भी अनुमोदन करूँगा।

५. लोक—संसार में ये सब क्रियाएँ/कर्म-समारंभ—(हिंसा की हेतुभूत) हैं, अतः ये सब जानने तथा त्यागने योग्य हैं।

विवेचन—चतुर्थ सूत्र में क्रिया के भेद-प्रभेद का दिग्दर्शन कराया गया है। क्रिया कर्मबन्ध का कारण है, कर्म से आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। अतः संसार-भ्रमण से मुक्ति पाने के लिए क्रिया का स्वरूप जानना और उसका त्याग करना नितांत आवश्यक है।

मैंने क्रिया की थी, इस पद में अतीतकाल के नौ भेदों का संकलन किया है—जैसे, क्रिया की थी, करवाई थी, करते हुए का अनुमोदन किया था, मन से, वचन से, कर्म से। ३×३=९।

इसी प्रकार वर्तमानपद 'करवाता हूँ' में भी करता हूँ, करवाता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, तथा भविष्यपद क्रिया करूँगा, करवाऊँगा, करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से, कर्म से, ये नव-नव भंग बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार तीन काल के; क्रिया के २७ विकल्प हो जाते हैं। ये २७ विकल्प ही कर्म-समारंभ/हिंसा के निमित्त हैं, इन्हें सम्यक् प्रकार से जान लेने पर क्रिया का स्वरूप जान लिया जाता है।[1]

क्रिया का स्वरूप जान लेने पर ही उसका त्याग किया जा सकता है। क्रिया संसार का कारण है, और अक्रिया मोक्ष का। अकिरिया सिद्धी[2]—आगम-वचन का भाव यही है कि क्रिया/आश्रव का निरोध होने पर ही मोक्ष होता है।

---

१. आचारांग शीलांक टीका पत्रांक २१
२. भगवती सूत्र २।५ सूत्र १११ (अंग सुत्ताणि)।

६. अपरिण्णायकम्मे खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरति, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेति, अणेगरूवाओ जोणीओ संधेति, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदयति।

७. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता।

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए[1] दुक्खपडिघातहेतुं।

६. यह पुरुष, जो अपरिज्ञातकर्मा है (क्रिया के स्वरूप से अनभिज्ञ है, इसलिए उसका अत्यागी है) वह इन दिशाओं व अनुदिशाओं में अनुसंचरण/परिभ्रमण करता है। अपने कृत-कर्मों के साथ सब दिशाओं/अनुदिशाओं में जाता है। अनेक प्रकार की जीव-योनियों को प्राप्त होता है। वहां विविध प्रकार के स्पर्शों[2] (सुख-दुख के आघातों) का अनुभव करता है।

७. इस सम्बन्ध में (कर्म-बन्धन के कारणों के विषय में) भगवान ने परिज्ञा[3]-विवेक का उपदेश किया है।

(अनेक मनुष्य इन आठ हेतुओं से कर्म समारंभ—हिंसा करते हैं)—

१. अपने इस जीवन के लिए,

२. प्रशंसा व यश के लिए,

---

१. चूर्णि में—भोयणाए—पाठान्तर भी है, जिसका भाव है, जन्म-मरण सम्बन्धी भोजन के लिए।

२. आगमों में 'स्पर्श' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। साधारणतः त्वचा-इन्द्रियग्राह्य सुख-दुःखात्म संवेदन/अनुभूति को स्पर्श कहा गया है, किन्तु प्रसंगानुसार इससे भिन्न-भिन्न भावों की सूचना भी गई है। जैसे—सूत्रकृतांग (१।३।१।१७) में **एते भो कसिणा फासा**—से स्पर्श का अर्थ परीषह किया है। आचारांग में अनेक अर्थों में इसका प्रयोग हुआ है—

जैसे—इन्द्रिय-सुख (सूत्र १६४)

गाढ प्रहार आदि से उत्पन्न पीड़ा (सूत्र १७६। गाथा १५)

उपताप व दुख विशेष (सूत्र २०६)

अन्य सूत्रों में भी 'स्पर्श' शब्द प्रसंगानुसार नया अर्थ व्यक्त करता रहा है। जैसे—

परस्पर का संघट्टन (छूना)	—बृहत्कल्प १।३
सम्पर्क—सम्बन्ध,	—सूत्रकृत् १।५।१
स्पर्शना—आराधना	—बृहत्कल्प १।२
स्पर्शन—अनुपालन करना	—भगवती १५।७

गीता (२।१४; ५।२१) में इन्द्रिय-सुख के अर्थ में स्पर्श शब्द का अनेकवार प्रयोग हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में इन्द्रिय-सम्पर्क के अर्थ में 'फस्स' शब्द व्यवहृत हुआ है। (मज्झिमनिकाय सम्मादिट्ठि सुत्तं पृ० ७०)

३. परिज्ञा के दो प्रकार हैं—(१) ज्ञ-परिज्ञा—वस्तु का बोध करना। सावद्य प्रवृत्ति से कर्म बन्ध होता है यह जानना तथा (२) प्रत्याख्यान-परिज्ञा—बंध हेतु सावद्ययोगों का त्याग करना। —"तत्र ज्ञपरिज्ञया, सावद्यव्यापारेण बन्धो भवतीत्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सावद्ययोगा बन्धहेतवः प्रत्याख्येया इत्येवं रूपा चेति।" —आचा० शीलांक टीका पत्रांक २३

३. सम्मान की प्राप्ति के लिए,

४. पूजा आदि पाने के लिए,

५. जन्म—सन्तान आदि के जन्म पर, अथवा स्वयं के जन्म निमित्त से,

६. मरण—मृत्यु सम्बन्धी कारणों व प्रसगों पर,

७. मुक्ति की प्रेरणा या लालसा से, (अथवा जन्म-मरण से मुक्ति पाने की इच्छा से)

८. दुःख के प्रतीकार हेतु—रोग, आतंक, उपद्रव आदि मिटाने के लिए।

८. एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

९. जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

८. लोक में (उक्त हेतुओं से होने वाले) ये सब कर्मसमारंभ/हिंसा के हेतु जानने योग्य और त्यागने योग्य होते हैं।

९. लोक में ये जो कर्मसमारंभ/हिंसा के हेतु हैं, इन्हें जो जान लेता है (और त्याग देता है) वही परिज्ञातकर्मा[1] मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

□

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा का निषेध

१०. अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोधे अविजाणए। अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति।

१०. जो मनुष्य आर्त, (विषय-वासना-कषाय आदि से पीड़ित) है, वह ज्ञान-दर्शन से परिजीर्ण/हीन रहता है। ऐसे व्यक्ति को समझाना कठिन होता है, क्योंकि वह अज्ञानी जो है। अज्ञानी मनुष्य इस लोक में व्यथा-पीड़ा का अनुभव करता है। काम, भोग व सुख के लिए आतुर—लालायित बने प्राणी स्थान-स्थान पर पृथ्वीकाय आदि प्राणियों को परिताप (कष्ट) देते रहते हैं। यह तू देख! समझ!

---

१. परिज्ञातानि, ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतोऽवगतानि प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृतानि कर्माणि येन स परिज्ञातकर्मा। —स्थानांगवृत्ति ३।३।(अभि. रा. भाग ५ पृ० ६२२)

११. संति पाणा पुढो सिआ।

११. पृथ्वीकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीर में आश्रित रहते हैं अर्थात् वे प्रत्येकशरीरी होते हैं।

१२. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

१२. तू देख! आत्म-साधक, लज्जमान है—(हिंसा से स्वयं का संकोच करता हुआ अर्थात् हिंसा करने में लज्जा का अनुभव करता हुआ संयममय जीवन जीता है।)

कुछ साधु वेषधारी 'हम गृहत्यागी हैं' ऐसा कथन करते हुए भी वे नाना प्रकार के शस्त्रों[1] से पृथ्वीसम्बन्धी हिंसा-क्रिया में लगकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। तथा पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।

१३. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघातहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणति।

तं से अहिआए, तं से अबोहीए।

१३. इस विषय में भगवान महावीर स्वामी ने परिज्ञा/विवेक का उपदेश किया है। कोई व्यक्ति इस जीवन के लिए, प्रशंसा-सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, तथा हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है।

वह (हिंसावृत्ति) उसके अहित के लिए होती है। वह उसकी अबोधि अर्थात् ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि, और चारित्र-बोधि की अनुपलब्धि के लिए कारणभूत होती है।

१४. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए।

---

१. जो वस्तु, जिस जीवकाय के लिए मारक होती है, वह उसके लिए शस्त्र है। निर्युक्तिकार ने (गाथा ६५-६६) में पृथ्वीकाय के शस्त्र इस प्रकार गिनाये हैं—

१. कुदाली आदि भूमि खोदने के उपकरण
२. हल आदि भूमि विदारण के उपकरण
३. मृगशृंग
४. काठ-लकड़ी तृण आदि
५. अग्निकाय
६. उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र),
७. स्वकाय शस्त्र; जैसे—काली मिट्टी का शस्त्र पीली मिट्टी, आदि
८. परकाय अस्त्र; जैसे—जल आदि,
९. तदुभय शस्त्र; जैसे—मिट्टी मिला जल,
१०. भावशस्त्र—असंयम।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

१४. वह साधक (संयमी) हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझता हुआ, आदानीय—संयम-साधना में तत्पर हो जाता है। कुछ मनुष्यों को भगवान के या अनगार मुनियों के समीप धर्म सुनकर यह ज्ञात होता है कि—'यह जीव-हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है।'

(फिर भी) जो मनुष्य सुख आदि के लिए जीवहिंसा में आसक्त होता है, वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी-सम्बन्धी हिंसा-क्रिया में संलग्न होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है। और तब वह न केवल पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, अपितु अन्य नानाप्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है।

विवेचन—चूर्णि में 'आदानीय' का अर्थ संयम तथा 'विनय' किया है।

इस सूत्र में आये 'ग्रन्थ' आदि शब्द एक विशेष पारम्परिक अर्थ रखते हैं। साधारणतः 'ग्रन्थ' शब्द पुस्तक विशेष का सूचक है। शब्दकोष में ग्रन्थ का अर्थ 'गांठ' (ग्रन्थि) भी किया गया है जो शरीरविज्ञान एवं मनोविज्ञान में अधिक प्रयुक्त होता है। जैनसूत्रों में आया हुआ 'ग्रन्थ' शब्द इनसे भिन्न अर्थ का द्योतक है।

आगमों के व्याख्याकार आचार्य मलयगिरि के अनुसार—"जिसके द्वारा, जिससे तथा जिसमें बँधा जाता है वह ग्रन्थ है।"[1]

उत्तराध्ययन, आचारांग, स्थानांग, विशेषावश्यक भाष्य आदि में कषाय को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है। आत्मा को बाँधने वाले कषाय या कर्म को भी ग्रन्थ कहा गया है।[2]

ग्रन्थ के दो भेद हैं—द्रव्य ग्रन्थ और भाव ग्रन्थ। द्रव्य ग्रन्थ दश प्रकार का परिग्रह है—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु, (३) धन, (४) धान्य, (५) संचय,—तृण काष्ठादि, (६) मित्र-ज्ञाति-संयोग, (७) यान—वाहन, (८) शयनासन, (९) दासी-दास और (१०) कुप्य।

भावग्रन्थ के १४ भेद हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) प्रेम, (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) वेद, (९) अरति, (१०) रति, (११) हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा।[3]

प्रस्तुत सूत्र में हिंसा को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है, इस सन्दर्भ में आगम-गत उक्त सभी अर्थ या भाव इस शब्द में ध्वनित होते हैं। ये सभी भाव हिंसा के मूल कारण ही नहीं, बल्कि स्वयं भी हिंसा है। अतः 'ग्रन्थ' शब्द में ये सब भाव निहित समझने चाहिए।

'मोह' शब्द राग या विकारी प्रेम के अर्थ में प्रसिद्ध है। जैन आगमों में 'मोह' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। राग और द्वेष—दोनो ही मोह है।[4] सदसद् विवेक का नाश[5],

---

१. गंथिज्जइ तेण तओ तम्मि व तो तं मयं गंथो—विशेषा० १३८३ (अभि. राजेन्द्र ३।७३९)
२. अभि. राजेन्द्र भाग ३।७९३ में उद्धृत
३. बृहत्कल्प उद्देशक १ गा १०-१४
४. सूत्रकृतांग श्रु० १ अ० ४ उ० २ गा० २२
५. स्थानांग ३।४

हेय-उपादेय बुद्धि का अभाव[1], अज्ञान[2], विपरीतबुद्धि[3], मूढ़ता[4], चित्त की व्याकुलता[5], मिथ्यात्व तथा कषायविषय आदि की अभिलाषा, यह सब मोह है।

ये सब 'मोह' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। सत्य तत्व को अयथार्थ रूप में समझना दर्शन-मोह, तथा विषयों की संगति (आसक्ति) चारित्रमोह है।[7] धवला (८।२८३।६) के अनुसार भाव ग्रन्थ के १४ भेद मोह में ही सम्मिलित हैं। उक्त सभी प्रकार के भाव, हिंसा के प्रबल कारण हैं, अतः स्वयं हिंसा भी है।

'मार' शब्द मृत्यु के अर्थ में ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में मृत्यु; काम का प्रतीक तथा क्लेश के अर्थ में 'मार' शब्द का प्रयोग हुआ है।[8]

'नरक' शब्द पापकर्मियों के यातनास्थान[9] के अर्थ में ही आगमों में प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकृतांगटीका में 'नरक' शब्द का अनेक प्रकार से विवेचन किया गया है। अशुभ रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श को भी 'नोकर्म द्रव्यनरक' माना गया है। नरक प्रायोग्य कर्मों के उदय (अपेक्षा से कर्मोपार्जन की क्रिया) को 'भावनरक' बताया है। हिंसा को इसी दृष्टि से नरक कहा गया है कि नरक के योग्य कर्मोपार्जन का वह सबसे प्रबल कारण है, इतना प्रबल, कि वह स्वयं नरक ही है। हिंसक की मनोदशा भी नारक के समान क्रूर व अशुभतर होती है।[10]

पृथ्वीकायिक जीवों का वेदना-बोध

१५—से बेमि—

अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पादमब्भे, अप्पेगे पादमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे, अप्पेगे जाणुमच्छे, अप्पेगे ऊरुमब्भे, अप्पेगे ऊरुमच्छे, अप्पेगे कडिमब्भे, अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे, अप्पेगे णाभिमच्छे, अप्पेगे उदरमब्भे, अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे, अप्पेगे पासमच्छे, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे, अप्पेगे पिट्ठिमच्छे, अप्पेगे उरमब्भे, अप्पेगे उरमच्छे, अप्पेगे हिययमब्भे, अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे, अप्पेगे थणमच्छे, अप्पेगे खंधमब्भे, अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे, अप्पेगे बाहुमच्छे, अप्पेगे हत्थमब्भे, अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुलिमब्भे, अप्पेगे अंगुलिमच्छे, अप्पेगे णहमब्भे, अप्पेगे णहमच्छे, अप्पेगे गीवमब्भे, अप्पेगे गीवमच्छे, अप्पेगे हणुयमब्भे, अप्पेगे हणुयमच्छे, अप्पेगे होट्ठमब्भे, अप्पेगे होट्ठमच्छे, अप्पेगे दंतमब्भे, अप्पेगे दंतमच्छे, अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे जिब्भमच्छे,

---

१. उत्तराध्ययन ३।
२. वहीं।
३. विशेषावश्यक (अभि. रा. 'मोह' शब्द)
४. ज्ञाता १।८
५. सूत्रकृतांग १, अ. ४ उ. १ गा. ३१
६. आचा० शी० टीका
७. प्रवचनसार ८५
८. आगम और त्रिपि० ६६७
९. (अ) पापकर्मिणां यातनास्थानेषु—सूत्र० वृत्ति २।१ (ख) राजवार्तिक २।५०।२-३
१०. सूत्रकृतांग, १।५।१ नरकविभक्ति अध्ययन

अप्पेगे तालुमब्भे, अप्पेगे तालुमच्छे, अप्पेगे गलमब्भे, अप्पेगे गलमच्छे, अप्पेगे गंडमब्भे, अप्पेगे गंडमच्छे, अप्पेगे कण्णमब्भे, अप्पेगे कण्णमच्छे, अप्पेगे णासमब्भे, अप्पेगे णासमच्छे, अप्पेगे अच्छिमब्भे, अप्पेगे अच्छिमच्छे, अप्पेगे भमुहमब्भे, अप्पेगे भमुहमच्छे, अप्पेगे णिडालमब्भे, अप्पेगे णिडालमच्छे, अप्पेगे सीसमब्भे, अप्पेगे सीसमच्छे।

अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

१५. मैं कहता हूँ—

(जैसे कोई किसी जन्मान्ध[1] व्यक्ति को (मूसल-भाला आदि से) भेदे, चोट करे या तलवार आदि से छेदन करे, उसे जैसी पीड़ा की अनुभूति होती है, वैसी ही पीड़ा पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।)

जैसे कोई किसी के पैर में, टखने पर, जंघा, घुटने, उरु, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व-पसली पर, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कन्धे, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा, (गर्दन) ठुड्डी, होठ, दाँत, जीभ, तालु, गले, कपोल, कान, नाक, आँख, भौंह, ललाट, और शिर का (शस्त्र से) भेदन छेदन करे, (तब उसे जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।)

जैसे कोई किसी को गहरी चोट मारकर, मूर्च्छित करदे, या प्राण-वियोजन ही करदे, उसे जैसी कष्टानुभूति होती है, वैसी ही पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना समझना चाहिए।

विवेचन—पिछले सूत्रों में पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा का निषेध किया गया है। पृथ्वीकायिक जीवों में चेतना अव्यक्त होती है। उनमें हलन-चलन आदि क्रियाएँ भी स्पष्ट दीखती नहीं, अतः यह शंका होना स्वाभाविक है कि पृथ्वीकायिक जीव न चलता है, न बोलता है, न देखता है, न सुनता है, फिर कैसे माना जाय कि वह जीव है? उसे भेदन-छेदन करने से कष्ट का अनुभव होता है?

इस शंका के समाधान हेतु सूत्रकार ने तीन दृष्टान्त देकर पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना का बोध तथा अनुभूति कराने का प्रयत्न किया है।

प्रथम दृष्टान्त में बताया है—कोई मनुष्य जन्म से अंधा, बधिर, मूक या पंगु है। कोई पुरुष उसका छेदन-भेदन करे तो वह उस पीड़ा को न तो वाणी से व्यक्त कर सकता है, न त्रस्त होकर चल सकता है, न अन्य चेष्टा से पीड़ा को प्रकट कर सकता है। तो क्या यह मान लिया जाय कि वह जीव नहीं है, या उसे भेदन-छेदन करने से पीड़ा नहीं होती है?

जैसे वह जन्मान्ध व्यक्ति वाणी, चक्षु, गति आदि के अभाव में भी पीड़ा का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव इन्द्रिय-विकल अवस्था में पीड़ा की अनुभूति करते हैं।

---

१. यहाँ 'अन्ध' शब्द का अर्थ जन्म से इन्द्रिय-विकल—बहरा, गूंगा, पंगु तथा अवयवहीन समझना चाहिए। —आचा० शीलां० टीका ३५।१

दूसरे दृष्टान्त में किसी स्वस्थ मनुष्य की उपमा से बताया है, जैसे उसके पैर, आदि बत्तीस अवयवों का एक साथ छेदन-भेदन करते हैं, उस समय वह मनुष्य न भली प्रकार देख सकता है, न सुन सकता है, न बोल सकता है, न चल सकता है, किन्तु इससे यह तो नहीं माना जा सकता कि उसमें चेतना नहीं है या उसे कष्ट नहीं हो रहा है। इसी प्रकार पृथ्वी-कायिक जीव में व्यक्त चेतना का अभाव होने पर भी उसमें प्राणों का स्पन्दन है, अनुभव-चेतना विद्यमान है, अतः उसे भी कष्टानुभूति होती है।

तीसरे दृष्टान्त में मूर्च्छित मनुष्य के साथ तुलना करते हुए बताया है कि जैसे मूर्च्छित मनुष्य की चेतना बाहर में लुप्त होती है, किन्तु उसकी अन्तरंग चेतना—अनुभूति लुप्त नहीं होती, उसी प्रकार स्त्यानगृद्धिनिद्रा के सतत उदय से पृथ्वीकायिक जीवों की चेतना मूर्च्छित व अव्यक्त रहती है। पर वे आन्तर चेतना से शून्य नहीं होते।

उक्त तीनों उदाहरण पृथ्वीकायिक जीवों की सचेतनता तथा मनुष्य शरीर के साथ पीड़ा की अनुभूति स्पष्ट करते हैं।

भगवती सत्र (श० १६ उ० ३५) में बताया है—जैसे कोई तरुण और बलिष्ठ पुरुष किसी जरा-जीर्ण पुरुष के सिर पर दोनों हाथों से प्रहार करके उसे आहत करता है, तब वह जैसी अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है, उससे भी अनिष्टतर वेदना का अनुभव पृथ्वीकायिक जीवों को आक्रान्त होने पर होता है।

१६. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

१७. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे—पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

१८. जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

।। बिइओ उद्देसओ समत्तो ।।

१३. जो यहाँ (लोक में) पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ—प्रयोग करता है, वह वास्तव में इन आरंभों (हिंसा सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों व जीवों की वेदना) से अनजान है।

जो पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ/प्रयोग नहीं करता, वह वास्तव में इन आरंभों/हिंसा-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का ज्ञाता है, (वही इनसे मुक्त होता है)—

१७. यह (पृथ्वीकायिक जीवों की अव्यक्त वेदना) जानकर बुद्धिमान् मनुष्य न स्वयं पृथ्वीकाय का समारंभ करे, न दूसरों से पृथ्वीकाय का समारंभ करवाए और न उसका समारंभ करने वाले का अनुमोदन करे।

जिसने पृथ्वीकाय सम्बन्धी समारंभ को जान लिया अर्थात् हिंसा के कटु परिणाम को जान लिया, वही परिज्ञातकर्मा (हिंसा का त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

।। द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

अनगार-लक्षण

१९. से बेमि—से जहा वि अणगारे उज्जुकडे णियागपडिवण्णे[1] अमायं कुव्वमाणे वियाहिते।

१९. मैं कहता हूँ—जिस आचरण से अणगार होता है।
जो, ऋजुकृत्—सरल आचरण वाला हो,
नियाग-प्रतिपन्न—मोक्ष मार्ग के प्रति एकनिष्ठ होकर चलता हो,
अमाय—कपट रहित हो,

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में 'अनगार' के लक्षण बताये हैं। अपने आप को 'अनगार' कहने मात्र से कोई अणगार नहीं हो जाता। जिसमें निम्न तीन लक्षण पाये जाते हों, वही वास्तविक अनगार होता है।

(१) **ऋजु** अर्थात् सरल हो, जिसका मन एवं वाणी कपट रहित हो, तथा जिसकी कथनी-करनी में एकरूपता हो वह **ऋजुकृत्** है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ—३।१२

—ऋजु आत्मा की शुद्धि होती है। शुद्ध हृदय में धर्म ठहरता है। इसलिए ऋजुता धर्म का—साधुता का मुख्य आधार है। ऋजु आत्मा मोक्ष के प्रति सहज भाव से समर्पित होता है, इसलिए अनगार का दूसरा लक्षण है—(२) **नियाग-प्रतिपन्न**! उसकी साधना का लक्ष्य भौतिक ऐश्वर्य या यशःप्राप्ति आदि न होकर आत्मा को कर्ममल से मुक्त करना होता है।

(३) **अमाय**—माया का अर्थ संगोपन या छुपाना है, साधना पथ पर बढ़ने वाला अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उसी में लगा देता है। स्व-पर कल्याण के कार्य में वह कभी अपनी शक्ति को छुपाता नहीं, शक्ति भर जुटा रहता है। वह माया रहित होता है।

नियाग-प्रतिपन्नता में ज्ञानाचार एवं दर्शनाचार की शुद्धि, ऋजुकृत् में वीर्याचार की तथा अमाय में तपाचार की सम्पूर्ण शुद्धि परिलक्षित होती है। साधन एवं साध्य की शुद्धि का निर्देश इस सूत्र में है।

२०. जाए सद्धाए णिक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्ता विसोत्तियं।[2]

(२०) जिस श्रद्धा (निष्ठा/वैराग्य भावना) के साथ संयम-पथ पर कदम बढ़ाया है, उसी श्रद्धा के साथ संयम का पालन करें। **विस्रोतसिका**—अर्थात् लक्ष्य के प्रति शंका व चित्त की चंचलता के प्रवाह में न बहे, शंका का त्याग करदे।

---

१. चूर्णिमें—'निकायपडिवण्णे' पाठ है।
२. (क) चूर्णिमें 'तिण्णो हुसि विसोत्तियं' पाठ है।
(ख) विजहित्ता पुव्वसंजोगं; विजहित्ता विसोत्तियं—ऐसा पाठान्तर भी है।

२१. पणया वीरा महावीहिं ।

(२१) वीर पुरुष महापथ के प्रति प्रणत—अर्थात् समर्पित होते हैं ।

विवेचन—महापथ का अभिप्राय है, अहिंसा व संयम का प्रशस्त पथ। अहिंसा व संयम की साधना में देश, काल, सम्प्रदाय व जाति की कोई सीमा या बंधन नहीं है। वह सर्वदा, सर्वत्र सब के लिए एक समान हैं। संयम व शान्ति के आराधक सभी जन इसी पथ पर चले हैं, चलते हैं और चलेंगे। फिर भी यह कभी संकीर्ण नहीं होता, अतः यह महापथ है। अनगार इसके प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पित होते हैं।

अप्कायिक जीवों का जीवत्व

२२. लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं ।

से बेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा ।

जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति, जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति ।

२२. मुनि (अतिशय ज्ञानी पुरुषों) की आज्ञा—वाणी से लोक को—अर्थात् अप्काय के जीवों का स्वरूप जानकर उन्हें अकुतोभय बनादे अर्थात् उन्हें किसी भी प्रकार का भय उत्पन्न न करें, संयत रहे।

मैं कहता हूँ—मुनि स्वयं, लोक—अप्कायिक जीवों के अस्तित्व का अपलाप (निषेध) न करे। न अपनी आत्मा का अपलाप करे। जो लोक का अपलाप करता है, वह वास्तव में अपना ही अपलाप करता है। जो अपना अपलाप करता है, वह लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।

विवेचन—यहाँ प्रसंग के अनुसार 'लोक' का अर्थ अप्काय किया गया है। पूर्व सूत्रों में पृथ्वीकाय का वर्णन किया जा चुका है, अब अप्काय का वर्णन किया जा रहा है। टीकाकार ने 'अकुतोभय'—के अर्थ किये हैं—(१) जिससे किसी जीव को भय न हो, वह संयम। तथा (२) जो कहीं से भी भय न चाहता हो—वह 'अप्कायिक जीव।' यहाँ प्रथम संयम अर्थ प्रधानतया वांछित है।[1]

सामान्यतः अपने अस्तित्व को कोई भी अस्वीकार नहीं करता, पर शास्त्रकार का कथन है, कि जो व्यक्ति अप्कायिक जीवों की सत्ता को नकारता है, वह वास्तव में स्वयं की सत्ता को नकारता है। अर्थात् जिस प्रकार स्व का अस्तित्व स्वीकार्य है, अनुभवगम्य है, उसी प्रकार अन्य जीवों का अस्तित्व भी स्वीकारना चाहिए। यही 'आयतुले पयासु' 'आत्म-तुला' का सिद्धान्त है।

मूल में 'अभ्याख्यान' शब्द आया है, जो कई विशेष अर्थ रखता है। किसी के अस्तित्व को नकारना, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य, जीव को अजीव, अजीव को जीव स्थापित करना अभ्याख्यान—विपरीत कथन है। अर्थात् 'जीव को अजीव' बताना उस पर

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक—४०।१

असत्य अभियोग लगाने के समान है। आगमों में अभ्याख्यान शब्द निम्न कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

दोषाविष्करण—दोष प्रकट करना—(भगवती ५।६)।
असद् दोष का आरोपण करना—(प्रज्ञापना २२।प्रश्न० २)।
दूसरों के समक्ष निंदा करना—(प्रश्न० २)।
असत्य अभियोग लगाना—(आचा० १।३)।

२३. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

२४. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवितस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणति।

तं से अहिताए तं से अबोधीए।

२५. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।[1]

२६. से बेमि—संति पाणा उदयणिस्सिया जीवा अणेगा।

इहं च खलु भो अणगाराणं उदय-जीवा वियाहिया।

सत्थं चेत्थ अणुवीयि पास। पुढो सत्थं पवेदितं।[2] अदुवा अदिण्णादाणं।

२३. तू देख! सच्चे साधक हिंसा (अप्काय की) करने में लज्जा अनुभव करते हैं। और उनको भी देख, जो अपने आपको 'अनगार' घोषित करते हैं, वे विविध प्रकार के शस्त्रों (उपकरणों) द्वारा जल सम्बन्धी आरंभ-समारंभ करते हुए जल-काय के जीवों की हिंसा करते हैं। और साथ ही तदाश्रित अन्य अनेक जीवों की भी हिंसा करते हैं।

२४. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा अर्थात् विवेक का निरूपण किया है। —अपने इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के लिए, दुःखों का प्रतीकार करने के लिए (इन कारणों से) कोई स्वयं अप्काय की हिंसा करता है, दूसरों से भी अप्काय की हिंसा करवाता है और अप्काय की हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है। यह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है तथा अबोधि का कारण बनती है।

---

१. सूत्र २५ के बाद कुछ प्रतियों में 'अप्पेगे अंधमब्भे' पृथ्वीकाय का सूत्र १५ पूर्ण रूप से उद्धृत मिलता है। यह सूत्र अग्निकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय एवं वायुकाय के प्रकरण में भी मिलता है। हमारी आदर्श प्रति में यह पाठ नहीं है। —सम्पादक

२. वृत्ति में 'पुढोऽपासं पवेदितं'—पाठान्तर है, जिसका आशय है शस्त्र-परिणामित उदक ग्रहण करना अपाश—अबन्धन (अनुमत) है।

२५. वह साधक यह समझते हुए संयम-साधना में तत्पर हो जाता है।

भगवान् से या अनगार मुनियों से सुनकर कुछ मनुष्यों को यह परिज्ञात हो जाता है, जैसे—यह अप्कायिक जीवों की हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, साक्षात् मृत्यु है, नरक है।

फिर भी मनुष्य इस (जीवन, प्रशंसा, सन्तान आदि के लिए) में आसक्त होता है। जो कि वह तरह-तरह के शस्त्रों से उदक-काय की हिंसा-क्रिया में संलग्न होकर अप्कायिक जीवों की हिंसा करता है। वह केवल अप्कायिक जीवों की ही नहीं, किन्तु उसके आश्रित अन्य अनेक प्रकार के (त्रस एवं स्थावर) जीवों की भी हिंसा करता है।

२६. मैं कहता हूँ—

जल के आश्रित अनेक प्रकार के जीव रहते हैं।

हे मनुष्य! इस अनगार-धर्म में, अर्थात् अर्हत्दर्शन में जल को 'जीव' (सचेतन) कहा है। जलकाय के जो शस्त्र हैं, उन पर चिन्तन करके देख! भगवान ने जलकाय के अनेक शस्त्र बताये हैं।

जलकाय की हिंसा, सिर्फ हिंसा ही नहीं, वह अदत्तादान—चोरी भी है।

विवेचन—अप्काय को सजीव—सचेतन मानना जैन दर्शन की मौलिक मान्यता है। भगवान महावीर कालीन अन्य दार्शनिक जल को सजीव नहीं मानते थे, किन्तु उसमें आश्रित अन्य जीवों की सत्ता स्वीकार करते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में 'वर्षा' को जल का गर्भ माना है, और जल को 'प्रजनन शक्ति' के रूप में स्वीकार किया है। 'प्रजनन क्षमता' सचेतन में ही होती है, अतः सचेतन होने की धारणा का प्रभाव वैदिक चिन्तन पर पड़ा है, ऐसा माना जा सकता है।[1] किन्तु मूलतः अनगारदर्शन को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक जल को सचेतन नहीं मानते थे। इसलिए यहाँ दोनों तथ्य स्पष्ट किये गये हैं—(१) जल सचेतन है। (२) जल के आश्रित अनेक प्रकार के छोटे-बड़े जीव रहते हैं।

अनगारदर्शन में जल के तीन प्रकार बताये हैं—(१) **सचित्त**—जीव-सहित। (२) **अचित्त**—निर्जीव। (३) **मिश्र**—सजीव-निर्जीव मिश्रित जल। सजीव जल, शस्त्र-प्रयोग से निर्जीव होता है। जलकाय के सात शस्त्र इस प्रकार बताये हैं[2]—

उत्सेचन—कुएं से जल निकालना,

गालन—जल छानना,

धोवन—जल से उपकरण/बर्तन आदि धोना,

स्वकाय शस्त्र—एक स्थान का जल दूसरे स्थान के जल का शस्त्र है,

---

१. देखिए—श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३४६, डा० जे० आर० जोशी (पूना) का लेख।

२. निर्युक्ति गाथा ११३-११४।

परकाय शस्त्र—मिट्टी, तेल, क्षार, शर्करा, अग्नि आदि,
तदुभय शस्त्र—जल से भीगी मिट्टी आदि,
भाव शस्त्र—असंयम।

जलकाय जीवों की हिंसा को 'अदत्तादान' कहने के पीछे एक विशेष कारण है। तात्कालीन परिव्राजक आदि कुछ संन्यासी जल को सजीव तो नहीं मानते थे, पर अदत्त जल का प्रयोग नहीं करते थे। जलाशय आदि के स्वामी की अनुमति लेकर जल का उपयोग करने में वे दोष नहीं मानते थे। उनकी इस धारणा को मूलतः भ्रान्त बताते हुए यहाँ कहा गया है—जलाशय का स्वामी क्या जलकाय के जीवों का स्वामी हो सकता है? क्या जल के जीवों ने अपने प्राण-हरण करने, या प्राण किसी को सौपने का अधिकार उसे दिया है? नहीं! अतः जल के जीवों का प्राण-हरण करना हिंसा तो है ही, साथ में उनके प्राणों की चोरी भी है।[1] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी भी जीव की हिंसा, हिंसा के साथ-साथ अदत्तादान भी है। अहिंसा के सम्बन्ध में यह बहुत ही सूक्ष्म व तर्कपूर्ण गम्भीर चिन्तन है।

२७. कप्पइ णे, कप्पइ णे पातुं, अदुवा विभूसाए। पुढो सत्थेहिं विउट्टंति।

२८. एत्थ वि तेसिं णो णिकरणाए।

२९. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

३०. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारभेज्जा, णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारभावेज्जा, उदयसत्थं समारभंते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा।

३१. जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

२७. 'हमें कल्पता है। अपने सिद्धान्त के अनुसार हम पीने के लिए जल ले सकते हैं।' (यह आजीवकों एवं शैवों का कथन है)।

'हम पीने तथा नहाने (विभूषा) के लिए भी जल का प्रयोग कर सकते हैं।' (यह बौद्ध श्रमणों का मत है) इस तरह अपने शास्त्र का प्रमाण देकर या नानाप्रकार के शस्त्रों द्वारा जलकाय के जीवों की हिंसा करते हैं।

२८. अपने शास्त्र का प्रमाण देकर जलकाय की हिंसा करने वाले साधु, हिंसा के पाप से विरत नहीं हो सकते। अर्थात् उनका हिंसा न करने का संकल्प परिपूर्ण नहीं हो सकता।

२९. जो यहाँ, शस्त्र-प्रयोग कर जलकाय जीवों का समारम्भ करता है, वह इन आरंभों (जीवों की वेदना व हिंसा के कुपरिणाम) से अनभिज्ञ है। अर्थात् हिंसा करने वाला कितने ही शास्त्रों का प्रमाण दे, वास्तव में वह अज्ञानी ही है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक ४२

जो जलकायिक जीवों पर शस्त्र-प्रयोग नहीं करता, वह आरंभों का ज्ञाता है, वह हिंसा-दोष से मुक्त होता है। अर्थात् वह ज्ञ-परिज्ञा से हिंसा को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे त्याग देता है।

३०. बुद्धिमान मनुष्य यह (उक्त कथन) जानकर स्वयं जलकाय का समारंभ न करे, दूसरों से न करवाए, और उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

३१. जिसको जल-सम्बन्धी समारंभ का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा (मुनि) होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

अग्निकाय की सजीवता

३२. से बेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।
जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति।
जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे।
जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे।

३२. मैं कहता हूँ—

वह (जिज्ञासु साधक) कभी भी स्वयं लोक (अग्निकाय) के अस्तित्त्व का, अर्थात् उसकी सजीवता का अपलाप (निषेध) न करें। न अपनी आत्मा के अस्तित्त्व का अपलाप करे। क्योंकि जो लोक (अग्निकाय) का अपलाप करता है, वह अपने आप का अपलाप करता है। जो अपने आप का अपलाप करता है वह लोक का अपलाप करता है।

जो दीर्घलोक शस्त्र (अग्निकाय) के स्वरूप को जानता है वह अशस्त्र (संयम) का स्वरूप भी जानता है। जो संयम का स्वरूप जानता है वह दीर्घ लोक-शस्त्र का स्वरूप भी जानता है।

विवेचन—यहां प्रसंगानुसार 'लोक' शब्द अग्निकाय का बोधक है। तत्कालीन धर्म-परम्पराओं में जल को, तथा अग्नि को देवता मानकर पूजा तो जाता था, किन्तु उनकी हिंसा के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया गया था। जल से शुद्धि और पंचाग्नि तप आदि से सिद्धि मानकर इनका खुल्लमखुल्ला प्रयोग/उपयोग किया जाता था। भगवान महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से इन दोनों को सजीव मानकर उनकी हिंसा का निषेध किया है।

टीकाकार आचार्य शीलांक ने कहा है—अग्नि की सजीवता तो स्वयं ही सिद्ध है। उसमें प्रकाश व उष्णता का गुण है, जो सचेतन में होते हैं। तथा अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती।[1] स्नेह, काष्ट आदि का आहार लेकर बढ़ती है, आहार के अभाव में घटती है—यह सब उसकी सजीवता के स्पष्ट लक्षण हैं।

किसी सचेतन की सचेतनता अस्वीकार करना अर्थात् उसे अजीव मानना अभ्याख्यान दोष है, अर्थात् उसकी सत्ता पर झूठा दोषारोपण करना है तथा दूसरे की सत्ता का अस्वीकार अपनी आत्मा का ही अस्वीकार है।

'दीर्घलोक शस्त्र' शब्द द्वारा अग्निकाय का कथन करना विशेष उद्देश्यपूर्ण है। दीर्घ-लोक का अर्थ है—वनस्पति। पांच स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में चार की अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग है, जबकि वनस्पति की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन से भी अधिक है।[2] वनस्पति का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। इसलिए वनस्पति को आगमों में 'दीर्घलोक' कहा है। अग्नि उसका शस्त्र है।

दीर्घलोक शस्त्र—इसका एक अर्थ यह भी है कि अग्नि सबसे तीक्ष्ण और प्रचंड शस्त्र है। उत्तराध्ययन में कहा है—

नत्थि जोइ समे सत्थे तम्हा जोइं न दीवए—३५।१२

—अग्नि के समान अन्य कोई तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है। बड़े-बड़े विशाल बीहड़ वनों को वह कुछ क्षणों में ही भस्मसात् कर देती है। अग्नि वडवानल के रूप में समुद्र में भी छिपी रहती है।

'खेयण्णे' शब्द के संस्कृत में दो रूप होते हैं—**'क्षेत्रज्ञ'**—निपुण। अथवा क्षेत्र—शरीर किंवा आत्मा, उसके स्वरूप को जानने वाला—क्षेत्रज्ञ।

खेदज्ञ—जीव मात्र के दुःख को जानने वाला। कहीं-कहीं क्षेत्रज्ञ का; गीतार्थ[3] आचार व प्रायश्चित्त विधि का ज्ञाता[4] अर्थ भी किया है। भगवान महावीर का 'खेयन्नए'[5] विशेषण बताकर इसका अर्थ लोकालोक स्वरूप के ज्ञाता व प्रत्येक आत्मा के खेद/सुख-दुख तथा उसके मूल कारणों के ज्ञाता, ऐसा अर्थ भी किया गया है।

गीता में शरीर को क्षेत्र व आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा है।[6] बौद्ध ग्रन्थों में—क्षेत्रज्ञ का अर्थ 'कुशल' किया है।[7]

---

१. न विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलति—भगवती श० १६।उ० १। सूत्र ५ (अंगसुत्ताणि)
२. प्रज्ञापना अवगाहना पद।
३. ओघनिर्युक्ति (अभि० राजेन्द्र 'खेयन्ने' शब्द)।
४. धर्म संग्रह अधिकार (अभि० ,,)।
५. खेयन्नए से कुसले महेसी—सूत्रकृतांग १।६
६. गीता १३।१-२।
७. अंगुत्तरनिकाय, नवक निपात, चतुर्थ भाग पृ० ५७।

अशस्त्र—शब्द 'संयम' के अर्थ में प्रयुक्त है। असंयम को भाव शस्त्र बताया है,[1] अतः उसका विरोधी संयम—अ-शस्त्र अर्थात् जीव मात्र का रक्षक/बन्धु/मित्र है। प्रकारान्तर से इस कथन का भाव है—जो हिंसा को जानता है, वही अहिंसा को जानता है, जो अहिंसा को जानता है वही हिंसा को भी जानता है।

अग्निकायिक-जीव-हिंसा-निषेध

३३. वीरेहि एयं अभिभूय दिट्ठं संजतेहिं सया जतेहिं सदा अप्पमत्तेहिं।
जे पमत्ते गुणट्ठिते से हु दंडे पवुच्चति।
तं परिण्णाय मेहावी इदाणीं णो जमहं पुव्वमकासी पमादेणं।

३३. वीरों (आत्मज्ञानियों) ने, ज्ञान-दर्शनावरण आदि कर्मों को विजय कर/नष्ट कर यह (संयम का पूर्ण स्वरूप) देखा है। वे वीर संयमी, सदा यतनाशील और सदा अप्रमत्त रहने वाले थे।

जो प्रमत्त है, गुणों (अग्नि के राँधना-पकाना आदि गुणों) का अर्थी है, वह दण्ड/हिंसक कहलाता है।

यह जानकर मेधावी पुरुष (संकल्प करे)—अब मैं वह (हिंसा) नहीं करूंगा, जो मैंने प्रमाद के वश होकर पहले किया था।

विवेचन—इस सूत्र में वीर आदि विशेषण सम्पूर्ण आत्म-ज्ञान (केवल ज्ञान) प्राप्त करने की प्रक्रिया के सूचक है।

वीर—पराक्रमी—साधना में आने वाले समस्त विघ्नों पर विजय पाना।

संयम—इन्द्रिय और मन को विवेक द्वारा निग्रहीत करना।

यम—क्रोध आदि कषायों की विजय करना।

अप्रमत्तता—स्व-रूप की स्मृति रखना। सदा जागरूक और विषयोन्मुखी प्रवृत्तियों से विमुख रहना।

इस प्रक्रिया द्वारा (आत्म-दर्शन) केवलज्ञान प्राप्त होता है। उन केवली भगवान ने जीव हिंसा के स्वरूप को देखकर अ-शस्त्र—संयम का उपदेश किया है।

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच प्रमाद हैं। मनुष्य जब इनमें आसक्त होता है तभी वह अग्नि के गुणों/उपयोगों—रांधना, पकाना, प्रकाश, ताप आदि की वांछा करता है। और तब वह स्वयं जीवों का दण्ड (हिंसक) बन जाता है।

हिंसा के स्वरूप का ज्ञान होने पर बुद्धिमान् मनुष्य उसको त्यागने का संकल्प करता है। मन में दृढ़ निश्चय कर अहिंसा की साधना पर बढ़ता है और पूर्व-कृत हिंसा आदि के लिए पश्चात्ताप करता है—यह सूत्र के अन्तिम पद में बताया है।

३४. लज्जमाणा पुढो पास।

'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

---

१ भावे य असंजमो सत्थं—निर्युक्ति गाथा ९६

३५. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव अगणिसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारभावेति, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणति ।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए।

३६. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए ।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

३७. से बेमि —संति पाणा पुढविणिस्सिता तणणिस्सिता पत्तणिस्सिता कट्ठणिस्सिता गोमयणिस्सिता कयवरणिस्सिता ।

संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति य ।

अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघातमावज्जंति । जे तत्थ संघातमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति । जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ।

३४. तू देख ! संयमी पुरुष जीव-हिंसा में लज्जा/ग्लानि/संकोच का अनुभव करते हैं।

और उनको भी देख, जो हम 'अनगार—गृह त्यागी साधु हैं'—यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रों/उपकरणों से अग्निकाय की हिंसा करते हैं। अग्निकाय के जीवों की हिंसा करते हुए अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।

३५. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक-ज्ञान का निरूपण किया है। कुछ मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सन्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के निमित्त, तथा दुःखों का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं अग्निकाय का समारंभ करते हैं। दूसरों से अग्निकाय का समारंभ करवाते हैं। अग्निकाय का समारंभ करने वालों (दूसरों) का अनुमोदन करते हैं।

यह (हिंसा) उनके अहित के लिए होती है। यह उनकी अबोधि के लिए होती है।

३६. वह (साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) भली प्रकार समझे और संयम-साधना में तत्पर हो जाये।

तीर्थंकर आदि प्रत्यक्ष ज्ञानी अथवा श्रुत ज्ञानी मुनियों के निकट से सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है कि यह जीव हिंसा—ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य जीवन, मान, वंदना आदि हेतुओं में आसक्त हुए विविध प्रकार के शस्त्रों से अग्निकाय का समारंभ करते हैं। और अग्निकाय का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणों/जीवों की भी हिंसा करते हैं।

३७. मैं कहता हूँ—

बहुत से प्राणी—पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कूड़ा-कचरा आदि के आश्रित रहते हैं।

कुछ सँपातिम/उड़ने वाले प्राणी होते हैं (कीट, पतंगे, पक्षी आदि) जो उड़ते-उड़ते नीचे गिर जाते हैं।

ये प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर संघात (शरीर का संकोच) प्राप्त होते हैं। शरीर का संघात होने पर अग्नि की उष्मा से मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छित हो जाने के बाद मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं।

विवेचन—सूत्र ३४-३५ का अर्थ पिछले २३-२४ सूत्र की तरह सुबोध ही है। अग्निकाय के शस्त्रों का उल्लेख निर्युक्ति में इस प्रकार है—

१. **मिट्टी या धूलि** (इससे वायु निरोधक वस्तु कंवल आदि भी समझना चाहिए), २. **जल**, ३. **आर्द्र वनस्पति**, ४. **त्रस प्राणी**, ५. **स्वकाय शस्त्र**—एक अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है, ६. **परकाय शस्त्र**—जल आदि, ७. **तदुभय मिश्रित**—जैसे तुष-मिश्रित अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है, ८. **भावशस्त्र**—असंयम।

३८. एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

३९. [1]जस्स एते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

३८. जो अग्निकाय के जीवों पर शस्त्र-प्रयोग करता है, वह इन आरंभ-समारंभ क्रियाओं के कटु परिणामों से अपरिज्ञात होता है, अर्थात् वह हिंसा के दुःखद परिणामों से छूट नहीं सकता है।

जो अग्निकाय पर शस्त्र-समारंभ नहीं करता है, वास्तव में वह आरंभ का ज्ञाता अर्थात् हिंसा से मुक्त हो जाता है।

३९. जिसने यह अग्नि-कर्म-समारंभ भली प्रकार समझ लिया है, वही मुनि है, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म का ज्ञाता और त्यागी) है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ सूत्र ३८ के बाद कुछ प्रतियों में यह पाठ मिलता है। "तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारभावेज्जा, अगणिसत्थं समारभंते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा।" यह पाठ चूर्णिकार तथा टीकाकार ने मूल रूप में स्वीकृत किया है, ऐसा लगता है, किन्तु कुछ प्रतियों में नहीं है।

पञ्चमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

अणगार का लक्षण

४०. तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मतिमं अभयं विदित्ता तं जे णो करए एसोवरते, एत्थोवरए, एस अणगारे त्ति पवुच्चति।

४०. (अहिंसा में आस्था रखने वाला यह संकल्प करें)—मैं संयम अंगीकार करके वह हिंसा नहीं करूंगा। बुद्धिमान संयम में स्थिर होकर मनन करे और 'प्रत्येक जीव अभय चाहता है' यह जानकर (हिंसा न करें) जो हिंसा नहीं करता, वही व्रती है। इस अर्हत्-शासन में जो व्रती है, वही अनगार कहलाता है।

विवेचन—इस सूत्र में अहिंसा को जीवन में साकार करने के दो साधन बताये हैं। जैसे **मनन**;—बुद्धिमान पुरुष जीवों के स्वरूप आदि के विषय में गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करें। **अभय जाने**—फिर यह जाने कि जैसे मुझे 'अभय' प्रिय है, मैं कहीं से भी भय नहीं चाहता, वैसे ही कोई भी जीव भय नहीं चाहता। सबको अभय प्रिय है। इस बात पर मनन करने से प्रत्येक जीव के साथ आत्म-एकत्व की अनुभूति होती है। इससे अहिंसा की आस्था सुदृढ़ एवं सुस्थिर हो जाती है।

टीकाकार ने 'अभय' का अर्थ संयम भी किया है। तदनुसार 'अभयं विदित्ता' का अर्थ है—संयम को जान कर।[1]

४१. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे।
उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति।
उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु यावि।
एस लोगे वियाहिते।
एत्थ अगुत्ते अणाणाए पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे पमत्ते गारमावसे।

४१. जो गुण (शब्दादि विषय) है, वह आवर्त संसार है। जो आवर्त है वह गुण है।

ऊंचे, नीचे, तिरछे, सामने देखनेवाला रूपों को देखता है। सुनने वाला शब्दों को सुनता है।

ऊंचे, नीचे, तिरछे, सामने—विद्यमान वस्तुओं में आसक्ति करने वाला, रूपों में मूर्च्छित होता है, शब्दों में मूर्च्छित होता है।

यह (आसक्ति) ही संसार कहा जाता है।

जो पुरुष यहाँ (विषयों में) अगुप्त है। इन्द्रिय एवं मन से असंयत है, वह आज्ञा—धर्म-शासन के बाहर है।

---

१ अविद्यमानं भयमस्मिन् सत्त्वानामित्यभयः—संयमः। —आचा० टीका पत्रांक ५६।१

जो बार-बार विषयों का आस्वाद करता है। उनका भोग-उपभोग करता है, वह वक्र समाचार—अर्थात् असंयममय जीवन वाला है। वह प्रमत्त है। तथा गृहत्यागी कहलाते हुए भी वास्तव में गृहवासी ही है।

विवेचन—'गुण' शब्द के अनेक अर्थ हैं। आगमों के व्याख्याकार आचार्यों ने निक्षेप पद्धति द्वारा गुण की पन्द्रह प्रकार से विभिन्न व्याख्याएँ की हैं।[1] प्रस्तुत में गुण का अर्थ है—पांच इन्द्रियों के ग्राह्य विषय। ये क्रमशः यों है—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। ये ऊंची-नीची आदि सभी दिशाओं में मिलते हैं। इन्द्रियों के द्वारा आत्मा इनको ग्रहण करता है, सुनता है, देखता है, सूंघता है, चखता है और स्पर्श करता है। ग्रहण करना इन्द्रिय का गुण है। ग्रहीत विषयों के प्रति मूर्च्छा करना मन या चेतना का कार्य है। जब मन विषयों के प्रति आसक्त होता है तब विषय मन के लिए बन्धन या आवर्त बन जाता है। आवर्त का शब्दार्थ है—समुद्रादि का वह जल, जो वेग के साथ चक्राकार घूमता रहता है। भंवर जाल/घूम चक्कर। भाव रूप में विषय व संसार अथवा शब्दादि गुण आवर्त है।[2]

शास्त्रकार ने बताया है, रूप एवं शब्द आदि का देखना-सुनना स्वयं में कोई दोष नहीं है, किन्तु उनमें आसक्ति (राग या द्वेष) होने से आत्मा उनमें मूर्च्छित हो जाता है, फंस जाता है। यह आसक्ति ही संसार है। अनासक्त आत्मा ससार में स्थित रहता हुआ भी संसार-मुक्त कहलाता है।

दीक्षित होकर भी जो मुनि विषयासक्त बन जाता है, वह बार-बार विषयों का सेवन करता है। उसका यह आचरण वक्र-समाचार है, कपटाचरण है, क्योंकि ऊपर से वह त्यागी दीखता है, मुनिवेष धारण किये हुए है, किन्तु वास्तव में वह प्रमादी है, गृहवासी है और जिन भगवान की आज्ञा से बाहर है।

प्रस्तुत उद्देशक में वनस्पतिकाय की हिंसा का निषेध किया गया है, यहाँ पर शब्दादि विषयों का वर्णन सहसा अप्रासंगिक-सा लग सकता है। अतः टीकाकार ने इसकी संगति बैठाते हुए कहा है—शब्दादि विषयों की उत्पत्ति का मुख्य साधन वनस्पति ही है। वनस्पति से ही वीणा आदि वाद्य, विभिन्न रंग, रूप, पुष्पादि के गंध, फल आदि के रस व रुई आदि के स्पर्श की निष्पत्ति होती है।[3] अतः वनस्पति के वर्णन से पूर्व उसके उत्पाद/वनस्पति से निष्पन्न वस्तुओं में अनासक्त रहने का उपदेश करके प्रकारान्तर से उसकी हिंसा न करने का ही उपदेश किया है। हिंसा का मूल हेतु भी आसक्ति ही है। अगर आसक्ति न रहे तो विभिन्न दिशाओं/क्षेत्रों में स्थित ये शब्दादि गुण आत्मा के लिए कुछ भी अहित नहीं करते।

वनस्पतिकाय-हिंसा-वर्जन

४२. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं

१. अभिधान राजेन्द्र भाग ३, 'गुण' शब्द।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक ५६
३. आचा० टीका पत्रांक ५७।१

सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

४३. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वणस्सतिसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वणस्सतिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

४४. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सति-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

४२. तू देख! ज्ञानी हिंसा से लज्जित/विरत रहते हैं। 'हम गृह त्यागी है,' यह कहते हुए भी कुछ लोग नानाप्रकार के शस्त्रों से, वनस्पतिकायिक जीवों का समारंभ करते हैं। वनस्पतिकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।

४३. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का उपदेश किया है—इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, वह (तथाकथित साधु) स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है।

यह (हिंसा—करना, कराना, अनुमोदन करना) उसके अहित के लिए होता है। यह उसकी अबोधि के लिए होता है।

४४. यह समझता हुआ साधक संयम में स्थिर हो जाए। भगवान से या त्यागी अनगारों के समीप सुनकर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है—'यह (हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।'

फिर भी मनुष्य इसमें आसक्त हुआ, नानाप्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय का समारंभ करता है और वनस्पतिकाय का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है।

मनुष्य शरीर एवं वनस्पति शरीर की समानता

४५. से बेमि—इमं पि जातिधम्मयं, एयं पि जातिधम्मयं;
इमं पि वुड्ढिधम्मयं, एयं पि वुड्ढिधम्मयं;
इमं पि चित्तमंतयं, एयं पि चित्तमंतयं;
इमं पि छिण्णं मिलाति, एयं पि छिण्णं मिलाति;'
इमं पि आहारगं, एयं पि आहारगं;

इमं पि अणितियं,[1] एयं पि अणितियं;[2]
इमं पि असासयं, एयं पि असासयं;
इमं पि चयोवचइयं, एयं पि चयोवचइयं;
इमं पि विप्परिणामधम्मयं, एयं पि विप्परिणामधम्मयं।

४५. मैं कहता हूँ—

यह मनुष्य भी जन्म लेता है,	यह वनस्पति भी जन्म लेती है।
यह मनुष्य भी बढ़ता है,	यह वनस्पति भी बढ़ती है।
यह मनुष्य भी चेतना युक्त है,	यह वनस्पति भी चेतना युक्त है।
यह मनुष्य शरीर छिन्न होने पर म्लान हो जाता है,	यह वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है।
यह मनुष्य भी आहार करता है,	यह वनस्पति भी आहार करती है।
यह मनुष्य शरीर भी अनित्य है,	यह वनस्पति का शरीर भी अनित्य है।
यह मनुष्य शरीर भी अशाश्वत है,	यह वनस्पति शरीर भी अशाश्वत है।

यह मनुष्य शरीर भी आहार से उपचित होता है, आहार के अभाव में अपचित/क्षीण/दुर्बल होता है।

यह वनस्पति का शरीर भी इसी प्रकार उपचित-अपचित होता है।
यह मनुष्य शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।
यह वनस्पति शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

विवेचन—भारत के प्रायः सभी दार्शनिकों ने वनस्पति को सचेतन माना है। किन्तु वनस्पति में ज्ञान-चेतना अल्प होने के कारण उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों ने कोई विशेष चिन्तन-मनन नहीं किया। जैनदर्शन में वनस्पति के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म व व्यापक चिन्तन किया गया है। मानव-शरीर के साथ जो इसकी तुलना की गई है, वह आज के वैज्ञानिकों के लिए भी आश्चर्यजनक व उपयोगी तथ्य है। जब सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति में मानव के समान ही चेतना की वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सिद्धि कर बताई थी, तब से जैनदर्शन का वनस्पति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

वनस्पति विज्ञान (Botany) आज जीव-विज्ञान का प्रमुख अंग बन गया है। सभी जीवों को जीवन-निर्वाह करने, वृद्धि करने, जीवित रहने और प्रजनन (संतानोत्पत्ति) के लिए भोजन किंवा ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा सूर्य से फोटोन (Photon) तरंगों के रूप में पृथ्वी पर आती है। इसे ग्रहण करने की क्षमता सिर्फ पेड़-पौधों में ही है। पृथ्वी के सभी प्राणी पौधों से ही ऊर्जा (जीवनी शक्ति) प्राप्त करते हैं। अतः पेड़-पौधों (वनस्पति) का मानव जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। वैज्ञानिक व चिकित्सा-वैज्ञानिक मानव-शरीर के विभिन्न अवयवों का, रोगों का, तथा आनुवंशिक गुणों का अध्ययन करने के लिए आज 'वनस्पति' (पेड़-पौधों) का अध्ययन करते हैं। अतः वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र में आगम सम्मत वनस्पति-कायिक जीवों की मानव शरीर के साथ तुलना बहुत अधिक महत्त्व रखती है।

१, २ पाठान्तर 'अणिच्चयं'।

सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

४३. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वणस्सतिसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वणस्सतिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति ।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।

४४. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए । सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए ।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारभेणं वणस्सति-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

४२. तू देख ! ज्ञानी हिंसा से लज्जित/विरत रहते हैं । 'हम गृह त्यागी है,' यह कहते हुए भी कुछ लोग नानाप्रकार के शस्त्रों से, वनस्पतिकायिक जीवों का समारंभ करते हैं । वनस्पतिकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं ।

४३. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का उपदेश किया है—इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, वह (तथाकथित साधु) स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है ।

यह (हिंसा—करना, कराना, अनुमोदन करना) उसके अहित के लिए होता है । यह उसकी अबोधि के लिए होता है ।

४४. यह समझता हुआ साधक संयम में स्थिर हो जाए । भगवान से या त्यागी अनगारों के समीप सुनकर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है—'यह (हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।'

फिर भी मनुष्य इसमें आसक्त हुआ, नानाप्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय का समारंभ करता है और वनस्पतिकाय का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है ।

इमं पि अणितियं,[1] एयं पि अणितियं;[2]
इमं पि असासयं, एयं पि असासयं;
इमं पि चयोवचइयं, एयं पि चयोवचइयं;
इमं पि विप्परिणामधम्मयं, एयं पि विप्परिणामधम्मयं।

४५. मैं कहता हूँ—

यह मनुष्य भी जन्म लेता है,	यह वनस्पति भी जन्म लेती है।
यह मनुष्य भी बढ़ता है,	यह वनस्पति भी बढ़ती है।
यह मनुष्य भी चेतना युक्त है,	यह वनस्पति भी चेतना युक्त है।
यह मनुष्य शरीर छिन्न होने पर म्लान हो जाता है,	यह वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है।
यह मनुष्य भी आहार करता है,	यह वनस्पति भी आहार करती है।
यह मनुष्य शरीर भी अनित्य है,	यह वनस्पति का शरीर भी अनित्य है।
यह मनुष्य शरीर भी अशाश्वत है,	यह वनस्पति शरीर भी अशाश्वत है।

यह मनुष्य शरीर भी आहार से उपचित होता है, आहार के अभाव में अपचित/क्षीण/दुर्बल होता है।

यह वनस्पति का शरीर भी इसी प्रकार उपचित-अपचित होता है।

यह मनुष्य शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

यह वनस्पति शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

विवेचन—भारत के प्रायः सभी दार्शनिकों ने वनस्पति को सचेतन माना है। किन्तु वनस्पति में ज्ञान-चेतना अल्प होने के कारण उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों ने कोई विशेष चिन्तन-मनन नहीं किया। जैनदर्शन में वनस्पति के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म व व्यापक चिन्तन किया गया है। मानव-शरीर के साथ जो इसकी तुलना की गई है, वह आज के वैज्ञानिकों के लिए भी आश्चर्यजनक व उपयोगी तथ्य है। जब सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति में मानव के समान ही चेतना की वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सिद्धि कर बताई थी, तब से जैनदर्शन का वनस्पति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

वनस्पति विज्ञान (Botany) आज जीव-विज्ञान का प्रमुख अंग बन गया है। सभी जीवों को जीवन-निर्वाह करने, वृद्धि करने, जीवित रहने और प्रजनन (संतानोत्पत्ति) के लिए भोजन किंवा ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा सूर्य से फोटोन (Photon) तरंगों के रूप में पृथ्वी पर आती है। इसे ग्रहण करने की क्षमता सिर्फ पेड़-पौधों में ही है। पृथ्वी के सभी प्राणी पौधों से ही ऊर्जा (जीवनी शक्ति) प्राप्त करते हैं। अतः पेड़-पौधों (वनस्पति) का मानव जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। वैज्ञानिक व चिकित्सा-वैज्ञानिक मानव-शरीर के विभिन्न अवयवों का, रोगों का, तथा आनुवंशिक गुणों का अध्ययन करने के लिए आज 'वनस्पति' (पेड़-पौधों) का अध्ययन करते हैं। अतः वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र में आगम सम्मत वनस्पति-कायिक जीवों की मानव शरीर के साथ तुलना बहुत अधिक महत्त्व रखती है।

१, २ पाठान्तर 'अणिच्चयं'।

४६. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

४७. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सतिसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वणस्सतिसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे वणस्सतिसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

४८. जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

४६. जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ करता है, वह उन आरंभों/आरंभजन्य कटुफलों से अनजान रहता है। (जानता हुआ भी अनजान है।)

जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र प्रयोग नहीं करता, उसके लिए आरंभ परिज्ञात है।

४७. यह जानकर मेधावी स्वयं वनस्पति का समारंभ न करे, न दूसरों से समारंभ करवाए और न समारंभ करने वालों का अनुमोदन करे।

४८. जिसको यह वनस्पति सम्बन्धी समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात कर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि होता है।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

संसार-स्वरूप

४९. से बेमि—संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोतया जराउया रसया संसेयया[1] सम्मुच्छिमा उब्भिया उववातिया। एस संसारे त्ति पवुच्चति। मंदस्स अवियाणओ।

णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं। सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सातं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि।

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य।

तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति।

संति पाणा पुढो सिया।

४९. मैं कहता हूँ—

ये सब त्रस प्राणी हैं, जैसे—अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक। यह (त्रस जीवों का समन्वित क्षेत्र) संसार कहा जाता है। मंद तथा अज्ञानी जीव को यह संसार होता है।

१ पाठान्तर—संसेइमा।

मैं चिन्तन कर, सम्यक् प्रकार देखकर कहता हूँ—प्रत्येक प्राणी परिनिर्वाण (शान्ति और सुख) चाहता है।

सब प्राणियों, सब भूतों, सब जीवों और सब सत्त्वों को असाता (वेदना) और अपरिनिर्वाण (अशान्ति) ये महाभयंकर और दुःखदायी है। मैं ऐसा कहता हूँ।

ये प्राणी दिशा और विदिशाओं में, सब ओर से भयभीत/त्रस्त रहते हैं।

तू देख, विषय-सुखाभिलाषी आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर इन जीवों को परिताप देते रहते हैं।

त्रसकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित रहते हैं।

विवेचन—इस सूत्र में त्रसकायिक जीवों के विषय में कथन है। आगमों में संसारी जीवों के दो भेद बताये गये हैं—स्थावर और त्रस। जो दुख से अपनी रक्षा और सुख का आस्वाद करने के लिए हलन-चलन करने की क्षमता रखता हो, वह 'त्रस' जीव है। इसके विपरीत स्थिर रहने वाला 'स्थावर'। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी 'त्रस' होते हैं। एक मात्र स्पर्शनेन्द्रिय वाले स्थावर। उत्पत्ति-स्थान की दृष्टि से त्रस जीवों के आठ भेद किये गये हैं—

१. **अंडज**——अंडों से उत्पन्न होने वाले—मयूर, कबूतर, हंस आदि।

२. **पोतज**—पोत अर्थात् चर्ममय थैली। पोत से उत्पन्न होने वाले पोतज—जैसे हाथी, वल्गुली आदि।

३. **जरायुज**—जरायु का अर्थ है गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली, जो जन्म के समय शिशु को आवृत किये रहती है। इसे 'जेर' भी कहते हैं। जरायु के साथ उत्पन्न होने वाले हैं जैसे—गाय, भैंस आदि।

४. **रसज**—छाछ, दही आदि रस विकृत होने पर इनमें जो कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं वे 'रसज' कहे जाते हैं।

५ **संस्वेदज**—पसीने से उत्पन्न होने वाले। जैसे—जूँ, लीख आदि।

६. **सम्मूर्च्छिम**—बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले, जैसे—मक्खी, मच्छर, चींटी, भ्रमर आदि।

७. **उद्भिज्ज**—भूमि को फोड़कर निकलने वाले, जैसे—टीड़, पतंगे आदि।

८. **औपपातिक**—'उपपात' का शाब्दिक अर्थ है सहसा घटने वाली घटना। आगम की दृष्टि से देवता शय्या में, नारक कुम्भी में उत्पन्न होकर एक मुहुर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते हैं, इसलिए वे औपपातिक कहलाते हैं।

इन आठ प्रकार के जीवों में प्रथम तीन 'गर्भज' चौथे से सातवें भेद तक 'सम्मूर्च्छन', और देव-नारक औपपातिक हैं। ये 'सम्मूर्च्छनज, गर्भज, उपपातज—इन तीन भेदों में समाहित हो जाते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र (२/३२) में ये तीन भेद ही गिनाये हैं।

इन जीवों को संसार कहने का अभिप्राय यह है कि—यह अष्टविध योनि-संग्रह ही जीवों के जन्म-मरण तथा गमनागमन का केन्द्र है। अतः इसे ही संसार समझना चाहिए।

(१) मंदता, विवेक वुद्धि की अल्पता, तथा (२) अज्ञान। संसार में परिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरण के ये दो मुख्य कारण हैं। विवेक दृष्टि एवं ज्ञान जाग्रत होने पर मनुष्य संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

'परिनिर्वाण' शब्द वैसे मोक्ष का वाचक है। 'निर्वाण' का शब्दार्थ है वुझ जाना। जैसे तेल के क्षय होने से दीपक वुझ जाता है, वैसे राग-द्वेष के क्षय होने से संसार (जन्म-मरण) समाप्त हो जाता है और आत्मा सब दु:खों से मुक्त होकर अनन्त सुखमय-स्वरूप प्राप्त कर लेता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'परिनिर्वाण' का यह व्यापक अर्थ ग्रहण नहीं कर 'परिनिर्वाण' से सर्वविध सुख, अभय, दुख और पीड़ा का अभाव आदि अर्थ ग्रहण किया गया है।[1] औ बताया गया है कि प्रत्येक जीव सुख, शान्ति और अभय का आकांक्षी है। अशान्ति, भय, वेदन उनको महान भय व दु:खदायी होता है। अतः उनकी हिंसा न करे।

प्राण, भूत, जीव, सत्त्व—ये चारों शब्द—सामान्यतः जीव के ही वाचक हैं। शब्दनय (समभिरूढ नय) की अपेक्षा से इनके अलग-अलग अर्थ भी किये गये हैं। जैसे भगवती सू (२/१) में वताया है—

दश प्रकार के प्राण युक्त होने से—**प्राण** है।

तीनों काल में रहने के कारण—**भूत** है।

आयुष्य कर्म के कारण जीता है—अतः **जीव** है।

विविध पर्यायों का परिवर्तन होते हुए भी आत्म-द्रव्य की सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, अतः **सत्व** है।

टीकाकार आचार्य शीलांक ने निम्न अर्थ भी किया है—

प्राणाः द्वित्रिचतुःप्रोक्ता भूतास्तु तरवः स्मृताः।
जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः।[2]

प्राण—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव। **भूत**—वनस्पति कायिक जीव। **जीव**—पांच इन्द्रियवाले जीव,—तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारक। **सत्त्व—पृथ्वी**, अप्, अग्नि और वायु काय के जीव।

त्रस काय-हिंसा निषेध

५०. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

५०. तू देख! संयमी साधक जीव हिंसा में लज्जा/ग्लानि/संकोच का अनुभव करते हैं। और उनको भी देख, जो 'हम गृहत्यागी है' यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के उपकरणों से त्रसकाय का समारंभ करते हैं। त्रसकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्राणों की भी हिंसा करते हैं।

---

१. आचा० शीलां० टीका पत्रांक ६४,   २. वहीं, पत्रांक ६४

५१. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतु से सयमेव तसकायसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए।

५१. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है।

कोई मनुष्य इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं भी त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है तथा हिंसा करते हुए का अनुमोदन भी करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिए होती है। अबोधि के लिए होती है।

त्रसकाय-हिंसा के विविध हेतु

५२. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायकम्मसमारंभेणं तसकाय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

से बेमि—

अप्पेगे अच्चाए वधेंति, अप्पेगे अजिणाए वधेंति, अप्पेगे मंसाए वधेंति; अप्पेगे सोणिताए वधेंति, अप्पेगे हिययाए वधेंति, एवं पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए नहाए ण्हारुणीए अट्ठिए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए।

अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा, अप्पेगे हिंसंति वा, अप्पेगे हिंसिस्संति वा णे वधेंति।

५२. वह संयमी, उस हिंसा को/हिंसा के कुपरिणामों को सम्यक्प्रकार से समझते हुए संयम में तत्पर हो जावे!

भगवान से या गृहत्यागी श्रमणों के समीप सुनकर कुछ मनुष्य यह जान लेते हैं कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य इस हिंसा में आसक्त होता है। वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकायिक जीवों का समारंभ करता है। त्रसकाय का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों का भी समारंभ/हिंसा करता है।

मैं कहता हूँ—

कुछ मनुष्य अर्चा (देवता की बलि या शरीर के शृंगार) के लिए जीव हिंसा करते हैं। कुछ मनुष्य चर्म के लिए, मांस, रक्त, हृदय (कलेजा) पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, विषाण (सुअर का दांत,) दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि (हड्डी) और

अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों की हिंसा करते हैं। कुछ किसी प्रयोजन वश, कुछ निष्प्रयोजन/व्यर्थ ही जीवों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति (इन्होंने मेरे स्वजनादि की) हिंसा की, इस कारण (प्रतिशोध की भावना से) हिंसा करते हैं।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजन आदि की) हिंसा करता है, इस कारण (प्रतीकार की भावना से) हिंसा करते हैं।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजनादि की हिंसा करेगा) इस कारण (भावी आतंक/भय की संभावना से) हिंसा करते हैं।

५३. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

५३. जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, वह इन आरंभ (आरंभ जनित कुपरिणामों) से अनजान ही रहता है।

जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा नहीं करता है, वह इन आरंभों से सुपरिचित/मुक्त रहता है।

५४. तं परिण्णाय मेधावी णेव सयं तसकायसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकाय सत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा।

५४. यह जानकर बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं त्रसकाय-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से समारंभ न करवाए, समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

५५. जस्सेते तसकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

५५. जिसने त्रसकाय-सम्बन्धी समारंभों (हिंसा के हेतुओं/उपकरणों/कुपरिणामों) को जान लिया, वही परिज्ञातकर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि होता है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

आत्म-तुला-विवेक

५६. पभू एजस्स दुगुंछणाए। आतंकदंसी अहियं ति णच्चा।
जे अज्झत्थं जाणति से बहिया जाणति, जे बहिया जाणति से अज्झत्थं जाणति।
एयं तुलमण्णेसिं।
इह संतिगता दविया णावकंखंति जीविउं।[1]

५६. साधनाशील पुरुष हिंसा में आतंक देखता है, उसे अहित मानता है। अतः वायुकायिक जीवों की हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य (संसार) को भी जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

इस तुला (स्व-पर की तुलना) का अन्वेषण कर, चिन्तन कर! इस (जिन शासन में) जो शान्ति प्राप्त—(कषाय जिनके उपशान्त हो गये हैं) और दयार्द्र हृदय वाले (द्रविक) मुनि हैं, वे जीव-हिंसा करके जीना नहीं चाहते।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वायुकायिक जीवों की हिंसा-निषेध का वर्णन है। एज का अर्थ है वायु, पवन। वायुकायिक जीवों की हिंसा-निवृत्ति के लिए 'दुगुञ्छा'—जुगुप्सा शब्द एक नया प्रयोग है। आगमों में प्रायः दुगुंच्छा' शब्द गर्हा, ग्लानि, लोक-निंदा, प्रवचन-हीलना एवं साध्वाचार की निंदा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यहां पर यह 'निवृत्ति' अर्थ का बोध कराता है।

इस सूत्र में हिंसा-निवृत्ति के तीन विशेष हेतु/आलम्बन बतायें हैं।

१. **आतंक-दर्शन**—हिंसा से होने वाले कष्ट/भय/उपद्रव एवं पारलौकिक दुःख आदि को आगम वाणी तथा आत्म-अनुभव से देखना।

२. **अहित-चिंतन**—हिंसा से आत्मा का अहित होता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की उपलब्धि दुर्लभ होती है, आदि को जानना/समझना।

३: **आत्म-तुलना**—अपनी सुख-दुख की वृत्तियों के साथ अन्य जीवों की तुलना करना। जैसे मुझे सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। यह आत्म-तुलना या आत्मौपम्य की भावना है।

अहिंसा का पालन भी अंधानुकरण वृत्ति से अथवा मात्र पारम्परिक नहीं होना चाहिए, किन्तु ज्ञान और करुणापूर्वक होना चाहिए। जीव मात्र को अपनी आत्मा के समान समझना, प्रत्येक जीव के कष्ट को स्वयं का कष्ट समझना तथा उनकी हिंसा करने से सिर्फ उन्हें ही नहीं, स्वयं को भी कष्ट/भय तथा उपद्रव होगा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि होगी और

---

१ आचारांग (मुनि जम्बूविजय जी) टिप्पणी पृ० १४ चूर्णौ—वीयितुं, वीजिऊं—इति पाठान्तरौ।
"तालियंटमादिएहिं गातं बाहिरं वावि पोग्गलं ण कंखंति वीयितुं।"

अकल्याण होगा, इस प्रकार का आत्म-चिन्तन और आत्म-मंथन करके अहिंसा की भावना को संस्कारबद्ध बनाना—यह उक्त आलम्बनों का फलितार्थ है।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है—इस पद का कई दृष्टियों से चिन्तन किया जा सकता है।

१. अध्यात्म का अर्थ है—चेतन/आत्म-स्वरूप। चेतन के स्वरूप का बोध हो जाने पर इसके प्रतिपक्ष 'जड' का स्वरूप-बोध स्वयं ही हो जाता है। अतः एक पक्ष को सम्यग् प्रकार से जानने वाला उसके प्रतिपक्ष को भी सम्यग् प्रकार से जान लेता है। धर्म को जानने वाला अधर्म को, पुण्य को जानने वाला पाप को, प्रकाश को जानने वाला अंधकार को जान लेता है।

२. अध्यात्म का एक अर्थ है—आन्तरिक जगत् अथवा जीव की मूल वृत्ति—सुख की इच्छा, जीने की भावना। शान्ति की कामना। जो अपनी इन वृत्तियों को पहचान लेता है, वह बाह्य—अर्थात् अन्य जीवों की इन वृत्तियों को भी जान लेता है। अर्थात् स्वयं के समान ही अन्य जीव सुखप्रिय एवं शान्ति के इच्छुक हैं, यह जान लेना वास्तविक अध्यात्म है। इसी से आत्म-तुला की धारणा संपुष्ट होती है।

शांति-गत—का अर्थ है—जिसके कषाय/विषय/तृष्णा आदि शान्त हो गये हैं, जिसकी आत्मा परम प्रसन्नता का अनुभव करती है।

द्रविक—'द्रव' का अर्थ है—घुलनशील या तरल पदार्थ। किन्तु अध्यात्मशास्त्र में 'द्रव' का अर्थ है, हृदय की तरलता, सरलता, दयालुता और संयम। इसी दृष्टि से टीकाकार ने 'द्रविक' का अर्थ किया है—करुणाशील संयमीपुरुष। पराये दुःख से द्रवीभूत होना सज्जनों का लक्षण है। अथवा कर्म की कठिनता को द्रवित—पिघालने वाला 'द्रविक' है।[1]

जीविउं—कुछ प्रतियों में **'वीजिउं'** पाठ भी है। वायुकाय की हिंसा का वर्णन होने से यहाँ पर उसकी भी संगति बैठती है कि वे संयमी वीजन (हवा लेना) की आकांक्षा नहीं करते। चूर्णिकार ने भी कहा है—मुनि तालपत्र आदि बाह्य पुद्‌गलों से वीजन लेना नहीं चाहते हैं, साथ ही चूर्णि में **'जीवितु'** पाठान्तर भी दिया है।[2]

वायुकायिक-जीव-हिंसा-वर्जन

५७. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

५८. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारभावेति, अण्णे वा वाउसत्थं समारभंते समणुजाणति।

तं से अहियाए, तं से अबोधीए।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र ७०।१

२. देखें, पृष्ठ ३३ पर टिप्पण

५९. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोगे, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

६०. से बेमि—संति संपाइमा पाणा आहच्च संपतंति य।

फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति। जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियाविज्जंति। जे तत्थ परियाविज्जंति ते तत्थ उद्दायंति।

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

६१. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे वाउसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

५७. तू देख ! प्रत्येक संयमी पुरुष हिंसा में लज्जा/ग्लानि का अनुभव करता है। उन्हें भी देख, जो 'हम गृहत्यागी हैं' यह कहते हुए विविध प्रकार के शस्त्रों/साधनों से वायुकाय का समारंभ करते हैं। वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं।

५८. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है। कोई मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोक्ष के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए स्वयं वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरों से वायुकाय का समारंभ करवाता है तथा समारंभ करने वालों का अनुमोदन करता है।

वह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है। वह हिंसा, उसकी अबोधि के लिए होती है।

५९. वह अहिंसा-साधक, हिंसा को भली प्रकार से समझता हुआ संयम में सुस्थिर हो जाता है।

भगवान के या गृहत्यागी श्रमणों के समीप सुनकर उन्हें यह ज्ञात होता है कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य हिंसा में आसक्त हुआ, विविध प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय की हिंसा करता है। वायुकाय की हिंसा करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा करता है।

६०. मैं कहता हूँ—

संपातिम—उड़ने वाले प्राणी होते हैं, वे वायु से प्रताड़ित होकर नीचे गिर जाते हैं।

वे प्राणी वायु का स्पर्श/आघात होने से सिकुड़ जाते हैं। जब वे वायु-स्पर्श से संघातित होते/सिकुड़ जाते हैं, तब वे मूर्च्छित हो जाते हैं। जब वे जीव मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं तो वहाँ मर भी जाते हैं। जो यहां वायुकायिक जीवों का समारंभ करता है, वह इन आरंभों से वास्तव में अनजान है।

जो वायुकायिक जीवों पर शस्त्र-समारंभ नहीं करता, वास्तव में उसने आरंभ को जान लिया है।

६१. यह जानकर बुद्धिमान मनुष्य स्वयं वायुकाय का समारंभ न करे। दूसरों से वायुकाय का समारंभ न करवाए। वायुकाय का समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

जिसने वायुकाय के शस्त्र-समारंभ को जान लिया है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (हिंसा का त्यागी) है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में वायुकाय की हिंसा का निषेध है। वायु को सचेतन मानना और उसकी हिंसा से बचना—यह भी निर्ग्रन्थ दर्शन की मौलिक विशेषता है।

सामान्य क्रम में पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु, वनस्पति, त्रस यों आना चाहिए था, किन्तु यहाँ पर क्रम तोड़कर वायुकाय को वर्णन के सबसे अन्त में लिया है। टीकाकार ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा है—षट्काय में वायुकाय का शरीर चर्म-चक्षुओं से दीखता नहीं है, जबकि अन्य पांचों का शरीर चक्षुगोचर है। इस कारण वायुकाय का विषय—अन्य पांचों की अपेक्षा दुर्बोध है। अतः यहाँ पर पहले उन पांचों का वर्णन करके अन्त में वायुकाय का वर्णन किया गया है।[1]

विरति-बोध

६२. एत्थं पि जाण उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति
आरंभमाणा विणयं वयंति
छंदोवणीया अज्झोववण्णा
आरंभसत्ता पकरेंति संगं।

से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवणिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते छज्जीवणिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ सत्थपरिण्णा समत्तो ॥

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक ६८

६२. तुम यहाँ जानो ! जो आचार (अहिंसा/आत्म-स्वभाव) में रमण नहीं करते, वे कर्मों से/आसक्ति की भावना से वंधे हुए हैं। वे आरंभ करते हुए भी स्वयं को संयमी वताते हैं अथवा दूसरों को विनय—संयम का उपदेश करते हैं।

वे स्वच्छन्दचारी और विषयो में आसक्त होते हैं।

*वे (स्वच्छन्दचारी) आरंभ में आसक्त रहते हुए, पुनः-पुनः कर्म का संग—*बन्धन करते हैं।

वह वसुमान् (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप धन से संयुक्त) सव प्रकार के विषयों पर प्रज्ञापूर्वक विचार करता है, अन्तःकरण से पाप-कर्म को अकरणीय—न करने योग्य जाने, तथा उस विषय में अन्वेषण—मन से चिन्तन भी न करे।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं षट्-जीवनिकाय का समारंभ न करे। दूसरों से उसका समारंभ न करवाए। उसका समारंभ करनेवालों का अनुमोदन न करे।

जिसने-षट्-जीव निकाय-शस्त्र का प्रयोग भलीभाँति समझ लिया, त्याग दिया है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

॥ शस्त्रपरिज्ञा प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

लोकविजय—द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

- ✰ इस अध्ययन का प्रसिद्ध नाम—लोग-विजय है।
- ✰ कुछ विद्वानों का मत है कि इसका प्राचीन नाम 'लोक-विचय' होना चाहिए।[1] प्राकृत भाषा में 'च' के स्थान पर 'ज' हो जाता है। किन्तु टीकाकार ने 'विजय' को 'विचय' न मानकर 'विजय' संज्ञा ही दी है।
- ✰ विचय—धर्म ध्यान का एक भेद व प्रकार है। इसका अर्थ है—चिन्तन, अन्वेषण, तथा पर्यालोचन।
- ✰ विजय—का अर्थ है पराक्रम, पुरुषार्थ तथा आत्म-नियन्त्रण।
- ✰ प्रस्तुत अध्ययन की सामग्री को देखते हुए 'विचय' नाम भी उपयुक्त लगता है। क्योंकि इसमें लोक—संसार का स्वरूप, शरीर का भंगुर धर्म, ज्ञातिजनों की अशरणता, विषयों-पदार्थों की अनित्यता आदि का विचार करते हुए साधक को आसक्ति का बन्धन तोड़ने की हृदयस्पर्शी प्रेरणा दी गई है। आज्ञा-विचय, अपाय-विचय आदि धर्मध्यान के भेदों में भी इसी प्रकार के चिन्तन की मुख्यता रहती है। अतः 'विचय' नाम की सार्थकता सिद्ध होती है।
- ✰ साथ ही संयम में पुरुषार्थ, अप्रमाद तथा साधना में आगे बढ़ने की प्रेरणा, कषाय आदि अन्तरंग शत्रुओं को 'विजय' करने का उद्घोष भी इस अध्ययन में पद-पद पर मुखरित है।
- ✰ 'विचय'—ध्यान व निर्वेद का प्रतीक है।
- ✰ 'विजय'—पराक्रम और पुरुषार्थ का बोधक है।
- ✰ प्रस्तुत अध्ययन में दोनों ही विषय समाविष्ट है। फिर भी हमने परम्परागत व टीकाकार द्वारा स्वीकृत 'विजय' नाम ही स्वीकार किया है।[2]
- ✰ निर्युक्ति (गाथा १७५) में लोक का आठ प्रकार से निक्षेप करके बताया है कि लोक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, पर्याय—यों आठ प्रकार का है।
- ✰ प्रस्तुत में 'भाव लोक' से सम्बन्ध है। इसलिए कहा है—

भावे कसायलोगो, अहिगारो तस्स विजएणं।—१७५

---

१. पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ५९६ डा वी० भट्ट का लेख 'दि लोग विजय निक्षेप एण्ड लोक विचय'

२. आचा० टीका पत्रांक ७५

भाव लोक का अर्थ है—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों का समूह। यहाँ उस भाव लोक की विजय का अधिकार है। क्योंकि कषाय-लोक पर विजय प्राप्त करने वाला साधक काम-निवृत्त हो जाता है। और—

काम नियत्तमई खलु संसारा मुच्चई खिप्पं।—१७७

काम—निवृत्त साधक, संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

☆ प्रथम उद्देशक में भाव लोक (संसार) का मूल—शब्दादि विषय तथा स्वजन आदि का स्नेह बताकर उनके प्रति अनासक्त होने का उपदेश है। पश्चात् द्वितीय उद्देशक में संयम में अरति का त्याग, तृतीय में गोत्र आदि मदों का परिहार, चतुर्थ में परिग्रह मूढ की दशा, भोग रोगोत्पत्तिका मूल, आशा-तृष्णा का परित्याग, भोग-विरति एवं पंचम उद्देशक में लोक निश्रा में विहार करते हुए संयम में उद्यमशीलता एवं छठे उद्देशक में ममत्व का परिहार आदि विविध विषयों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।[1]

☆ इस अध्ययन में छह उद्देशक है। सूत्र संख्या ६३ से प्रारम्भ होकर १०५ पर समाप्त होती है।

'लोगविजयो' बीअं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

लोकविजय; द्वितीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

संसार का मूल : आसक्ति

६३. जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे ।

इति से गुणट्ठी महता परितावेणं वसे पमत्ते । तं जहा—माता मे, पिता मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सयण-संगंथ-संथुता मे, [1]विवित्तोवगरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे ।

इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते । अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो ।

६३. जो गुण (इन्द्रिय विषय) है, वह (कषायरूप संसार का) मूल स्थान है। जो मूल स्थान है, वह गुण है ।

इस प्रकार (आगे कथ्यमान) विषयार्थी पुरुष, महान परिताप से प्रमत्त होकर, जीवन बिताता है ।

वह इस प्रकार मानता है—"मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरा पुत्र है, मेरी पुत्री है, मेरी पुत्र-बधू है, मेरा सखा-स्वजन-सम्बन्धी-सहवासी है, मेरे विविध प्रचुर उपकरण (अश्व, रथ, आसन आदि) परिवर्तन (देने-लेने की सामग्री) भोजन तथा वस्त्र हैं ।

इस प्रकार—मेरे पन (ममत्व) में आसक्त हुआ पुरुष; प्रमत्त होकर उनके साथ निवास करता है ।

वह प्रमत्त तथा आसक्त पुरुष रात-दिन परितप्त/चिन्ता एवं तृष्णा से आकुल रहता है । काल या अकाल में (समय-बेसमय/हर समय) प्रयत्नशील रहता है । वह संयोग का अर्थी होकर, अर्थ का लोभी बनकर लूट-पाट करने वाला (चोर या डाकू) बन जाता है । सहसाकारी—दु:साहसी और विना विचारे कार्य करने वाला हो जाता है । विविध प्रकार की आशाओं में उसका चित्त फंसा रहता है । वह बार-बार शस्त्र प्रयोग करता है । संहारक/आक्रामक बन जाता है ।

---

१. चूर्णि में 'विचित्त' पाठ है, जिसका अर्थ किया है—'प्रभूतं, अणेगप्रकारं विचित्तं च' टीकाकार 'विवित्त' पाठ मानकर अर्थ किया है—विविक्तं शोभनं प्रचुरं वा । —टीका पत्रांक ९१

विवेचन—सूत्र ४१ में 'गुण' को 'आवर्त' बताया है। यहाँ उसी संदर्भ में गुण को 'मूल स्थान' कहा है। पांच इन्द्रियों के विषय 'गुण' है।[1] इष्ट विषय के प्रति राग और अनिष्ट विषय के प्रति द्वेष की भावना जाग्रत होती है। राग-द्वेष की जागृति से कषाय की वृद्धि होती है। और बढ़े हुए कषाय ही जन्म-मरण के मूल को सींचते हैं। जैसा कहा है—

चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स[2]

—ये चारों कषाय पुनर्भव जन्म-मरण की जड़ को सींचते हैं।

टीकाकार ने 'मूल' शब्द से कई अभिप्राय स्पष्ट किये हैं[3]—मूल—चार गतिरूप संसार। आठ प्रकार के कर्म तथा मोहनीय कर्म।

इन सबका सार यही है कि शब्द आदि विषयों में आसक्त होना ही संसार की वृद्धि का/कर्म-बन्धन का कारण है।

विषयासक्त पुरुष की मनोवृत्ति ममत्व-प्रधान रहती है। उसी का यहाँ निदर्शन कराया गया है। वह माता-पिता आदि सभी सम्बन्धियों व अपनी सम्पत्ति के साथ ममत्व का दृढ़ बंधन बांध लेता है। ममत्व से प्रमाद बढ़ता है। ममत्व और प्रमाद—ये दो भूत उसके सिर पर सवार हो जाते हैं, तब वह अपनी उद्दाम इच्छाओं की पूर्ति के लिए रात-दिन प्रयत्न करता है, हर प्रकार के अनुचित उपाय अपनाता है, जोड़-तोड़ करता है। चोर, हत्यारा और दुस्साहसी बन जाता है। उसकी वृत्ति संरक्षक नहीं, आक्रामक बन जाती है।

यह सब अनियंत्रित गुणार्थिता—विषयेच्छा का दुष्परिणाम है।

अशरणता-परिबोध

६४. अप्पं च खलु आउं इहमेगेसिं माणवाणं। तं जहा—सोतपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं चक्खुपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं घाणपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं रसपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं।

अभिकंतं च खलु वयं संपेहाए तओ से एगया मूढभावं जणयंति।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिवदंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवदेज्जा।

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

से ण हासाए, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए।

६४. इस संसार में कुछ एक मनुष्यों का आयुष्य अल्प होता है। जैसे–श्रोत्र-प्रज्ञान के परिहीन (सर्वथा दुर्बल) हो जाने पर, इसी प्रकार चक्षु-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, घ्राण-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, रस-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, स्पर्श-प्रज्ञान के परिहीन होने पर (वह अल्प आयु में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है)।

---

१. आचा० शी० टीका पत्रांक ८९ २. दशवैकालिक ८।४०
३. आचा० शी० टीका पत्रांक ९०।१

वय—अवस्था/यौवन को तेजी से जाते हुए देखकर वह चिंताग्रस्त हो जाता है और फिर वह एकदा (बुढ़ापा आने पर) मूढभाव को प्राप्त हो जाता है।

वह जिनके साथ रहता है, वे स्वजन (पत्नी-पुत्र आदि) कभी उसका तिरस्कार करने लगते हैं, उसे कटु व अपमानजनक वचन बोलते हैं। बाद में वह भी उन स्वजनों की निंदा करने लगता है।

हे पुरुष ! वे स्वजन तेरी रक्षा करने में या तुझे शरण देने में समर्थ नहीं है। तू भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं है।

वह वृद्ध/जराजीर्ण पुरुष, न हंसी-विनोद के योग्य रहता है, न खेलने के, न रति-सेवन के और न शृंगार/सज्जा के योग्य रहता है।

विवेचन—इस सूत्र में मनुष्य शरीर की क्षणभंगुरता तथा अशरणता का रोमांचक दिग्दर्शन है।

सोतपण्णाण—का अर्थ है—सुनकर ज्ञान करने वाली इन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान, इसी प्रकार चक्षु प्रज्ञान आदि का अर्थ है—देखकर, सूंघकर, चखकर, छूकर ज्ञान करने वाली इन्द्रियाँ या इन इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान।

आगमों के अनुसार मनुष्य का अल्पतम आयु एक क्षुल्लक भव (अन्तर्मुहुर्त मात्र) तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम प्रमाण होता है। इसमें संयम-साधना का समय अन्तमुहुर्त से लेकर देशोनकोटिपूर्व तक का हो सकता है। साधना की दृष्टि से समय बहुत अल्प—कम ही रहता है। अतः यहाँ आयुष्य को अल्प बताया है।[1]

सामान्य रूप में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती है, वह दश दशाओं[2] में विभक्त है—[1]बाला, [2]क्रीडा, [3]मंदा, [4]बला, [5]प्रज्ञा, [6]हायनी, [7]प्रपंचा, [8]प्रचारा, [9]मुम्मुखी, और [10]शायनी।

साधारण दशा में चालीस वर्ष (चोथी दशा) तक मनुष्य शरीर की आभा, कान्ति, बल आदि पूर्ण विकसित एवं सक्षम रहते हैं। उसके बाद क्रमशः क्षीण होने लगते हैं। जब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती है, तो मन में सहज ही चिंता, भय और शोक बढ़ने लगता है। इन्द्रिय-बल की हानि से वह शारीरिक दृष्टि से अक्षम होने लगता है, उसका मनोबल भी कमजोर पड़ने लगता है। इसी के साथ बुढ़ापे में इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। इन्द्रिय-शक्ति की हानि तथा विषयासक्ति की वृद्धि के कारण उसमें एक विचित्र प्रकार की मूढता-व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है।

ऐसा मनुष्य परिवार के लिए समस्या बन जाता है। परस्पर में कलह व तिरस्कार की भावना बढ़ती है। वे पारिवारिक स्वजन चाहे कितने ही योग्य व स्नेह करने वाले हों, तब भी उस वृद्ध मनुष्य को, जरा, व्याधि और मृत्यु से कोई बचा नहीं सकता। यही जीवन की अशरणता है, जिस पर मनुष्य को सतत चिन्तन/मनन करते रहना है तथा ऐसी दशा में जो शरणदाता बन सके उस धर्म तथा संयम की शरण लेना चाहिए।

---

१ आचा० टीका पत्रांक ९२

२ स्थानांग सूत्र १०।सूत्र ७७२ (मुनि श्री कन्हैयालालजी संपादित)

'त्राण' का अर्थ रक्षा करने वाला है, तथा 'शरण' का अर्थ आश्रयदाता है। 'रक्षा' रोग आदि से प्रतीकात्मक है, 'शरण' आश्रय एवं संपोषण का सूचक है। आगमों में 'ताणं-शरणं' शब्द प्रायः साथ-साथ ही आते हैं।

प्रमाद-परिवर्जन

६५. इच्चेवं समुट्ठिते अहोविहाराए। अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमादए। वओ अच्चेति जोव्वणं च।[1]

६५. इस प्रकार चिन्तन करता हुआ मनुष्य संयम-साधना (अहोविहार) के लिए प्रस्तुत (उद्यत) हो जाये।

इस जीवन को एक अंतर—स्वर्णिम अवसर समझकर धीर पुरुष मुहूर्त भर भी प्रमाद न करे—एक क्षण भी व्यर्थ न जाने दे।

अवस्थाएँ (बाल्यकाल आदि) बीत रही हैं। यौवन चला जा रहा है।

विवेचन—इस सूत्र में 'संयम' के अर्थ में 'अहोविहार' शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुष्य सामान्यतः विषय एवं परिग्रह के प्रति अनुराग रखता है। वह सोचता है कि इनके बिना जीवन यात्रा चल नहीं सकती। जब संयमी, अपरिग्रही अनगार का जीवन उसके सामने आता है, तब उसकी इस धारणा पर चोट पड़ती है। वह आश्चर्यपूर्वक देखता है कि यह विषयों का त्याग कर अपरिग्रही बनकर भी शान्तिपूर्वक जीवन यापन करता है। सामान्य मनुष्य की दृष्टि में संयम—आश्चर्यपूर्ण जीवन यात्रा होने से इसे 'अहोविहार' कहा है।[2]

६६. जीविते इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवेत्ता उत्तासयित्ता, अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं पोसेंति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

६६. जो इस जीवन (विषय, कषाय आदि) के प्रति प्रमत्त है/आसक्त है, वह हनन, छेदन, भेदन, चोरी, ग्रामघात, उपद्रव (जीव-वध) और उत्त्रास आदि प्रवृत्तियों में लगा रहता है। (जो आज तक किसी ने नहीं किया, वह) 'अकृत काम मैं करूँगा' इस प्रकार मनोरथ करता रहता है।

जिन स्वजन आदि के साथ वह रहता है, वे पहले कभी (शैशव एवं रुग्ण अवस्था में) उसका पोषण करते हैं। वह भी बाद में उन स्वजनों का पोषण करता है। इतना स्नेह-सम्बन्ध होने पर भी वे (स्वजन) तुम्हारे त्राण या शरण के लिए समर्थ नहीं है। तुम भी उनको त्राण व शरण देने में समर्थ नहीं हो।

---

१. 'च' ग्रहणा जहा जोव्वणं तहा बालातिवया वि'—चूर्णि। 'च' शब्द से यौवन के समान बालवय का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

२. आचा० टीका पत्रांक ९७

६७. उवादीतसेसेण[1] वा संणिहिसण्णिचयो[2] कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए। ततो से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियए पच्छा परिहरेज्जा।

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

६७. (मनुष्य) उपभोग में आने के बाद बचे हुए धन से, तथा जो स्वर्ण एवं भोगोपभोग की सामग्री अर्जित-संचित करके रखी है उसको सुरक्षित रखता है। उसे वह कुछ गृहस्थों के भोग/भोजन के लिए उपयोग में लेता है।

(प्रभूत भोगोपभोग के कारण फिर) कभी उसके शरीर में रोग की पीड़ा उत्पन्न होने लगती है।

जिन स्वजन-स्नेहियों के साथ वह रहता आया है, वे ही उसे (रोग आदि के कारण घृणा करके) पहले छोड़ देते हैं। बाद में वह भी अपने स्वजन-स्नेहियों को छोड़ देता है।

हे पुरुष! न तो वे तेरी रक्षा करने और तुझे शरण देने में समर्थ हैं, और न तू ही उनकी रक्षा व शरण के लिए समर्थ है।

आत्म-हित की साधना

६८. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं। अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए खणं जाणाहि पंडिते!

जाव सोतपण्णाणा अपरिहीणा जाव णेत्तपण्णाणा अपरिहीणा जाव घाणपण्णाणा अपरिहीणा जाव जीहपण्णाणा अपरिहीणा जाव फासपण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।

॥पढमो उद्देसओ सम्मत्तो॥

६८. प्रत्येक प्राणी का सुख और दुख—अपना-अपना है, यह जानकर (आत्म द्रष्टा बने)।

जो अवस्था (यौवन एवं शक्ति) अभी बीती नहीं है, उसे देखकर, हे पंडित! क्षण (समय) को/अवसर को जान।

जब तक श्रोत्र-प्रज्ञान परिपूर्ण है, इसीप्रकार नेत्र-प्रज्ञान, घ्राण-प्रज्ञान, रसना-प्रज्ञान, और स्पर्श-प्रज्ञान परिपूर्ण है, तब तक—इन नानारूप प्रज्ञानों के परिपूर्ण रहते हुए आत्म-हित के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील बने।

विवेचन—सूत्रगत—आयट्ठं—शब्द, आत्मार्थ—आत्म-हित के अर्थ में भी है और चूर्णि तथा टीका में 'आयतट्ठं' पाठ भी दिया है। आयतार्थ—अर्थात् ऐसा स्वरूप जिसका कहीं कोई अन्त या विनाश नहीं है—वह मोक्ष है।[3]

---

१. 'उवातीतसेसं तेण' 'उवातीतसेसेण'—ये पाठान्तर भी है। ३. आचा० शीलांक टीका पत्र १००।१

२. सन्निधि—दूध-दही आदि पदार्थ। सन्निचय—चीनी-घृत आदि—आयारो पृष्ठ ७५।

जब तक शरीर स्वस्थ एवं इन्द्रिय-बल परिपूर्ण है, तब तक साधक आत्मार्थ अथवा मोक्षार्थ का सम्यक् अनुशीलन करता रहे।

'क्षण' शब्द सामान्यतः सबसे अल्प, लोचन-निमेषमात्र काल के अर्थ में आता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र में 'क्षण' जीवन का एक महत्वपूर्ण अवसर है। आचारांग के अतिरिक्त सूत्रकृतांग आदि में भी 'क्षण' का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। जैसे—

इणमेव खणं वियाणिया—सूत्रकृत् १।२।३।१९

इसी क्षण को (सबसे महत्वपूर्ण) समझो।

टीकाकार ने 'क्षण' की अनेक दृष्टियों से व्याख्या की है। जैसे कालरूप क्षण—समय। भावरूप क्षण—अवसर। अन्य नय से भी क्षण के चार अर्थ किये हैं, जैसे—(१) द्रव्य क्षण—मनुष्य जन्म। (२) क्षेत्र क्षण—आर्य क्षेत्र। (३) काल क्षण—धर्माचरण का समय। (४) भाव क्षण—उपशम, क्षयोपशम आदि उत्तम भावों की प्राप्ति। इस उत्तम अवसर का लाभ उठाने के लिए साधक को तत्पर रहना चाहिए।[1]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अरति एवं लोभ का त्याग

६९. अरतिं आउट्टे से मेधावी खणंसि मुक्के।[2]

७०. अणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्टंति मंदा मोहेण पाउडा।

'अपरिग्गहा भविस्सामो' समुट्ठाए लद्धे कामे अभिगाहति। अणाणाए मुणिणो पडिलेहेंति। एत्थ मोहे पुणो पुणो सण्णा णो हव्वाए णो पाराए।

६९. जो अरति से निवृत्त होता है, वह बुद्धिमान है। वह बुद्धिमान् विषय-तृष्णा से क्षणभर में ही मुक्त हो जाता है।

७०. अनाज्ञा में—(वीतराग विहित-विधि के विपरीत) आचरण करने वाले कोई-कोई संयम जीवन में परीषह आने पर वापस गृहवासी भी बन जाते हैं। वे मंद बुद्धि—अज्ञानी मोह से आवृत रहते हैं।

कुछ व्यक्ति—'हम अपरिग्रही होंगे'—ऐसा संकल्प करके संयम धारण करते हैं, किन्तु जब काम-सेवन (इन्द्रिय विषयों के सेवन) का प्रसंग उपस्थित होता है, तो उनमें फँस जाते हैं। वे मुनि वीतराग-आज्ञा से बाहर (विषयों की ओर) देखने/ताकने लगते हैं।

---

१. आचा० शीलांक टीका पत्रांक ९९।१००

२. 'मुत्ते'—पाठान्तर है।

इस प्रकार वे मोह में बार-बार निमग्न होते जाते हैं। इस दशा में वे न तो इस तीर (गृहवास) पर आ सकते हैं और न उस पार (श्रमणत्व) जा सकते हैं।

विवेचन—संयम मार्ग में गतिशील साधक का चित्त जब तक स्थिर रहता है, तब तक उसमें आनन्द की अनुभूति होती है। संयम में स्व-रूप में रमण करना, आनन्द अनुभव करना रति है। इसके विपरीत चित्त की व्याकुलता, उद्वेग पूर्ण स्थिति—'अरति' है। अरति से मुक्त होने वाला क्षणभर में—अर्थात् बहुत ही शीघ्र विषय/तृष्णा/कामनाओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सूत्र ७० में अरति-प्राप्त व्याकुलचित्त साधक की दयनीय मनोदशा का चित्रण है। उसके मन में संयम-निष्ठा न होने से जब कभी विषय-सेवन का प्रसंग मिलता है तो वह अपने को रोक नहीं सकता, उनका लुक-छिपकर सेवन कर लेता है। विषय-सेवन के वाद वह बार-बार उसी ओर देखने लगता है। उसके अन्तरमन में एक प्रकार की वितृष्णा/प्यास जग जाती है। वह बार-बार विषयों का सेवन करने लगता है, और उसकी वितृष्णा बढ़ती ही जाती है। वह लज्जा, परवशता, आदि कारणों से मुनिवेश छोड़ता भी नहीं और विषयासक्ति के वश हुआ विषयों की खोज या आसेवन भी करता है। कायरता व आसक्ति के दलदल में फँसा ऐसा पुरुष (मुनि) वेष में गृहस्थ नहीं होता, और आचरण में मुनि नहीं होता[1]—वह न इस तीर (गृहस्थ) पर आता है, और न उस पार (मुनिपद) पर पहुँच सकता है। वह दलदल में फँसे प्यासे हाथी की तरह या त्रिशंकु की भाँति बीच में लटकता हुआ अपना जीवन बर्बाद कर देता है। इस प्रसंग में ज्ञातासूत्रगत पुण्डरीक-कंडरीक का प्रसिद्ध उदाहरण दर्शनीय एवं मननीय है।[3]

लोभ पर अलोभ से विजय

७१. विमुक्का हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे णाभिगाहति।

विणा वि लोभं[2] निक्खम्म एस अकम्मे जाणति पासति।
पडिलेहाए णावकंखति, एस अणगारे त्ति पवुच्चति।

७१. जो विषयों के दलदल से पारगामी होते हैं, वे वास्तव में विमुक्त हैं। अलोभ (संतोष) से लोभ को पराजित करता हुआ साधक काम-भोग प्राप्त होने पर भी उनका सेवन नहीं करता (लोभ-विजय ही पार पहुँचने का मार्ग है।)

जो लोभ से निवृत्त होकर प्रव्रज्या लेता है, वह अकर्म होकर (कर्मावरण से मुक्त होकर) सब कुछ जानता है, देखता है।

---

१. उभयभ्रष्टो न गृहस्थो नापि प्रव्रजितः। —आचा० टीका पत्रांक १०३

२. "कोयि पुण विणा वि लोभेण निक्खमइ जहा भरहो राया" चूर्णि "विणा वि लोहं इत्यादि" शीलांक टीका पत्र १०३

३. ज्ञातासूत्र १९

जो प्रतिलेखना कर, विषय-कषायों आदि के परिणाम का विचार कर उनकी (विषयों की) आकांक्षा नहीं करता, वह अनगार कहलाता है।

विवेचन—जैसे आहार-परित्याग ज्वर की औषधि है, वैसे ही लोभ—परित्याग (संतोष) तृष्णा की औषधि है। पहले पद में कहा है—जो विषयों के दलदल से मुक्त हो गया है वह पारगामी है। चूर्णिकार ने यहाँ प्रश्न उठाया है—**ते पुण कहं पारगामिणो**—वे पार कैसे पहुंचते है? **भण्णति-लोभं अलोभेण दुगुंछमाणा**—लोभ को अलोभ से जीतता हुआ पार पहुँचता है।

'**विणा वि लोभं**' के स्थान पर शीलांक टीका में **विणइत्तु लोभं** पाठ भी है। चूर्णिकार ने **विणा वि लोभं** पाठ दिया है। दोनों पाठों से यह भाव ध्वनित होता है कि जो लोभ-सहित, दीक्षा लेते हैं वे भी आगे चलकर लोभ का त्यागकर कर्मावरण से मुक्त हो जाते हैं। और जो भरत चक्रवर्ती की तरह लोभ-रहित स्थिति में दीक्षा लेते हैं वे भी कर्म-रहित होकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म का क्षय कर ज्ञाता-द्रष्टा बन जाते हैं।

प्रतिलेखना का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से देखना। साधक जब अपने आत्म-हित का विचार करता है, तब विषयों के कटु-परिणाम उसके सामने आ जाते हैं। तब वह उनसे विरक्त हो जाता है। यह चिन्तन/मननपूर्वक जगा वैराग्य स्थायी होता है। सूत्र ७० में बताये गये कुछ साधकों की भाँति वह पुनः विषयों की ओर नहीं लौटता। वास्तव में उसे ही 'अनगार' कहा जाता है।

अर्थ-लोभी की वृत्ति

७२. [1]अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो।

७३. से आतबले, से णातबले, से मित्तबले, से पेच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिथिबले, से किवणबले, से समणबले, इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमादाणं सपेहाए भया कज्जति, पावमोक्खो त्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए।

७२. (जो विषयों से निवृत्त नहीं होता) वह रात-दिन परितप्त रहता है। काल या अकाल में (धन आदि के लिए) सतत प्रयत्न करता रहता है। विषयों को प्राप्त करने का इच्छुक होकर वह धन का लोभी बनता है। चोर व लुटेरा बन जाता है। उसका चित्त व्याकुल व चंचल बना रहता है। और वह पुनः-पुनः शस्त्र-प्रयोग (हिंसा व संहार) करता रहता है।

७३. वह आत्म-बल (शरीर-बल), ज्ञाति-बल, मित्र-बल, प्रेत्य-बल, देव-बल, राज-बल, चोर-बल, अतिथि-बल, कृपण-बल और श्रमण-बल का संग्रह करने के लिए अनेक प्रकार के कार्यों (उपक्रमों) द्वारा दण्ड का प्रयोग करता है।

कोई व्यक्ति किसी कामना से (अथवा किसी अपेक्षा से) एवं कोई भय के

---

१. इससे पूर्व 'इच्चत्थं गढिए लोए वसति पमत्ते' इतना अधिक पाठ चूर्णि में है।
—आचा० (मुनि जम्बूविजयजी) पृष्ठ २०

कारण हिंसा आदि करता है। कोई पाप से मुक्ति पाने की भावना से (यज्ञ-बलि आदि द्वारा) हिंसा करता है। कोई किसी आशा—अप्राप्त को प्राप्त करने की लालसा से हिंसा-प्रयोग करता है।

विवेचन—सूत्र ७२, ७३ में हिंसा करने वाले मनुष्य की अन्तरंग वृत्तियों व विविध प्रयोजनों का सूक्ष्म विश्लेषण है।

अर्थ-लोलुप मनुष्य, रात दिन भीतर-ही-भीतर उत्तप्त रहता है, तृष्णा का दावानल उसे सदा संतप्त एवं प्रज्वलित रखता है। वह अर्थलोभी होकर **आलुम्पक**—चोर, हत्यारा तथा **सहसाकारी**—दुस्साहसी/विना विचारे कार्य करने वाला/अकस्मात् आक्रमण करने वाला—डाकू आदि बन जाता है।

मनुष्य को चोर/डाकू/हत्यारा बनने का मूल कारण—तृष्णा की अधिकता ही है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही बात बार-बार दुहराई गई है—

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययइ अदत्तं।—३२।२९

सूत्र ७३ में हिंसा के अन्य प्रयोजनों की चर्चा है। चूर्णिकार ने विस्तार के साथ बताया है—कि वह निम्न प्रकार के बल (शक्ति) प्राप्त करने के लिए विविध हिंसाएँ करता हैं। जैसे—

१. **शरीर-बल**—शरीर की शक्ति बढ़ाने के लिए—मद्य-माँस आदि का सेवन-करता है।

२. **ज्ञाति-बल**—स्वयं अजेय होने के लिए स्वजन सम्बन्धियों को शक्तिमान बनाता है। स्वजन-वर्ग की शक्ति को भी अपनी शक्ति मानता है।[1]

३. **मित्र-बल**—धन-प्राप्ति तथा-प्रतिष्ठा-सम्मान आदि मानसिक-तुष्टि के लिए मित्र—शक्ति को बढ़ाता है।

४. **प्रेत्य-बल**, ५. **देव-बल**—परलोक में सुख पाने के लिए, तथा देवता आदि को प्रसन्न कर उनकी शक्ति पाने के लिए यज्ञ, पशु-बलि, पिंडदान आदि करता है।[2]

६. **राज-बल**—राजा का सम्मान एवं सहारा पाने के लिए कूटनीतिक चालें चलता है, शत्रु आदि को परास्त करने में सहायक बनता है।

७ **चोर-बल**—धन प्राप्ति तथा आतंक जमाने के लिए चोर आदि के साथ गठबंधन करता है।

८. **अतिथि-बल**, ९. **कृपण-बल**, १०. **श्रमण-बल**—अतिथि—मेहमान, भिक्षुक आदि, कृपण—(अनाथ, अपंग, याचक) और श्रमण—आजीवक, शाक्य तथा निर्ग्रन्थ—इनको यश, कीर्ति और धर्म-पुण्य की प्राप्ति के लिए दान देता है।

'सपेहाए'—के स्थान पर तीन प्रयोग मिलते हैं[3], **सयं पेहाए**—स्वयं विचार करके,

---

१. आचारांग चूर्णि इसी सूत्र पर   २. आचा० शीलांक टीका पत्रांक १०४

३. आचारांग चूर्णि "संप्रेक्षया पर्यालोचनया एवं संप्रेक्ष्य वा।"

संपेहाए—विविध प्रकार से चिन्तन करके, सपेहाए—किसी विचार के कारण/विचारपूर्वक। तीनों का अभिप्राय एक ही है। 'दंडसमादाण' का अर्थ है हिंसा में प्रवृत्त होना।

७४. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा, णेव अण्णं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभावेज्जा, णेवण्णे एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते जहेत्थ कुसले णोवलिंपेज्जासि त्ति बेमि।

॥ बिइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

७४. यह जानकर मेधावी पुरुष पहले बताये गये प्रयोजनों के लिए स्वयं हिंसा न करे, दूसरों से हिंसा न करवाए तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन न करे।

यह मार्ग (लोक-विजय का/संसार से पार पहुँचने का) आर्य पुरुषों ने—तीर्थंकरों ने बताया है। कुशल पुरुष इन विषयों में लिप्त न हों। —ऐसा मैं कहता हूँ।

न सा जाई न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलं।
जत्थ न जाओ मओ वावि एस जीवो अणंतसो ॥

ऐसी कोई जाति, योनि, स्थान और कुल नहीं है, जहाँ पर यह जीव अनन्त बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। भगवती सूत्र में कहा है—**नत्थि केइ परमाणुपोग्गल मेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा न मए वावि**[1]—इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।'

जब ऐसी स्थिति है, तो फिर किस स्थान का वह अहंकार करे। किस स्थान के लिए दीनता अनुभव करे! क्योंकि वह स्वयं उन स्थानों पर अनेक बार जा चुका है।—इस विचार से मन में समभाव की जागृति करे। मन को न तो अहंकार से दृप्त होने दे, न दीनता का शिकार होने दे! बल्कि गोत्रवाद को, ऊँच-नीच की धारणा को मन से निकालकर आत्मवाद में रमण करे।

यहाँ उच्चगोत्र-नीचगोत्र शब्द बहु चर्चित शब्द है। कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से 'गोत्र' शब्द का अर्थ है "जिस कर्म के उदय से शरीरधारी आत्मा को जिन शब्दों के द्वारा पहचाना जाता है, वह 'गोत्र' है।" उच्च शब्द के द्वारा पहचानना उच्च गोत्र है, नीच शब्द के द्वारा पहचाना जाना नीच गोत्र है।[2] इस विषय पर जैन ग्रन्थों में अत्यधिक विस्तार से चर्चा की गई है। उसका सार यह है कि जिस कुल की वाणी, विचार संस्कार और व्यवहार प्रशस्त हो, वह उच्च गोत्र है और इसके विपरीत नीच गोत्र।

गोत्र का सम्बन्ध जाति अथवा स्पृश्यता-अस्पृश्यता के साथ जोड़ना भ्रान्ति है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार देव गति में उच्चगोत्र का उदय होता है और तिर्यंच मात्र में नीचगोत्र का उदय, किन्तु देवयोनि में भी किल्विषिक देव उच्च देवों की दृष्टि में नीच व अस्पृश्यवत् होते हैं। इसके विपरीत अनेक पशु, जैसे—गाय, घोड़ा, हाथी तथा कई नस्ल के कुत्ते बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। वे अस्पृश्य नहीं माने जाते। उच्चगोत्र में नीच जाति हो सकती है तो नीचगोत्र में उच्च जाति क्यों नहीं हो सकती? अतः गोत्रवाद की धारणा को प्रचलित जातिवाद तथा स्पृश्यास्पृश्य की धारणा के साथ नहीं जोड़ना चाहिए।

भगवान महावीर ने प्रस्तुत सूत्र में जाति-मद, गोत्र-मद आदि को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि जब आत्मा अनेक बार उच्च-नीच गोत्र का स्पर्श कर चुका है; कर रहा है तब फिर कौन ऊँचा है? कौन नीचा? ऊँच-नीच की भावना मात्र एक अहंकार है, और अहंकार—'मद' है। 'मद' नीचगोत्र बन्धन का मुख्य कारण है? अतः इस गोत्रवाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर जो उनमें तटस्थ रहता है, समत्वशील है, वही पंडित है।

प्रमाद एवं परिग्रह-जन्य दोष

७६. भूतेहिं जाण पडिलेह सातं। समिते एयाणुपस्सी। तं जहा—

अंधत्तं बहिरत्तं मूकत्तं काणत्तं कुंटत्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं। सह पमादेणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधेति, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदयति।

---

१. भगवती सूत्र श० १२ उ० ७

२. प्रज्ञापना सूत्र पद २३ की मलयगिरि वृत्ति

७७. से अबुज्झमाणे हतोवहते जाती-मरणं अणुपरियट्टमाणे।

जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खेत्त-वत्थु ममायमाणाणं। आरत्तं विरत्तं मणि-कुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता।

ण एत्थ तवो वा दमो वा णियमो वा दिस्सति। संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेति।

७८. इणमेव णावकंखंति जे जणा धुवचारिणो।
जाती-मरणं परिण्णाय चरे संकमणे दढे ॥१॥

णत्थि कालस्स णागमो।

सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीवितुकामा। सव्वेसिं जीवितं पियं।

७६. प्रत्येक जीव को सुख प्रिय है, यह तू देख, इस पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार कर। जो समित (सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न) है वह इस (जीवों के इष्ट-अनिष्ट कर्म विपाक) को देखता है। जैसे—

अन्धापन, बहरापन, गूंगापन, कानापन, लूला-लंगड़ापन, कुबड़ापन, बोनापन कालापन, चितकबरापन (कुष्ट आदि चर्मरोग) आदि की प्राप्ति अपने प्रमाद के कारण होती है। वह अपने प्रमाद (कर्म) के कारण ही नानाप्रकार की योनियों में जाता है और विविध प्रकार के आघातों—दुःखों/वेदनाओं का अनुभव करता है।

७७. वह प्रमादी पुरुष कर्म-सिद्धान्त को नहीं समझता हुआ शारीरिक दुःखों से हत तथा मानसिक पीड़ाओं से उपहत—पुनः-पुनः पीड़ित होता हुआ जन्म-मरण के चक्र में बार-बार भटकता है।

जो मनुष्य, क्षेत्र खुली भूमि तथा-वास्तु—भवन-मकान आदि में ममत्व रखता हैं, उनको यह असंयत जीवन ही प्रिय लगता है। वे रंग-बिरंगे मणि, कुण्डल, हिरण्य-स्वर्ण, और उनके साथ स्त्रियों का परिग्रह कर उनमें अनुरक्त रहते हैं।

परिग्रही पुरुष में न तप होता है, न दम—इन्द्रिय-निग्रह (शान्ति) होता है और न नियम होता है।

वह अज्ञानी, ऐश्वर्यपूर्ण सम्पन्न जीवन जीने की कामना करता रहता है। बार-बार सुख-प्राप्ति की अभिलाषा करता रहता है। किन्तु सुखों की अ-प्राप्ति व कामना की व्यथा से पीड़ित हुआ वह मूढ़ विपर्यास—(सुख के बदले दुःख) को ही प्राप्त होता है।

जो पुरुष ध्रुवचारी—अर्थात् शाश्वत सुख-केन्द्र मोक्ष की ओर गतिशील होते हैं, वे ऐसा विपर्यासपूर्ण जीवन नहीं चाहते। वे जन्म-मरण के चक्र को जानकर दृढ़ता-पूर्वक मोक्ष के पथ पर बढ़ते रहें।

काल का अनागमन नहीं है, मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है।

सव प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। सभी सुख का स्वाद चाहते हैं। दुख से घबराते हैं। उनको वध—(मृत्यु) अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं। सब को जीवन प्रिय है।

विवेचन—सूत्र ७६ में समत्व-दर्शन की प्रेरणा देते हुए वताया है कि संसार में जितने भी दु:ख हैं, वे सब स्वयं के प्रमाद के कारण ही होते हैं। प्रमादी—विपय आदि में आसक्त होकर परिग्रह का संग्रह करता है, उनमें ममत्व वन्धन जोड़ता है। उनमें रक्त अर्थात् अत्यन्त गृद्ध हो जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रथम तो तप, (अनशनादि) दम (इन्द्रिय-निग्रह, प्रशम भाव) नियम (अहिंसादि व्रत) आदि का आचरण नहीं कर सकता, अगर लोक-प्रदर्शन के लिए करता भी है तो वह सिर्फ ऊपरी है, उसके तप-दम नियम निष्फल—फल रहित होते हैं।[1]

सूत्र ७८ में ध्रुव शब्द—मोक्ष का वाचक है।

आगमों में मोक्ष के लिए 'ध्रुव स्थान' का प्रयोग कई जगह हुआ है। जैसे—

अत्थि एगं धुवं ठाणं—(उत्त० २३ गा० ८१)

ध्रुव शब्द, मोक्ष के कारणभूत ज्ञानादि का भी बोधक है।[2] कहीं-कहीं **'धुतचारी'** पाठान्तर भी मिलता है। 'धुत' का अर्थ भी चारित्र व निर्मल आत्मा है।

'**चरे संकमणे**' के स्थान पर शीलांकटीका में '**चरेऽसंकमणे**' पाठ भी है। '**संकमणे**' का अर्थ-संक्रमण—मोक्षपथ का सेतु—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप किया है। उस सेतु पर चलने का आदेश है। '**चरेऽसंकमणे**' में शंका रहित होकर परीषहों को जीतता हुआ गतिमान् रहने का भाव है।[3]

'**पिआउया**' के स्थान पर चूर्णि में **पियायगा** व टीका में '**पियायया**' पाठान्तर भी है।[4] जिनका अर्थ है **प्रिय आयत:-आत्मा**, अर्थात् जिन्हें अपना आत्मा प्रिय है, वे जगत के सभी प्राणी।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है प्रस्तुत परिग्रह के प्रसंग में 'सब को सुख प्रिय है, दुख अप्रिय है' यह कहने का क्या प्रयोजन है? यह तो अहिंसा का प्रतिपादन है। चिन्तन करने पर इसका समाधान यों प्रतीत होता है।—

'परिग्रह का अर्थी स्वयं के सुख के लिए दूसरों के सुख-दु:ख की परवाह नहीं करता, वह शोषक तथा उत्पीड़क भी वन जाता है। इसलिए परिग्रह के साथ हिंसा का अनुबंध है। यहाँ पर सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी यह बोध होना आवश्यक है कि जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी। दूसरों के सुख को लूटकर स्वयं का सुख न चाहे, परिग्रह न करे इसी भावना को यहाँ उक्त पद स्पष्ट करते हैं।

परिग्रह से दुःख वृद्धि

७९. तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजियाणं संसिंचियाणं तिविधेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुगा वा। से तत्थ गढिते चिट्ठति भोयणाए।

---

१. आचारांग टीका पत्र—१०६ २. वही टीका पत्र ११० ३. वही पत्र ११
४. पिओ अप्पा जेसिं ते पियायगा—चूर्णि (आचा० जम्बू० टिप्पण पृष्ठ २२)

ततो से एगदा विप्परिसिट्ठं संभूतं महोवकरणं भवति । तं पिसे एगदा दायादा विभयंति, अदत्तहारो वा सेअवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगार-दाहेण वा से डज्झति ।

इति से परस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति ।
मुणिणा हु एतं पवेदितं ।
अणोहंतरा एते, णो य ओहं तरित्तए ।
अतीरंगमा एते, णो य तीरं गमित्तए ।
अपारंगमा एते, णो य पारं गमित्तए ।
आयाणिज्जं च आदाय तम्मि ठाणे ण चिट्ठति ।
वितहं पप्प खेत्तण्णे तम्मि ठाणम्मि चिट्ठति ॥२॥

७६. वह परिग्रह में आसक्त हुआ मनुष्य, द्विपद (मनुष्य-कर्मचारी) और चतुष्पद (पशु आदि) का परिग्रह करके उनका उपयोग करता है। उनको कार्य में नियुक्त करता है। फिर धन का संग्रह-संचय करता है। अपने, दूसरों के और दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों से (अथवा अपनी पूर्वार्जित पूँजी, दूसरों का श्रम तथा बुद्धि—तीनों के सहयोग से) उसके पास अल्प या बहुत मात्रा में धन संग्रह हो जाता है।

वह उस अर्थ में गृद्ध—आसक्त हो जाता है और भोग के लिए उसका संरक्षण करता है। पश्चात् वह विविध प्रकार से भोगोपभोग करने के बाद बची हुई विपुल अर्थ-सम्पदा से महान् उपकरण वाला बन जाता है।

एक समय ऐसा आता है, जब उस सम्पत्ति में से दायाद—बेटे-पोते हिस्सा बंटा लेते हैं, चोर चुरा लेते हैं, राजा उसे छीन लेते हैं। या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती हैं। या कभी गृह-दाह के साथ जलकर समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष, दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ अपने लिए दुःख उत्पन्न करता है, फिर उस दुःख से त्रस्त हो वह सुख की खोज करता है, पर अन्त में उसके हाथ दुःख ही लगता है इस प्रकार वह मूढ विपर्यास को प्राप्त होता है।

भगवान ने यह बताया है—(जो क्रूर कर्म करता है, वह मूढ होता है। मूढ मनुष्य सुख की खोज में बार-बार दुःख प्राप्त करता है)

ये मूढ मनुष्य अनोघंतर हैं, अर्थात् संसार-प्रवाह को तैरने में समर्थ नहीं होते। (वे प्रव्रज्या लेने में असमर्थ रहते हैं)

वे अतीरंगम हैं, तीर—किनारे तक पहुँचने में (मोह कर्म का क्षय करने में) समर्थ नहीं होते।

वे अपारंगम हैं, पार—(संसार के उस पार—निर्वाण तक) पहुँचने में समर्थ नहीं होते।

वह (मूढ) आदानीय—सत्यमार्ग (संयम-पथ) को प्राप्त करके भी उस स्थान में स्थित नहीं हो पाता। अपनी मूढता के कारण वह असन्मार्ग को प्राप्त कर उसी में ठहर जाता है।

विवेचन—इस सूत्र में परिग्रह-मूढ़ मनुष्य की दशा का चित्रण है। वह सुख की इच्छा से धन का संग्रह करता है किन्तु धन से कभी सुख नहीं मिलता। अन्त में उसके हाथ दुःख, शोक, चिन्ता और क्लेश ही लगता है।

परिग्रह मूढ अनोघंतर है—संसार त्याग कर दीक्षा नहीं ले सकता। अगर परिग्रहासक्ति कुछ छूटने पर दीक्षा ले, भी ले तो जब तक उस बंधन से पूर्णतया मुक्त नहीं होता, वह केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, और न संसार का पार—निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

चूर्णिकार ने '**आदानीय**' का अर्थ—**पंचविहो आयारो**—पांच प्रकार का आचार अर्थ किया है कि वह परिग्रही मनुष्य उस आचार में स्थित नहीं हो सकता।[1]

चूर्णिकार ने इस गाथा (२) को एक अन्य प्रकार से भी उद्धृत किया है, उससे एक अन्य अर्थ ध्वनित होता है, अतः यहां वह गाथा भी उपयोगी होगी—

आदाणियस्स आणाए तम्मि ठाणे ण चिट्ठइ।
वितहं पप्पऽखेत्तण्णे तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ॥

—आदानीय अर्थात् ग्रहण करने योग्य संयम मार्ग में जो प्रवृत्त है, वह उस स्थान—(**मूल ठाणे**—संसार) में नहीं ठहरता। जो **अखेत्तण्णे**—(अक्षेत्रज्ञ) अज्ञानी है, मूढ है, वह असत्य-मार्ग का अवलम्बन कर उस स्थान (संसार) में ठहरता है।[2]

८०. उद्देसो पासगस्स णत्थि॥

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

८०. जो द्रष्टा है, (सत्यदर्शी है) उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती।

अज्ञानी पुरुष, जो स्नेह के बंधन में बंधा है, काम-सेवन में अनुरक्त है, वह कभी दुःख का शमन नहीं कर पाता। वह दुःखी होकर दुःखों के आवर्त में—चक्र में बार-बार भटकता रहता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—यहाँ **पश्यक**—शब्द द्रष्टा या विवेकी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार ने वैकल्पिक अर्थ यों किया है—जो पश्यक स्वयं कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक रखता है, उसे अन्य के

---

१. आचा० (जम्बूविजय जी) टिप्पण पृष्ठ २३
२. अखेतण्णो अपंडितो से तेहिं चेव संसारट्ठाणे चिट्ठति—चूर्णि (वहीं पृष्ठ २३)

उपदेश की आवश्यकता नहीं है। अथवा पश्यक—सर्वज्ञ हैं, उन्हें किसी भी उद्देस—नारक आदि तथा उच्च-नीच गोत्र आदि के व्यपदेश—संज्ञा की अपेक्षा नहीं रहती।

णिहे—के भी दो अर्थ है—(१) स्नेही अथवा रागी,, (२) णिद्ध (निहत) कषाय, कर्म परीषह आदि से बंधा या त्रस्त हुआ अज्ञानी जीव।[1]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

काम-भोग-जन्य पीड़ा

८१. ततो से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति। जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियए पच्छा परिवएज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

८२. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।

भोगामेव अणुसोयंति, इहमेगेसिं माणवाणं तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुया वा। से तत्थ गढिते चिट्ठति भोयणाए।

ततो से एगया विप्परिसिट्ठं संभूतं महोवकरणं भवति तं पि से एगया दायादा विभयंति, अदत्तहारो[2] वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगारदाहेण वा से डज्झति।

इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं[3] बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।

८१. तब कभी एक समय ऐसा आता है, जब उस अर्थ-संग्रही मनुष्य के शरीर में (भोग-काल में) अनेक प्रकार के रोग-उत्पात (पीड़ाएँ) उत्पन्न हो जाते हैं।

वह जिनके साथ रहता है, वे ही स्व-जन एकदा (रोगग्रस्त होने पर) उसका तिरस्कार व निंदा करने लगते हैं। बाद में वह भी उनका तिरस्कार व निंदा करने लगता है।

हे पुरुष! वे स्वजनादि तुझे त्राण देने में, शरण देने में समर्थ नहीं है। तू भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं है।

८२. दुःख और सुख—प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना है, यह जानकर (इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे)।

---

१. आचा० टीका पत्रांक ११३/१

२. अदत्ताहारो—पाठान्तर हैं।

३. कूराणि कम्माणि—पाठान्तर है।

कुछ मनुष्य, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते, वे वार-बार भोग के विषय में ही (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह) सोचते रहते हैं।

यहाँ पर कुछ मनुष्यों को (जो विषयों की चिंता करते हैं) (तीन प्रकार से)—अपने, दूसरों के अथवा दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से अल्प या बहुत अर्थ-मात्रा (धन-संपदा) हो जाती है। वह फिर उस अर्थ-मात्रा में आसक्त होता है। भोग के लिए उसकी रक्षा करता है। भोग के बाद बची हुई विपुल संपत्ति के कारण वह महान वैभव वाला बन जाता है। फिर जीवन में कभी ऐसा समय आता है, जब दायाद हिस्सा बँटाते हैं, चोर उसे चुरा लेते हैं, राजा उसे छीन लेते हैं, वह अन्य प्रकार (दुर्व्यसन आदि या आतंक-प्रयोग) से नष्ट-विनष्ट हो जाती है। गृह-दाह आदि से जलकर भस्म हो जाती है।

अज्ञानी मनुष्य इस प्रकार दूसरों के लिए अनेक क्रूरकर्म करता हुआ (दुःख के हेतु का निर्माण करता है) फिर दुःखोदय होने पर वह मूढ बन कर विपर्यास भाव को प्राप्त होता है।

आसक्ति ही शल्य है

८३. आसं च छंदं च विगिंच धीरे।
तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।
जेण सिया तेण णो सिया।
इणमेव णावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा।

८४. थीभि लोए पव्वहिते।
ते भो! वदंति एयाइं आयतणाइं।
से दुक्खाए मोहाए माराए णरगाए नरगतिरिक्खाए।
सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।

८३. हे धीर पुरुष! तू आशा और स्वच्छन्दता (स्वेच्छाचारिता)—मनमानी करने का त्याग करदे। उस भोगेच्छा रूप शल्य का सृजन तूने स्वयं ही किया है।

जिस भोग सामग्री से तुझे सुख होता है उससे सुख नहीं भी होता है। (भोग के बाद दुख है)।

जो मनुष्य मोह की सघनता से आवृत हैं, ढंके हैं, वे इस तथ्य को (उक्त आशय को—कि पौद्गलिक साधनों से कभी सुख मिलता है, कभी नहीं, वे क्षण-भंगुर है, तथा वे ही शल्य—कांटा रूप है) नहीं जानते।

८४. यह संसार स्त्रियों के द्वारा पराजित है (अथवा प्रव्यथित—पीड़ित है) हे पुरुष! वे (स्त्रियों से पराजित जन) कहते हैं—ये स्त्रियाँ आयतन हैं (भोग की सामग्री हैं)।

(किंतु उनका) यह कथन/धारणा, दुःख के लिए एवं मोह, मृत्यु, नरक तथा नरक-तिर्यंच गति के लिए होता है।

सतत मूढ रहने वाला मनुष्य धर्म को नहीं जान पाता।

विवेचन—उक्त दोनों सूत्रों में क्रमशः मनुष्य की भोगेच्छा एवं कामेच्छा के कटु-परिणाम का दिग्दर्शन है। भोगेच्छा को ही अन्तर हृदय में सदा खटकने वाला काँटा बताया गया है और उस काँटे को उत्पन्न करने वाला आत्मा स्वयं ही है। वही उसे निकालने वाला भी है। किन्तु मोह से आवृतबुद्धि मनुष्य इस सत्य-तथ्य को पहचान नहीं पाता, इसीलिए वह संसार में दुख पाता है।

सूत्र ८४ में मनुष्य की कामेच्छा का दुर्बलतम पक्ष उघाड़कर बता दिया है कि यह समूचा संसार काम से पीड़ित है, पराजित है। स्त्री काम का रूप है। इसलिए कामी पुरुष स्त्रियों से पराजित होते हैं और वे स्त्रियों को भोग-सामग्री मानने की निकृष्ट-भावना से ग्रस्त हो जाते हैं।

'आयतन' शब्द यहाँ पर भोग-सामग्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मूल आगमों तथा टीका ग्रन्थों में 'आयतन' शब्द प्रसंगानुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

आयतन—गुणों का आश्रय।[1] भवन, गृह, स्थान, आश्रय।[2] देव, यक्ष आदि का स्थान, देव-कुल।[3] ज्ञान-दर्शन-चारित्रधारी साधु[4], धार्मिक व ज्ञानी जनों के मिलने का स्थान।[5] उप-भोगास्पद वस्तु।[6]

नरक-तिर्यंच-गति—से तात्पर्य है, नरक से निकलकर फिर तिर्यंच गति में जाना।[7]

स्त्री को आयतन—भोग-सामग्री मानकर, उसके भोग में लिप्त हो जाना—आत्मा के लिए कितना घातक/अहितकर है, इसे जताने के लिए ही ये सब विशेषण है—यह दुःख का कारण है, मोह, मृत्यु, नरक व नरक-तिर्यंच गति में भव-भ्रमण का कारण है।

विषय : महामोह

८५. उदाहु वीरे—अप्पमादो महामोहे, अलं कुसलस्स पमादेणं, संतिमरणं सपेहाए, भेउरधम्मं सपेहाए। णालं पास। अलं ते एतेहिं।[8] एतं पास मुणि! महब्भयं। णातिवातेज्ज कंचणं।

---

१. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार; सूत्र २३। २. अभिधान राजेन्द्र भाग २ पृ० ३२७।
३. (क) प्रश्न० आश्रव द्वार। (ख) दशाश्रुतस्कंध १।१०।
४. प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ९४९। —आयतनं धार्मिकजनमीलनस्थानम्।
५. ओघनिर्युक्ति गाथा ७८२। ६. प्रस्तुत सूत्र।
७. नरगाए—नरकाय नरकगमनार्थ, पुनरपि नरगतिरिक्खा—ततोपि नरकादुद्धृत्य तिरश्च प्रभवति। —आचा० शी० टीका पत्रांक ११५।
८. अलं तवेएहिं—पाठान्तर है।

कुछ मनुष्य, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते, वे वार-बार भोग के विषय में ही (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह) सोचते रहते हैं।

यहाँ पर कुछ मनुष्यों को (जो विषयों की चिंता करते हैं) (तीन प्रकार से)—अपने, दूसरों के अथवा दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से अल्प या बहुत अर्थ-मात्रा (धन-संपदा) हो जाती है। वह फिर उस अर्थ-मात्रा में आसक्त होता है। भोग के लिए उसकी रक्षा करता है। भोग के बाद बची हुई विपुल संपत्ति के कारण वह महान वैभव वाला बन जाता है। फिर जीवन में कभी ऐसा समय आता है, जब दायाद हिस्सा बँटाते हैं, चोर उसे चुरा लेते हैं, राजा उसे छीन लेते हैं, वह अन्य प्रकार (दुर्व्यसन आदि या आतंक-प्रयोग) से नष्ट-विनष्ट हो जाती है। गृह-दाह आदि से जलकर भस्म हो जाती है।

अज्ञानी मनुष्य इस प्रकार दूसरों के लिए अनेक क्रूरकर्म करता हुआ (दुःख के हेतु का निर्माण करता है) फिर दुःखोदय होने पर वह मूढ बन कर विपर्यास भाव को प्राप्त होता है।

आसक्ति ही शल्य है

८३. आसं च छंदं च विगिंच धीरे।
तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।
जेण सिया तेण णो सिया।
इणमेव णावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा।

८४. थीभि लोए पव्वहिते।
ते भो! वदंति एयाइं आयतणाइं।
से दुक्खाए मोहाए माराए णरगाए नरगतिरिक्खाए।
सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।

(किंतु उनका) यह कथन/धारणा, दुःख के लिए एवं मोह, मृत्यु, नरक तथा नरक-तिर्यंच गति के लिए होता है।

सतत मूढ रहने वाला मनुष्य धर्म को नहीं जान पाता।

विवेचन—उक्त दोनों सूत्रों में क्रमशः मनुष्य की भोगेच्छा एवं कामेच्छा के कटु-परिणाम का दिग्दर्शन है। भोगेच्छा को ही अन्तर हृदय में सदा खटकने वाला काँटा बताया गया है और उस काँटे को उत्पन्न करने वाला आत्मा स्वयं ही है। वही उसे निकालने वाला भी है। किन्तु मोह से आवृतबुद्धि मनुष्य इस सत्य-तथ्य को पहचान नहीं पाता, इसीलिए वह संसार में दुख पाता है।

सूत्र ८४ में मनुष्य की कामेच्छा का दुर्बलतम पक्ष उघाड़कर बता दिया है कि यह समूचा संसार काम से पीड़ित है, पराजित है। स्त्री काम का रूप है। इसलिए कामी पुरुष स्त्रियों से पराजित होते हैं और वे स्त्रियों को भोग-सामग्री मानने की निकृष्ट-भावना से ग्रस्त हो जाते हैं।

'आयतन' शब्द यहाँ पर भोग-सामग्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मूल आगमों तथा टीका ग्रन्थों में 'आयतन' शब्द प्रसंगानुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

आयतन—गुणों का आश्रय।[1] भवन, गृह, स्थान, आश्रय।[2] देव, यक्ष आदि का स्थान, देव-कुल।[3] ज्ञान-दर्शन-चारित्रधारी साधु[4], धार्मिक व ज्ञानी जनों के मिलने का स्थान।[5] उप-भोगास्पद वस्तु।[6]

नरक-तिर्यंच-गति—से तात्पर्य है, नरक से निकलकर फिर तिर्यंच गति में जाना।[7]

स्त्री को आयतन—भोग-सामग्री मानकर, उसके भोग में लिप्त हो जाना—आत्मा के लिए कितना घातक/अहितकर है, इसे जताने के लिए ही ये सब विशेषण हैं—यह दुःख का कारण है, मोह, मृत्यु, नरक व नरक-तिर्यंच गति में भव-भ्रमण का कारण है।

विषय : महामोह

८५. उदाहु वीरे—अप्पमादो महामोहे, अलं कुसलस्स पमादेणं, संतिमरणं सपेहाए, भेउरधम्मं सपेहाए। णालं पास। अलं ते एतेहिं।[8] एतं पास मुणि! महब्भयं। णातिवातेज्ज कंचणं।

---

१. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार; सूत्र २३।
२. अभिधान राजेन्द्र भाग २ पृ० ३२७।
३. (क) प्रश्न० आश्रव द्वार। (ख) दशाश्रुतस्कंध १।१०।
४. प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ९४९। —आयतनं धार्मिकजनमीलनस्थानम्।
५. ओघनिर्युक्ति गाथा ७८२।
६. प्रस्तुत सूत्र।
७. नरगाए—नरकाय नरकगमनार्थं, पुनरपि नरगतिरिक्खा—ततोपि नरकादुद्धृत्य तिरश्च प्रभवति। —आचा० शी० टीका पत्रांक ११५।
८. अलं एतेहिं —पाठान्तर है।

८५. भगवान महावीर ने कहा है—महामोह (विषय/स्त्रियों) में अप्रमत्त रहे। अर्थात् विषयों के प्रति अनासक्त रहे।

बुद्धिमान् पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए। शान्ति[1] (मोक्ष) और मरण (संसार) को देखने/समझने वाला (प्रमाद न करे) यह शरीर भंगुरधर्मा—नाशमान है, यह देखने वाला (प्रमाद न करे)।

ये भोग (तेरी अतृप्ति की प्यास बुझाने में) समर्थ नहीं है। यह देख। तुझे इन भोगों से क्या प्रयोजन है ? हे मुनि ! यह देख, ये भोग महान भयरूप हैं।[2] भोगों के लिए किसी प्राणी की हिंसा न कर।

भिक्षाचरी में समभाव

८६. एस वीरे पसंसिते जे ण णिव्विज्जति आदाणाए।
ण मे देति ण कुप्पेज्जा, थोवं लद्धुं ण खिंसए।
पडिसेहितो परिणमेज्जा।[3]
एतं मोणं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

८६. वह वीर प्रशंसनीय होता है, जो संयम से उद्विग्न नहीं होता अर्थात् जो संयम में सतत लीन रहता है।

'यह मुझे भिक्षा नहीं देता' ऐसा सोचकर कुपित नहीं होना चाहिए। थोड़ी भिक्षा मिलने पर दाता की निंदा नहीं करना चाहिए। गृहस्वामी दाता द्वारा प्रतिबंध करने पर—निषेध करने पर शान्त भाव से वापस लौट जाये।

मुनि इस मौन (मुनिधर्म) का भलीभाँति पालन करे।

विवेचन—यहाँ भोग-निवृत्ति के प्रसंग में भिक्षा-विधि का वर्णन आया है। टीकाकार आचार्य की दृष्टि में इसकी संगति इस प्रकार है—मुनि संसार त्याग कर भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करता है। उसकी भिक्षा त्याग का साधन है, किन्तु यदि वही भिक्षा, आसक्ति, उद्वेग तथा क्रोध आदि आवेशों के साथ ग्रहण की जाये तो, भोग बन जाती है। श्रमण की भिक्षावृत्ति 'भोग' न बने इसलिए यहाँ भिक्षाचर्या में मन को शांत, प्रसन्न और संतुलित रखने का उपदेश किया गया है।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. 'संतिमरण' का एक अर्थ यह भी है कि शान्ति-पूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ नाशमान शरीर का विचार करे।
२. कामदशावस्थात्मकं महद् भयं—टीका पत्रांक—११६।१।
३. यहां पाठान्तर है—'पडिलाभिते परिणमे'—चूर्णि। पडिलाभिओ परिणमेज्जा —शीलांक टीका।

पञ्चमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

शुद्ध आहार की एषणा

८७. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति। तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूताणं सुण्हाणं णातीणं धातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाए पुढो पहेणाए सामासाए पातरासाए संणिहिसंणिचयो कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए।

८८. समुट्ठिते अणगारे आरिए[1] आरियपण्णे आरियदंसी अयं संधी ति अदक्खु।

से णाइए, णाइआवए, न समणुजाणए।

सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधे परिव्वए।

अदिस्समाणे कय-विक्कएसु। से ण किणे, ण किणावए, किणंतं ण समणुजाणए।

से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मातण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे समयण्णे[2] भावण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाई अपडिण्णे। दुहतो छित्ता णियाइ।

८७. असंयमी पुरुष अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा लोक के लिए (अपने एवं दूसरों के लिए) कर्म समारंभ (पचन-पाचन आदि क्रियाएं) करते हैं। जैसे—

अपने लिए, पुत्र, पुत्री, पुत्र-वधू, ज्ञातिजन, धाय, राजा, दास-दासी, कर्मचारी, कर्मचारिणी, पाहुने—मेहमान आदि के लिए तथा विविध लोगों को देने के लिए एवं सांयकालीन तथा प्रातःकालीन भोजन के लिए।

इस प्रकार वे कुछ मनुष्यों के भोजन के लिए सन्निधि (दूध-दही आदि पदार्थों का संग्रह) और सन्निचय (चीनी-घृत आदि पदार्थों का संग्रह) करते रहते हैं।

८८. संयम-साधना में तत्पर हुआ आर्य, आर्यप्रज्ञ और आर्यदर्शी अनगार प्रत्येक क्रिया उचित समय पर ही करता है। वह 'यह भिक्षा का समय—संधि (अवसर) है' यह देखकर (भिक्षा के लिए जाये)

वह सदोष आहार को स्वयं ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण करवाए तथा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन नहीं करें।

वह (अनगार) सब प्रकार के आमगंध (आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार) का परिवर्जन करता हुआ निर्दोष भोजन के लिए परिव्रजन—भिक्षाचरी करे। वह वस्तु के क्रिय-विक्रय में संलग्न न हों। न स्वयं क्रय करे, न दूसरों से क्रय करवाए और न क्रय करने वाले का अनुमोदन करे।

वह (उक्त आचार का पालन करने वाला) भिक्षु कालज्ञ है, बलज्ञ है, मात्रज्ञ है, क्षेत्रज्ञ है, क्षणज्ञ है, विनयज्ञ है, समयज्ञ है, भावज्ञ है। परिग्रह पर ममत्व नहीं

---

१. चूर्णि में इसके स्थान पर 'आयरिए, आयरियपण्णे, आयरियदिट्ठी'—पाठ भी है। जिसका आशय है आचारवान, आचारप्रज्ञ तथा आचार्य की दृष्टि के अनुसार व्यवहार करने वाला।

रखने वाला, उचित समय पर उचित कार्य करने वाला अप्रतिज्ञ है। वह राग और द्वेष—दोनों का छेदन कर नियम तथा अनासक्ति पूर्वक जीवन यात्रा करता है।

विवेचन—चतुर्थ उद्देशक में भोग-निवृत्ति का उपदेश दिया गया। भोग-निवृत्त गृहत्यागी पूर्ण अहिंसाचारी श्रमण के समक्ष जब शरीर-निर्वाह के लिए भोजन का प्रश्न उपस्थित होता है, तो वह क्या करे? शरीर-धारण किये रखने हेतु आहार कहाँ से, किस विधि से प्राप्त करें? ताकि उसकी ज्ञान-दर्शन-चारित्र-यात्रा सुखपूर्वक गतिमान रहे। इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत उद्देशक में दिया गया है।

सूत्र ८७-८८ में बताया है कि गृहस्थ स्वयं के तथा अपने सम्बन्धियों के लिए अनेक प्रकार का भोजन तैयार करते हैं। गृहत्यागी श्रमण उनके लिए बने हुए भोजन में से निर्दोष भोजन यथासमय यथाविधि प्राप्त कर लेवें।

वह भोजन की संधि—समय को देखे। गृहस्थ के घर पर जिस समय भिक्षा प्राप्त हो सकती हो, उस अवसर को जाने। चूर्णिकार ने संधि के दो अर्थ किये हैं—(१) संधि—भिक्षाकाल अथवा (२) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप भाव संधि[1] (सु-अवसर) इसको जाने।

भिक्षाकाल का ज्ञान रखना अनगार के लिए बहुत आवश्यक है। भगवान महावीर के समय में भिक्षा का काल दिन का तृतीय पहर माना जाता था[2] जब कि उसके उत्तरवर्ती काल में क्रमशः द्वितीय पहर भिक्षाकाल मान लिया गया। इसके अतिरिक्त जिस देश-काल में भिक्षा का जो उपयुक्त समय हो, वही भिक्षाकाल माना जाता है। पिंडैषणा अध्ययन, दशवैकालिक (५) तथा पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में भिक्षाचरी का काल, विधि, दोष आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

श्रमण के लिए यहां तीन विशेषण दिये गये हैं—(१) आर्य, (२) आर्यप्रज्ञ, और (३) (३) आर्यदर्शी। ये तीनों विशेषण बहुत सार्थक है। आर्य का अर्थ है—श्रेष्ठ आचरण वाला[3] अथवा गुणी[4]। आचार्य शीलांक के अनुसार जिसका अन्तःकरण निर्मल हो वह आर्य है। जिसकी बुद्धि परमार्थ की ओर प्रवृत्त हो, वह आर्यप्रज्ञ है। जिसकी दृष्टि गुणों में सदा रमण करे वह अथवा न्याय मार्ग का द्रष्टा आर्यदर्शी है।[5]

सव्वामगंधं—शब्द में आमगंध शब्द अशुद्ध, अग्रहणीय आहार का वाचक है। सामान्यतः 'आम' का अर्थ 'अपक्व' है। वैद्यक ग्रन्थों में अपक्व-कच्चा फल, अन्न आदि को आम शब्द से व्याख्यात किया है। पालिग्रन्थों में 'पाप' के अर्थ में 'आम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] जैन

---

१. संधि, जं भणितं भिक्खाकालो,⋯अहवा णाण-दंसण-चरित्ताइ भाव संधी। ताइं लभित्ता—
—आचारांग चूर्णि

२. उत्तराध्ययन सूत्र—'तइयाए भिक्खायरियं—२६।१२

३. नालन्दा विशाल शब्द सागर 'आर्य' शब्द।

४. गुणै र्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः—सर्वार्थ० ३।६ (जैन लक्षणावली, भाग १, पृ० २११)

५. आचा० शीला० टीका पत्रांक ११८।

६. देखें—आचारांग; आचार्य श्री आत्माराम जी कृत इसी सूत्र की टीका

सूत्रों व टीकाओं में 'आम' व 'आमगंध' शब्द आधाकर्म्मादि दोष से दूषित, अशुद्ध तथा भिक्षु के लिए अकल्पनीय आहार के अर्थ में अनेक स्थानों पर आया है।[1]

कालज्ञ आदि शब्दों का विशेष आशय इस प्रकार है—

कालण्णे—कालज्ञ–भिक्षा के उपयुक्त समय को जाननेवाला अथवा काल—प्रत्येक आवश्यक क्रिया का उपयुक्त समय, उसे जानने वाला। समय पर अपना कर्तव्य पूरा करने वाला 'कालज्ञ' होता है।

बालण्णे—बलज्ञ—अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य को पहचाननेवाला तथा शक्ति का, तप, सेवा आदि में योग्य उपयोग करने वाला।

मातण्णे—मात्रज्ञ—भोजन आदि उपयोग में लेने वाली प्रत्येक वस्तु का परिमाण—मात्रा जानने वाला।

खेयण्णे—खेदज्ञ—दूसरों के दुःख एवं पीड़ा आदि को समझनेवाला तथा—क्षेत्रज्ञ—अर्थात् जिस समय व जिस स्थान पर भिक्षा के लिए जाना हो, उसका भलीभाँति ज्ञान रखने वाला।[2]

खणयण्णे—क्षणज्ञ—क्षण को, अर्थात् समय को पहचानने वाला। काल और क्षण में अन्तर यह है कि—काल, एक दीर्घ अवधि के समय को कहा गया है; जैसे दिन-रात, पक्ष आदि। क्षण—छोटी अवधि का समय। वर्तमान समय क्षण कहलाता है।

विणयण्णे—विनयज्ञ—ज्ञान-दर्शन-चारित्र को विनय कहा गया है। इन तीनों के सम्यक् स्वरूप को जानने वाला।[3] अथवा विनय—बड़ों एवं छोटों के साथ किया जाने वाला व्यवहार। व्यवहार के औचित्य का जिसे ज्ञान हो, जो लोक-व्यवहार का ज्ञाता हो। विनय का अर्थ आचार भी है।[4] अतः विनयज्ञ का अर्थ आचार का ज्ञाता भी है।

समयण्णे—समयज्ञ। यहाँ 'समय' का अर्थ सिद्धान्त है। स्व-पर सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञाता समयज्ञ कहलाता है।[5]

भावण्णे—भावज्ञ—व्यक्ति के भावों—चित्त के अव्यक्त आशय को, उसके हाव-भाव-चेष्टा एवं विचारों से ध्वनित होते गुप्त भावों को समझने में कुशल व्यक्ति भावज्ञ कहलाता है।[6]

परिग्गहं अममायमाणे—पद में 'परिग्रह' का अर्थ शरीर तथा उपकरण किया गया है।[7] साधु परिग्रह त्यागी होता है। शरीर एवं उपकरणों पर मूर्च्छा-ममता नहीं रखता। अतः यहाँ शरीर और उपकरण को 'परिग्रह' कहने का आशय—संयमोपयोगी बाह्य साधनों से ही है।

---

१. अभिधान राजेन्द्र भाग २, 'आम' शब्द पृष्ठ ३१५।

२. खित्तण्णो भिक्खायरियाकुसलो—आचा० चूर्णि।

३. आचा० टीका पत्रांक १२०।१।

४. उत्तरा० १।१ की टीका।

५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०।१।

६. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०।१।

७. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०।२

उन बाह्य साधनों का ग्रहण सिर्फ संयम निर्वाह की दृष्टि से होना चाहिए, उनके प्रति 'ममत्व' भाव न रखे। इसीलिए यहाँ 'अममत्व' की विशेष सूचना है। शरीर और संयम के उपकरण भी ममत्व होने पर परिग्रह हो जाते हैं।

कालेणुट्ठाई—कालानुष्ठायी—से तात्पर्य है, समय पर उचित उद्यम एवं पुरुषार्थ करने वाला। *योग्य समय पर योग्य कार्य करना—यह भाव कालानुष्ठायी से ध्वनित होता है।*

अपडिण्णे—अप्रतिज्ञ—किसी प्रकार का भौतिक संकल्प (निदान) न करने वाला।[1] प्रतिज्ञा का एक अर्थ 'अभिग्रह' भी है। सूत्रों में विविध प्रकार के अभिग्रहों का वर्णन आता है[2] और तपस्वी साधु ऐसे अभिग्रह करते भी हैं। किन्तु उन अभिग्रहों के मूल में मात्र आत्म-निग्रह एवं कर्मक्षय की भावना रहती है, जबकि यहाँ राग-द्वेष मूलक किसी भौतिक संकल्प—प्रतिज्ञा के विषय में कहा गया है, जिसे 'निदान' भी कहते हैं।

अप्रतिज्ञ शब्द से एक तात्पर्य यह भी स्पष्ट होता है कि श्रमण किसी विषय में प्रतिज्ञावद्ध—एकान्त आग्रही न हो। विधि-निषेध का विचार/चिन्तन भी अनेकान्तदृष्टि से करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

न य किंचि अणुण्णायं पडिसिद्धं वा वि जिण वरिंदेहिं।
मोत्तूण मेहुणभावं, न तं विणा राग-दोसेहिं।[3]

—जिनेश्वरदेव ने एकान्त रूप से न तो किसी कर्तव्य—(आचार) का विधान किया है, और न निषेध। सिर्फ मैथुनभाव (अब्रह्मचर्य, स्त्री-संग) का ही एकान्त निषेध है, क्योंकि उसमें राग के बिना प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती अतः उसके अतिरिक्त सभी आचारों का विधि-निषेध—उत्सर्ग-अपवाद सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए। अप्रतिज्ञ शब्द में यह भाव भी छिपा हुआ है।

वस्त्र-पात्र-आहार संयम

८९. वत्थं पडिग्गहं कंबलं पादपुंछणं उग्गहं च कडासणं एतेसु चेव जाणेज्जा।

लद्धे आहारे अणगारो मातं जाणेज्जा। से जहेयं भगवता पवेदितं।

लाभो त्ति ण मज्जेज्जा, अलाभो त्ति ण सोएज्जा, बहुं पि लद्धुं ण णिहे। परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा। अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा।[4]

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते, जहेत्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि त्ति बेमि।

८९. वह (संयमी) वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद प्रोंछन, (पांव पोंछने का वस्त्र), अवग्रह—स्थान और कटासन—चटाई आदि (जो गृहस्थ के लिए निर्मित हों) उनकी याचना करें।

---

१. आचा० टीका पत्रांक १२० ।२ २. औपपातिक सूत्र, श्रमण अधिकार।
३. (क) अभि० राजेन्द्र भाग १, 'अपडिण्ण' शब्द। (ख) आचा० टीका पत्रांक १२०।२।
४. अण्णतरेण पासएण परिहरिज्जा—चूर्णि में इस प्रकार का पाठ है।

आहार प्राप्त होने पर, आगम के अनुसार, अनगार को उसकी मात्रा का ज्ञान होना चाहिए।

इच्छित आहार आदि प्राप्त होने पर उसका मद—अहंकार नहीं करें। यदि प्राप्त न हों तो शोक (चिंता) न करें। यदि अधिक मात्रा में प्राप्त हो, तो उसका संग्रह न करे। परिग्रह से स्वयं को दूर रखे। जिस प्रकार गृहस्थ परिग्रह को ममत्व भाव से देखते हैं, उस प्रकार न देखे—अन्य प्रकार से देखे और परिग्रह का वर्जन करे।

यह (अनासक्ति का) मार्ग आर्य—तीर्थंकरों ने प्रतिपादित किया है, जिससे कुशल पुरुष (परिग्रह में) लिप्त न हो।

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—साधु, जीवन यापन करता हुआ ममत्व से किस प्रकार दूर रहे, इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यह सूत्र प्रस्तुत करता है।

वस्त्र, पात्र, भोजन आदि जीवनोपयोगी उपकरणों के विना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। साधु को इन वस्तुओं की गृहस्थ से याचना करनी पड़ती है। किन्तु वह इन वस्तुओं को 'प्राप्य' नहीं समझता। जैसे समुद्र पार करने के लिए नौका की आवश्यकता होती है, किन्तु समुद्र यात्री नौका को साध्य व लक्ष्य नहीं मानता, न उसमें आसक्त होता है, किन्तु उसे साधन मात्र मानता है और उस पर पहुंचकर नौका को छोड़ देता है। साधक धर्मोपकरण को इसी दृष्टि से ग्रहण करे और मात्रा अर्थात् मर्यादा एवं प्रमाण का ज्ञान रखता हुआ उनका उपयोग करे।

उग्गहणं (अवग्रहण) शब्द के दो अर्थ हैं—(१) स्थान अथवा (२) आज्ञा लेकर ग्रहण करना। आज्ञा के अर्थ में पांच अवग्रह—देवेन्द्र अवग्रह, राज अवग्रह, गृहपति अवग्रह, शय्यातर अवग्रह और सार्धमिक अवग्रह, प्रसिद्ध है।[1]

'मातं जाणेज्जा'—मात्रा को जानना—यह एक खास सूचना है। मात्रा—अर्थात् भोजन का परिमाण जाने। सामान्यतः भोजन की मात्रा खुराक का कोई निश्चित माप नहीं हो सकता, क्योंकि इसका सम्बन्ध भूख से है। सब की भूख या खुराक समान नहीं होती इसलिए भोजन की मात्रा भी समान नहीं है। फिर भी सर्व सामान्य अनुपात-दृष्टि से भोजन की मात्रा साधु के लिए बत्तीस कवल (कोर) और साध्वी के लिए अठाईस कवलप्रमाण बताई गई है।[2] उससे कुछ कम ही खाना चाहिए।

मात्रा—शब्द को आहार के अतिरिक्त, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों के साथ भी जोड़ना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक ग्राह्य वस्तु की आवश्यकता को समझे, व जितना आवश्यक हो उतना ही ग्रहण करे।

---

१. भगवती १६।२ तथा आचारांग सूत्र ६३५।

२. भगवती ७।१ तथा औपपातिक सूत्र; तप अधिकार।

साधु को भिक्षाचरी करते समय तीन मानसिक दोषों की संभावना होती है—

अभिमान—आहारादि उचित मात्रा में मिलने पर अपने प्रभाव, लब्धि आदि का गर्व करना।

परिग्रह—आहारादि की विपुल मात्रा में उपलब्धि होती देखकर—उनके संग्रह की भावना जगना।

शोक—इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर अपने भाग्य को, या जन-समूह को, कोसना, उन पर रोष तथा आक्रोश करना एवं मन में दुखी होना।

प्रस्तुत सूत्र में **लाभो त्ति ण मज्जेज्जा**—आदि पद द्वारा इन तीनों दोषों से बचने का निर्देश दिया गया है।

'परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा'—परिग्रह से स्वयं को दूर हटाए—इस वाक्य का अर्थ भावना से है। अनगार को जो निर्दोष वस्तु प्राप्त होती है, उसको भी वह अपनी न समझे, उसके प्रति अपनापन न लाये, बल्कि यह माने कि "यह वस्तु मुझे प्राप्त हुई है, वह आचार्य की है, अर्थात् संघ की है, संघ या आचार्य के आदेश से मैं इसका स्वयं के लिए उपयोग कर सकूँगा।" इस चिन्तन से, वस्तु के प्रति ममत्व का विसर्जन एवं सामूहिकता की भावना (ट्रस्टीशिप की मनोवृत्ति) का विकास होता है और साधक स्वयं को परिग्रह से दूर रख लेता है।

'अन्यथादृष्टि'—**'अण्णहा णं पासए'**—का स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार ने उक्त तथ्य स्पष्ट किया है—**ण मम एतं आयरिय संतगं**'—यह प्राप्त वस्तु मेरी नहीं, आचार्य की निश्राय की है।

अन्यथादृष्टि—का दूसरा अर्थ यह भी है कि जैसे सामान्य गृहस्थ (अज्ञानी मनुष्य) वस्तु का उपयोग करता है, वैसे नहीं करे। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही वस्तु का उपयोग करते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य, भावना तथा विधि में बहुत बड़ा अन्तर होता है—

ज्ञानी पुरुष—आत्म-विकास एवं संयम-यात्रा के लिए, अनासक्त भावना के साथ यतना एवं विधिपूर्वक उपयोग करता है।

अज्ञानी मनुष्य—पौद्गलिक सुख के लिए, आसक्तिपूर्वक असंयम तथा अविधि से वस्तु का उपयोग करता है।

अज्ञानी के विपरीत ज्ञानी का चिन्तन व आचरण 'अन्यथादृष्टि' है।

'परिहार'—के पीछे भी दो दृष्टियां चूर्णिकार ने स्पष्ट की है—

धारणा-परिहार—बुद्धि से वस्तु का त्याग (ममत्व-विसर्जन) तथा उपभोग-परिहार शरीर से वस्तु के उपयोग का त्याग (वस्तु-संयम)।[1]

इस आर्य मार्ग पर चलने वाला कुशल पुरुष परिग्रह में लिप्त नहीं होता। वास्तव में यही जल के बीच कमल की भाँति निर्लेप जीवन बिताने की जीवन-कला है।

---

१. परिहारो दुविहो—धारणापरिहारो व उवभोगपरिहारो य—आचा० चूर्णि (मुनि जम्बू० टिप्पण पृ० २६)

काम-भोग-विरति

९०. कामा दुरतिक्कमा। जीवियं दुप्पडिवूहगं।
कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयति जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति।

९१. आयतचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं[1] जाणति, उड्ढं भागं जाणति, तिरियं भागं जाणति, गढिए अणुपरियट्टमाणे।
संधिं विदित्ता इह मच्चिएहिं,
एस वीरे पसंसिते जे बद्धे पडिमोयए।

९०. ये काम (इच्छा-वासना) दुर्लंघ्य हैं। जीवन (आयुष्य जितना है, उसे) बढ़ाया नहीं जा सकता, (तथा आयुष्य की टूटी डोर को पुनः सांधा नहीं जा सकता)।

यह पुरुष काम-भोग की कामना रखता है (किन्तु वह परितृप्त नहीं हो सकती, इसलिए) वह शोक करता है (काम की अप्राप्ति, तथा वियोग होने पर खिन्न होता है) फिर वह शरीर से सूख जाता है, आँसू बहाता है, पीड़ा और परिताप (पश्चात्ताप) से दुखी होता रहता है।

९१. वह आयतचक्षु—दीर्घदर्शी (या सर्वांग चिंतन करने वाला साधक) लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्व भाग को जानता है, तिरछे भाग को जानता है।

(काम-भोग में) गृद्ध हुआ आसक्त पुरुष संसार में (अथवा काम-भोग के पीछे) अनुपरिवर्तन—पुनः पुनः चक्कर काटता रहता है। (दीर्घदर्शी यह भी जानता है।)

यहाँ (संसार में) मनुष्यों के, (मरणधर्माशरीर की) संधि को जानकर (विरक्त हो)।

वह वीर प्रशंसा के योग्य है (अथवा वीर प्रभु ने उसकी प्रशंसा की है) जो (काम-भोग में) बद्ध को मुक्त करता है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में काम-भोग की कटुता का दर्शन तथा उससे चित्त को मुक्त रने के उपाय बताये गये हैं।

टीकाकार आचार्य शीलांक ने—काम के दो भेद बताये हैं—

(१) इच्छाकाम और (२) मदनकाम।[2]

आशा, तृष्णा, रतिरूप इच्छाएँ इच्छाकाम हैं। यह मोहनीय कर्म के हास्य, रति ादि कारणों से उत्पन्न होती है।

वासना या विकाररूप कामेच्छा—मदनकाम है। यह मोहनीय कर्म के भेद—वेद त्रय के उदय से प्रकट होता है।

---

१. पाठान्तर है—'अहे भागं, अधे भागं।'' २. आचा० टीका पत्र १२३।

जब तक मनुष्य इस 'काम' के दुष्परिणाम को नहीं जान लेता, उससे विरक्ति होना कठिन है।

प्रस्तुत दो सूत्रों में काम-विरक्ति के पांच आलम्वन बताये हैं, जिसमें से दो का वर्णन सूत्र ६० में है। जैसे—

काम-विरक्ति का प्रथम आलम्बन बताया है—(१) जीवन की क्षणभंगुरता। आयुष्य प्रतिक्षण घटता जा रहा है, और इसको स्थिर रखना या बढ़ा लेना—किसी के वश का नहीं है। द्वितीय आलम्वन है—(२) कामी को होने वाले मानसिक परिताप, पीड़ा, शोक आदि को समझना।

साधक को 'आयतचक्खू' कहकर उसकी दीर्घदृष्टि तथा सर्वांग-चिन्तनशीलता—अनेकान्तदृष्टि होने की सूचना की है। अनेकान्तदृष्टि से वह विविध पक्षों पर गंभीरतापूर्वक विचारणा करने में सक्षम होता है। टीका के अनुसार 'इहलोक-परलोक के अपाय को देखने की क्षमता रखने वाला—आयतचक्षु है।'[1]

काम-वासना से चित्त को मुक्त करने के तीन आलम्बन—आधार सूत्र ६१ में इस प्रकार बताये गये हैं। ३. (१) लोक-दर्शन, ४. (२) अनुपरिवर्तन का बोध, ५. (३) संधि-दर्शन। क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार है—

३. (१) **लोक-दर्शन**—लोक को देखना। इस पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। (क) लोक का अधोभाग विषय-कषाय से आसक्त होकर शोक-पीड़ा आदि से दुखी होता है। यहाँ अधोभाग का अर्थ अधोभागवर्ती नैरयिक समझना चाहिए।

लोक का ऊर्ध्वभाग (देव) तथा मध्यभाग (मनुष्य एवं तिर्यंच) भी विषय-कषाय में आसक्त होकर शोक व पीड़ा से दुखी हैं।[2]

(ख) दीर्घदर्शी साधक—इस विषय पर भी चिन्तन करें—अमुक भाव व वृत्तियाँ अधोगति की हेतु हैं, अमुक ऊर्ध्वगति की तथा अमुक तिर्यग् (*मध्य—मनुष्य-तिर्यंच*) गति की हेतु हैं।[3]

(ग) लोक का अर्थ है—भोग्यवस्तु या विषय। शरीर भी भोग्य वस्तु या भोगायतन है। शरीर के तीन भाग कल्पित कर उन पर चिन्तन करना लोकदर्शन है। जैसे—

१ अधोभाग—नाभि से नीचे का भाग,

२ ऊर्ध्वभाग—नाभि से ऊपर का भाग,

३ तिर्यग्भाग—नाभि-स्थान

इन तीनों भागों पर चिन्तन करे! यह अशुचि-भावना का एक सुन्दर माध्यम भी है। इससे शरीर की भंगुरता, असारता आदि की भावना दृढ़ हो जाती है। शरीर के प्रति ममत्व-रहितता आती है। बौद्ध साधना में इसे 'शरीर-विपश्यना' भी कहा गया है।[4]

---

१. आचा० टीका १०३ २. आचारांग टीका पत्रांक—१०४

३. देखें स्थानांग सूत्र०, स्थान ४. उद्देशक ४ सूत्र ३७३ (चार गति के विभिन्न कारण)

४. विशुद्धि मग्गो, भाग १ पृ० १६०-१७५—उद्धृत 'आयारो' मुनि नथमलजी पृ० ११२

तीनों लोकों पर विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन करना ध्यान की एक विलक्षण पद्धति रही है।

इसी सूत्र में बताया गया है—भगवान महावीर अपने साधना काल में ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में तथा तिर्यग्लोक में (वहाँ स्थित तत्त्वों पर) ध्यान केन्द्रित करके समाधि भाव में लीन हो जाते थे।[1] 'लोक-भावना' में भी तीनों लोक के स्वरूप का चिन्तन तथा वहां स्थित पदार्थों पर ध्यान केन्द्रित कर एकाग्र होने की साधना की जाती है।

४. (२) अनुपरिवर्तन का बोध—काम-भोग के आसेवन से काम वासना कभी भी शांत व तृप्त नहीं हो सकती, बल्कि अग्नि में घी डालने की भांति विषयाग्नि अधिक प्रज्ज्वलित होती है। कामी बार-बार काम (विषय) के पीछे दौड़ता है, और अन्त में हाथ लगती है अशांति! अतृप्ति!! इस अनुपरिवर्तन का बोध, साधक को जब होता है तो वह काम के पीछे दौड़ना छोड़कर काम को अकाम (वैराग्य) से शांत करने में प्रयत्नशील हो जाता है।

५. (३) संधि-दर्शन—टीकाकार ने संधि का अर्थ—'अवसर' किया है। यह मनुष्य-जन्म ज्ञानादि की प्राप्ति का, आत्म-विकास करने का, तथा अनन्त आत्म-वैभव प्राप्त करने का स्वर्णिम—अवसर है[2] यह सुवर्ण-संधि है, इसे जानकर वह काम-विरक्त होता है और 'काम-विजय' की ओर बढ़ता है।

'संधि-दर्शन' का एक अर्थ यह भी है—शरीर की संधियों (जोड़ों) का स्वरूप-दर्शन कर शरीर के प्रति राग-रहित होना। शरीर को मात्र अस्थि-कंकाल (हड्डियों का ढाँचा मात्र) समझना उसके प्रति आसक्ति को कम करता है।

शरीर में एक सौ अस्सी संधियाँ मानी गई हैं। इनमें चौदह महासंधियाँ हैं[3] उन पर विचार करना भी संधि-दर्शन है।

इस प्रकार काम-विरक्ति के आलम्बनभूत उक्त पांच विषयों का वर्णन दोनों सूत्रों में हुआ है।

'बद्धे पडिमोयए' से तात्पर्य है, जो साधक स्वयं काम-वासना से मुक्त है, वह दूसरों को (बद्ध) को मुक्त कर सकता है।

देह की असारता का बोध

९२. जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।
अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि पासति पुढो वि सवंताइं।[4] पंडिते पडिलेहाए।
से मतिमं परिण्णाय मा य हु लालं पच्चासी। मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए।

९२. (यह देह) जैसा भीतर है, वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है।

---

१. अध्ययन ९। सूत्रांक ३२०।गा० १०७—उड्ढं अधेय तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे।"
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२४
३. देखे—आयारो—पृष्ठ ११४
४. (क) पुढो वीसवताइं—चूर्णि में पाठान्तर है। (ख) पृथगपि प्रत्येकमपि, अपि शब्दात् कुष्ठाद्यवस्थायां यौगपद्येनापि स्रवन्ति—टीका पत्र १२५

इस शरीर के भीतर-भीतर अशुद्धि भरी हुई है, साधक इसे देखें। देह से झरते हुए अनेक अशुचि-स्रोतों को भी देखे। इस प्रकार पंडित शरीर की अशुचिता (तथा काम-विपाक) को भली-भाँति देखें।

वह मतिमान साधक (उक्त विषय को) जानकर तथा त्याग कर लार को न चाटे—वमन किये हुए भोगों का पुनः सेवन न करे। अपने को तिर्यक्मार्ग में—(काम-भोग के बीच में अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र से विपरीत मार्ग में) न फंसाए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में 'अशुचि भावना' का वर्णन है। शरीर की अशुचिता को बताते हुए कहा है—यह जैसा भीतर में (मल-मूत्र-रुधिर-मांस-अस्थि-मज्जा-शुक्र आदि से भरा है) वैसा ही बाहर भी है। जैसा अशुचि से भरा मिट्टी का घड़ा, भीतर से अपवित्र रहता है, उसे बाहर से धोने पर भी वह शुद्ध नहीं होता इसी प्रकार भीतर से अपवित्र शरीर स्नान आदि करने पर भी बाहर में अपवित्र ही रहता है।

मिट्टी के अशुचि भरे घड़े से जैसे उसके छिद्रों में से प्रतिक्षण अशुचि झरती रहती है, उसीप्रकार शरीर से भी रोम-कूपों तथा अन्य छिद्रों (देहान्तर) द्वारा प्रतिक्षण अशुचि बाहर झर रही है—इस पर चिन्तन कर शरीर की सुन्दरता के प्रति राग तथा मोह को दूर करे।

यह अशुभ निमित्त (आलम्बन) से शुभ की ओर गतिशील होने की प्रक्रिया है। शरीर की अशुचिता एवं असारता का चिन्तन करने से स्वभावतः उसके प्रति आसक्ति तथा ममत्व कम हो जाता है।

'जहा अंतो तहा बाहिं' का एक अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—साधक जिस प्रकार अन्तस् की शुद्धि (आत्म-शुद्धि) रखता है, उसी प्रकार बाहर की शुद्धि (व्यवहार-शुद्धि) भी रखता है।

जैसे बाहर की शुद्धि (व्यवहार की शुद्धि) रखता है, वैसे अन्तस् की शुद्धि भी रखता है। साधना में एकांगी नहीं, किन्तु सर्वांगीण शुद्धि बाहर-भीतर की एकरूपता होना अनिवार्य है।

लालं पच्चासी—द्वारा यह उद्बोधन किया गया है कि हे मतिमान! तुम जिन काम-भोगों का त्याग कर चुके हो, उनके प्रति पुनः देखो भी मत। त्यक्त की पुनः इच्छा करना—वान्त को, थुके हुए, वमन किये हुए को चाटना है।[1]

मा तेसु तिरिच्छं—शब्द से तिर्यक् मार्ग का सूचन है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का मार्ग सरल व सीधा मार्ग है, इसके विपरीत मिथ्यात्व-कषाय आदि का मार्ग तिरछा—तिर्यक् व टेढ़ा मार्ग है।[2] तुम ज्ञानादि के प्रतिकूल संसार मार्ग में न जाओ—यही भाव यहाँ पर समझना चाहिए।

---

१. उत्तराध्ययन—२२।४३

२. आचा० टीका पात्रांक १२५

९३. कासंकसे खलु अयं पुरिसे, बहुमायी, कडेण मूढे,
पुणो तं करेति लोभं,[1] वेरं वड्ढेति अप्पणो।
जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिवूहणताए।
अमरायइ महासड्ढी। अट्टमेतं तु पेहाए। अपरिण्णाए कंदति।

९३. (काम-भोग में आसक्त) यह पुरुष सोचता है—मैंने यह कार्य किया, यह कार्य करूंगा (इस प्रकार की आकुलता के कारण) वह दूसरों को ठगता है, माया-कपट रचता है, और फिर अपने रचे माया जाल में स्वयं फंस कर मूढ बन जाता है।

वह मूढभाव से ग्रस्त फिर लोभ करता है (काम-भोग प्राप्त करने को ललचाता है) और (माया एवं लोभयुक्त आचरण के द्वारा) प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ाता है।

जो मैं यह कहता हूं (कि वह कामी पुरुष माया तथा लोभ का आचरण कर अपना वैर बढ़ाता है) वह इस शरीर को पुष्ट बनाने के लिए ही ऐसा करता है।

वह काम-भोग में महान् श्रद्धा (आसक्ति) रखता हुआ अपने को अमर की भाँति समझता है। तू देख, वह आर्त—पीड़ित तथा दुखी है। परिग्रह का त्याग नहीं करने वाला क्रन्दन करता है (रोता है)।

विवेचन—इस सूत्र में अशान्ति और दुःख के मूलकारणों पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य—'यह किया, अब यह करना है,' इस प्रकार के संकल्प जाल का शिकार होकर मूढ हो जाता है। वह वास्तविक जीवन से दूर भागकर स्वप्निल सृष्टि में खो जाता है। जीवन में सपने देखने लगता है—इस मनःस्थिति को 'कासंकासे' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। ऐसा स्वप्नदर्शी मनुष्य—काम और भूख की वृत्तियों को संतुष्ट करने के लिए अनेक हथकंडे करता है, वैर बढ़ाता है। वह जीवन में इतना आसक्त हो जाता है कि दूसरों को मरते हुए देखकर भी स्वयं को अमर की तरह मानने लगता है।

आचार्य शीलांक ने उदाहरण देते हुए इसकी व्याख्या की है। "अर्थ-लोभी व्यक्ति सोने के समय में सो नहीं पाता. स्नान के समय में स्नान नहीं कर पाता, विचारा भोजन के समय भोजन भी नहीं कर पाता।"[2] रात-दिन उसके सिर पर धन का भूत चढा रहता है। इस स्थिति में वह अपने आपको भूल-सा जाता है। यहाँ तक कि 'मृत्यु' जैसी अवश्यंभावी स्थिति को भी विस्मृत-सा कर देता हैं।

एक बार राजगृह में धन नाम का सार्थवाह आया। वह दिन-रात धनोपार्जन में ही लीन रहता। उसकी विशाल समृद्धि की चर्चा सुनकर मगधसेना नामकी गणिका उसके आवास पर

---

१. चूर्णि में पाठ है—"पुणो तं करेति लोगं" नरगादिभवलोगं करेति णिव्वत्तेति"—वह अपने कृत-कर्मों से पुनः नरक आदि भाव लोक में गमन करता है।

२, सोउं सोवणकाले मज्जणकाले य मज्जिउं लोलो।
जेमेउं च वराओ जेमणकाले न चाएइ। —आचा० टीका पत्रांक १२१

गई। सार्थवाह अपने आय-व्यय का हिसाब जोड़ने और स्वर्णमुद्राएँ गिनने में इतना दत्तचित्त था कि, उसने द्वार पर खड़ी सुन्दरी गणिका की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा।

मगधसेना का अहंकार तिलमिला उठा। दाँत पीसती हुई उदास मुख लिए वह सम्राट जरासंध के दरबार में गई। जरासंध ने पूछा—सुन्दरी! तुम उदास क्यों हो? किसने तुम्हारा अपमान किया?

मगधसेना ने व्यंग्यपूर्वक कहा—उस अमर ने!

कौन अमर?—जरासंध ने विस्मयपूर्वक पूछा।

धन सार्थवाह! वह धन की चिन्ता में, स्वर्ण-मुद्राओं की गणना में इतना बेभान है कि उसे मेरे पहुँचने का भी भान नहीं हुआ। जब वह मुझे भी नहीं देख पाता, तो वह अपनी मृत्यु को कैसे देखेगा? वह स्वयं को अमर जैसा समझता है।[1]

अर्थ-लोलुप व्यक्ति की इसी मानसिक दुर्बलता को उद्घाटित करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—वह भोग एवं अर्थ में अत्यन्त आसक्त पुरुष स्वयं को अमर की भाँति मानने लगता है और इस घोर आसक्ति का परिणाम आता है—आर्तता—पीड़ा, अशान्ति और क्रन्दन। पहले भोग प्राप्ति की आकांक्षा में क्रन्दन करता है, रोता है, फिर भोग छूटने के शोक—(वियोग चिन्ता) में क्रन्दन करता है। इस प्रकार भोगासक्ति का अन्तिम परिणाम क्रन्दन—रोना ही है।

बहुमायी शब्द के द्वारा—क्रोध, मान, माया और लोभ चारों कषायों का बोध अभिप्रेत है। क्योंकि अव्यवस्थित चित्तवाला पुरुष कभी माया, कभी क्रोध, कभी अहंकार और कभी लोभ करता है। वह विक्षिप्त—पागल की तरह आचरण करने लगता है।[2]

सदोष-चिकित्सा-निषेध

९४. से तं जाणह जमहं बेमि। तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता 'अकडं करिस्सामि' त्ति मण्णमाणे, जस्स वि य णं करेइ।

अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारेति बाले।

ण एवं अणगारस्स जायति त्ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

९४. तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूँ। अपने को चिकित्सा-पंडित बताते हुए कुछ वैद्य, चिकित्सा (काम-चिकित्सा) में प्रवृत्त होते हैं। वह (काम-चिकित्सा के लिए) अनेक जीवों का हनन, भेदन, लुम्पन, विलुम्पन और प्राण-वध करता है। 'जो पहले किसी ने नहीं किया, ऐसा मैं करूँगा', यह मानता हुआ (वह जीव-वध करता है)। वह जिसकी चिकित्सा करता है (वह भी जीव-वध में सहभागी होता है)।

(इस प्रकार की हिंसा-प्रधान चिकित्सा करने वाले) अज्ञानी की संगति से

---

१. आचा० टीका पत्रांक १२६।१　　　　२. आचा० टीका पत्रांक

क्या लाभ है ! जो ऐसी चिकित्सा करवाता है, वह भी बाल—अज्ञानी है।

अनगार ऐसी चिकित्सा नहीं करवाता।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में हिंसा-जन्य चिकित्सा का निषेध है। पिछले सूत्रों में काम (विषयों) का वर्णन आने से यहाँ यह भी संभव है कि काम-चिकित्सा को लक्ष्य कर ऐसा कथन किया है। काम-वासना की तृप्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की औषधियों का (वाजीकरण-उपबृंहण आदि के लिए) सेवन करता है, मरफिया आदि के इन्जेक्शन लेता है, शरीर के अवयव जीर्ण व क्षीणसत्त्व होने पर अन्य पशुओं के अंग-उपांग-अवयव लगाकर काम-सेवन की शक्ति को बढ़ाना चाहता है। उसके निमित्त वैद्य-चिकित्सक अनेक प्रकार की जीव हिंसा करते हैं। चिकित्सक और चिकित्सा करानेवाला दोनों ही इस हिंसा के भागीदार होते हैं। यहाँ पर साधक के लिए इस प्रकार की चिकित्सा का सर्वथा निषेध किया गया है।

इस सूत्र के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण व्याधि-चिकित्सा (रोग-उपचार) का भी है।

श्रमण की दो भूमिकाएँ है—(१) जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनकल्पी श्रमण संघ से अलग स्वतन्त्र, एकांकी रहकर साधना करते थे। वे अपने शरीर का प्रतिकर्म अर्थात् सार-संभाल, चिकित्सा आदि भी नहीं करते-कराते। (२) स्थविरकल्पी श्रमण संघीय जीवन जीते हैं। संयम-यात्रा का समाधिपूर्वक निर्वाह करने के लिए शरीर को भोजन, निर्दोष औषधि आदि से साधना के योग्य रखते हैं। किन्तु स्थविरकल्पी श्रमण भी शरीर के मोह में पड़कर व्याधि आदि के निवारण के लिए सदोष-चिकित्सा का, जिसमें जीव-हिंसा होती हो, प्रयोग न करे। यहाँ पर इसी प्रकार की सदोष-चिकित्सा का स्पष्ट निषेध किया गया है।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

सर्व अव्रत-विरति

९५. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए तम्हा पावं कम्मं णेव कुज्जा ण कारवे।

९६. सिया तत्थ एकयरं विप्परामुसति छसु अण्णयरम्मि कप्पति। सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति। सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वति जंसिमे पाणा पव्वहिता।

९५. वह (साधक) उस (पूर्वोक्त विषय) को सम्यक्प्रकार से जानकर संयम साधना में समुद्यत हो जाता है। इसलिए वह स्वयं पाप कर्म न करें, दूसरों से न करवाएं (अनुमोदन भी न करें)।

९६. कदाचित् (वह प्रमाद या अज्ञानवश) किसी एक जीवकाय का समारंभ करता है, तो वह छहों जीव-कायों में से (किसी का भी या सभी का) समारंभ कर

सकता है। वह सुख का अभिलाषी, वार-वार सुख की इच्छा करता है, (किन्तु) स्व-कृत कर्मों के कारण, (व्यथित होकर) मूढ वन जाता है और विषयादि सुख के बदले दुःख को प्राप्त करता है। वह (मूढ) अपने अति प्रमाद के कारण ही अनेक योनियों में भ्रमण करता है, जहाँ पर कि प्राणी अत्यन्त दुःख भोगते हैं।

विवेचन—पूर्व उद्देशकों में, परिग्रह तथा काम की आसक्ति से ग्रस्त मनुष्य की मनोदश का वर्णन किया गया है। यहाँ उसी संदर्भ में कहा है—आसक्ति से होने वाले दुखों क समझकर साधक किसी भी प्रकार का पाप कार्य न करे।

पाप कर्म न करने के संदर्भ में टीकाकार ने प्रसिद्ध अठारह पापों का नाम-निर्देश किय है, तथा बताया है, ये तो मुख्य नाम हैं, वैसे मन के जितने पापपूर्ण संकल्प होते हैं, उतने ह पाप हो सकते हैं। उनकी गणना भी संभव नहीं है। साधक मन को पवित्र करले तो पा स्वयं नष्ट हो जायँ। अतः वह किसी भी प्रकार का पाप न करें, न करवाएँ, अनुमोदन न कर का भाव भी इसी में अन्तर्निहित है।

सूत्र ९६ में एक गूढ़ आध्यात्मिक पहेली को स्पष्ट किया है। संभव है; कदाचित् को साधक प्रमत्त हो जाय[1], और किसी एक जीव-निकाय की हिंसा करें, अथवा जो असंयत हैं—अन्य श्रमण परिव्राजक हैं, वे किसी एक जीवकाय की हिंसा करें तो क्या वे अन्य जीव-काय की हिंसा से बच सकेंगे? इसका समाधान दिया गया है—'**छसु अण्णयरम्मि कप्पति**' एक जीवकाय की हिंसा करने वाला छहों काय की हिंसा कर सकता है।

भगवान महावीर के समय में अनेक परिव्राजक यह कहते थे कि—'हम केवल पीने के लिए पानी के जीवों की हिंसा करते हैं, अन्य जीवों की हिंसा नहीं करते।' गैरिक व शाक्य आदि श्रमण भी यह कहते थे कि—'हम केवल भोजन के निमित्त जीव हिंसा करते हैं, अन्य कार्य के लिए नहीं।'

सम्भव है ऐसा कहने वालों को सामने रखकर आगम में यह स्पष्ट किया गया है कि—जब साधक के चित्त में किसी एक जीवकाय की हिंसा का संकल्प हो गया तो वह अन्य जीवकाय की हिंसा भी कर सकता है, और करेगा! क्योंकि जब अखण्ड अहिंसा की चित्त धारा खण्डित हो चुकी है, अहिंसा की पवित्र चित्तवृत्ति मलिन हो गई है, तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक जीवकायकी हिंसा करे और अन्य के प्रति मैत्री या करुणा भाव दिखाए? दूसरा कारण यह भी है कि—

यदि कोई जलकाय की हिंसा करता है, तो जल में वनस्पति का नियमतः सद्भाव है, जलकाय की हिंसा करने वाला वनस्पतिकाय की हिंसा भी करता ही है। जल के हलन-चलन-प्रकम्पन से वायुकाय की भी हिंसा होती है, जल और वायुकाय के समारंभ से वहाँ रही हुई अग्नि भी प्रज्ज्वलित हो सकती है तथा जल के आश्रित अनेक प्रकार के सूक्ष्म त्रस जीव भी

---

१. "सिया कयाइ से इति असंजतस्स निद्देसो पमत्तसंजतस्स वा…"। —आचा० चूर्णि (जम्बू० पृ० २८)

रहते हैं। जल में मिट्टी (पृथ्वी) का भी अंश रहता है अतः एक जलकाय की हिंसा से छहों काय की हिंसा होती है।[1]

'छसु' शब्द से पांच महाव्रत व छठा रात्रि-भोजन-विरमणव्रत भी सूचित होता है। जब एक अहिंसा व्रत खण्डित हो गया तो सत्य भी खण्डित हो गया, क्योंकि साधक ने हिंसा त्याग की प्रतिज्ञा की थी। प्रतिज्ञा-भंग असत्य का सेवन है। जिन प्राणियों की हिंसा की जाती है उनके प्राणों का हरण करना चोरी है। हिंसा से कर्म-परिग्रह भी बढ़ता है तथा हिंसा के साथ सुखाभिलाष—काम-भावना उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार टूटी हुई माला के मनकों की तरह एक व्रत टूटने पर सभी छहों व्रत टूट जाते हैं—भग्न हो जाते हैं।

एक पाप के सेवन से सभी पाप आ जाते हैं—'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'—के अनुसार एक छिद्र होते ही अनेक अवगुण आ जायेंगे, अतः यहाँ प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा व्रत की सम्पूर्ण अखण्ड-निरतिचार साधना का निर्देश किया गया है।

पुढो वयं—के दो अर्थ हैं—(१) विविध व्रत, और (२) विविध गति-योनिरूप संसार। यहाँ दोनों ही अर्थों की संगति बैठती है। एक व्रत का भंग करने वाला पृथक्व्रतों को अर्थात् अन्य सभी व्रतों को भंग कर डालता है, तथा वह अपने अति प्रमाद के ही कारण, पृथक्-पृथक् गतियों में, अर्थात् अपार संसार में परिभ्रमण करता है।[2]

९७. पडिलेहाए णो णिकरणाए। एस परिण्णा पवुच्चति कम्मोवसंती।

जे ममाइयमतिं जहाति से जहाति ममाइतं।

से हु दिट्ठपहे[3] मुणी जस्स णत्थि ममाइतं।

तं परिण्णाय मेहावी विदित्ता लोगं, वंता लोगसण्णं, से मतिमं परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

९७. यह जानकर (परिग्रह के कारण प्राणी संसार में दुखी होता है) उसका (परिग्रह का) संकल्प त्याग देवे। यही परिज्ञा/विवेक कहा जाता है। इसी से (परिग्रह-त्याग से) कर्मों की शान्ति—क्षय होता है।

जो ममत्व-बुद्धि का त्याग करता है, वह ममत्व (परिग्रह) का त्याग करता है।

वही दृष्ट-पथ—(मोक्ष-मार्ग को देखने वाला) मुनि है, जिसने ममत्व का त्याग कर दिया है।

यह (उक्त दृष्टि-बिन्दु को) जानकर मेधावी लोकस्वरूप को जाने। लोक-

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२७-१२८।

२. (क) वयं—शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—"वयन्ति-पर्यटन्ति प्राणिनः यस्मिन् स वयः संसारः।" —आचा० शीला० टीका पत्रांक १२८

(ख) ऐतरेय ब्राह्मण में भी 'वयः' शब्द गति अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। —ऐत० आ० १२ खं० ८

३. दिट्ठभए—पाठान्तर है।

संज्ञा का त्याग करे, तथा संयम में पुरुषार्थ करे। वास्तव में उसे ही मतिमान (बुद्धिमान) ज्ञानी पुरुष कहा गया है—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ममत्वबुद्धि का त्याग तथा लोक-संज्ञा से मुक्त होने का निर्देश किया है। ममत्व-बुद्धि—मूर्च्छा एवं आसक्ति, बन्धन का मुख्य कारण है। पदार्थ के सम्बन्ध मात्र से न तो चित्त कलुषित होता हैं, और न कर्म बन्धन होता है। पदार्थ के साथ-साथ जब ममत्वबुद्धि जुड़ जाती है तभी वह पदार्थ परिग्रह कोटि में आता है और तभी उससे कर्म बंध होता है। इसलिए सूत्र में स्पष्ट कहा है—जो ममत्वबुद्धि का त्याग कर देता है, वह सम्पूर्ण ममत्व अर्थात् परिग्रह का त्याग कर देता है। और वही परिग्रह-त्यागी पुरुष वास्तव में सत्य पथ का द्रष्टा है, पथ का द्रष्टा—सिर्फ पथ को जानने वाला नहीं, किन्तु उस पथ पर चलने वाला होता है—यह तथ्य यहाँ संकेतित है।

लोक को जानने का आशय है—संसार में परिग्रह तथा हिंसा के कारण ही समस्त दुःख व पीड़ाएँ होती हैं तथा संसार परिभ्रमण बढ़ता है, यह जाने।

लोगसण्णं—लोक-संज्ञा के तीन अर्थ ग्रहण किये गये हैं, (१) आहार, भय आदि दस प्रकार की लोक संज्ञा।[1] (२) यशःकामना, अहंकार, प्रदर्शन की भावना, मोह, विषयाभिलाषा, विचार-मूढता, गतानुगतिक वृत्ति, आदि। (३) मनगढन्त लौकिक रीतियाँ—जैसे श्वान यक्ष रूप है, विप्र देवरूप है, अपुत्र की गति नहीं होती आदि।[2]

इन तीनों प्रकार की संज्ञाओं/वृत्तियों का त्याग करने का उद्देश्य यहाँ अपेक्षित है। 'लोक संज्ञाष्टक' में इस विषय पर विस्तृत विवेचन करते हुए आचार्यों ने बताया है—

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः परब्रह्म समाधिमान्।
सुखमास्ते गतद्रोह-ममता-मत्सरज्वरः ॥८॥[3]

—शुद्ध आत्म-स्वरूप में रमणरूप समाधि में स्थित, द्रोह, ममता (द्वेष एवं राग) मात्सर्य रूप ज्वर से रहित, लोक संज्ञा से मुक्त साधु संसार में सुखपूर्वक रहता है।

अरति-रति-विवेक

९८. णारतिं सहती[4] वीरे, वीरे णो सहती रतिं।
[5]जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे ण रज्जति ॥३॥

---

१. (क) दस संज्ञाएँ इस प्रकार है—(१) आहार संज्ञा, (२) भयसंज्ञा (३) मैथुन संज्ञा (४) परिग्रह संज्ञा (५) क्रोध संज्ञा (६) मान संज्ञा (७) माया संज्ञा (८) लोभ संज्ञा (९) ओघ संज्ञा (१०) लोक संज्ञा। —प्रज्ञापना सूत्र, पद १०

(ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक १२९

२. देखें अभि० राजेन्द्र, भाग ६, पृ० ७४१

३. अभि० राजेन्द्र भाग ६, पृ० ७४१ 'लोग सण्णा' शब्द। ४. सहते, सहति—पाठान्तर है।

५. चूर्णि में पाठान्तर—**जम्हा अविमणो वीरो तम्हादेव विरज्जते**—अर्थात् वीर जिससे अविमनस्क होता है, उसके प्रति राग नहीं करता।

९९. सद्दे फासे अधियासमाणे णिव्विद णंदि इह जीवियस्स ।
मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरगं ।
पंतं लूहं सेवंति वीरा समत्तदंसिणो ।[1]
एस ओघंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि ।

९८. वीर साधक अरति (संयम के प्रति अरुचि) को सहन नहीं करता, और रति (विषयों की अभिरुचि) को भी सहन नहीं करता। इसलिए वह वीर इन दोनों में ही अविमनस्क—स्थिर-शान्तमना रह कर रति-अरति में आसक्त नहीं होता।

९९. मुनि (रति-अरति उत्पन्न करने वाले मधुर एवं कटु) शब्द (रूप, रस गन्ध,) और स्पर्श को सहन करता है। इस असंयम जीवन में होने वाले आमोद आदि से विरत होता है।

मुनि मौन (संयम अथवा ज्ञान) को ग्रहण करके कर्म-शरीर को धुन डालता है, (आत्मा से दूर कर देता है)

वे समत्वदर्शी वीर साधक. रुखे-सूखे (नीरस आहार) का समभाव पूर्वक सेवन करते हैं।

वह (समदर्शी) मुनि, जन्म-मरणरूप संसार प्रवाह को तैर चुका है, वह वास्तव में मुक्त, विरत कहा जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उक्त दो सूत्रों में साधक को समत्वदर्शी शांत और मध्यस्थ वनने का प्रतिपादन किया गया है।

रति और अरति—यह मनुष्य के अन्तःकरण में छुपी हुई दुर्वलता हैं। राग-द्वेष-वृत्ति के गाढ या सूक्ष्म जमे हुए संस्कार ही मनुष्य को मोहक विषयों के प्रति आकृष्ट करते हैं, तथा प्रतिकूल विषयों का सम्पर्क होने पर चंचल वना देते हैं।

यहाँ अरति—का अर्थ है संयम-साधना में, तपस्या, सेवा, स्वाध्याय, आदि के प्रति उत्पन्न होने वाली अरुचि एवं अनिच्छा। इसप्रकार की अरुचि संयम-साधना के लिए घातक होती है।

रति—का अर्थ है—शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि मोहक विषयों से जनित चित्त की प्रसन्नता/रुचि या आकर्षण।[2]

उक्त दोनों ही वृत्तियों से अरति और रति से, संयम-साधना खंडित और भ्रष्ट हो सकती है अतः वीर, पराक्रमी, इन्द्रिय-विजेता साधक अपना ही अनिष्ट करने वाली ऐसी वृत्तियों

---

१. सम्मत्तदंसिणो—पाठान्तर भी है।

२. उत्तरा० अ० ५ की टीका। देखें अभि० राजेन्द्र भाग ६. पृ० ४६७। यहीं पर आगमों के प्रसंगानुसारी रति शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं, जैसे—मैथुन (उत्त० १४) स्त्री-सुख (उत्त० १६) मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न प्रसन्नता (दर्शन० १ तत्त्व) क्रीड़ा (दशवै० १) मोहनीय कर्मोदय जनित आनन्द रूप मनोविकार (धर्म० २ अधि)

को सहन कैसे करेगा ? यह तो उसके गुप्त शत्रु हैं, अतः वह इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह न तो भोग-रति को सहन करेगा और न संयम-अरति को। इसलिए वह इन दोनों वृत्तियों में ही अविमनस्क अर्थात् शांत एवं मध्यस्थ रहकर उनसे विरक्त रहता है।

सूत्र ९९ में पाँच इन्द्रिय विषयों में प्रथम व अन्तिम विषय का उल्लेख करके मध्य के तीन विषय उसीमें अन्तर्निहित कर दिये हैं। इन्हें क्रमशः यों समझना चाहिए—शब्द, रूप, रस गंध और स्पर्श। ये कभी मधुर मोहक रूप में मन को ललचाते हैं तो कभी कटु अप्रिय रूप में आकर चित्त को उद्वेलित भी कर देते हैं। साधक इनके प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल—दोनों प्रकार के स्पर्शों के प्रति समभाव रखता है। ये विषय ही तो असंयमी जीवन में प्रमोद के कारण होते हैं, अतः इनसे निर्विण्ण—उदासीन रहने का यहाँ स्पष्ट संकेत किया है।

मोणं—मौन के दो अर्थ किये जाते हैं, मौन—मुनिका भाव—संयम, अथवा मुनि जीवन का मूल आधार ज्ञान।[1]

धुण कम्मसरीरगं—से तात्पर्य है, इस औदारिक शरीर को धुनने से, क्षीण करने से तब तक कोई लाभ नहीं, जब तक राग द्वेष जनित कर्म (कार्मण) शरीर को क्षीण नहीं किया जाये। साधना का लक्ष्य कर्म शरीर (आठ प्रकार के कर्म) को क्षीण करना ही है। यह औदारिक शरीर तो साधना का साधन मात्र है। हाँ, संयम के साधनभूत शरीर के नाम पर वह इसके प्रति ममत्व भी न लाये, सरस-मधुर आहार से इसकी वृद्धि भी न करें, इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है—**पंतं लूहं सेवंति**—वह साधक शरीर से धर्म साधना करने के लिए रुखा-सूखा, निर्दोष विधि से यथाप्राप्त भोजन का सेवन करे।

टीका आदि में **समत्तदंसिणो** के स्थान पर **सम्मत्तदंसिणो** पाठ उपलब्ध है। टीकाकार शीलाकाचार्य ने इसका पहला अर्थ समत्वदर्शी तथा वैकल्पिक दूसरा अर्थ—सम्यक्त्वदर्शी किया है।[2] यहाँ नीरस भोजन के प्रति 'समभाव' का प्रसंग होने से समत्वदर्शी अर्थ अधिक संगत लगता है। वैसे 'सम्यक्त्वदर्शी' में भी सभी भाव समाहित हो जाते हैं। वह सम्यक्त्व दर्शी वास्तव में संसार समुद्र को तैर चुका है। क्योंकि सम्यक्त्व की उपलब्धि संसार प्रवाह को तैरने की निश्चित साक्षी है।

बंध-मोक्ष-परिज्ञान

१००. दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाति वत्तए।

१०१. एस वीरे पसंसिए अच्चेति लोगसंजोगं। एस णाए पवुच्चति।

जं दुक्खं पवेदितं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति, इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो।

---

१. अभि० राजेन्द्र, भाग ६, पृ० ४४९ पर इसी सन्दर्भ में **मोणं** का अर्थ वचन-संयम भी किया है—'वाचांसंयमने', तथा सर्वज्ञोक्तप्रवचनरूप ज्ञान (आचा० ५।२) सम्यक्चारित्र (उत्त० १५) समस्त सावद्य योगों का त्याग (आचा० ५।३) मौनव्रत (स्थाना० ५।१) आदि अनेक अर्थ किये हैं।

२. आचारांग टीका पत्रांक १३०।

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, [1]जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी ।[2]

१००. जो पुरुष वीतराग की आज्ञा का पालन नहीं करता वह संयम-धन (ज्ञानादि रत्नत्रय) से रहित—दुर्वसु है। वह धर्म का कथन—निरूपण करने में ग्लानि (लज्जा या भय) का अनुभव करता है, (क्योंकि) वह चारित्र की दृष्टि से तुच्छ—हीन जो है।

वह वीर पुरुष (जो वीतराग की आज्ञा के अनुसार चलता है) सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करता है और लोक-संयोग (धन, परिवार आदि जंजाल) से दूर हट जाता है, मुक्त हो जाता है। यही न्याय्य (तीर्थकरों का) मार्ग कहा जाता है।

यहाँ (संसार में) मनुष्यों के जो दुःख (या दुःख के कारण) बताये हैं, कुशल पुरुष उस दुःख की परिज्ञा—विवेक (दुःख से मुक्त होने का मार्ग) बताते हैं। इस प्रकार कर्मों (कर्म तथा कर्म के कारण) को जानकर सर्व प्रकार से (निवृत्ति करे)।

जो अनन्य (आत्मा) को देखता है, वह अनन्य (आत्मा) में रमण करता है। जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है।

विवेचन—उक्त दो सूत्रों में बंध एवं मोक्ष का परिज्ञान दिया गया है। सूत्र १०० में बताया है, जो साधक वीतराग की आज्ञा की आराधना नहीं करता, अर्थात् आज्ञानुसार सम्यग् आचरण नहीं करता वह ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धन से दरिद्र हो जाता है। जिन शासन में वीतराग की आज्ञा की आराधना ही संयम की आराधना मानी गई है। **आणाए मामगं धम्मं**— आदि वचनों में आज्ञा और धर्म का सह-अस्तित्व बताया गया है, जहाँ आज्ञा है, वहीं धर्म है, जहाँ धर्म है वहाँ आज्ञा है। आज्ञा-विपरीत आचरण का अर्थ है—संयम-विरुद्ध आचरण। संयम से हीन साधक धर्म की प्ररूपणा करने में, ग्लानि—अर्थात् लज्जा का अनुभव करने लगता है। क्योंकि जब वह स्वयं धर्म का पालन नहीं करता, तो उसका उपदेश करने का साहस कैसे करेगा ? उसमें आत्मविश्वास की कमी हो जायेगी, तथा हीनता की भावना से स्वयं ही आक्रांत हो जायेगा। अगर दुस्साहस करके धर्म की बातें करेगा तब भी उसकी वाणी में लज्जा, भय और असत्य की गंध छिपी रहेगी।

अगले सूत्र में आज्ञा की आराधना करने वाले मुनि के विषय में बताया है—वही सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करता है, जो वीतराग की आज्ञा का आराधक है। वह वास्तव में वीर (निर्भय) होता है, धर्म का उपदेश करने में कभी हिचकिचाता नहीं। उसकी वाणी में भी सत्य का प्रभाव व ओज गूँजता है।

लोग संजोगं—का तात्पर्य है—वह वीर साधक धर्माचरण करता हुआ संसार के संयोगों—बंधनों से मुक्त हो जाता है।

संयोग दो प्रकार के हैं—(१) बाह्य संयोग—धन, भवन, पुत्र, परिवार आदि।

---

१. 'अणण्णरामे' पाठान्तर है।　　　२. चूर्णि में पाठान्तर—"से णियमा अणण्णदिट्ठी।"

(२) आभ्यन्तर संयोग—राग-द्वेष, कषाय, आठ प्रकार के कर्म आदि। आज्ञा का आराधक संयमी उक्त दोनों प्रकार के संयोगों से मुक्त होता है।

एस णाए—शब्द से दो अभिप्राय है—यह न्याय मार्ग (सन्मार्ग) है, तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मार्ग है। सूत्रकृत् में भी **नेआउयं सुअक्खायं**[1] एवं **"सिद्धि पहं णेयाउयं धुवं"**[2] पद द्वारा सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का तथा मोक्ष स्थान का सूचन किया गया है।

एष नायकः—यह—आज्ञा में चलने वाला मुनि मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने वाला नायक—नेता है। यह दूसरा अर्थ है।[3]

जं दुक्खं पवेदितं—पद में दुःख शब्द से दुःख के हेतुओं का भी ग्रहण किया गया है। दुःख का हेतु राग-द्वेष है अथवा राग-द्वेषात्मक वृत्ति से आकृष्ट—बद्ध कर्म है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार जन्म और मरण दुःख है और जन्म-मरण का मूल है—कर्म।[4] अतः कर्म ही वास्तव में दुःख है। कुशल पुरुष उस दुःख की परिज्ञा—अर्थात् दुःख से मुक्त होने का विवेक/ज्ञान बताते हैं।

इह कम्मं परिन्नाय सव्वसो—इस पद का एक अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है, 'साधक कर्म को, अर्थात् दुख के समस्त कारणों को सम्यक्तया जानकर फिर उसका सर्व प्रकार से उपदेश करे।

अणण्णदंसी अणण्णारामे—ये दोनों शब्द आध्यात्मिक रहस्य के सूचक प्रतीत होते हैं। अध्यात्म की भाषा में चेतन को 'स्व' तथा जड़ को 'पर'—अन्य कहा गया है। परिग्रह, कषाय, विषय आदि सभी 'अन्य' है। 'अन्य' से अन्य—अनन्य है, अर्थात् चेतन का स्वरूप, आत्म-स्वभाव, यह अनन्य है। जो इस अनन्य को देखता है, वह इस अनन्य में, आत्मा में रमण करता है। जो आत्म-रमण करता है, वह आत्मा को देखता है। आत्म-रमण एवं आत्म-दर्शन का यह क्रम है कि जो पहले आत्म-दर्शन करता है, वह आत्म-रमण करता है। जो आत्म-रमण करता है, वह फिर अत्यन्त निकटता से, अति सूक्ष्मता व तन्मयता से सर्वांग आत्म-दर्शन कर लेता है।

रत्नत्रय की भाषा-शैली में इस प्रकार भी कहा जा सकता है, 'आत्मा को जानना—देखना सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन और आत्मा में रमण करना सम्यक् चारित्र है।

उपदेश-कौशल

१०२. जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति।
जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति।
अवि य हणे अणातियमाणे। एत्थं पि जाण सेयं ति णत्थि।
केऽयं पुरिसे कं च णए।

---

१. श्रु० १ अ० ८ गा० ११। २. श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० २१।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १३१।१।
४. कम्मं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयन्ति—३२।७

१०३. एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए,
उड्ढं अहं तिरियं दिसासु,
से सव्वतो सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पति छणपदेण वीरे।

१०४. से मेधावी जे अणुग्घातणस्स[1] खेत्तण्णे जे य बंधपमोक्खमण्णेसी।
कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के।
से जं च आरंभे, जं च णारभे, अणारद्धं च ण आरभे।
छणं छणं परिण्णाय लोगसण्णं च सव्वसो।

१०२. (आत्मदर्शी) साधक जैसे पुण्यवान (सम्पन्न) व्यक्ति को धर्म-उपदेश करता है, वैसे ही तुच्छ (विपन्न-दरिद्र) को भी धर्म उपदेश करता है और जैसे तुच्छ को धर्मोपदेश करता है, वैसे ही पुण्यवान को भी धर्मोपदेश करता है।

कभी (धर्मोपदेश-काल में किसी व्यक्ति या सिद्धान्त का) अनादर होने पर वह (श्रोता) उसको (धर्मकथी को) मारने भी लग जाता है। अतः यहाँ यह भी जाने (उपदेश की उपयुक्त विधि जाने विना) धर्म कथा करना श्रेय नहीं है।

पहले धर्मोपदेशक को यह जान लेना चाहिए कि यह पुरुष (श्रोता) कौन है? किस देवता को (किस सिद्धान्त को) मानता है।

१०३. वह वीर प्रशंसा के योग्य है, जो (समीचीन धर्म कथन करके) बद्ध मनुष्यों को मुक्त करता है।

वह (कुशल साधक) ऊँची दिशा, नीची दिशा और तिरछी दिशाओं में, सब प्रकार से समग्र परिज्ञा/विवेकज्ञान के साथ चलता है। वह हिंसा-स्थान से लिप्त नहीं होता।

१०४. वह मेधावी है, जो अनुद्घात—अहिंसा का समग्र स्वरूप जानता है, तथा जो कर्मों के बंधन से मुक्त होने की अन्वेषणा करता है।

कुशल पुरुष न बंधे हुए हैं और न मुक्त हैं। उन कुशल साधकों ने जिसका आचरण किया है और जिसका आचरण नहीं किया है (यह जानकर, श्रमण) उनके द्वारा अनाचरित प्रवृत्ति का आचरण न करे।

हिंसा और हिंसा के कारणों को जानकर उनका त्याग करदे। लोक-संज्ञा को भी सर्व प्रकार से जाने और छोड़ दे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में धर्म-कथन करने की कुशलता का वर्णन है। तत्त्वज्ञ उपदेशक

---

१. (क) 'अणुग्घायणस्स खेयण्णे' 'अणुग्घातण खेतण्णे'—पाठान्तर है।
(ख) टीकाकार ने 'अण' का अर्थ कर्म तथा 'उद्घातन' का 'क्षय करना' अर्थ करके **'अणोद्घातन खेदज्ञ'** का कर्म क्षय करने के मार्ग या रहस्य का ज्ञाता' अर्थ किया है। —टीका पत्र १३३

धर्म के तत्त्व को निर्भय होकर समभाव पूर्वक उपदेश करता है। सामने उपस्थित श्रोता समूह (परिषद्) में चाहे कोई पुण्यवान—धन आदि से सम्पन्न है, चाहे कोई गरीब, सामान्य स्थिति का व्यक्ति है। साधक धर्म का मर्म समझाने में उनमें कोई भेदभाव नहीं करता। वह निर्भय, निस्पृह और यथार्थवादी होकर दोनों को समानरूप से धर्म का उपदेश देता है।

पुण्णस्स—शब्द का 'पूर्णस्य' अर्थ भी किया जाता है। पूर्ण की व्याख्या टीका में इस प्रकार की है—

> ज्ञानैश्वर्य-धनोपेतो　　　जात्यन्वयबलान्वितः।
> तेजस्वी मतिवान् ख्यातः पूर्णस्तुच्छोविपर्ययात्॥

—जो ज्ञान, प्रभुता, धन, जाति और बल से सम्पन्न हो, तेजस्वी हो, बुद्धिमान् हो, प्रख्यात हो, उसे 'पूर्ण' कहा गया है। इसके विपरीत तुच्छ समझना चाहिए।

सूत्र के प्रथम चरण में वक्ता की निस्पृहता तथा समभावना का निदर्शन है, किन्तु उत्तर चरण में बौद्धिक कुशलता की अपेक्षा बताई गई है। वक्ता समयज्ञ और श्रोता के मानस को समझने वाला होना चाहिए। उसे श्रोता की योग्यता, उसकी विचारधारा, उसका सिद्धान्त तथा समय की उपयुक्तता को समझना बहुत आवश्यक है। वह द्रव्य से—समय को पहचाने, क्षेत्र से—इस नगर में किस धर्म सम्प्रदाय का प्रभाव है, यह जाने। काल से—परिस्थिति को परखे, तथा भाव से—श्रोता के विचारों व मान्यताओं का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करे।

इस प्रकार का कुशल पर्यवेक्षण किये बिना ही अगर वक्ता धर्म-कथन करने लगता है तो कभी संभव है, अपने संप्रदाय या मान्यताओं का अपमान समझकर श्रोता उलटा वक्ता को ही मारने-पीटने लगे। और इस प्रकार धर्म-वृद्धि के स्थान पर क्लेश-वृद्धि का प्रसंग आ जाये। शास्त्रकार ने इसीलिए कहा है कि इस प्रकार उपदेश कुशलता प्राप्त किये बिना उपदेश न देना ही श्रेय है। अविधि या अकुशलता से कोई भी कार्य करना उचित नहीं, उससे तो न करना अच्छा है।

टीकाकार ने चार प्रकार की कथाओं का निर्देश करके बताया है कि बहुश्रुत वक्ता—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी—चारों प्रकार की कथा कर सकता है। अल्पश्रुत (अल्पज्ञानी) वक्ता सिर्फ संवेदनी (मोक्ष की अभिलाषा जागृत करने वाली) तथा निर्वेदनी (वैराग्य प्रधान) कथा ही करें। वह आक्षेपणी (स्व-सिद्धान्त का मण्डन करने वाली) तथा विक्षेपणी (पर-सिद्धान्त का निराकरण-निरसन करने वाली) कथा न करें। अल्पश्रुत के लिए प्रारंभ की दो कथाएँ श्रेयस्कर नहीं है।

सूत्र १०४ में कुशल धर्म कथक को विशेष निदेश दिये गये हैं। वह अपनी कुशल धर्म-कथा के द्वारा विषय-आसक्ति में बद्ध अनेक मनुष्यों को प्रतिबोध देकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर देता है। वास्तव में बंधन से मुक्त होना तो आत्मा के अपने ही पुरुषार्थ से संभव है[1] किन्तु धर्म-कथक उसमें प्रेरक बनता है, इसलिए उसे एक नय से बन्ध-मोचक कहा जाता है।

---

१. बंधप्पमोक्खोतुज्झ अज्झत्थमेव—आचारांग—सूत्र १५५

अणुग्घातणस्स खेतण्णे—इस पद के दो अर्थ हो सकते हैं। टीकाकार ने—'कर्म प्रकृति के मूल एवं उत्तर भेदों को जानकर उन्हें क्षीण करने का उपाय जानने वाला' यह अर्थ किया है।[1]

उद्घात-घात ये हिंसा के पर्यायवाची नाम हैं। अतः 'अन+उद्+घात' अनुद्घात का अर्थ अहिंसा व संयम भी होता है। साधक अहिंसा व संयम के रहस्यों को सम्यक् प्रकार से जानता है, अतः वह भी अनुद्घात का खेदज्ञ कहलाता है।

बंधप्पमोक्खमण्णेसी—इस पद का पिछले पद से सम्बन्ध करते हुए कहा गया है—जो कर्मों का समग्र स्वरूप या अहिंसा का समग्र रहस्य जानता है, वह बंधन से मुक्त होने के उपायों का अन्वेषण/आचरण भी करता है। इस प्रकार ये दोनों पद ज्ञान-क्रिया की समन्विति के सूचक हैं।

कुसले पुण णो बद्धे—यह वाक्य भी रहस्यात्मक है। टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—कर्म का ज्ञान व मुक्ति की खोज—ये दोनों आचरण छद्मस्थ साधक के हैं। जो केवली हो चुके हैं, वे तो चार घातिकर्मों का क्षय कर चुके हैं, उनके लिए यह पद है। वे कुशल (केवली) चार कर्मों का क्षय कर चुके हैं अतः वे न तो सर्वथा बद्ध कहे जा सकते हैं और न सर्वथा मुक्त, क्योंकि उनके चार [2]भवोपग्राही कर्म शेष है।[3]

'कुशल' शब्द आगमों में अनेक स्थानों पर अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं तत्वज्ञ[4] को कुशल कहा है, कहीं आश्रवादि के हेय-उपादेय स्वरूप के जानकार को।[5] सूत्रकृतांग वृत्ति के अनुसार 'कुश' अर्थात् आठ प्रकार के कर्म, कर्म का छेदन करने वाले 'कुशल' कहलाते हैं।[6] यहाँ पर 'कुशल' शब्द तीर्थंकर भगवान महावीर का विशेषण है।

वैसे, ज्ञानी, धर्म-कथा करने में दक्ष, इन्द्रियों पर विजय पाने वाला, विभिन्न सिद्धान्तों का पारगामी, परीषह-जयी, तथा देश-काल का ज्ञाता मुनि कुशल कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'कुशल' शब्द 'केवली' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

छणं-छणं—यह शब्द दो बार आने का प्रयोजन यह है कि हिंसा को, तथा हिंसा के कारणों को, तथा लोक-संज्ञा को समग्र रूप से जानकर उसका त्याग करे।[7]

१०५. उद्देसो पासगस्स णत्थि।

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति त्ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १३३
२. आयुष्य, वेदनीय, नाम, गोत्र—ये चार भवोपग्राही कर्म है।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १३३
४. आचा० १।२।२
५. भगवती श० २। उ० ५
६. सूत्रकृत १।६
७. आचा० टीका पत्रांक १३४।१

धर्म के तत्त्व को निर्भय होकर समभाव पूर्वक उपदेश करता है। सामने उपस्थित श्रोता समूह (परिषद्) में चाहे कोई पुण्यवान—धन आदि से सम्पन्न है, चाहे कोई गरीब, सामान्य स्थिति का व्यक्ति है। साधक धर्म का मर्म समझाने में उनमें कोई भेदभाव नहीं करता। वह निर्भय, निस्पृह और यथार्थवादी होकर दोनों को समानरूप से धर्म का उपदेश देता है।

पुण्णस्स—शब्द का **'पूर्णस्य'** अर्थ भी किया जाता है। पूर्ण की व्याख्या टीका में इस प्रकार की है—

ज्ञानैश्वर्य-धनोपेतो　　　जात्यन्वयबलान्वितः।
तेजस्वी मतिवान् ख्यातः पूर्णस्तुच्छोविपर्ययात् ॥

—जो ज्ञान, प्रभुता, धन, जाति और बल से सम्पन्न हो, तेजस्वी हो, बुद्धिमान् हो, प्रख्यात हो, उसे 'पूर्ण' कहा गया है। इसके विपरीत तुच्छ समझना चाहिए।

सूत्र के प्रथम चरण में वक्ता की निस्पृहता तथा समभावना का निदर्शन है, किन्तु उत्तर चरण में बौद्धिक कुशलता की अपेक्षा बताई गई है। वक्ता समयज्ञ और श्रोता के मानस को समझने वाला होना चाहिए। उसे श्रोता की योग्यता, उसकी विचारधारा, उसका सिद्धान्त तथा समय की उपयुक्तता को समझना बहुत आवश्यक है। वह द्रव्य से—समय को पहचाने, क्षेत्र से—इस नगर में किस धर्म सम्प्रदाय का प्रभाव है, यह जाने। काल से—परिस्थिति को परखे, तथा भाव से—श्रोता के विचारों व मान्यताओं का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करे।

इस प्रकार का कुशल पर्यवेक्षण किये विना ही अगर वक्ता धर्म-कथन करने लगता है तो कभी संभव है, अपने संप्रदाय या मान्यताओं का अपमान समझकर श्रोता उलटा वक्ता को ही मारने-पीटने लगे। और इस प्रकार धर्म-वृद्धि के स्थान पर क्लेश-वृद्धि का प्रसंग आ जाये। शास्त्रकार ने इसीलिए कहा है कि इस प्रकार उपदेश कुशलता प्राप्त किये विना उपदेश न देना ही श्रेय है। अविधि या अकुशलता से कोई भी कार्य करना उचित नहीं, उससे तो न करना अच्छा है।

टीकाकार ने चार प्रकार की कथाओं का निर्देश करके बताया है कि बहुश्रुत वक्ता—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी—चारों प्रकार की कथा कर सकता है। अल्पश्रुत (अल्पज्ञानी) वक्ता सिर्फ संवेदनी (मोक्ष की अभिलाषा जागृत करने वाली) तथा निर्वेदनी (वैराग्य प्रधान) कथा ही करें। वह आक्षेपणी (स्व-सिद्धान्त का मण्डन करने वाली) तथा विक्षेपणी (पर-सिद्धान्त का निराकरण-निरसन करने वाली) कथा न करें। अल्पश्रुत के लिए प्रारंभ की दो कथाएँ श्रेयस्कर नहीं है।

सूत्र १०४ में कुशल धर्म कथक को विशेष निदेश दिये गये हैं। वह अपनी कुशल धर्म-कथा के द्वारा विषय-आसक्ति में बद्ध अनेक मनुष्यों को प्रतिवोध देकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर देता है। वास्तव में वंधन से मुक्त होना तो आत्मा के अपने ही पुरुषार्थ से संभव है[1] किन्तु धर्म-कथक उसमें प्रेरक बनता है, इसलिए उसे एक नय से **बन्ध-मोचक** कहा जाता है।

---

१. वंधप्पमोक्खोतुज्झ अज्झत्थमेव—आचारांग—सूत्र १५५

अणुग्घातणस्स खेतण्णे—इस पद के दो अर्थ हो सकते हैं। टीकाकार ने—'कर्म प्रकृति के मूल एवं उत्तर भेदों को जानकर उन्हें क्षीण करने का उपाय जानने वाला' यह अर्थ किया है।[1]

उद्घात-घात ये हिंसा के पर्यायवाची नाम है। अतः 'अन+उद्+घात' अनुद्घात का अर्थ अहिंसा व संयम भी होता है। साधक अहिंसा व संयम के रहस्यों को सम्यक् प्रकार से जानता है, अतः वह भी अनुद्घात का खेदज्ञ कहलाता है।

बंधप्पमोक्खमण्णेसी—इस पद का पिछले पद से सम्बन्ध करते हुए कहा गया है—जो कर्मों का समग्र स्वरूप या अहिंसा का समग्र रहस्य जानता है, वह बंधन से मुक्त होने के उपायों का अन्वेषण/आचरण भी करता है। इस प्रकार ये दोनों पद ज्ञान-क्रिया की समन्विति के सूचक हैं।

कुसले पुण णो बद्धे—यह वाक्य भी रहस्यात्मक है। टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—कर्म का ज्ञान व मुक्ति की खोज—ये दोनों आचरण छद्मस्थ साधक के हैं। जो केवली हो चुके हैं, वे तो चार घातिकर्मों का क्षय कर चुके हैं, उनके लिए यह पद है। वे कुशल (केवली) चार कर्मों का क्षय कर चुके हैं अतः वे न तो सर्वथा बद्ध कहे जा सकते हैं और न सर्वथा मुक्त, क्योंकि उनके चार [2]भवोपग्राही कर्म शेष है।[3]

'कुशल' शब्द आगमों में अनेक स्थानों पर अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं तत्वज्ञ[4] को कुशल कहा है, कहीं आश्रवादि के हेय-उपादेय स्वरूप के जानकार को।[5] सूत्रकृतांग वृत्ति के अनुसार 'कुश' अर्थात् आठ प्रकार के कर्म, कर्म का छेदन करने वाले 'कुशल' कहलाते हैं।[6] यहाँ पर 'कुशल' शब्द तीर्थंकर भगवान महावीर का विशेषण है।

वैसे, ज्ञानी, धर्म-कथा करने में दक्ष, इन्द्रियों पर विजय पाने वाला, विभिन्न सिद्धान्तों का पारगामी, परीषह-जयी, तथा देश-काल का ज्ञाता मुनि कुशल कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'कुशल' शब्द 'केवली' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

छणं-छणं—यह शब्द दो बार आने का प्रयोजन यह है कि हिंसा को, तथा हिंसा के कारणों को, तथा लोक-संज्ञा को समग्र रूप से जानकर उसका त्याग करे।[7]

१०५. उद्देसो पासगस्स णत्थि।

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति त्ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १३३
२. आयुष्य, वेदनीय, नाम, गोत्र—ये चार भवोपग्राही कर्म है।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १३३
४. आचा० १।२।२
५. भगवती श० २। उ० ५
६. सूत्रकृत १।६
७. आचा० टीका पत्रांक १३४।१

१०५. द्रष्टा के लिए (सत्य का सम्पूर्ण दर्शन करने वाले के लिए) कोई उद्देश—(विधि-निषेध रूप विधान/निदेश) (अथवा उपदेश) नहीं है।

बाल—(अज्ञानी)। बार-बार विषयों में स्नेह (आसक्ति) करता है। काम-इच्छा और विषयों को मनोज्ञ समझकर (उनका सेवन करता है) इसलिए वह दुःखों का शमन नहीं कर पाता। वह शारीरिक एवं मानसिक[1] दुःखों से दुःखी बना हुआ दुःखों के चक्र[2] में ही परिभ्रमण करता रहता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ लोगविजय द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१. विषयों की तीव्र आसक्ति के कारण मानसिक उद्वेग, चिंता, व्याकुलता रहती है तथा विषयों के अत्यधिक सेवन से शारीरिक दुख—रोग, पीड़ा आदि उत्पन्न होते हैं।

२. चूर्णि में पाठ इस प्रकार है—दुक्खी दुक्खावट्टमेए अणुपरियट्टति—दुक्खाणं आवट्टो दुक्खावट्टो—चूर्णि (मुनि जम्बूविजयजी, टिप्पण पृ० ३०)

शीतोष्णीय—तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

✫ आचारांग सूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम 'शीतोष्णीय' है।

✫ शीतोष्णीय का अर्थ है—शीत (अनुकूल) और उष्ण (प्रतिकूल) परिषह आदि को समभावपूर्वक सहन करने से सम्बन्धित।

✫ श्रमणचर्या में बताये गये बाईस परिषहों में दो परिषह 'शीत-परिषह' हैं, जैसे 'स्त्री-परिषह, सत्कार-परिषह। अन्य बीस 'उष्ण-परिषह' माने गये हैं।[1]

✫ शीत से यहाँ 'भावशीत' अर्थ ग्रहण किया गया है; जो कि जीव का परिणाम या चिन्तन विशेष है। यहाँ चार प्रकार के भावशीत बताये गये हैं[2]—(१) मन्दपरिणामात्मक परिषह, (२) प्रमाद (कार्य-शैथिल्य या शीतल-विहारता) का उपशम, (३) विरति (प्राणातिपात आदि से निवृत्ति, सत्रह प्रकार का संयम) और (४) सुख (सातावेदनीय कर्मोदयजनित)।

✫ उष्ण से भी यहाँ 'भाव-उष्ण' का ग्रहण किया गया है, वह भी जीव का परिणाम/चिन्तन विशेष है। निर्युक्तिकार ने भाव-उष्ण ८ प्रकार के बताये हैं[3]—(१) तीव्र-दुःसह परिणामात्मक प्रतिकूल परिषह, (२) तपस्या में उद्यम, (३) क्रोधादि कषाय, (४) शोक, (५) आधि (मानसिक व्यथा), (६) वेद (स्त्री-पुरुष-नपुंसक रूप), (७) अरति (मोहोदय-वश चित्त का विक्षेप) और (८) दुःख (असातावेदनीय कर्मोदयजनित)।

✫ शीतोष्णीय अध्ययन का सार है—मुमुक्षु साधक को भावशीत और भाव-उष्ण, दोनों को ही समभावपूर्वक सहन करना चाहिए, सुख में प्रसन्न और दुःख में खिन्न नहीं होना चाहिए अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में समभाव रखना चाहिए।

✫ इन्हीं भाव-शीत और भाव-उष्ण के परिप्रेक्ष्य में इस अध्ययन के चार उद्देशकों में वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. आचा० नि० गाथा २०१।

२. 'सीयं परीसहपमायुवसम विरई-सुहं तु चउण्हं।' —आ० निर्यु० गा० २०२

३. 'परीसहतवुज्जय कसाय सोगाहिवेयारइ-दुक्खं।' —आ० निर्यु० गा० २०२

- ☆ प्रथम उद्देशक में धर्मदृष्टि से जागृत और सुप्त की चर्चा की है। विशेषतः अप्रमाद और प्रमाद का, अनासक्ति और आसक्ति का विवेक बतलाया गया है।
- ☆ द्वितीय उद्देशक में सुख-दुःख के कारणों का तत्त्वबोध निरूपित किया है।
- ☆ तृतीय उद्देशक में साधक का कर्त्तव्यबोध निर्दिष्ट है।
- ☆ चौथे उद्देशक में कषायादि से विरति का उपदेश है।
- ☆ इस प्रकार चारों उद्देशकों में आत्मा के परिणामों में होने वाली भाव-शीतलता और भाव-उष्णता को लेकर विविध विषयों की चर्चा की गई है।[1]
- ☆ निष्कर्ष यह है कि तृतीय अध्ययन के चार उद्देशकों एवं छब्बीस सूत्रों में सहिष्णुता और अप्रमत्तता का स्वर गूंज रहा है।
- ☆ सूत्र संख्या १०६ से प्रारंभ होकर सूत्र १३१ पर तृतीय अध्ययन समाप्त होता है।

'सीओसणिज्जं' तइअं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

शीतोष्णीय; तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

सुप्त-जाग्रत

१०६. सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति ।
लोगंसि जाण अहियाय दुक्खं ।
समयं लोगस्स जाणित्ता एत्थ सत्थोवरते ।

१०६. अमुनि (अज्ञानी) सदा सोये हुए हैं, मुनि (ज्ञानी) सदैव जागते रहते हैं।

इस बात को जानलो कि लोक में अज्ञान (दुःख) अहित के लिए होता है।

लोक (षड् जीव-निकायरूप संसार) में इस आचार (समत्वभाव) को जानकर (संयमी पुरुष) (संयम में बाधक—हिंसा, अज्ञानादि) जो शस्त्र हैं, उनसे उपरत रहे।

विवेचन—यहाँ 'मुनि' शब्द सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि एवं मोक्ष-मार्ग-साधक के अर्थ में प्रयुक्त है। जिन्होंने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग रूप भाव-निद्रा का त्याग कर दिया है, जो सम्यक्बोध प्राप्त हैं और मोक्ष-मार्ग से स्खलित नहीं होते, वे मुनि हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से ग्रस्त हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, वे 'अमुनि'—अज्ञानी हैं। यहाँ भाव-निद्रा की प्रधानता से अज्ञानी को सुप्त और ज्ञानी को जागृत कहा गया है।

सुप्त दो प्रकार के हैं—द्रव्यसुप्त और भावसुप्त। निद्रा-प्रमादवान् द्रव्यसुप्त है। जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि रूप महानिद्रा से व्यामोहित हैं, वे भावसुप्त हैं। अर्थात् जो आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से बिलकुल शून्य, मिथ्यादृष्टि, असंयमी और अज्ञानी हैं, वे जागते हुए भी भाव से—आन्तरिक दृष्टि से सुप्त हैं। जो कुछ सुप्त हैं, कुछ जागृत हैं, संयम के मध्यबिन्दु में हैं, वे देशविरत श्रावक सुप्त-जागृत हैं. और जो पूर्ण रूप से जागृत हैं उत्कृष्ट संयमी और ज्ञानी हैं, वे जागृत हैं।

वृत्तिकार ने मुनि का निर्वचन इस प्रकार किया है—जो जगत् की त्रैकालिक अवस्था पर मनन करता है या उन्हें जानता है, वह मुनि है।[1] जो जगत की त्रैकालिक गति-

---

१. 'मन्यते मनुते वा जगतः त्रिकालावस्थां मुनिः।' —आचा० शीला० टीका पत्रांक १३७

विधियों को जानता है, वही लोकाचार या जगत के भोगाभिलाषी स्वभाव को अथवा 'विश्व की समस्त आत्मा एक समान हैं'—इस समत्व-सूत्र को जानकर, हिंसा, मिथ्यात्व अज्ञानादि शस्त्रों से दूर रहता है।

यहाँ 'सुप्त' शब्द भावसुप्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भावसुप्त वह होता है, जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, प्रमाद आदि के कारण हिंसादि में सदा प्रवृत्त रहता है।

जो दीर्घ संयम के आधारभूत शरीर को टिकाने के लिए आचार्य-गुरु आदि की आज्ञा से द्रव्य से सोते; निद्राधीन होते हुए भी आत्म-स्वरूप में जागृत रहते हैं, वे धर्म की दृष्टि से जागृत हैं। अथवा भाव से जागृत साधक, निद्रा-प्रमादवश सुषुप्त होते हुए भी भावसुप्त नहीं कहलाता। यहाँ भावसुप्त एवं भावजागृत—दोनों अवस्थाएँ धर्म की अपेक्षा से कही गयी हैं।[1]

अज्ञान दुःख का कारण है, इसलिए यहाँ 'अज्ञान' के स्थान पर 'दुःख' शब्द का प्रयोग किया गया है। चूर्णिकार ने दुःख का अर्थ 'कर्म' किया है। उन्होंने बताया है कि कर्म दुःख का कारण है। अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म आदि से सम्बन्धित भी है, इसलिए प्रसंगवश दुःख का अर्थ यहाँ अज्ञान भी किया जा सकता है।

'समय' शब्द[2] यहाँ प्रसंगवश दो अर्थों को अभिव्यक्त करता है—आचार और समता। लोक प्रचलित आचार या रीति-रिवाज साधक को जानना आवश्यक है। संसार के प्राणी भोगाभिलाषी होने के कारण प्राणि-विघातक एवं कषायहेतुक लोकाचार के कारण अनेक कर्मों का संचय करके नरकादि यातना-स्थानों में उत्पन्न होते हैं। कदाचित् कर्मफल भोगने के बाद वे धर्म प्राप्ति के कारण मनुष्य-जन्म, आर्य-क्षेत्र आदि में पैदा होते हैं, लेकिन फिर महामोह, अज्ञानादि अन्धकार के वश अशुभकर्म का उपार्जन करके अधोगतियों में जाते हैं। संसार के जन्म-मरण के चक्र से नहीं निकल पाते। यह है—लोकाचार। इस लोकाचार (समय) को जानकर हिंसा से उपरत होना चाहिए।

इसी प्रकार लोक (समस्त जीव समूह) में शत्रु-मित्रादि के प्रति अथवा समस्त आत्माओं के प्रति समता (समभाव—आत्मौपम्य दृष्टि) जान कर हिंसा आदि शस्त्रों से विरत होना चाहिए।

---

१. भगवती सूत्र में जयंती श्राविका और भगवान् महावीर का सुप्त और जागृत के विषय में एक संवाद आता है। जयन्ती श्राविका प्रभु से पूछती है—"भंते ! सुप्त अच्छे या जागृत ?"
भगवान् ने धर्मदृष्टि से अनेकान्तशैली में उत्तर दिया—"जो धर्मिष्ठ हैं, उनका जागृत रहना श्रेयस्कर है और जो अधर्मिष्ठ हैं, पापी हैं, उनका सुप्त (सोये) रहना अच्छा।"
यहाँ सुप्त और जागृत द्रव्यदृष्टि से है, भावदृष्टि से नहीं। —शतक १२। उ० २

२. देखिये 'समय' शब्द के विभिन्न अर्थ अमरकोष में—
"समया शपथाचारकाल-सिद्धान्त संविदः"
समय के अर्थ हैं—शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त और संविद् (प्रतिज्ञा या शर्त)।

अरति-रति-त्याग

१०७. जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमण्णागता भवंति[1] से आतवं णाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पण्णाणेहिं परिजाणति लोगं, मुणी ति वच्चे धम्मविदु त्ति अंजू आवट्टसोए संगमभिजाणति।

सीतोसिणच्चागी से णिग्गंथे अरति-रतिसहे फारुसियं णो वेदेति, जागर-वेरोवरते वीरे! एवं दुक्खा पमोक्खसि।

१०७. जिस पुरुष ने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को सम्यक्प्रकार से परिज्ञात कर लिया है, (जो उनमें राग-द्वेष न करता हो), वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान् (आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता), धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है। जो पुरुष अपनी प्रज्ञा (विवेक) से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है। वह धर्मवेत्ता और ऋजु (सरल) होता है।

(वह आत्मवान् मुनि) संग (आसक्ति) को आवर्त-स्रोत (जन्म-मरणादि चक्र के स्रोत—उद्‌गम) के रूप में बहुत निकट से जान लेता है।

वह निर्ग्रन्थ शीत और उष्ण (सुख और दुःख) का त्यागी (इनकी लालसा) से मुक्त होता है तथा वह अरति और रति को सहन करता है (उन्हें त्यागने में पीड़ा अनुभव नहीं करता) तथा स्पर्शजन्य सुख-दुःख का वेदन (आसक्तिपूर्वक अनुभव) नहीं करता।

जागृत (सावधान) और वैर से उपरत वीर! तू इस प्रकार (ज्ञान, अनासक्ति, सहिष्णुता, जागरूकता और समता-प्रयोग द्वारा) दुःखों—दुःखों के कारण कर्मों से मुक्ति पा जाएगा।

विवेचन—इस सूत्र में पंचेन्द्रिय-विषयों के यथावस्थित स्वरूप के ज्ञाता तथा उनके त्यागी को ही मुनि, निर्ग्रन्थ एवं वीर बताया गया है।

अभिसमन्वागत का अर्थ है—जो विषयों के इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप को—स्वरूप को, उनके उपभोग के दुष्परिणामों को आगे-पीछे से, निकट और दूर से ज्ञ-परिज्ञा से भलीभाँति जानता है तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करता है।

आत्मवान् का अर्थ है—ज्ञानादिमान् अथवा शब्दादि विषयों का परित्याग करके आत्मा की रक्षा करने वाला।

ज्ञानवान् का अर्थ है—जो जीवादि पदार्थों का यथावस्थित ज्ञान कर लेता है।

वेदवान् का अर्थ है—जीवादि का स्वरूप जिनसे जाना जा सके, उन वेदों—आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता।

---

१. यहाँ पाठान्तर में **'आयवी', 'नाणवी', 'वेयवी', 'धम्मवी', 'बंभवी'**, मिलता है जिसका अर्थ होता है —वह आत्मविद्, ज्ञानवित्, आचारादिक आगमों का वेत्ता (वेदवित्), धर्मवित् और ब्रह्म (१८ प्रकार के ब्रह्मचर्य) का वेत्ता होता है।

धर्मवान् वह है—जो श्रुत-चारित्ररूप धर्म का अथवा साधना की दृष्टि से आत्मा के स्वभाव (धर्म) का ज्ञाता) है।[1]

ब्रह्मवान् का अर्थ है—जो अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य से सम्पन्न है।[2]

इस सूत्र का आशय यह है कि जो पुरुष शब्दादि विषयों को भलीभाँति जान लेता है, उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, धर्मवित् एवं ब्रह्मवित् होता है।

वस्तुतः शब्दादि विषयों की आसक्ति, आत्मा की अनुपलब्धि अर्थात् आत्म-स्वरूप के बोध के अभाव में होती है। जो इन पर आसक्ति नहीं रखता, वही आत्मा की भलीभाँति उपलब्धि कर लेता है। जो आत्मा को उपलब्ध कर लेता है, उसे ज्ञान–आगम, धर्म और ब्रह्म (आत्मा) का ज्ञान हो जाता है।

'जो प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है', इस वाक्य का तात्पर्य है, जो साधक मति-श्रुतज्ञानजनित सद्-असद् विवेकशालिनीबुद्धि से प्राणिलोक या प्राणियों के आधारभूत लोक (क्षेत्र) को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह मुनि कहलाता है। वृत्तिकार ने मुनि का निर्वचन इस प्रकार किया है—'जो जगत् की त्रिकालावस्था-गतिविधि का मनन करता है, जानता है, वह मुनि है'। 'ज्ञानी' के अर्थ में यहाँ 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

ऋजु का अर्थ है—जो पदार्थों का यथार्थस्वरूप जानने के कारण सरलात्मा है, समस्त उपाधियों से या कपट से रहित होने से सरल गति—सरल मति है।

आवर्त स्रोत का आशय है—जो भाव-आवर्त्त का स्रोत—उद्‌गम है। जन्म-जरा-मृत्यु-रोग शोकादि दुःखरूप संसार को यहां भाव-आवर्त (भंवरजाल) कहा गया है।[4] इसका उद्‌गम स्थल है—विषयासक्ति।

---

१. 'धर्मवित्' का व्युत्पत्त्यर्थ देखिए—**'धर्मं चेतनाचेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित्'**—"जो धर्म को—चेतन-अचेतन द्रव्य के स्वभाव को या श्रुत-चारित्ररूप धर्म को—जानता है, वह धर्मवित् है।" —आचा० टीका० पत्रांक १३९

२. (क) समवायांग १८।
(ख) **दिवा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।**
ओरालिया उ वि तहा तं बंभं अट्ठदसभेयं॥
अर्थात्—देव-सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काया से सेवन न करना, दूसरों से न कराना तथा करते हुए को भला न जानना, इस प्रकार नौ भेद हो जाते हैं। औदारिक अर्थात् मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी भोगों के लिए भी इसी प्रकार नौ भेद हैं। कुल मिलाकर अठारह भेद हो जाते हैं। —(प्रवचन सारोद्धार, द्वार १६८ गाथा १०६१)

३. देखें टिप्पण पृ० ८५ पर

४. **रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम्।**
जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम्॥
अर्थात्—राग-द्वेष की प्रचण्ड तरंगों से घिरा हुआ, मिथ्यादर्शन के कारण दुस्तर यह जगत जन्म-मरणादि रूप आवर्त—भंवरजाल में पड़ा है। प्रमाद उसे अत्यन्त परिभ्रमण कराता है।
—आचा० टीका पत्रांक १४०

'संग'-विषयों के प्रति राग-द्वेष रूप सम्बन्ध, लगाव या आसक्ति।

शीतोष्ण-त्यागी का मतलब है—जो साधक शीत-परिषह और उष्ण-परिषह अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परिषह को सहन करता हुआ उनमें निहित वैषयिक सुख और पीड़ा-जनक दुःख की भावना का त्याग कर देता है। अर्थात् सुख-दुःख की अनुभूति से चंचल नहीं होता है।

'अरति-रतिसहे' का तात्पर्य है—जो संयम और तप में होनेवाली अप्रीति और अरुचि को समभावपूर्वक सहता है—उन पर विजय प्राप्त करता है, वह बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) से रहित निर्ग्रन्थ साधक है।

'फारुसियं णो वेदेति' का भाव है, वह निर्ग्रन्थ साधक परिषहों और उपसर्गों को सहने में जो कठोरता—कर्कशता या पीड़ा उत्पन्न होती है, वह उस पीड़ा को पीड़ा रूप में वेदन-अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह मानता है कि मैं तो कर्मक्षय करने के लिए उद्यत हूँ। मेरे कर्मक्षय करने में ये परिषह, उपसर्गादि सहायक हैं। वास्तव में अहिंसादि धर्म का आचरण करते समय कई कष्ट आते हैं, लेकिन अज्ञानीजन कष्ट का वेदन (Feeling) करता है, जबकि ज्ञानीजन कष्ट को तटस्थ भाव से जानता है परन्तु उसका वेदन नहीं करता।

'जागर' और 'वैरोपरत' ये दोनों 'वीर' के विशेषण हैं। जो साधक जागृत और वैर से उपरत है, वही वीर है—कर्मों को नष्ट करने में सक्षम है। वीर शब्द से उसे सम्बोधित किया गया है। 'जागर' शब्द का आशय है—असंयमरूप भावनिद्रा का त्याग करके जागने वाला।

अप्रमत्तता

१०८. जरा-मच्चुवसोवणीते णरे सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।
पासिय [1]आतुरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए।
मंता एयं मतिमं पास,
आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा,
मायी पमायी पुणरेति गब्भं।
उवेहमाणो सद्द-रूवेसु अंजू माराभिसंकी मरणा पमुच्चति।

१०९. अप्पमत्तो कामेहिं, उवरतो पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयण्णे। जे पज्जवजात-सत्थस्स खेतण्णे से असत्थस्स खेतण्णे। जे असत्थस्स खेतण्णे से पज्जवजातसत्थस्स खेतण्णे।

१०८. बुढ़ापे और मृत्यु के वश में पड़ा हुआ मनुष्य (शरीरादि के मोह से) सतत मूढ़ बना रहता है। वह धर्म को नहीं जान पाता।

(सुप्त) मनुष्यों को शारीरिक-मानसिक दुःखों से आतुर देखकर साधक सतत अप्रमत्त (जागृत) होकर विचरण करे।

हे मतिमान्! तू मननपूर्वक इन (भावसुप्त आतुरों-दुखियों) को देख।

---

१. पाठान्तर हैं—आतुरिए पाणे, आतुरपाणे।

यह दुःख आरम्भज—प्राणि-हिंसाजनित है, यह जानकर (तू निरारम्भ होकर अप्रमत्त भाव से आत्महित में प्रवृत्त रह)।

माया और प्रमाद के वश हुआ मनुष्य (अथवा मायी प्रमादवश) बार-बार जन्म लेता है—गर्भ में आता है।

शब्द और रूप आदि के प्रति जो उपेक्षा करता है—राग-द्वेष नहीं करता है, वह ऋजु (आर्जव-धर्मशील संयमी) होता है, वह मार (मृत्य या काम) के प्रति सदा आशंकित (सतर्क) रहता है और मृत्यु (मृत्यु के भय) से मुक्त हो जाता है।

१०९. जो काम-भोगों के प्रति अप्रमत्त है, पाप कर्मों से उपरत—मन-वचन-काया से विरत है; वह पुरुष वीर और आत्मगुप्त (आत्मा को सुरक्षित रखने वाला) होता है और जो (अपने आप में सुरक्षित होता है) वह, खेदज्ञ (इन काम-भोगों से प्राणियों को तथा स्वयं को होने वाले खेद का ज्ञाता) होता है, अथवा वह क्षेत्रज्ञ (अन्तरात्मा को जानने वाला) होता है।

जो (शब्दादि विषयों की) विभिन्न पर्यायसमूह के निमित्त से होने वाले शस्त्र (असंयम, आसक्ति रूप) के खेद (अन्तस्-हार्द) को जानता है, वह अशस्त्र (संयम—अनासक्ति रूप) के खेद (अन्तस्) को जानता है, वह (विषयों के विभिन्न) पर्यायों से होने वाले शस्त्र (असंयम) के खेद (अन्तस्) को जानता है।

विवेचन—इन सूत्रों में साधक को वृद्धत्व, मृत्यु आदि विभिन्न दुःखों से आतुर प्राणी की दशा एवं उसके कारणों और परिणामों पर गम्भीरता से विचार करने का निर्देश दिया गया है। साथ ही यह भी बताया है कि शब्द-रूपादि कामों के प्रति अनासक्त रहने वाला सरलात्मा मुनि मृत्यु के भय से विमुक्त हो जाता है।

यहाँ वृत्तिकार ने एक शंका उठाई है—देवता 'निर्जर' और 'अमर' कहलाते हैं, वे तो मोहमूढ़ नहीं होते होंगे और धर्म को भलीभाँति जान लेते होंगे? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि "देवता निर्जर कहलाते हैं, पर उनमें भी जरा का सद्भाव है, क्योंकि च्यवन-काल से पूर्व उनके भी लेश्या, बल, सुख, प्रभुत्व, वर्ण आदि क्षीण होने लगते हैं। यह एक तरह से जरावस्था ही है। और मृत्यु तो देवों की भी होती है, शोक, भय आदि दुःख भी उनके पीछे लगे हैं। इसलिए देव भी मोह-मूढ़ बन रहते हैं।"[1] आशय यह है कि जहाँ शब्द-

---

७. जैसा कि भगवती सूत्र में प्रश्नोत्तर है—"**देवाणं भंते ! सव्वे समवण्णा ?**
नो इणट्ठे समट्ठे।
से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?
गोयमा ! देवा दुविहा—पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य।
तत्थ णं जे ते पुव्वोवण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णयरा, जे णं पच्छोववण्णगा, तेणं विसुद्धवण्णयरा।
प्रश्न—भंते ! सभी देव समान वर्ण वाले होते हैं ?
उत्तर—यह कथन सम्भव नहीं।

रूपादि काम-भोगों के प्रति राग-द्वेषात्मक वृत्ति है, वहाँ प्रमाद, मोह, माया, मृत्यु-भय आदि अवश्यम्भावी हैं।

'आउरपाणे' का तात्पर्य है—शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के अथाह सागर में डूबे हुए, आतुर—किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने हुए प्राणिगण।

'माई' शब्द चार कषायों में से मध्यम कषाय का वाचक है। इसलिए उपलक्षण से आदि और अन्त के क्रोध, मान और लोभ कषाय का भी इससे ग्रहण हो जाता है। इस दृष्टि से वृत्तिकार मायी का अर्थ कषायवान् करते हैं।

'प्रमादी' का अर्थ मद आदि पाँचों या आठों प्रमादों से युक्त समझना चाहिए।

'उवेहमाणो', 'अंजू' और 'माराभिसंकी' ये तीन विशेषण अप्रमत्त एवं जागृत साधक के हैं। ऋजु सरलात्मा होता है, वही संयम को कष्टकारक न समझकर आत्मविकास के लिए आवश्यक समझता है और वही मृत्यु के प्रति सावधान भी रहता है कि अचानक मृत्यु आकर मुझे भयभीत न कर दे।

'मरणा पमुच्चति' का अर्थ है—मरण के भय से या दुःख से वह अप्रमत्त साधक मुक्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा के अमरत्व में उसकी दृढ़ आस्था होती है।

'अप्रमत्त' शब्द यहाँ भीतर में जागृत (चैतन्य की सतत स्मृति रखने वाला) और बाहर में (विषय-कषाय आदि आत्म-बाह्य पदार्थों के विषय में) सुप्त अर्थ में प्रयुक्त है।

सूत्र १०९ में शब्द-रूप आदि काम-भोगों से सावधान एवं जागृत रहने वाले तथा हिंसा आदि विभिन्न पाप कर्मों से विरत रहने वाले साधक को वीर, आत्मगुप्त और खेदज्ञ बताकर उसे शब्दादि कामों की विभिन्न पर्यायों से होने वाले शस्त्र (असंयम) और उससे विपरीत अशस्त्र (संयम) का खेदज्ञ बताया गया है।

'खेयण्णे'—इसके संस्कृत में दो रूप बनते हैं—खेदज्ञ और क्षेत्रज्ञ। यहाँ 'खेयन्ने' का 'क्षेत्रज्ञ' रूप अधिक संगत प्रतीत होता है, और क्षेत्र का अर्थ आत्मा या आकाश की अपेक्षा अन्तस् (हार्द) अर्थ प्रसंगानुसारी मालूम होता है।

शस्त्र और अशस्त्र से यहाँ असंयम और संयम अर्थ का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि असंयम—विभिन्न विषय भोगों में होने वाली आसक्तिरूप शस्त्र है, और संयम पापरहित अनुष्ठान होने से अशस्त्र है। निष्कर्ष यह है कि शस्त्र घातक होता है, अशस्त्र अघातक। जो

प्रश्न—भंते ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

उत्तर—'गौतम ! देव दो प्रकार के हैं—पूर्वोपपन्नक और पश्चाद्-उपन्नक। इनमें जो पूर्वोपपन्नक होते हैं, वे क्रमशः उत्तरोत्तर अविशुद्धतर वर्ण के होते हैं और जो पश्चाद्-उपपन्नक होते हैं, वे उत्तरोत्तर क्रमशः विशुद्धतर वर्ण के होते हैं। इसी प्रकार लेश्या आदि के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। च्यवनकाल में सभी के निम्नलिखित बातें होती हैं—"माला का मुरझाना, कल्पवृक्ष का कम्पन, श्री और ह्री का नाश, वस्त्रों के उपराग का ह्रास, दैन्य, तन्द्रा, कामराग, अंगभंग, दृष्टिभ्रान्ति, कम्पन और अरति।

इसलिए देवों में भी जरा और मृत्यु का अस्तित्त्व है। —आचा० वृत्ति पत्रांक १४०

इष्ट-अनिष्ट शब्दादि विषयों के सभी पर्यायों (प्रकारों या विकल्पों) को, उनके संयोग-वियोग को शस्त्रभूत—असंयम को जानता है, वह संयम को अविघातक एवं स्वपरोपकारी होने से अशस्त्रभूत समझता है। शस्त्र और अशस्त्र दोनों को भलीभाँति जानकर अशस्त्र को प्राप्त करता है, शस्त्र का त्याग करता है।

लोक-संज्ञा का त्याग

११०. अकम्मस्स ववहारो ण विज्जति।
कम्मुणा[1] उवाधि जायति।

१११. कम्मं च पडिलेहाए कम्ममूलं च जं छणं,[2]
पडिलेहिय[3] सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिण्णाय मेधावी विदित्ता लं वंता लोगसण्णं से मतिमं[4] परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

११०. कर्मों से मुक्त (अकर्म-शुद्ध) आत्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता। कर्म से उपाधि होती है।

१११. कर्म का भलीभाँति पर्यालोचन करके (उसे नष्ट करने का प्रयत्न करे)। कर्म का मूल (मिथ्यात्व आदि और) जो क्षण—हिंसा है, उसका भलीभाँति निरीक्षण करके (परित्याग करे)।

इन सबका (पूर्वोक्त कर्म और उनसे सम्बन्धित कारण और निवारण का) सम्यक् निरीक्षण करके संयम ग्रहण करे तथा दो (राग और द्वेष) अन्तों से अदृश्य (दूर) होकर रहे।

---

१. 'उवहिं', 'कम्मुणा उवधि', इस प्रकार के पाठान्तर भी मिलते हैं। चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या इ प्रकार की है—"**कम्मुणा उवधि, उवधी तिविहो—आतोवही, कम्मोवही, सरीरोवही, तत्थ अप्प दुप्पउत्तो आतोवही, ततो कम्मोवही भवति, ततो सरीरोवही भवति, सरीरोवहीओ य ववहरिज्जति तंजहा····नेरइओ एवमादि।**" कर्म से उपधि होती है। उपधि तीन प्रकार की है—आत्मोपधि कर्मोपधि और शरीरोपधि। जब आत्मा विषय-कषायादि में दुष्प्रयुक्त होता है, तब आत्मोपधि—आत्मा परिग्रह रूप होता है। तब कर्मोपधि का संचय होता है, और कर्म से शरीरोपधि होती है शरीरोपधि को लेकर नैरयिक, मनुष्य आदि व्यवहार (संज्ञा) होता है।

२. '**कम्ममाहूय जं छणं**' इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है। उसका भावार्थ यह है कि जिस क्षण, अज्ञान प्रमाद आदि के कारण कर्मबन्धन की हेतु रूप कोई प्रवृत्ति हो जाए तो सावधान साधक तत्क्षण उसके मूल कारण की खोज करके उससे निवृत्त हो जाए।

३ '**पडिलेहिय सव्वं समायाय**' इसके स्थान पर चूर्णि में '**पडिलेहेहि य सव्वं समायाए**' पाठ मिलता है। इसका अर्थ है—भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण करके पूर्वोक्त कर्म और उसके सब उपादान रूप तत्त्वों का निवारण करे।

४. किसी-किसी प्रति में '**मतिमं (मइमं)**' के स्थान पर '**मेधावी**' शब्द मिलता है, उसका प्रसंगवश अर्थ किया गया है—मेधावी—मर्यादावस्थित होकर साधक संयम पालन में पराक्रम करे।

मेधावी साधक उसे (राग-द्वेषादि को) ज्ञात करके (ज्ञपरिज्ञा से जाने और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़े)।

वह मतिमान् साधक (रागादि से मूढ़ या विषय-कषाय में ग्रस्त) लोक को जानकर लोक-संज्ञा (विषयैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि) का त्याग करके (संयमानुष्ठान में) पराक्रम करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इन दोनों सूत्रों में कर्म और उसके संयोग से होने वाली आत्मा की हानि, कर्म के उपादान (राग-द्वेष), बन्ध के मूल कारण आदि को भलीभाँति जानकर उसका त्याग करने का निर्देश किया है। अन्त में कर्मों के बीज—राग और द्वेष रूप दो अन्तों का परित्याग करके (विषय-कषायरूप लोक) को जानकर लोक-संज्ञा को छोड़कर संयम में उद्यम करने की प्रेरणा दी है।

जो सर्वथा कर्ममुक्त हो जाता है, उसके लिए नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, बाल, वृद्ध, युवक, पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि व्यवहार—व्यपदेश (संज्ञाएं) नहीं होता।

जो कर्मयुक्त है, उसके लिए ही कर्म को लेकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि की या एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की, मन्दबुद्धि, तीक्ष्णबुद्धि, चक्षुदर्शनी आदि, सुखी-दुःखी, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, स्त्री-पुरुष, कषायी, अल्पायु-दीर्घायु, सुभग-दुर्भग, उच्चगोत्री-नीचगोत्री, कृपण-दानी, सशक्त-अशक्त आदि उपाधि—व्यवहार या विशेषण होता है। इन सब विभाजनों (विभेदों और व्यवहारों का हेतु कर्म है) इसलिए कर्म ही उपाधि का कारण है।

'**कम्मं च पडिलेहाए**' का तात्पर्य है—कर्म का स्वरूप, कर्मों की मूल प्रकृति-उत्तर-प्रकृतियाँ, कर्मबन्ध के कारण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप बन्ध के प्रकार, कर्मों का उदय, उदीरणा, सत्ता आदि तथा कर्मों के क्षय एवं आस्रव-संवर के स्वरूप का भलीभाँति चिन्तन-निरीक्षण करके कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए।

'**कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय**' का अर्थ है—कर्मबन्ध के मूल कारण पाँच हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। इन कर्मों के मूल का विचार करे। '**क्षण**' का अर्थ क्षणन-हिंसन है, अर्थात् प्राणियों को पीड़ाकारक जो प्रवृत्ति है, उसका भी निरीक्षण करे एवं परित्याग करे। इसका एक सरल अर्थ यह भी होता है—कर्म का मूल हिंसा है अथवा हिंसा का मूल कर्म है। दो अन्त अर्थात किनारे हैं—राग और द्वेष।

'**अदिस्समाणे**' का शब्दशः अर्थ होता है—अदृश्यमान। इससे सम्बन्धित वाक्य का तात्पर्य हैं—राग आर द्वेष से जीव दृश्यमान होता है, शीघ्र पहिचान लिया जाता है, परन्तु वीतराग राग और द्वेष इन दोनों से दृश्यमान नहीं होता। अथवा यहाँ साधक को यह चेतावनी दी गयी है कि वह राग और द्वेष—इन दोनों अन्तों का स्पर्श करके रागी के और द्वेषी संज्ञा से (अदिश्यमान) व्यपदिष्ट न हो।

'लोक-संज्ञा' का भावार्थ यों है—प्राणिलोक की आहारादि चार संज्ञाएँ अथवा दस संज्ञाएँ। वैदिक धर्मग्रन्थों में वित्तैषणा, कामैषणा (पुत्रैषणा) और लोकैषणा रूप जो तीन एषणाएँ बताई हैं, वे भी लोकसंज्ञा हैं। लोकसंज्ञा का संक्षिप्त अर्थ 'विषयासक्ति' भी हो सकता है।

'लोक' से यहाँ तात्पर्य—रागादि मोहित लोक या विषय-कषायलोक से है।

'परक्कमेज्जासि' से संयम, तप, त्याग, धर्माचरण आदि में पुरुषार्थ करने का निर्देश है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

बंध-मोक्ष-परिज्ञान

११२. जातिं च वुड्ढिं च इहऽज्ज पास, भूतेहिं जाण पडिलेह सातं।
तम्हाऽतिविज्जं[1] परमं ति णच्चा सम्मत्तदंसी ण करेति पावं ॥४॥

११३. उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी[2] उभयाणुपस्सी।
कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति, संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं ॥५॥

११४. अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मण्णति।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढेति अप्पणो ॥६॥

११५. तम्हाऽतिविज्जं परमं ति णच्चा, आयंकदंसी ण करेति पावं।
अग्गं[3] च मूलं च विगिंच धीरे, पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदंसी ॥७॥

११६. एस मरणा पमुच्चति, से हु दिट्ठभये[4] मुणी।
लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिते सहिते सदा जते कालकंखी परिव्वए।
बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं।

११७. सच्चंसि[3] धितिं कुव्वह। एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेति।

---

१. 'अतिविज्जं' के स्थान पर चूर्णि में 'तिविज्जो' पाठ है जिसका अर्थ है—तीन विद्याओं का ज्ञाता।

२. 'आरंभजीवी उभयाणुपस्सी' पाठ के स्थान पर 'आरम्भजीवी तु भयाणुपस्सी' पाठ चूर्णि में मिलता है जिसका अर्थ है—जो व्यक्ति महारम्भी-महापरिग्रही है—वह अपने समक्ष वध, बन्ध, निरोध, मृत्यु आदि का भय देखता है।

३. भदन्त नागार्जुनीय वाचनानुसार यहाँ पाठ है—"मूलं च अग्गं च विवेत्तु वीरे, कम्मासवा वेति विमोक्खणं च। अविरता अस्सवे जीवा, विरता णिज्जरेंति।" अर्थात्—"हे वीर! मूल और अग्र का विवेक कर, कर्मों के आश्रव (आस्रव) और कर्मों से विमोक्षण (मुक्ति) का भी विवेक कर। अविरत जीव आस्रवों में रत रहते हैं, विरत कर्मों की निर्जरा करते हैं।"

४ 'दिट्ठभए' के स्थान पर 'दिट्ठवहे' और 'दिट्ठपहे' पाठान्तर मिलते हैं।

११२. हे आर्य ! तू इस संसार में जन्म और वृद्धि को देख। तू प्राणियों (भूतग्राम) को (कर्मबन्ध और उसके विपाकरूप दुःख को) जान और उनके साथ अपने सुख (दुःख) का पर्यालोचन कर। इससे त्रैविद्य (तीन विद्याओं का ज्ञाता) या अतिविद्य बना हुआ साधक परम (मोक्ष) को जानकर (समत्वदर्शी हो जाता है)। समत्वदर्शी पाप (हिंसा आदि का आचरण) नहीं करता।

११३. इस संसार में मनुष्यों के साथ पाश (रागादि बन्धन) हैं, उसे तोड़ डाल; क्योंकि ऐसे लोग (काम-भोगों की लालसा से, उनकी प्राप्ति के लिए) हिंसादि पापरूप आरंभ करके जीते हैं। और आरंभजीवी पुरुष इहलोक और परलोक (उभय) में शारीरिक, मानसिक काम-भोगों को ही देखते रहते हैं, अथवा आरंभजीवी होने से वह दण्ड आदि के भय का दर्शन (अनुभव) करते रहते हैं। ऐसे काम-भोगों में आसक्त जन (कर्मों का) संचय करते रहते हैं। (आसक्ति रूप कर्मों की जड़ें) वार-वार सींची जाने से वे पुनः-पुनः जन्म धारण करते हैं।

११४. वह (काम-भोगासक्त मनुष्य) हास्य-विनोद के कारण प्राणियों का वध करके खुशी मनाता है। वाल-अज्ञानी को इस प्रकार के हास्य आदि विनोद के प्रसंग से क्या लाभ है ? उससे तो वह (उन जीवों के साथ) अपना वैर ही वढ़ाता है।

११५. इसलिए अति विद्वान (उत्तम ज्ञानी) परम—मोक्ष पद को जान कर (हिंसा आदि में नरक आदि का आतंक-दुःख देखता है) जो (हिंसा आदि पापों में) आतंक देखता है, वह पाप (हिंसा आदि पाप कर्म का आचरण नहीं करता।

हे धीर ! तू (इस आतंक-दुःख के) अग्र और मूल का विवेक कर उसे पहचान ! वह धीर (साधक) (तप और संयम द्वारा रागादि वन्धनों को) परिच्छिन्न करके स्वयं निष्कर्मदर्शी (कर्मरहित सर्वदर्शी) हो जाता है।

११६. वह (निष्कर्मदर्शी) मरण से मुक्त हो जाता है। वह (निष्कर्मदर्शी) मुनि भय को देख चुका है (अथवा उसने मोक्ष पथ को देख लिया है।)

वह (आत्मदर्शी मुनि) लोक (प्राणि-जगत) में परम (मोक्ष या उसके कारण रूप संयम) को देखता है। वह विविक्त—(राग-द्वेष रहित शुद्ध) जीवन जीता है। वह उपशान्त, (पांच समितियों से) समित (सम्यक् प्रवृत्त) (ज्ञान आदि से) सहित (समन्वित) होता है। (अतएव) सदा संयत (अप्रमत्त-यतनाशील) होकर, (पण्डित-) मरण की आकांक्षा करता हुआ (जीवन के अन्तिम क्षण तक) परिव्रजन-विचरण करता है।

(इस जीव ने भूतकाल में) अनेक प्रकार के वहुत से पापकर्मों का वन्ध किया है।

११७. (उन कर्मों को नष्ट करने हेतु) तू सत्य में धृति कर। इस (सत्य) में स्थिर रहने वाला मेधावी समस्त पापकर्मों का शोषण (क्षय) कर डालता है।

विवेचन—इन सब सूत्रों में वन्ध और मोक्ष तथा उनके कारणों से सम्वन्धित परम बोध दिया गया है।

११२वें सूत्र में जन्म और वृद्धि को देखने की प्रेरणा दी गयी है, उसका तात्पर्य यह है कि जिनवाणी के आधार पर वह अपने पूर्वजन्मों के विषय में चिन्तन करे कि मैं एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में तथा नारक, तिर्यंच, देव आदि योनियों में अनेक बार जन्म लेकर फिर यहाँ मनुष्य-लोक में आया हूँ। उन जन्मों में मैंने कितने-कितने दुःख सहे होंगे ? साथ ही वह यह भी जाने कि मैं कितनी निर्जरा और प्रचुर पुण्य संचय के फलस्वरूप एकेन्द्रिय से विकास करते-करते इस मनुष्य-योनि में आया हूँ, कितनी पुण्यवृद्धि की होगी, तब मनुष्य लोक में भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, पंचेन्द्रिय पूर्णता, उत्तम संयोग, दीर्घ-आयुष्य, श्रेष्ठ संयमी जीवन आदि पाकर इतनी उन्नति कर सका हूँ।

इस सूत्र का दूसरा आशय यह भी है कि संसार में जीवों के जन्म और उसके साथ लगे हुए अनेक दुःखों को, तथा बालक, कुमार, युवक और वृद्ध रूप जो वृद्धि/विकास हुआ है, उस बीच आने वाले शारीरिक तथा मानसिक दुःखों/संघर्षों को देख। अपने अतीत के अनेक जन्मों की तथा विकास की श्रृंखला को देखना ही चिन्तन की गहराई में उतर कर जन्म और वृद्धि को देखना है। अतीत के अनेक जन्मों का, उनके कारणों और तज्जनितदुःखों एवं विकास-क्रम का चिन्तन करते-करते उन पर ध्यान केन्द्रित करने से संमूढता दूर हो जाती है और अपने पूर्वजन्मों का स्मरण (जाति-स्मरण) हो जाता है।[1] जब व्यक्ति अपने इस जीवन के ५०-६० वर्षों के घटनाचक्रों को स्मृति पथ पर ले आता है, तब यदि प्रयत्न करे और बुद्धि संमोहित न हो तो पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ भी उभर सकती हैं। पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं होती ? इसके विषय में कहा गया है—

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, न सरइ जाइमप्पणो॥

---

१. जैसे मृगापुत्र को संयमी श्रमण को अनिमिष दृष्टि से देखते हुए, शुद्ध अध्यवसाय के कारण मोह दूर होते ही जाति-स्मरण ज्ञान हुआ और वह अपने पूर्वजन्म को देखने लगा। फलतः विषयों से विरक्त और संयम में अनुरक्त होकर उसने अपने माता-पिता से प्रव्रज्या के लिए अनुमति मांगी। साथ ही वह अपने पिछले जन्मों में उपभुक्त विषयभोगों के कटु एवं दुःखद परिणाम, शरीर और भोगों की अनित्यता, अशुचिता (गंदगी), मनुष्य जन्म की असारता, व्याधिग्रस्तता, जरा-मरण-ग्रस्तता आदि का वर्णन करने लगा था। उसने अपने माता-पिता से कहा था—

माणुसत्ते असारम्मि वाही-रोगाण आलए।
जरामरणघत्थंमि खणं पि न रमामऽहं॥१५॥
जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥१६॥—उत्तरा० अ० १९

इससे स्पष्ट है कि अपने पिछले जन्मों और विकास-यात्रा का अनुस्मरण करने से साधक को जन्म-जरा आदि के साथ लगे हुए अनेक दुःखों, उनके कारणों और उपादानों का ज्ञान हो सकता है।

जन्म और मृत्यु के समय जीव को जो दुःख होता है, उस दुःख से संमूढ़ बना हुआ व्यक्ति अपने पूर्व जन्म का स्मरण नहीं कर पाता।

'भूतेहिं जाण पडिलेह सायं'—का तात्पर्य यह है कि संसार के समस्त भूतों (प्राणियों को) जो कि १४ भेदों में विभक्त हैं, उन्हें जाने; उन भूतों (प्राणियों) के साथ अपने सुख की तुलना और पर्यालोचन करे कि जैसे मुझे सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है; वैसे ही संसार के सभी प्राणियों को है। ऐसा समझ कर तू किसी का अप्रिय मत कर, दुःख न पहुँचा। ऐसा करने से तू जन्म-मरणादि का दुःख नहीं पाएगा।

'तम्हाऽतिविज्जं परमं ति णच्चा'—इस सूत्र के अन्तर्गत कई पाठान्तर है। बहुत सी प्रतियों में 'तिविज्जो' पाठ मिलता है, वह यहाँ संगत भी लगता है, क्योंकि इससे पूर्व शास्त्रकार तीन बातों का सूक्ष्म एवं तात्त्विक दृष्टि से जानने-देखने का निर्देश कर चुके हैं। वे तीन बातें ये हैं—(१) पूर्वजन्म-शृंखला और विकास की स्मृति, (२) प्राणिजगत् को भलीभाँति जानना और (३) अपने सुख-दुःख के साथ उनके सुख-दुःख की तुलना करके पर्यालोचन करना। इन्हीं तीन बातों का ज्ञान प्राप्त करना त्रिविद्या है। त्रिविद्या जिसे उपलब्ध हो गयी है, वह त्रैविद्य कहलाता है।

बौद्ध दर्शन में भी त्रिविद्या का निरूपण इस प्रकार है—(१) पूर्वजन्मों को जानने का ज्ञान, (२) मृत्यु तथा जन्म को (इनके दुःखों को) जानने का ज्ञान, (३) चित्तमलों के क्षय का ज्ञान। इन तीन विद्याओं को प्राप्त कर लेने वाले को वहाँ 'तिविज्ज' (त्रैविद्य) कहा है।[२]

दूसरा पाठान्तर है—'अतिविज्जे'—इसका अर्थ वृत्तिकार ने यों किया है—जिसकी विद्या जन्म, वृद्धि, सुख-दुःख के दर्शन से अतीव तत्त्व विश्लेषण करने वाली है, वह अतिविद्य अर्थात् उत्तम ज्ञानी है।

इन दोनों संदर्भों में वाक्य का अर्थ होता है—"इसलिए वह त्रैविद्य या अतिविद्य (अति विद्वान्) परम को जानकर.......यहाँ अतिविद्य या त्रिविद्य परम का विशेषण है, इसलिए अर्थ होता है—अतीव तत्त्व ज्ञान से युक्त या तीन विद्याओं से सम्बन्धित परम को जानकर....।"

'परम' के अनेक अर्थ हो सकते हैं—निर्वाण, मोक्ष, सत्य (परमार्थ)। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र भी परम के साधन होने से परम माने गये हैं।

'समत्तदंसी'—जो समत्वदर्शी है, वह पाप नहीं करता, इसका तात्पर्य यह है कि पाप और विषमता के मूल कारण राग और द्वेष हैं। जो अपने भावों को राग-द्वेष से कलुषित-मिश्रित नहीं करता और न किसी प्राणी को राग-द्वेषयुक्त दृष्टि से देखता है, वह समत्वदर्शी

---

१. त्रैविद्य का उल्लेख जैसे बौद्ध साहित्य में मिलता है, वैसे वैदिक साहित्य में भी मिलता है। देखिये—भगवद्गीता अ० ९ में २० वां श्लोक—

"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।"

यहाँ त्रैविद्या का अर्थ वैसा ही कुछ होना चाहिए जैसा कि जैनशास्त्र में पूर्वजन्म-दर्शन, विकास-दर्शन तथा प्राणि समत्व-दर्शन, आत्मौपम्य—सुख-दुःख-दर्शन है।

होता है। वह पाप कर्म के मूल कारण—राग द्वेष को अन्तःकरण में आने नहीं देता, तब उससे पाप कर्म होगा ही कैसे ?

'सम्मत्तदंसी' का एक रूप 'सम्यक्त्वदर्शी' भी होता है।[1] सम्यक्त्वदर्शी पापाचरण नहीं करता, इसका रहस्य यही है कि पाप कर्म की उत्पत्ति, उसके कटु परिणाम और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का सम्यग् ज्ञान जिसे हो जाता है, वह सत्यदृष्टा असम्यक् (पाप का) आचरण कर ही कैसे सकता है ?

११३वें सूत्र में पाप कर्मों का संचय करने वाले की वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणति (फल) का दिग्दर्शन कराया गया है।

'पाश' का अर्थ बंधन है। उसके दो प्रकार हैं—द्रव्य बन्धन और भाव बन्धन। यहाँ मुख्य भाव बन्धन है। भाव बन्धन राग, मोह, स्नेह, आसक्ति, ममत्व आदि हैं। ये ही साधक को जन्म-मरण के जाल में फंसाने वाले पाश हैं।

'आरंभजीवी उभयाणुपस्सी' पद में आरम्भ से महारम्भ और उसका कारण महापरिग्रह दोनों का ग्रहण हो जाता है। मनुष्यों—मर्त्यों के साथ पाश—बंधन को तोड़ने का कारण यहाँ आरंभजीवी आदि पदों से बताया गया है। जो आरंभजीवी होता है, वह उभयलोक (इहलोक-परलोक) को या उभय (शरीर और मन दोनों) को ही देख पाता है, उससे ऊपर उठकर नहीं देखता। अथवा 'उ' को पृथक् मानने से 'भयाणुपस्सी' पाठ भी होता है, जिसका अर्थ होता है—महारम्भ-महापरिग्रह के कारण वह पुनः-पुनः नरकादि के या इस लोक के भयों का दर्शन (अनुभव) किया करता है।

चार पुरुषार्थों में कामरूप पुरुषार्थ जब साध्य होता है, तब उसका साधन बनता है—अर्थ। इसलिए काम-भोगों की आसक्ति मनुष्य को विविध उपभोग्य धनादि अर्थों—पदार्थों के संग्रह के लिए प्रेरित करती है। वह आसक्ति-महारंभ-महापरिग्रह का मूल प्रेरक तत्त्व है।

'संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं' में बताया है—हिंसा, झूठ, चोरी, काम-वासना, परिग्रह आदि पाप या कर्म की जड़ें हैं। उन्हें जो पापी लगातार सींचते रहते हैं; वे बार-बार विविध गतियों और योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

११४वें सूत्र में प्राणियों के वध आदि के निमित्त विनोद और उससे होने वाली वैर-वृद्धि का संकेत किया गया है।

कई महारंभी-महापरिग्रही मनुष्य दूसरों को मारकर, सताकर, जलाशय में डुबाकर, कोड़ों आदि से पीटकर या सिंह आदि हिंस्र पशुओं के समक्ष मनुष्य को मरवाने के लिए छोड़कर अथवा यज्ञादि में निर्दोष पशु-पक्षियों की बलि देकर या उनका शिकार करके अथवा उनकी हत्या करके क्रूर मनोरंजन करते हैं। इसी प्रकार कई लोग झूठ बोलकर, चोरी करके

---

१. आवश्यक निर्युक्ति (गा० १०४६) में सम्यक्त्व को समत्व का पर्यायवाची बताया है—

"समया संमत्त-पसत्थ-संति-सिव-हिय-सुहं अणिंदं च।
अदुगुंछि अमगरहिअं अणवज्जमिमेऽवि एगट्ठा॥"

या स्त्रियों के साथ व्यभिचार करके या दूसरे का धन, मकान आदि हड़प करके या अपने कब्जे में करके हास-विनोद या प्रमोद की अनुभूति करते हैं। ये सभी दूसरे प्राणियों के साथ अपना वैर (शत्रुभाव) बढ़ाते रहते हैं।[1]

'अलं बालस्स संगेणं' के दो अर्थ स्पष्ट होते हैं—एक अर्थ जो वृत्तिकार ने किया है, वह इस प्रकार है—"ऐसे मूढ़ अज्ञ पुरुष का, हास्यादि, प्राणातिपातादि तथा विषय-कषायादिरूप संग न करे, इनका संसर्ग करने से वैर की वृद्धि होती है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि ऐसे विवेकमूढ़ अज्ञ (बाल) का संग (संसर्ग) मत करो; क्योंकि इससे साधक की बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी, मन की वृत्तियाँ चंचल होंगी। वह भी उनकी तरह विनोदवश हिंसादि पाप करने को देखादेखी प्रेरित हो सकता है।[2]

आतंकदर्शी पाप नहीं करता; इसका रहस्य है—'कर्म या हिंसा के कारण दुःख होता है'—जो यह जान लेता है, वह आतंकदर्शी है, वह स्वयं पापानुबन्धी कर्म नहीं करता, न दूसरों से कराता है, न करने वाले का अनुमोदन करता है।

'अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे'—इस पद में आये'—'अग्र' और 'मूल' शब्द के यहाँ कई अर्थ होते हैं—वेदनीयादि चार अघाति कर्म अग्र हैं, मोहनीय आदि चार घाति कर्म मूल हैं।

मोहनीय सब कर्मों का मूल है, शेष सात कर्म अग्र हैं।

मिथ्यात्व मूल है, शेष अव्रत-प्रमाद आदि अग्र है।

धीर साधक को कर्मों के, विशेषतः पापकर्मों के, अग्र (परिणाम या आगे के शाखा-प्रशाखा रूप विस्तार) और मूल (मुख्य कारण या जड़) दोनों पर विवेक-बुद्धि से निष्पक्ष होकर चिन्तन करना चाहिए। किसी भी दुष्कर्मजनित संकटापन्न समस्या के केवल अग्र (परिणाम) पर विचार करने से वह सुलझती नहीं, उसके मूल पर ध्यान देना चाहिए। कर्मजनित दुःखों का मूल (बीज) मोहनीय है, शेष सब उसके पत्र-पुष्प हैं।

इस सूत्र का एक और अर्थ भी वृत्तिकार ने किया है—दुःख और सुख के कारणों पर,

---

१. हंसी-मजाक से भी कई बार तीव्र वैर बंध जाता है। वृत्तिकार ने समरादित्य कथा के द्वारा संकेत किया है कि गुणसेन ने अग्निशर्मा की अनेक तरह से हंसी उड़ाई, इस पर दोनों का वैर बंध गया, जो नौ जन्मों तक लगातार चला। —आचा० टीका पत्रांक १४५

२. 'अलं बालस्स संगेणं इस सूत्र का एक अर्थ यह भी सम्भव है—बाल—अज्ञानी जन का संग—सम्पर्क मत करो; क्योंकि अज्ञानी विषयासक्त मनुष्य का संसर्ग करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जीवन में अनेक दोषों और दुर्गुणों तथा उनके कुसंस्कारों के प्रविष्ट होने की आशंका रहती है। अपरिपक्व साधक को अज्ञानीजन के सम्पर्क से ज्ञान-दर्शन-चारित्र से भ्रष्ट होते देर नहीं लगती। उत्तराध्ययन (३२।५) में स्पष्ट कहा है—

न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

"यदि निपुण ज्ञानी, गुणाधिक या सम-गुणी का सहाय प्राप्त न हो तो, अनासक्त भावपूर्वक अकेला ही विचरण करे, किन्तु अज्ञानी का संग न करे।"

विवेक बुद्धि से सुशोभित धीर यों विचार करे—इनका मूल है—असंयम या कर्म और अग्र है—संयम-तप, या मोक्ष।[1]

'पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदसी' का भावार्थ बहुत गहन है। तप और संयम के द्वारा राग-द्वेषादि बन्धनों को या उनके कार्यरूप कर्मों को सर्वथा छिन्न करके आत्मा निष्कर्मदर्शी हो जाता है। निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ हो सकते हैं—(१) कर्मरहित शुद्ध आत्मदर्शी, (२) राग-द्वेष के सर्वथा छिन्न होने से सर्वदर्शी, (३) वैभाविक क्रियाओं (कर्मों-व्यापारों) के सर्वथा न होने से अक्रियादर्शी और (४) जहाँ कर्मों का सर्वथा अभाव है, ऐसे मोक्ष का द्रष्टा।[2]

११६वें सूत्र में मृत्यु से मुक्त आत्मा की विशेषताओं और उसकी चर्या के उद्देश्य का दिग्दर्शन कराया गया है।

'दिट्ठभए या दिट्ठपहे'—दोनों ही पाठ मिलते हैं। 'दिट्ठभए' पाठ अधिक संगत लगता है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में भय की चर्चा करते हुए कहा है—"मुनि इस जन्म-मरणादि रूप संसार का अवलोकन गहराई से करता है तो वह संसार में होने वाले जन्म-मरण, जरा-रोग आदि समस्त भयों का दर्शन—मानसिक निरीक्षण कर लेता है। फलतः वह संसार के चक्र में नहीं फँसता, उनसे बचने का प्रयत्न करता है।" आगे के 'लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी' आदि विशेषण उसी संदर्भ में अंकित किये गये हैं।

'दिट्ठपहे' पाठ अंगीकृत करने पर अर्थ होता है—जिसने मोक्ष का पथ देख दिया है, अथवा जो इस पथ का अनुभवी है।

सूत्र ११२ से ११७ तक शास्त्रकार का एक ही स्वर गूंज रहा है—ज्ञाता-द्रष्टा बनो। ज्ञाता-द्रष्टा का अर्थ है—अपने मन की गहराइयों में उतर कर प्रत्येक वस्तु या विचार को जानो-देखो, चिन्तन करो, परन्तु उसके साथ राग और द्वेष को या इनके किसी परिवार को मत मिलाओ, तटस्थ होकर वस्तुस्वरूप का विचार करो, इसी का नाम ज्ञाता-द्रष्टा बनना है। इन सूत्रों में चार प्रकार के द्रष्टा (दर्शी) बनने का उल्लेख है—(१) समत्वदर्शी या सम्यक्त्व-दर्शी, (२) आत्मदर्शी, (३) निष्कर्मदर्शी और (४) परमदर्शी। इसी प्रकार दृष्टभय/दृष्टपथ, अग्र और मूल का विवेक कर, जन्म, वृद्धि, प्राणियों के साथ सुख-दुःख में ममत्व तथा आत्मैकत्व के प्रतिप्रेक्षण आदि में भी द्रष्टा-ज्ञाता बनने का संकेत है।

'कालकंखी'—साधक को मृत्यु की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि संलेखना के पाँच अतिचारों में से एक है—'मरणासंसप्पओगे'—मृत्यु की आशंसा-आकांक्षा न करना। फिर यहाँ उसे काल-कांक्षी बताने के पीछे क्या रहस्य है? वृत्तिकार इस प्रश्न का समाधान यों करते हैं—काल का अर्थ है—मृत्युकाल, उसका आकांक्षी, अर्थात्—मुनि मृत्युकाल आने पर 'पण्डितमरण' की आकांक्षा (मनोरथ) करने वाला होकर परिव्रजन (विचरण) करे! 'पंडितमरण' जीवन की सार्थकता है। पंडितमरण की इच्छा करना मृत्यु को जीतने की कामना है।

---

१. आचा० टीका पत्रांक १४५।

२. आचा० टीका पत्रांक १४५।

अतीत की बातों को आत्म-शुद्धि या दोष-परिमार्जन की दृष्टि से याद करना साधक के लिए आवश्यक है। इसलिए यहाँ शास्त्रकार ने साधक को स्मरण दिलाया है—'बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं'—इस आदेश सूत्र के परिप्रेक्ष्य में साधक पाप कर्म की विभिन्न प्रकृतियों, स्थिति अनुभाग, प्रदेश, उन पापकर्मों से मिलने वाला फल—बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता निर्जरा और कर्मक्षय आदि पर गहराई से चिन्तन करे।[1]

११७वें सूत्र में, साधक को सत्य में स्थिर रहने का अप्रतिम महत्त्व समझाया है।

वृत्तिकार ने विभिन्न दृष्टियों से सत्य के अनेक अर्थ किये हैं—

(१) प्राणियों के लिए जो हित है, वह सत्य है—वह है संयम।

(२) जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट आगम भी सत्य है, क्योंकि वह यथार्थ वस्तु-स्वरूप को प्रकाशित करता है।

(३) वीतराग द्वारा प्ररूपित विभिन्न प्रवचन रूप आदेश भी सत्य हैं।[2]

असंयत की व्याकुल चित्तवृत्ति

११८. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहइ पूरइत्तए।

से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरिवायाए[3] जणवयपरिग्गहाए।

११८. वह (असंयमी) पुरुष अनेक चित्त वाला है। वह चलनी को (जल से) भरना चाहता है।

वह (तृष्णा की पूर्ति के हेतु व्याकुल मनुष्य) दूसरों के वध के लिए, दूसरों के परिताप के लिए, दूसरों के परिग्रह के लिए, तथा जनपद के वध के लिए, जनपद के परिताप के लिए और जनपद के परिग्रह के लिए (प्रवृत्ति करता है)।

विवेचन—इस सूत्र में विषयासक्त असंयमी पुरुष की अनेकचित्तता—व्याकुलता, तथा विवेक-हीनता एवं उसके कारण होने वाले अनर्थों का दिग्दर्शन है।

वृत्तिकार ने संसार-सुखाभिलाषी पुरुष को अनेक चित्त बताया हैं, क्योंकि वह लोभ से प्रेरित होकर कृषि, व्यापार, कारखाने आदि अनेक धंधे छेड़ता है, उसका चित्त रात-दिन उन्हीं अनेक धंधों की उधेड़बुन में लगा रहता है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४७।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४७।

३. चूर्णि के अनुसार **'जणवयपरितावाए'** पाठ भी है, उसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**'पररट्ठमद्दणे वा रायाणो जणवयं परितावयंति'**—पर राष्ट्र का मर्दन करने के लिए राजा लोग जनपद या जानपदों को संतप्त करते हैं। वृत्तिकार ने **'जनपदानां परिवादाय'** अर्थ किया है, अर्थात् जनपदनिवासी लोगों के परिवाद (बदनाम करने) के लिए—यह चुगलखोर है, जासूस है, चोर है, लुटेरा है, इस प्रकार मर्मोद्घाटन के लिए प्रवृत्त होते हैं।

अनेकचित्त पुरुष अतिलोभी बनकर कितनी बड़ी असम्भव इच्छा करता है, इसके लिए शास्त्रकार चलनी का दृष्टान्त देकर समझाते हैं, कि वह चलनी को जल से भरना चाहता है, अर्थात् चलनी रूप महातृष्णा को धनरूपी जल से भरना चाहता है। वह अपने तृष्णा के खप्पर को भरने हेतु दूसरे प्राणियों का वध करता है, दूसरों को शारीरिक, मानसिक संताप देता है, द्विपद (दास-दासी, नौकर-चाकर आदि), चतुष्पद (चौपाये जानवरों) का संग्रह करता है, इतना ही नहीं, वह अपार लोभ से उन्मत्त होकर सारे जनपद या नागरिकों का संहार करने पर उतारु हो जाता है, उन्हें नाना प्रकार से यातनाएं देने को उद्यत हो जाता है, अनेक जनपदों को जीतकर अपने अधिकार में कर लेता है। यह है—तृष्णाकुल मनुष्य की अनेक चित्तता—किंवा व्याकुलता का नमूना।

संयम में समुत्थान

११९. आसेवित्ता एयमट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिता।
तम्हा तं बिइयं[1] नासेवते णिस्सारं पासिय णाणी।
उववायं चयणं णच्चा अणण्णं चर माहणे।
से ण छणे, न छणावए, छणंतं णाणुजाणति।
[2]णिव्विंद णंदिं अरते पयासु अणोमदंसी णिसण्णे पावेहिं[3] कम्मेहिं।

१२०. कोधादिमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं।
तम्हा हि वीरे विरते वधातो, छिंदिज्ज सोतं लहुभूयगामी[4] ॥८॥

१२१. गंथं परिण्णाय इहऽज्ज[5] वीरे, सोयं[6] परिण्णाय चरेज्ज दंते।
उम्मुग्ग[7] लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारंभेज्जासि ॥९॥

त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

---

१. '**बिइयं नो सेवते**', '**बीयं नो सेवे**', '**बितियं नासेवए**'—ये पाठान्तर मिलते हैं। चूर्णिकार इस वाक्य का अर्थ करते हैं—"**द्वितीयं मृषावादमसंयमं वा नासेवते**"—दूसरे मृषावाद का या असंयम (पाप) का सेवन नहीं करता'।

२. 'णिव्विज्ज' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है—विरक्त होकर।

३. '**पावेसु कम्मेसु**' पाठ चूर्णि में है, जिसका अर्थ है—'**पावं कोहादिकसाया तेसु**'—पाप है क्रोधादि कषाय, उनमें।

४. चूर्णि में इसके स्थान पर '**छिंदिज्ज सोतं ण हु भूतगामं**' पाठ मिलता है। उत्तरार्ध का अर्थ यों है—ईर्यासमिति आदि से युक्त साधक १४ प्रकार के भूत ग्राम (प्राणि-समूह) का छेदन न करे।

५. '**इहऽज्ज**' के स्थान पर '**इह वज्ज**' एवं '**इहेज्ज**' पाठ भी मिलते हैं। '**इह अज्ज**' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"**इह पवयणे, अज्जेव मा चिरा**"—"इस प्रवचन में आज ही—बिलकुल विलम्ब किये बिना प्रवृत्त हो जाओ"।

६. '**सोगं**', '**सोतं**' पाठान्तर भी हैं, '**सोगं**' का अर्थ शोक है।

७. '**उम्मुग्ग**' के स्थान पर '**उम्मग्ग**' भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—उन्मज्जन।

११९. इस प्रकार कई व्यक्ति इस अर्थ—(वध, परिताप, परिग्रह आदि असंयम) का आसेवन—आचरण करके (अन्त में) संयम-साधना में संलग्न हो जाते हैं। इसलिए वे (काम-भोगों को, हिंसा आदि आस्रवों को छोड़कर) फिर दुबारा उनका आसेवन नहीं करते।

हे ज्ञानी ! विषयों को निस्सार देखकर (तू विषयाभिलाषा मतकर)। (केवल मनुष्यों के ही जन्म-मरण नहीं), देवों के भी उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) निश्चित हैं, यह जनकर (विषय-सुखों में आसक्त मत हो)। हे माहन ! (अहिंसक) तू अनन्य (संयम या रत्नत्रयरूप मोक्ष-मार्ग) का आचरण कर।

वह (अनन्यसेवी मुनि) प्राणियों की हिंसा स्वयं न करे, न दूसरों से हिंसा कराए, और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करे।

तू (कामभोग जनित) आमोद-प्रमोद से विरक्तिकर (विरक्त हो)। प्रजाओं (स्त्रियों) में अरक्त (आसक्ति रहित) रह।

अनवमदर्शी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षदर्शी साधक) पापकर्मों से विषण्ण—उदासीन रहता है।

१२०. वीर पुरुष कषाय के आदि अंग—क्रोध (अनन्तानुवन्धी आदि चारों प्रकार के क्रोध) और मान को मारे (नष्ट करे), लोभ को महान नरक के रूप में देखे ! (लोभ साक्षात् नरक है), इसलिए लघुभूत (मोक्षगमन का इच्छुक अथवा अपरिगह वृत्ति अपना कर) बनने का अभिलाषी, वीर (जीव) हिंसा से विरत होकर स्रोतों (विषय-वासनाओं) को छिन्न-भिन्न कर डाले।

१२१. हे वीर इस लोक में ग्रन्थ (परिग्रह) को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से आज ही अविलम्ब छोड़ दे, इसी प्रकार (संसार के) स्रोत-विषयों को भी जानकर दान्त(इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला) बनकर संयम में विचरण कर। यह जानकर कि यहीं (मनुष्य-जन्म में) मनुष्यों के द्वारा ही उन्मज्जन (संसार सिन्धु से तरना) या कर्मों से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है, मुनि प्राणियों के प्राणों का समारम्भ—संहार न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—११९वें सूत्र में विषय-भोगों से विरक्त होकर संयम-साधना में जुटे हुए साधक को विषय-भोगों की असारता एवं जीवन की अनित्यता का सन्देश देकर हिंसा, काम-भोग जनित आनन्द, अब्रह्मचर्य आदि पापों से विरत रहने की प्रेरणा दी गयी है।

यह निश्चित है कि जो मनुष्य विषय-भोगों में प्रबल आसक्ति रखेगा, वह उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा, क्रूर मनोविनोद, असत्य, व्यभिचार, क्रोधादि कषाय, परिग्रह आदि विविध पापकर्मों में प्रवृत्त होगा। अतः विषय-भोगों से विरक्त संयमीजन के लिए इन सब पापकर्मों से दूर रहने तथा विषय-भोगों की निस्सारता एवं जीवन की क्षणभंगुरता की प्रेरणा देनी अनिवार्य है। साथ ही यह भी बताना आवश्यक है कि कर्मों से मुक्त होने या संसार-सागर से पार

होने का पुरुषार्थ तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य लोक में, मनुष्य के दारा ही सम्भव है, अन्य लोकों में या अन्य जीवों दारा नहीं।

विषय-भोग इसलिए निस्सार हैं कि उनके प्राप्त होने पर तृप्ति कदापि नहीं होती। इसीलिए भरत चक्रवर्ती आदि विषय-भोगों को निस्सार समझकर संयमानुष्ठान के लिए उद्यत हो गये थे, फिर वे पुनः उनमें लिपटे नही।

'उववायं' और **'चयणं'**—इन दोनों पदों को अंकित करने का आशय यह है कि मनुष्यों का जन्म और मरण तो सर्वविदित है ही, देवों के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति है कि उनका विषय सुखों से भरा जीवन अमर हैं, वे जन्मते-मरते नहीं, अतः इसे बताने के लिए उपपात और च्यवन—इन दो पदों द्वारा देवों के भी जन्म-मरण का संकेत किया है।[1] इतना ही नहीं, विषय भोगों की निःसारता और जीवन की अनित्यता इन दो बातों द्वारा संसार की एवं संसार के सभी स्थानों की अनित्यता, क्षणिकता एवं विनश्वरता यहाँ ध्वनित कर दी है।[2]

'न छणे, न छणावाए' इन पदों में **'छण'** शब्द का रूपान्तर **'क्षण'** होता है। **'क्षणु हिंसायाम्'** हिंसार्थक **'क्षणु'** धातु से **'क्षण'** शब्द बना है।[3] अतः इन दोनों पदों का अर्थ होता है, स्वयं हिंसा न करे और न ही दूसरों के द्वारा हिंसा कराए। उपलक्षण से हिंसा करने वाले का अनुमोदन भी न करे।

'अणण्ण' शब्द का तात्पर्य है—अनन्य—मोक्षमार्ग। क्योंकि मोक्षमार्ग से अन्य—असंयम है और जो अन्यरूप-असंयम रूप नहीं है, वह ज्ञानादि रत्नत्रयात्मक मोक्ष मार्ग अनन्य है।[4] **'अनन्य'** शब्द मोक्ष, संयम और आत्मा की एकता का भी बोधक है। ये आत्मा से अन्य नहीं है, आत्म परिणति रूप ही है अर्थात् मोक्ष एवं संयम आत्मा में ही स्थित हैं। अतः वह आत्मा से अभिन्न **'अनन्य'** है।

'अणोमदंसी' शब्द का तात्पर्य है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदर्शी। अवम का अर्थ है—हीन। हीन है—मिथ्यात्व-अविरति आदि। अवमरूप मिथ्यात्वादि से विपरीत सम्यकदर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनवम उच्च—महान हैं। साधक को सदा उच्चद्रष्टा होना चाहिए। अनवम—उदात्त का द्रष्टा—अनवमदर्शी यानी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदर्शी होता है।

लोभ को नरक इसलिए कहा गया है कि लोभ के कारण हिंसादि अनेक पाप होते हैं जिनसे प्राणी सीधा नरक में जाता है। गीता में भी कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥

ये तीन आत्मनाशक और नरक के द्वार है—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए मनुष्य इन तीनों का परित्याग करे।

---

१. देखें पृष्ठ ६० पर देवों के जरा सम्बन्धी टिप्पण।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४८।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४८।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४८।

'लहुभूयगामी' के दो रूप होते हैं—(१) लघुभूतगामी और (२) लघुभूतकामी। लघुभूत-जो कर्मभार से सर्वथा रहित है—मोक्ष या संयम को प्राप्त करने के लिए जो गतिशील है, वह लघुभूतगामी है और जो लघुभूत (अपरिग्रही या निष्पाप होकर बिलकुल हलका) बनने की कामना (मनोरथ) करता है, वह लघुभूतकामी है।[1] ज्ञातासूत्र में[2] लघुभूत तुम्बी का उदाहरण देकर बताया है कि जैसे—सर्वथा लेपरहित होने पर तुम्बी जल के ऊपर आ जाती है, वैसे ही लघुभूत आत्मा संसार से ऊपर मोक्ष में पहुँच जाता है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

समता-दर्शन

१२२. संधिं लोगस्स जाणित्ता आयओ बहिया पास।
तम्हा ण हंता ण विघातए।
जमिणं अण्णमण्णवितिगिंछाए पडिलेहाए ण करेति पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं[3] सिया?।

१२३. समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसादए।

अणण्णपरमं णाणी णो पमादे कयाइ वि।
आयगुत्ते सदा वीरे जायामायाए जावए ॥१०॥
विरागं रूवेहिं गच्छेज्जा महता खुड्डएहिं वा।[4]

आगतिं गतिं परिण्णाय दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से ण छिज्जति, ण भिज्जति, ण डज्झति, ण हम्मति कंचणं सव्वलोए।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४८। २. अध्ययन ६

२. 'मुणी कारणं' इस प्रकार के पदच्छेद किये हुए पाठ के स्थान पर 'मुणिकारणं' ऐसा एकपदीय पाठ चूर्णिकार को अभीष्ट है। इसकी व्याख्या यों की गई हैं वहाँ—तत्थ मुणिस्स कारणं, अद्दोहणातीति मुणिकारणाणि? ताणि तत्थ ण संति, ····ण तत्थ मुणि कारणं सिया···तत्थ वि ताव मुणि कारणं ण अत्थि।—क्या वहाँ (द्रोह या पाप) नहीं हुआ, उसमें मुनि का कारण है? द्रोह न हुए, इसीलिए वहाँ वे मुनि के कारण नहीं हुए हैं। शायद उसमें मुनि कारण नहीं है। वहाँ भी मुनि कारण नहीं है।

४. नागार्जुनीय वाचना में यहाँ अधिक पाठ इस प्रकार है—

'विसयम्मि पंचगम्मी वि, दुविहम्मि तियं तियं।
भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसु वि॥'

—शब्दादि पाँच विषयों के दो प्रकार हैं—इष्ट, अनिष्ट। उनके भी तीन-तीन भेद हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट। इन्हें भावतः-परमार्थतः भली-भाँति जानकर वह (मुनि) पाप कर्म से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उनमें राग और द्वेष नहीं करता।

१२४. अवरेण पुव्वं ण सरंति एगे किमस्स तीतं किं वाऽऽगमिस्सं ।
भासंति एगे इह माणवा तु[1] जमस्स तीतं तं आगमिस्सं ।।११।।
णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं अट्ठं णियच्छंति तथागता उ ।
विधूतकप्पे एताणुपस्सी णिज्झोसइत्ता ।
का अरती के आणंदे ? एत्थंपि अग्गहे[2] चरे ।
सव्वं हासं परिच्चज्ज अल्लीणगुत्तो[3] परिव्वए ।

१२२. साधक (धर्मानुष्ठान की अपूर्व) सन्धि—वेला समझ कर (प्राणि-लोक को दुःख न पहुँचाए) अथवा प्रमाद करना उचित नहीं है ।)

अपनी आत्मा के समान बाह्य-जगत (दूसरी आत्माओं) को देख ! (सभी जीवों को मेरे समान ही सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है) यह समझकर मुनि जीवों का हनन न करे और न दूसरों से घात कराए ।

जो परस्पर एक दूसरे की आशंका से, भय से, या दूसरे के सामने (उपस्थिति में) लज्जा के कारण पाप कर्म नहीं करता, तो क्या ऐसी स्थिति में उस (पाप कर्म न करने) का कारण मुनि होना है ? (नहीं)

१२३. इस स्थिति में (मुनि) समता की दृष्टि से पर्यालोचन (विचार) करके आत्मा को प्रसाद—उल्लास युक्त रखे ।

ज्ञानी मुनि अनन्य परम—(सर्वोच्च परम सत्य, संयम) के प्रति कदापि प्रमाद (उपेक्षा) न करे ।

वह साधक सदा आत्मगुप्त (इन्द्रिय और मन को वश में रखने वाला) और वीर (पराक्रमी) रहे, वह अपनी संयम-यात्रा का निर्वाह परिमित—(मात्रा के अनुसार) आहार से करे ।

वह साधक छोटे या बड़े रूपों—(दृश्यमान पदार्थों) के प्रति विरति धारण करे ।

१.—१. यहाँ चूर्णिकार का अभिमत पाठ यों है—

किह से अतीतं, किह आगमिस्सं ?
जह से अतीतं, तह आगमिस्सं ।

इन पंक्तियों का अर्थ प्रायः एक-सा है ।

२. इसके बदले चूर्णि में पाठ हैं—**'एत्थं पि अगरहे चरे'** । इसका अर्थ इस प्रकार किया है—**'रागदोसेहिं अगरहो, तन्निमित्तं जह ण गरहिज्जति ण रज्जति दुस्सिति वा'**—ग्रहण—(कर्मबन्धन) होता है, राग और द्वेष से । राग-द्वेष को ग्रहण न करने पर अ-ग्रह हो जाएगा । अर्थात् मुनि विषयादि के निमित्त राग-द्वेष का ग्रहण नहीं करता—न राग से रक्त होता है, न द्वेष से द्विष्ट ।

३. 'अल्लीणगुत्तो' के स्थान पर 'आलीणगुत्ते' पाठ भी क्वचित् मिलता हैं । चूर्णिकार ने **'अल्लीणगुत्तो'** का अर्थ इस प्रकार किया है—**धम्मं आयरियं वा अल्लीणो तिविहाए गुत्तीए गुत्तो**—धर्म में तथा आचार्य में इन्द्रियादि को समेट कर लीन है, और तीन गुप्तियों से गुप्त है ।

समस्त प्राणियों (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के जीवों) की गति और आगति को भली-भाँति जानकर जो दोनों अन्तों (राग और द्वेष) से दूर रहता है, वह समस्त लोक में किसी से (कहीं भी) छेदा नहीं जाता, भेदा नहीं जाता, जलाया नहीं जाता और मारा नहीं जाता।

१२४. कुछ (मूढ़मति) पुरुष भविष्यकाल के साथ पूर्वकाल (अतीत) का स्मरण नहीं करते। वे इसकी चिन्ता नहीं करते कि इसका अतीत क्या था, भविष्य क्या होगा? कुछ (मिथ्याज्ञानी) मानव यों कह देते हैं कि जो (जैसा) इसका अतीत था, वही (वैसा ही) इसका भविष्य होगा। किन्तु तथागत (सर्वज्ञ) (राग-द्वेष के अभाव के कारण) न अतीत के (विषय-भोगादि रूप) अर्थ का स्मरण करते हैं और न ही भविष्य के (दिव्यांगना-संगादि वैषयिक सुख) अर्थ का चिन्तन करते हैं।

(जिसने कर्मों को विविध प्रकार से धूत-कम्पित कर दिया है, ऐसे) विधूत के समान कल्प—आचार वाला महर्षि इन्हीं (तथागतों) के दर्शन का अनुगामी होता है, अथवा वह क्षपक महर्षि वर्तमान का अनुदर्शी हो (पूर्व संचित) कर्मों का शोषण करके क्षीण कर देता है।

उस (धूत-कल्प) योगी के लिए भला क्या अरति है और क्या आनन्द है? वह इस विषय में (अरति और आनन्द के विषय में) बिलकुल ग्रहण रहित (अग्रह-किसी प्रकार की पकड़ से दूर) होकर विचरण करे। वह सभी प्रकार के हास्य आदि (प्रमादों) का त्याग करके इन्द्रियनिग्रह तथा मन-वचन-काया को तीन गुप्तियों से गुप्त (नियंत्रित) करते हुए विचरण करे।

विवेचन—सूत्र १२२ से १२४ तक सब में आत्मा के विकास, आत्म-समता, आत्म-शुद्धि, आत्म-प्रसन्नता, आत्म-जागृति, आत्म-रक्षा, पराक्रम, विषयों से विरक्ति, राग-द्वेष से दूर रहकर आत्म-रक्षण, आत्मा का अतीत और भविष्य, कर्म से मुक्ति, आत्मा की मित्रता, आत्म-निग्रह आदि आध्यात्मिक आरोहण का स्वर गूँज रहा है।

संधि लोगस्स जाणित्ता—यह सूत्र बहुत ही गहन और अर्थ गम्भीर है। वृत्तिकार ने संधि के संदर्भ में इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की है—

(१) उदीर्ण दर्शन मोहनीय के क्षय तथा शेष के उपशान्त होने से प्राप्त सम्यक्त्व भाव-सन्धि है।

(२) विशिष्ट क्षायोपशमिक भाव प्राप्त होने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति रूप भाव-सन्धि।

(३) चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक् चारित्र रूप भाव-सन्धि।

(४) सन्धि का अर्थ—सन्धान, मिलन या जुड़ना है। कर्मोदयवश ज्ञान-दर्शन-चारित्र के टूटते हुए अध्यवसाय का पुनः जुड़ना या मिलना भाव सन्धि है।

(५) धर्मानुष्ठान का अवसर भी सन्धि कहलाता है।

आध्यात्मिक (क्षायोपशमिकादि भाव) सन्धि को जानकर प्रमाद करना श्रेयस्कर नहीं

है, आध्यात्मिक लोक के तीन स्तम्भों—ज्ञान-दर्शन-चारित्र का, टूटने से सतत रक्षण करना चाहिए। जैसे कारागार में बन्द कैदी के लिए दीवार में हुए छेद या वेड़ी को टूटी हुई जानकर प्रमाद करना अच्छा नहीं होता, वैसे ही आध्यात्मिक लोक में मुमुक्षु के लिए भी इस जीवन को, मोह-कारागार की दीवार का या बन्धन का छिद्र जानकर क्षणभर भी पुत्र, स्त्री या संसार सुख के व्यामोह रूप प्रमाद में फँसे रहना श्रेयस्कर नहीं होता।[1]

'आयओ बहिया पास' का तात्पर्य है—तू अध्यात्मलोक को अपनी आत्मा तक ही सीमित मत समझ। अपनी आत्मा का ही सुख-दुःख मत देख। अपनी आत्मा से वाहर लोक में व्याप्त समस्त आत्माओं को देख। वे भी तेरे समान हैं, उन्हें भी सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। इस प्रकार आत्म-समता की दृष्टि प्राप्त कर।

इसी बोधवाक्य की फलश्रुति अगले वाक्य—**'तम्हा ण हंता ण विघातए'** में दे दी है कि आत्मौपम्यभाव से सभी के दुःख-सुख को अपने समान जानकर किसी जीव का न तो स्वयं घात करे, न दूसरों से कराए।

अध्यात्मज्ञानी मुनि पाप कर्म का त्याग केवल काया से या वचन से ही नहीं करता, मन से भी करता है। ऐसी स्थिति में वह अपने त्याग के प्रति सतत वफादार रहता है। जो व्यक्ति किसी दूसरे के लिहाज, दवाव या भय से अथवा उनके देखने के कारण पापकर्म नहीं करता, किन्तु परोक्ष में, छिपकर करता है, वह अपने त्याग के प्रति वफादार कहाँ रहा? यही शंका इस सूत्र (**जमिणं अण्णमण्णं····सिया ?**) में उठायी गई है। इसमें से ध्वनि यही निकलती है कि जो व्यक्ति व्यवहार-बुद्धि से प्रेरित होकर दूसरों के भय, दबाव या देखते हुए पापकर्म नहीं करता, यह उसका सच्चा त्याग नहीं है, क्योंकि उसके अन्तःकरण में पापकर्म-त्याग की प्रेरणा जगी नहीं है। इसलिए वह निश्चयदृष्टि से मुनि नहीं है, मात्र व्यवहारदृष्टि से वह मुनि कहलाता है। उसके पापकर्म त्याग में उसका मुनित्वकारण नहीं है।[2]

इसी सूत्र के सन्दर्भ में अगले सूत्र में समता के माध्यम से आत्म-प्रसन्नता की प्रेरणा दी गई है—इसका तात्पर्य यह है कि साधक मन-वचन-काया की समता—एकरूपता को देखे। दूसरों के देखते हुए पापकर्म न करने की तरह परोक्ष में भी न करना, समता है। इस प्रकार की समता से प्रेरित होकर जो साधक समय—(आत्मा या सिद्धान्त) के प्रति वफादार रहते हुए लज्जा, भय आदि से भी पापकर्म नहीं करता, तप-त्याग एवं संयम का परिपालन करता है, उसमें उसका मुनित्व कारण हो जाता है।

'समयं' के यहाँ तीन अर्थ फलित होते हैं समता, आत्मा और सिद्धान्त।[3] इन तीनों के परिप्रेक्ष्य में—इन तीनों को केन्द्र में रखकर—साधक को पापकर्म त्याग की प्रेरणा यहाँ दी गई है। इसी से आत्मा प्रसन्न हो सकती है अर्थात् आत्मिक प्रसन्नता—उल्लास का अनुभव हो सकता है। जिसके लिए यहाँ कहा गया है—**'अप्पाणं विप्पसायए।'**

---

१. आचा० टीका पत्र १४६।
२. आचा० टीका पत्र १५०।
३. आचा० टीका पत्र १५०

'आगतिं गतिं परिण्णाय' का तात्पर्य यह है कि चार गतियाँ हैं, उनमें से किस गति का जीव कौन-कौन सी गति में आ सकता है, और किस गति से कहाँ-कहाँ जा सकता है ? इसका ऊहापोह करना चाहिए। जैसे तिर्यंच और मनुष्य की आगति और गति (गमन) चारों गतियों में हो सकती है, किन्तु देव और नारक की आगति-गति तिर्यंच और मनुष्य इन दो ही गतियों से हो सकती है। किन्तु मनुष्य इन चारों गतियों में गमनागमन की प्रक्रिया को तोड़कर पंचम गति—मोक्षगति में भी जा सकता है; जहाँ से लौटकर वह अन्य किसी गति में नहीं जाता। उसका मूल कारण दो अन्तों—(राग-द्वेष का लोप, नाश) करना है। फिर उस विशुद्ध मुक्त आत्मा का लोक में कहीं भी छेदन-भेदनादि नहीं होता।[1]

१२४वें सूत्र की व्याख्या वृत्तिकार ने दार्शनिक, भौतिक और आध्यात्मिक साधना, इन तीनों दृष्टियों की है—कुछ दार्शनिकों का मत है—भविष्य के साथ अतीत की स्मृति नहीं करना चाहिए। वे भविष्य और अतीत में कार्य-कारण भाव नहीं मानते। कुछ दार्शनिकों का मन्तव्य है—जैसा जिस जीव का अतीत था, वैसा ही उसका भविष्य होगा। इसमें चिन्ता करने की क्या जरूरत है ?

तथागत (सर्वज्ञ) अतीत और भविष्य की चिन्ता नहीं करते, वे केवल वर्तमान को ही देखते हैं।

मोह और अज्ञान से आवृत बुद्धि वाले कुछ लोग कहते हैं कि यदि जीव के नरक आदि जन्मों में प्राप्त या उस जन्म में बालक, कुमार आदि वय में प्राप्त दुःखादि का विचार—स्मरण करें या भविष्य में इस सुखाभिलाषी जीव को क्या-क्या दुःख आएँगे ? इसका स्मरण-चिन्तन करेंगे तब तो वर्तमान में सांसारिक सुखों का उपभोग ही नहीं कर पाएँगे। जैसा कि वे कहते हैं—

केण ममेत्थुप्पत्ती कहं इओ तह पुणो वि गंतव्वं।
जो एत्तियं वि चिंतइ इत्थं सो को न निव्विण्णो॥

—भूतकाल के किस कर्म के कारण मेरी यहाँ उत्पत्ति हुई ? यहाँ से मरकर मैं कहाँ जाऊँगा ? जो इतना भी इस विषय में चिन्तन कर लेता है, वह संसार से उदासीन हो जाएगा संसार के सुखों में उसे अरुचि हो जाएगी !

कई मिथ्याज्ञानी कहते हैं—"अतीत और अनागत के विषय में क्या विचार करना है ? इस प्राणी का जैसा भी अतीत—स्त्री-पुरुष, नपुंसक, सुभग-दुर्भग, सुखी-दुःखी, कुत्ता, बिल्ली, गाय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप रहा है, वही इस जन्म में प्राप्त और अनुभूत हुआ है और इस जन्म (वर्तमान) में जो रूप (इनमें से) प्राप्त हुआ है, वही रूप आगामी जन्म (भविष्य) में प्राप्त होगा इसमें पूछना ही क्या है ? साधना करने की भी क्या जरूरत है ?"

आध्यात्मिक दृष्टि वाले साधक पूर्व अनुभूत विषय-सुखोपभोग आदि का स्मरण नहीं करते और न भविष्य के लिए विषय-सुख प्राप्ति का निदान (कामना मूलक संकल्प) करते हैं, क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं।

---

१. आचा० टीका पत्र १५०।

तात्पर्य यह है—राग-द्वेष रहित होने से ज्ञानी जन न तो अतीत कालीन विषय सुखों के उपभोगादि का स्मरण करते हैं, और न ही भविष्य में विषय-सुखादि की प्राप्ति का चिन्तन करते हैं। मोहोदयग्रस्त व्यक्ति ही अतीत और अनागत के विषय-सुखों का चिन्तन-स्मरण करते हैं।[1]

'विधूतकप्पे एताणुपस्सी' का अर्थ है—जिन्होंने अष्ट विध कर्मों को नष्ट (विधूत) कर दिया है, वे 'विधूत' कहलाते हैं। जिस साधक ने ऐसे विधूतों का कल्प—आचार ग्रहण किया है, वह इन वीतराग सर्वज्ञों का अनुदर्शी होता है। उसकी दृष्टि भी इन्हीं के अनुरूप होती है।

अरति, इष्ट वस्तु के प्राप्त न होने या वियोग होने से होती है और रति (आनन्द) इष्ट-प्राप्ति होने से। परन्तु जिस साधक का चित्त धर्म व शुक्लध्यान में रत है, जिसे आत्म-ध्यान में ही आत्मरति—आत्म-संतुष्टि या आत्मानन्द की प्राप्ति हो चुकी है, उसे इस बाह्य अरति या रति (आनन्द) से क्या मतलब है? इसीलिए साधक को प्रेरणा दी गयी है—'एत्थंपि अग्गहे चरे' अर्थात् आध्यात्मिक जीवन में भी अरति-रति (शोक या हर्ष) के मूल राग-द्वेष का ग्रहण न करता हुआ विचरण करे।[2]

मित्र-अमित्र-विवेक

१२५. पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?

जं जाणेज्जा उच्चालयितं तं जाणेज्जा दूरालयितं, जं जाणेज्जा दूरालइतं तं जाणेज्जा उच्चालइतं।

१२६. पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।

१२५. हे पुरुष (आत्मन्) तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर, अपने से भिन्न मित्र क्यों ढूँढ़ रहा है?

जिसे तुम (अध्यात्म की) उच्च भूमिका पर स्थित समझते हो, उसका घर (स्थान) अत्यन्त दूर (सर्व आसक्तियों से दूर या मोक्ष मार्ग में) समझो, जिसे अत्यन्त दूर (मोक्ष मार्ग में स्थित) समझते हो, उसे तुम उच्च भूमिका पर स्थित समझो।

१२६. हे पुरुष! अपना (आत्मा का) ही निग्रह कर। इसी विधि से तू दुःख से (कर्म से) मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

सत्य में समुत्थान

१२७. पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि। सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए[3] मेधावी मारं तरति।

सहिते धम्ममादाय सेयं समणुपस्सति।

दुहतो जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमादेंति।

---

१. आचा० टीका पत्र १५१। २. आचा० टीका पत्र १५२।

३. 'उवट्ठिए से मेहावी'—यह पाठान्तर भी है।

सहिते दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए।
पासिमं दविए लोगालोगपवंचातो मुच्चति त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

१२७. हे पुरुष ! तू सत्य को ही भलीभाँति समझ ! सत्य की आज्ञा (मर्यादा) में उपस्थित रहने वाला वह मेधावी मार (मृत्यु, संसार) को तर जाता है।

सत्य या ज्ञानादि से युक्त (सहित) साधक धर्म को ग्रहण करके श्रेय (आत्म-हित) का सम्यक् प्रकार से अवलोकन—साक्षात्कार कर लेता है।

राग और द्वेष (इन) दोनों से कलुषित आत्मा जीवन की वन्दना, सम्मान और पूजा के लिए (हिंसादि पापों में) प्रवृत्त होता है। कुछ साधक भी इन (वन्दनादि) के लिए प्रमाद करते हैं।

ज्ञानादि से युक्त साधक (उपसर्ग-व्याधि आदि से जनित) दुःख की मात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल नहीं होता।

आत्मद्रष्टा वीतराग पुरुष लोक में आलोक (द्वन्द्वों) के समस्त प्रपंचों (विकल्पों) से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—इस सूत्र में परम सत्य को ग्रहण करने और तदनुसार प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सत्ययुक्त साधक की उपलब्धियों एवं असत्ययुक्त मनुष्यों की अनुपलब्धियों की भी संक्षिप्त झांकी दिखाई है।

'सच्चमेव समभिजाणाहि' में वृत्तिकार सत्य के तीन अर्थ करते हैं—(१) प्राणि मात्र के लिए हितकर-संयम, (२) गुरु साक्षी से गृहीत पवित्र संकल्प (शपथ), (३) सिद्धान्त या सिद्धान्त-प्रतिपादक आगम।[1]

साधक किसी भी मूल्य पर सत्य को न छोड़े, सत्य की ही आसेवना, प्रतिज्ञापूर्वक आचरण करे, सभी प्रवृत्तियों में सत्य को ही आगे रखकर चले। सत्य—स्वीकृत संकल्प एवं सिद्धान्त का पालन करे, यह इस वाक्य का आशय है।

'दुहतो' (दुहतः) के चार अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—

(१) राग और द्वेष दो प्रकार से,
(२) स्व और पर के निमित्त से,
(३) इहलोक और परलोक के लिए,
(४) दोनों से (राग और द्वेष से) जो हत है, वह दुर्हत है।[2]

'जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए'—इस वाक्य का अर्थ भी गहन है। मनुष्य अपने वन्दन, सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा के लिए बहुत उखाड़-पछाड़ करता है, अपनी प्रसिद्धि के लिए बहुत ही आरम्भ-समारम्भ, आडम्बर और प्रदर्शन करता है, सत्ताधीश बनकर प्रशंसा,

---

१. आचा० टीका पत्र १५३।

२. आचा० टीका पत्र १५३।

पूजा-प्रतिष्ठा पाने के हेतु अनेक प्रकार की छल-फरेब एवं तिकड़मबाजी करता है। ऐसे कार्यों के लिए हिंसा, झूठ, माया, छल-कपट, बेईमानी, धोखेबाजी करने में कई लोग सिद्धहस्त होते हैं। अपने तुच्छ, क्षणिक जीवन में राग-द्वेष-वश पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए बड़े-बड़े नामी साधक भी अपने त्याग, वैराग्य एवं संयम की बलि दे देते हैं; इसके लिए हिंसा, असत्य, बेईमानी, माया आदि करने में कोई दोष ही नहीं मानते। जिन्हें तिकड़मबाजी करनी आती नहीं, वे मन ही मन राग और द्वेष की, मोह और घृणा-ईर्ष्या आदि की लहरों पर खेलते रहते हैं, कर कुछ नहीं सकते, पर कर्मबन्धन प्रचुर मात्रा में कर लेते हैं। दोनों ही प्रकार के व्यक्ति पूजा-सम्मान के अर्थी हैं और प्रमादग्रस्त हैं।[1]

'झंझाए' का अर्थ है—मनुष्य दुःख और संकट के समय हतप्रभ हो जाता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित होकर किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाती है, वह अपने साधना-पथ या सत्य को छोड़ बैठता है। झंझा का संस्कृत रूप बनता है ध्यन्धता (धी+अन्धता) बुद्धि की अन्धता। साधक के लिए यह बहुत बड़ा दोष है। झंझा दो प्रकार की होती है—राग-झंझा और द्वेष-झंझा। इष्टवस्तु की प्राप्ति होने पर राग-झंझा होती है, जबकि अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर द्वेष-झंझा होती है। दोनों ही अवस्थाओं में सूझ-बूझ मारी जाती है।[2]

लोकालोक प्रपंच का तात्पर्य है—चौदह राजू परिमित लोक में जो नारक-तिर्यंच आदि एवं पर्याप्तक-अपर्याप्तक आदि सैकड़ों आलोकों—अवलोकनों के विकल्प (प्रपँच) हैं, वही है—लोकालोक प्रपंच।[3]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

कषाय-विजय

१२८. से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च। एतं पासगस्स दंसणं उवरतसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि।

१२९. जे एगं जाणति से सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणति से एगं जाणति।
सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भयं।
जे[4] एगं णामे से बहुं णामे, जे बहुं णामे से एगं णामे।

---

१. आचा० टीका पत्र १५३।
२. आचा० टीका पत्र १५४।
३. आचारांग टीका पत्र १५४।
४. यहाँ पाठान्तर भी है—जे **एगणामे से बहुणामे, जे बहुणामे से एगणामे**—इसका भाव है—जो एक स्वभाव वाला है, (उपशान्त है) वह अनेक स्वभाव वाला (अन्य गुण युक्त भी) है। जो अनेक स्वभाव वाला है वह एकस्वभाव वाला भी है।

दुक्खं लोगस्स जाणित्ता, वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं।
परेण परं जंति, णावकंखंति जीवितं।
एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ।
सड्ढी आणाए मेधावी।
लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।
अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं।

१३०. जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोधं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च णरगं च तिरियं च दुक्खं च।

एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स—आयाणं निसिद्धा सगडब्भि।

१३१. किमत्थि उवधी पासगस्स, ण विज्जति? णत्थि त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

१२८. वह (सत्यार्थी साधक) क्रोध, मान, माया और लोभ का (शीघ्र ही) वमन (त्याग) कर देता हैं। यह दर्शन (उपदेश) हिंसा से उपरत तथा समस्त कर्मों का अन्त करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी (तीर्थंकर) का है। जो कर्मों के आदान (कषायों, आस्रवों) का निरोध करता है, वही स्व-कृत (कर्मों) का भेत्ता (नाश करने वाला) है।

१२९. जो एक को जानता है, वह सब को जानता है।
जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है, अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता।

जो एक को झुकाता है, वह बहुतों को झुकाता है, जो बहुतों को झुकाता है, वह एक को झुकाता है।

साधक लोक—(प्राणि-समूह) के दुःख को जानकर (उसके हेतु कषाय का त्याग करे)

वीर साधक लोक के (संसार के) संयोग (ममत्व-सम्बन्ध) का परित्याग कर महायान (मोक्षपथ) को प्राप्त करते हैं। वे आगे से आगे बढ़ते जाते हैं, उन्हें फिर (असंयमी) जीवन की आकांक्षा नहीं रहती।

एक (अनन्तानुबंधी कषाय) को (जीतकर) पृथक् करने वाला, अन्य (कर्मों) को भी (जीतकर) पृथक् कर देता है, अन्य को (जीतकर) पृथक् करने वाला, एक को भी पृथक् कर देता है।

(वीतराग की) आज्ञा में श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है।

साधक आज्ञा से (जिनवाणी के अनुसार) लोक (षट्जीवनिकायरूप या

कषाय रूप लोक) को जानकर (विषयों) का त्याग कर देता है, वह अकुतोभय (पूर्ण-अभय) हो जाता है।

शस्त्र (असंयम) एक से एक बढ़कर तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता है किन्तु अशस्त्र (संयम) एक से एक बढ़कर नहीं होता।

१३०. जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है;
जो मानदर्शी होता है, वह मायादर्शी होता है;
जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है;
जो लोभदर्शी होता है, वह प्रेमदर्शी होता है;
जो प्रेमदर्शी होता है, वह द्वेषदर्शी होता है;
जो द्वेषदर्शी होता है, वह मोहदर्शी होता है;
जो मोहदर्शी होता है, वह गर्भदर्शी होता है;
जो गर्भदर्शी होता है, वह जन्मदर्शी होता है;
जो जन्मदर्शी होता है, वह मृत्युदर्शी होता है;
जो मृत्युदर्शी होता है, वह नरकदर्शी होता है;
जो नरकदर्शी होता है, वह तिर्यंचदर्शी होता है;
जो तिर्यंचदर्शी होता है, वह दुःखदर्शी होता है;

(अतः) वह मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यंच और दुःख को वापस लौटा दे (दूर भगा दे) यह समस्त कर्मों का अन्त करने वाले, हिंसा-असंयम से उपरत एवं निरावरण द्रष्टा (पश्यक) का दर्शन (आगमोक्त उपदेश) है।

जो पुरुष कर्म के आदान—कारण को रोकता है, वही स्व-कृत (कर्म) का भेदन कर पाता है।

१३१. क्या सर्व-द्रष्टा की कोई उपधि होती है, या नहीं होती? नहीं होती।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सूत्र १२८ से १३० तक में कषायों के परित्याग पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही कषायों का परित्याग कौन करता है, उनके परित्याग से क्या उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, कषायों के परित्यागी की पहिचान क्या है? इन सब बातों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

१२८वें सूत्र में क्रोधादि चारों कषायों के वमन का निर्देश इसलिए किया गया है कि साधु-जीवन में कम से कम अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग तो अवश्य होना चाहिए, परन्तु यदि चारित्र-मोहनीय कर्म के उदयवश साधु-जीवन में भी अपकार करने वाले के प्रति तीव्र क्रोध आ जाय, जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, तप, लाभ एवं ऐश्वर्य आदि के मद उत्पन्न हो जाये, अथवा पर-वंचना या प्रच्छन्नता, गुप्तता आदि के रूप में माया का सेवन हो जाये अथवा अधिक पदार्थों के संग्रह का लोभ जाग

उठे तो तुरन्त ही संभल कर उसका त्याग कर देना चाहिए, उसे शीघ्र ही मन से खदेड़ देना चाहिए, अन्यथा वह अड्डा जमा कर बैठ जाएगा, इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने 'वंता' शब्द का प्रयोग किया है। वृत्तिकार ने कहा है—क्रोध, मान, माया और लोभ को वमन करने से ही पारमार्थिक (वास्तविक) श्रमण भाव होता है, अन्यथा नहीं।

इस (कषाय-परित्याग) को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का दर्शन इसलिए बताया गया है कि कषाय का सर्वथा परित्याग किये बिना निरावरण एवं सकल पदार्थग्राही केवल (परम) ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति नहीं होती और न ही कषाय-त्याग के बिना सिद्धि-सुख प्राप्त हो सकता है।[1]

'आयाणं सगडब्भि'—यह वाक्य इसी उद्देशक में दो बार आया है, परन्तु पहली बार दिए गये वाक्य में आदाणं के बाद 'निसिद्धा' शब्द नहीं है, जबकि दूसरी बार प्रयुक्त इसी वाक्य में 'निसिद्धा' शब्द प्रयुक्त है। इसका रहस्य विचारणीय है। लगता है—लिपिकारों की भूल से 'निसिद्धा' शब्द छूट गया है।[2]

'आदान' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—'आत्म-प्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्म जिन कारणों से आदान—ग्रहण किये जाते हैं, चिपकाये जाते हैं, वे हिंसादि पाँच आस्रव, अठारह पाप स्थान या उनके निमित्त रूप कषाय—आदान हैं।[3]

इन कषायरूप आदानों का जो प्रवेश रोक देता है, वही साधक अनेक-जन्मों में उपार्जित स्वकृत कर्मों का भेदन करने वाला होता है।[4]

आत्म-जागृति या आत्मस्मृति के अभाव में ही कषाय की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह भी एक प्रकार से प्रमाद है। और जो प्रमादग्रस्त है, उसे कषाय या तज्जनित कर्मों के कारण सब ओर से भय है। प्रमत्त व्यक्ति द्रव्यतः—सभी आत्म-प्रदेशों से कर्म संचय करता है, क्षेत्रतः—छह दिशाओं में व्यवस्थित, कालतः—प्रतिक्षण, भावतः—हिंसादि तथा कषायों से कर्म संग्रह करता है। इसलिए प्रमत्त को इस लोक में भी भय है, परलोक में भी। जो आत्महित में जागृत है, उसे न तो संसार का भय रहता है, न ही कर्मों का।[5]

'एगं जाणइ०' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जो विशिष्ट ज्ञानी एक परमाणु आदि द्रव्य तथा उसके किसी एक भूत-भविष्यत् पर्याय अथवा स्व या पर-पर्याय को पूर्ण रूप से जानता है, वह समस्त द्रव्यों एवं स्व-पर-पर्यायों को जान लेता है; क्योंकि समस्त वस्तुओं के ज्ञान के बिना अतीत-अनागत पर्यायों सहित एक द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो संसार की सभी वस्तुओं को जानता है, वह किसी एक वस्तु को भी उसके अतीत-अनागत पर्यायों सहित जानता है। एक द्रव्य का सिद्धान्त दृष्टि से वास्तविक लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

---

१. आचा० टीका पत्र १५४।
२. आचा० टीका पत्र १५५।
३. आचा० टीका पत्र १५५।
४. आचा० टीका पत्र १५५।
५. आचा० टीका पत्र १५५।

एगदवियस्स जे अत्थपज्जवा वंजणपज्जवा वावि ।
तीयाऽणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥

'एक द्रव्य के जितने अर्थपर्यव और व्यंजनपर्यव अतीत, अनागत और वर्तमान में होते हैं. उतने सब मिलाकर एक द्रव्य होता हैं।'[1]

प्रत्येक वस्तु द्रव्यदृष्टि से अनादि, अनन्त और अनन्तधर्मात्मक है। उसके भूतकालीन पर्याय अनन्त हैं, भविष्यत् कालीन पर्याय भी अनन्त होंगे और अनन्त धर्मात्मक होने से वर्तमान पर्याय भी अनन्त हैं।

ये सब उस वस्तु के स्व-पर्याय है। इनके अतिरिक्त उस वस्तु के सिवाय जगत् में जितनी दूसरी वस्तुएँ हैं उनमें से प्रत्येक के. पूर्वोक्त रीति से जो अनन्त-अनन्त पर्याय हैं, वे सब उस वस्तु के पर-पर्याय हैं।

ये पर-पर्याय भी स्व-पर्यायों के ज्ञान में सहायक होने से उस वस्तु सम्बन्धी हैं। जैसे स्व-पर्याय वस्तु के साथ अस्तित्व सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं उसी प्रकार पर-पर्याय भी नास्तित्व सम्बन्ध से उस वस्तु के साथ जुड़े हुए हैं।

इस प्रकार वस्तु के अनन्त भूतकालीन, अनन्त भविष्यत्कालीन, अनन्त वर्तमान कालीन स्व-पर्यायों को और अनन्तानन्त पर-पर्यायों को जान लेने पर ही उस एक वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसके लिए अनन्तज्ञान की आवश्यकता है। अनन्तज्ञान होने पर ही एक वस्तु पूर्णरूप से जानी जाती है, और जिसमें अनन्तज्ञान होगा वह संसार की सर्व वस्तुओं को जानेगा।

इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि जो एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है वह सभी वस्तुओं को पूर्ण रूप से जानता है और जो सर्व वस्तुओं को पूर्ण रूप से जानता है वही एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है। यही तथ्य इस श्लोक में प्रकट किया गया है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टा।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥

'जे एगं नामे०'—इस सूत्र का आशय भी बहुत गम्भीर है—(१) जो विशुद्ध अध्यवसाय से एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को नमा देता है—क्षयकर देता है, वह बहुत से अनन्तानुबन्धी मान आदि को नमा-खपा देता है, अथवा अपने ही अन्तर्गत अप्रत्याख्यानी आदि कषाय प्रकारों को नमा-खपा देता है। (२) जो एक मोहनीय कर्म को नमा देता है—क्षय कर देता है, वह शेष कर्म प्रकृतियों को भी नमा-खपा देता है।

इसी प्रकार जो बहुत से कम स्थिति वाले कर्मों को नमा-खपा देता है, वह उतने समय में एक अनन्तानुबन्धी कषाय को नमाता-खपाता है, अथवा एक मात्र मोहनीय कर्म को (उतने समय में) नमाता-खपाता है, क्योंकि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटा-कोटी सागरोपमकाल की है, जबकि शेष कर्मों की २० या ३० कोटा-कोटी सागरोपम से अधिक स्थिति नहीं है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५५।

यहाँ 'नाम' शब्द 'क्षपक' (क्षय करने वाला) या 'उपशामक' अर्थ में ग्रहण करना अभीष्ट है। उपशम श्रेणी की दृष्टि से भी इसी तरह एकनाम बहुनाम की चतुर्भंगी समझ लेनी चाहिए।[1]

कषाय-त्याग की उपलब्धियाँ बताते हुए, **'जंति, धीरा महाजाणं परेणपरं जंति'** इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। कर्म-विदारण में समर्थ, सहिष्णु या कषाय-विजयी साधक धीर कहलाते हैं। वृत्तिकार ने **'महायान'** शब्द के दो अर्थ किये हैं—

(१) महान् यान (जहाज) महायान है, वह रत्नत्रयरूप धर्म है, जो मोक्ष तक साधक को पहुंचा देता है।[2]

(२) जिसमें सम्यग्दर्शनादि त्रय रूप महान् यान हैं, उस मोक्ष को महायान कहते हैं।[3]

'महायान' का एक अर्थ—विशाल पथ अथवा 'राजमार्ग' भी हो सकता है। संयम का पथ—राजमार्ग है जिस पर सभी कोई निर्भय होकर चल सकते हैं।

'परेण परं जंति' का शब्दश: अर्थ तो किया जा चुका है। परन्तु इसका तात्पर्य है आध्यात्मिक दृष्टि से (कषाय-क्षय करके) आगे से आगे बढ़ना। वृत्तिकार ने इसका स्पष्टीकरण यों किया है—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से नरक-तिर्यंचगतियों में भ्रमण रुक जाता है, साधक सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का यथाशक्ति पालन करके आयुष्य क्षय होने पर सौधर्मादि देवलोकों में जाता है। पुण्य शेष होने से वहाँ से मनुष्य लोक में कर्मभूमि, आर्यक्षेत्र, सुकुल-जन्म, मनुष्यगति तथा संयम आदि पाकर विशिष्टतर अनुत्तर देवलोक तक पहुँच जाता है। फिर वहाँ से च्यवकर मनुष्य जन्म तथा उक्त उत्तम संयोग प्राप्त कर उत्कृष्ट संयम पालन करके समस्त कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पर अर्थात् संयमादि के पालन से पर—अर्थात् स्वर्ग-परम्परा से अपवर्ग (मोक्ष) भी प्राप्त कर लेता है।[4] अथवा पर= सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (४) से उत्तरोत्तर आगे बढ़ते-बढ़ते साधक अयोगिकेवली गुणस्थान (१४) तक पहुँच जाता है। अथवा पर—अनन्तानुबन्धी के क्षय से **पर**—दर्शनमोह—चारित्रमोह का क्षय अथवा भवोपग्राही-घाती कर्मों का क्षय कर लेता है।

उत्तरोत्तर तेजोलेश्या प्राप्त कर लेता है, यह भी **'परेण परं जंति'** का अर्थ है।

'णावकंखंति जीवितं' के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—

(१) दीर्घजीविता नहीं चाहते, कर्मक्षय के लिए उद्यत क्षपक साधक इस बात की परवाह (चिन्ता) नहीं करते कि जीवन कितना बीता है, कितना शेष रहा है।

(२) वे असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते।[5]

'एगं विगिंचमाणे'—इस सूत्र का आशय यह है कि क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ उत्कृष्ट साधक एक अनन्तानुबन्धीकषाय का क्षय करता हुआ, पृथक्—अन्य दर्शनावरण आदि का भी क्षय कर लेता है। आयुष्यकर्म बंध भी गया हो तो भी दर्शनसप्तक का क्षय कर लेता है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५७।

पृथक्—अन्य का क्षय करता हुआ एक अनन्तानुबन्धी नामक कषाय का भी क्षय कर देता है। 'विगिंच' शब्द का अर्थ 'क्षय करना' ही ग्रहण किया गया है।[1]

'अत्थि सत्थं परेण परं'—इस सूत्र की शब्दावली के पीछे रहस्य यह है कि जनसाधारण को शस्त्र से भय लगता है, साधक को भी, फिर वह अकुतोभय कैसे हो सकता है? इसी का समाधान इस सूत्र द्वारा किया गया है कि द्रव्यशस्त्र उत्तरोत्तर तीखा होता है, जैसे एक तलवार है, उससे भी तेज दूसरा शस्त्र हो सकता है। जैसे शस्त्रों में उत्तरोत्तर तीक्ष्णता मिलती है, वैसी तीक्ष्णता अशस्त्र में नहीं होती। अशस्त्र है—संयम, मैत्री, क्षमा, कषाय—क्षय, अप्रमाद आदि। इनमें एक दूसरे से प्रतियोगिता नहीं होती। इसी प्रकार भावशस्त्र है—द्वेष, घृणा, क्रोधादि कषाय, ये सभी उत्तरोत्तर तीव्र-मन्द होते हैं। जैसे राम को श्याम पर मंद क्रोध हुआ, हरि पर वह तीव्र हुआ और रोशन पर वह और भी तीव्रतर हो गया, किन्तु 'कमल' पर उसका क्रोध तीव्रतम हो गया। इस प्रकार संज्वलन, प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और अनन्तानुबन्धी क्रोध की तरह मान, माया, लोभ तथा द्वेष आदि में उत्तरोत्तर तीव्रता होती है। किन्तु अशस्त्र में समता होती है। समभाव एकरूप होता है, वह एक के प्रति मंद और दूसरे के प्रति तीव्र नहीं हो सकता।[2]

'जे कोहदंसी' इत्यादि क्रम निरूपण का आशय भी क्रोधादि का स्वरूप जानकर उनका परित्याग करने वाले साधक की पहिचान बताना है। क्रोधदर्शी आदि में जो 'दर्शी' शब्द जोड़ा गया है, उसका तात्पर्य है—क्रोधादि के स्वरूप तथा परिणाम आदि को जो पहले ज्ञपरिज्ञा से जानता है; देख लेता है, फिर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका परित्याग करता है, क्योंकि ज्ञान सदैव अनर्थ का परित्याग करता है।

'ज्ञानस्य फलं विरतिः'—ज्ञान का फल पापों का परित्याग करना है, यह उक्ति प्रसिद्ध है। इसी लम्बे क्रम को बताने के बाद शास्त्रकार स्वयं निरूपण करते हैं—

'से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोधं च……' क्रोधादि के स्वरूप को जान लेने के बाद साधक क्रोधादि से तुरन्त हट जाये, लौट जाये, निवृत्त हो जाए।[3]

□

सम्यक्त्व—चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

✫ आचारांग सूत्र के चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है।

✫ सम्यक्त्व वह अध्ययन है—जिसमें आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित सत्यों—सचाइयों—सम्यक् वस्तुतत्त्वों का निरूपण हो। यथार्थ वस्तुस्वरूप का नाम सम्यक्त्व है।[1]

✫ 'सम्यक्त्व' शब्द से भाव सम्यक् का ग्रहण करना यहाँ अभीष्ट है, द्रव्य सम्यक् का नहीं।

✫ भाव सम्यक् चार प्रकार के हैं, जो मोक्ष के अंग हैं[2]—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान, (३) सम्यक् चारित्र और (४) सम्यक् तप। इन चारों भाव-सम्यक्-तत्त्वार्थों का प्रतिपादन करना ही सम्यक्त्व अध्ययन का उद्देश्य है।

✫ द्रव्य सम्यक् सात प्रकार से होता है—(१) मनोऽनुकूल बनाने से, (२) द्रव्य को सुसंस्कृत करने से, (३) कुछ द्रव्यों को संयुक्त करने (मिलाने) से, (४) लाभदायक द्रव्य प्रयुक्त (प्रयोग) करने से, (५) खाया हुआ द्रव्य प्रकृति के लिए उपयुक्त होने से, (६) कुछ खराब द्रव्यों को निकाल (परित्यक्त कर) देने से शेष द्रव्य और (७) किसी द्रव्य में से सड़ा हुआ भाग काट (छिन्न कर) देने से बचा हुआ द्रव्य।[3]

✫ इसी प्रकार भाव सम्यक् भी सात प्रकार से होता है। भाव सम्यक् भी कृत, सुसंस्कृत, संयुक्त, प्रयुक्त, उपयुक्त, परित्यक्त और छिन्नरूप से सात प्रकार से होता है। इसका परिचय यथास्थान दिया जायेगा।

✫ सम्यक्त्व अध्ययन के चार उद्देशक हैं। इसी भावसम्यक्त्व के परिप्रेक्ष्य में चारों उद्देशकों में वस्तुतत्त्व का सांगोपांग प्रतिपादन किया गया है। प्रथम उद्देशक में यथार्थ वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन होने से सम्यग्वाद की चर्चा है।

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
   (ख) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'—तत्त्वार्थ० १।२।
   (ग) उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० १, २, ३।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।

३. आचा० निर्युक्ति गा० २१८।

पृथक्—अन्य का क्षय करता हुआ एक अनन्तानुबन्धी नामक कषाय का भी क्षय कर देता है। 'विगिंच' शब्द का अर्थ 'क्षय करना' ही ग्रहण किया गया है।[1]

'अत्थि सत्थं परेण परं'—इस सूत्र की शब्दावली के पीछे रहस्य यह है कि जनसाधारण को शस्त्र से भय लगता है, साधक को भी, फिर वह अकुतोभय कैसे हो सकता है? इसी का समाधान इस सूत्र द्वारा किया गया है कि द्रव्यशस्त्र उत्तरोत्तर तीखा होता है, जैसे एक तलवार है, उससे भी तेज दूसरा शस्त्र हो सकता है। जैसे शस्त्रों में उत्तरोत्तर तीक्ष्णता मिलती है. वैसी तीक्ष्णता अशस्त्र में नहीं होती। अशस्त्र है—संयम, मैत्री, क्षमा, कषाय—क्षय, अप्रमाद आदि। इनमें एक दूसरे से प्रतियोगिता नहीं होती। इसी प्रकार भावशस्त्र है—द्वेष, घृणा, क्रोधादि कषाय, ये सभी उत्तरोत्तर तीव्र-मन्द होते हैं। जैसे राम को श्याम पर मंद क्रोध हुआ, हरि पर वह तीव्र हुआ और रोशन पर वह और भी तीव्रतर हो गया, किन्तु 'कमल' पर उसका क्रोध तीव्रतम हो गया। इस प्रकार संज्वलन, प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और अनन्तानुबन्धी क्रोध की तरह मान, माया, लोभ तथा द्वेष आदि में उत्तरोत्तर तीव्रता होती है। किन्तु अशस्त्र में समता होती है। समभाव एकरूप होता है, वह एक के प्रति मंद और दूसरे के प्रति तीव्र नहीं हो सकता।[2]

'जे कोहदंसी' इत्यादि क्रम निरूपण का आशय भी क्रोधादि का स्वरूप जानकर उनका परित्याग करने वाले साधक की पहिचान बताना है। क्रोधदर्शी आदि में जो 'दर्शी' शब्द जोड़ा गया है, उसका तात्पर्य है—क्रोधादि के स्वरूप तथा परिणाम आदि को जो पहले ज्ञपरिज्ञा से जानता है; देख लेता है, फिर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका परित्याग करता है, क्योंकि ज्ञान सदैव अनर्थ का परित्याग करता है।

'ज्ञानस्य फलं विरतिः'—ज्ञान का फल पापों का परित्याग करना है, यह उक्ति प्रसिद्ध है। इसी लम्बे क्रम को बताने के बाद शास्त्रकार स्वयं निरूपण करते हैं—

'से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोधं च……' क्रोधादि के स्वरूप को जान लेने के बाद साधक क्रोधादि से तुरन्त हट जाये, लौट जाये, निवृत्त हो जाए।[3]

'सम्मत्त' चउत्थं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

सम्यक्त्व: चतुर्थ अध्ययन : प्रथम उद्देशक

सम्यग्वाद : अहिंसा के संदर्भ में

१३२. से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं[1] पवेदिते। तं जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरतदंडेसु वा अणुवरतदंडेसु वा सोवधिएसु वा अणुवहिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा।

१३३. तच्चं चेतं तहा चेतं अस्सिं चेतं पवुच्चति।
तं आइत्तु ण णिहे, ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तहा।
दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा।
णो लोगस्सेसणं चरे।
जस्स णत्थि इमा णाती अण्णा तस्स कतो सिया।
दिट्ठं सुतं मयं विण्णायं जमेयं परिकहिज्जति।
समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जातिं पकप्पेंती।

अहो य रातो य जतमाणे धीरे सया आगतपण्णाणे, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

---

१. 'खेतण्णेहिं' के स्थान पर 'खेअण्णेहिं', 'खेदण्णेहिं' आदि शब्द हैं, अर्थ पूर्ववत् है। चूर्णिकार ने 'खित्तण्णो' (क्षेत्रज्ञ) शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'खित्तं आगासं, खित्तं जाणतीति खित्तण्णो, तं तु आहारभूतं दव्व-काल-भावाणं अमुत्तं च पवुच्चति। मुत्तामुत्ताणि खित्तं च जाणंतो पाएण दव्वादीणि जाणइ। जो वा संसारियाणि दुक्खाणि जाणति सो खित्तण्णो पंडितो वा।"
—क्षेत्र अर्थात् आकाश, क्षेत्र को जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। आकाश या क्षेत्र द्रव्यकाल-भावों का आधारभूत और अमूर्त्त है। मूर्त-अमूर्त और क्षेत्र को जो जानता है, वह प्रायः द्रव्यादि को जानता है। अथवा जो सांसारिक दुःखों को जानता है, वह भी क्षेत्रज्ञ या पण्डित कहलाता है।

☆ द्वितीय उद्देशक में विभिन्न धर्म-प्रवादियों (प्रवक्ताओं) के प्रवादों में युक्त-अयुक्त की विचारणा होने से **धर्म-परीक्षा** का निरूपण है।

☆ तृतीय उद्देशक में निर्दोष-निरवद्य तप का वर्णन होने से उसका नाम **सम्यक् तप** है।

☆ चतुर्थ उद्देशक में **सम्यक् चारित्र** से सम्बन्धित निरूपण है।

☆ इस प्रकार चार उद्देशकों में क्रमशः सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् तप और सम्यक् चारित्र, इन चारों भाव सम्यकों का भलीभाँति विश्लेषण है।[1]

☆ निर्युक्तिकार ने भाव सम्यक् के तीन ही प्रकार बताये हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। इनमें दर्शन और चारित्र के क्रमशः तीन-तीन भेद हैं—(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक और (३) क्षायिक।

☆ सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं—(१) क्षायोपशमिक ज्ञान और (२) क्षायिक ज्ञान।[2]

☆ प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन के चार उद्देशक सूत्र १३२ से प्रारम्भ होकर सूत्र १४६ पर समाप्त होते हैं।

'सम्मत्त' चउत्थं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

सम्यक्त्व: चतुर्थ अध्ययन : प्रथम उद्देशक

सम्यग्वाद : अहिंसा के संदर्भ में

१३२. से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं[1] पवेदिते। तं जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरतदंडेसु वा अणुवरतदंडेसु वा सोवधिएसु वा अणुवहिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा।

१३३. तच्चं चेतं तहा चेतं अस्सिं चेतं पवुच्चति।
तं आइत्तु ण णिहे, ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तहा।
दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा।
णो लोगस्सेसणं चरे।
जस्स णत्थि इमा णाती अण्णा तस्स कतो सिया।
दिट्ठं सुतं मयं विण्णायं जमेयं परिकहिज्जति।
समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जातिं पकप्पेंती।

अहो य रातो य जतमाणे धीरे सया आगतपण्णाणे, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

---

१. 'खेतण्णेहिं' के स्थान पर 'खेअण्णेहिं', 'खेदण्णेहिं' आदि शब्द हैं, अर्थ पूर्ववत् है। चूर्णिकार ने 'खित्तण्णो' (क्षेत्रज्ञ) शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'खित्तं आगासं, खित्तं जाणतीति खित्तण्णो, तं तु आहारभूतं दव्व-काल-भावाणं अमुत्तं च पवुच्चति। मुत्तामुत्ताणि खित्तं च जाणंतो पाएण दव्वादीणि जाणइ। जो वा संसारियाणि दुक्खाणि जाणति सो खित्तण्णो पंडितो वा।"
—क्षेत्र अर्थात् आकाश, क्षेत्र को जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। आकाश या क्षेत्र द्रव्यकाल-भावों का आधारभूत और अमूर्त है। मूर्त-अमूर्त और क्षेत्र को जो जानता है, वह प्रायः द्रव्यादि को जानता है। अथवा जो सांसारिक दुःखों को जानता है, वह भी क्षेत्रज्ञ या पण्डित कहलाता है।

१३२. मैं कहता हूं—

जो अर्हन्त भगवान् अतीत में हुए हैं, जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, वे सब ऐसा आख्यान (कथन) करते हैं, ऐसा (परिषद् में) भाषण करते हैं, (शिष्यों का संशय निवारण करने हेतु—) ऐसा प्रज्ञापन करते हैं, (तात्त्विक दृष्टि से—) ऐसा प्ररूपण करते हैं—समस्त प्राणियों, सर्व भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों का (डंडा आदि से) हनन नहीं करना चाहिए, बलात् उन्हें शासित नहीं करना चाहिए, न उन्हें दास बनाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्राणों का विनाश करना चाहिए।

यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। खेदज्ञ अर्हन्तों ने (जीव—) लोक को सम्यक् प्रकार से जानकर इसका प्रतिपादन किया है।

(अर्हन्तों ने इस धर्म का उन सबके लिए प्रतिपादन किया है), जैसे कि—

जो धर्माचरण के लिए उठे हैं अथवा अभी नहीं उठे हैं। जो धर्मश्रवण के लिए उपस्थित हुए हैं, या नहीं हुए हैं; जो (जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक) दण्ड देने से उपरत हैं अथवा अनुपरत हैं; जो (परिग्रहरूप) उपधि से युक्त हैं, अथवा उपधि से रहित हैं; जो संयोगों (ममत्व सम्बन्धों) में रत हैं, अथवा संयोगों में रत नहीं हैं।

१३३. वह (अर्हत्प्ररूपित अहिंसा धर्म) तत्त्व—सत्य है, तथ्य है, (तथारूप ही है)। यह इस (अर्हत्प्रवचन) में सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित है।

साधक उस (अर्हत् भाषित धर्म) को ग्रहण करके (उसके आचरण हेतु अपनी शक्तियों को) छिपाए नहीं, और न ही उसे (आवेश में आकर) फेंके या छोड़े। धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा जानकर (आजीवन उसका आचरण करे)।

(इष्ट-अनिष्ट) रूपों (इन्द्रिय-विषयों) से विरक्ति प्राप्त करे।

वह लोकैषणा में न भटके।

जिस मुमुक्षु में यह (लोकैषणा) बुद्धि (ज्ञाति—संज्ञा) नहीं है, उससे अन्य (सावद्यारम्भ-हिंसा) प्रवृत्ति कैसे होगी? अथवा जिसमें सम्यक्त्व ज्ञाति नहीं है या अहिंसा बुद्धि नहीं है उसमें दूसरी विवेक बुद्धि कैसे होगी?

यह जो (अहिंसा धर्म) कहा जा रहा है, वह इष्ट, श्रुत (सुना हुआ), मत (माना हुआ) और विशेष रूप से ज्ञात (अनुभूत) है।

हिंसा में (गृद्धिपूर्वक) रचे-पचे रहने वाले और उसी में लीन रहने वाले मनुष्य बार-बार जन्म लेते रहते हैं।

(मोक्ष मार्ग में) अहर्निश यत्न करने वाले, सतत प्रज्ञावान, धीर साधक! उन्हें देख जो प्रमत्त हैं, (धर्म से) बाहर हैं। इसलिए तू अप्रमत्त होकर सदा (अहिंसादि रूप धर्म में) पराक्रम कर।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इन दो सूत्रों में अहिंसा के तत्त्व का सम्यक् निरूपण, अहिंसा की त्रैकालिक एवं सार्वभौमिक मान्यता, सार्वजनीनता एवं इसकी सत्य-तथ्यता का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अहिंसा व्रत को स्वीकार करने वाले साधक को कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे सावधान रहकर अहिंसा के आचरण के लिए पराक्रम करना चाहिए? यह भी वता दिया गया है। यही अहिंसा धर्म के सम्वन्ध में सम्यग्वाद का प्ररूपण है।

'से वेमि' इन पदों द्वारा गणधर, तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा ज्ञात, अतीत-अनागत-वर्तमान तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित, अनुभूत, केवलज्ञान द्वारा दृष्ट, अहिंसा धर्म की सार्वभौमिकता की घोषणा करते हैं।[1]

आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। दूसरों के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसका उत्तर देना आख्यान—कथन है, देव-मनुष्यादि की परिषद् में वोलना—भाषण कहलाता है, शिष्यों की शंका का समाधान करने के लिए कहना 'प्रज्ञापन' है, तात्त्विक दष्टि से किसी तत्त्व या पदार्थ का निरूपण करना 'प्ररूपण' है।[2]

प्राण, भूत, जीव और सत्व वैसे तो एकार्थक माने गए हैं, जैसे कि आचार्य जिनदास कहते हैं—'एगट्ठिता वा एते'; किन्तु इन शव्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किये गये हैं।[3]

'हंतव्वा' से लेकर 'उद्दवेयव्वा' तक हिंसा के ही विविध प्रकार वताये गये हैं। इनका अर्थ पृथक्-पृथक् इस प्रकार है[4]—

'हंतव्वा'—डंडा/चावुक आदि से मारना-पीटना।

'अज्जावेतव्वा'—वलात् काम लेना, जवरन आदेश का पालन कराना, शासित करना।

'परिघेत्तव्वा'—बंधक या गुलाम वनाकर अपने कब्जे में रखना। दास-दासी आदि रूप में रखना।

'परितावेयव्वा'[5]—परिताप देना, सताना, हैरान करना, व्यथित करना।

'उद्दवेयव्वा'— प्राणों से रहित करना, मार डालना।

---

१. अतीत के तीर्थंकर अनन्त हैं, क्योंकि काल अनादि होता है। भविष्य के भी अनन्त हैं, क्योंकि आगामी काल भी अनन्त है, वर्तमान में कम से कम (जघन्य) २० तीर्थंकर हैं जो पांच महाविदेहों में से प्रत्येक में चार-चार के हिसाब से हैं। अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) १७० तीर्थंकर हो सकते हैं। महाविदेह क्षेत्र ५ हैं, उनमें प्रत्येक में ३२-३२ तीर्थकर होते हैं, अतः ३२×५=१६० तीर्थंकर हुए। ५ भरत क्षेत्रों में पांच और ५ ऐरावत क्षेत्रों में पांच—यों कुल मिलाकर एक साथ १७० तीर्थंकर हो सकते हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि मेरु पर्वत से पूर्व और अपर महाविदेह में एक-एक तीर्थंकर होते है, यों ५ महाविदेहों में १० तीर्थंकर विद्यमान होते हैं। जैसा कि एक आचार्य ने कहा है—

सत्तरसयमुक्कोसं, इअरे दस समयखेत्तजिणमाणं।
चोत्तीस पढमदीवे अणंतरऽद्धे य ते दुगुणा॥ —आचा० वृत्ति पत्र १६२

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।

३. देखिए प्रथम अध्ययन सूत्रांक ४९ का विवेचन।

४. आचा० निर्युक्ति गा० २२५, २२६ तथा आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।

५. परितापना के विविध प्रकारों के चिन्तन के लिए ऐर्यापथिक (इरियावहिया) सूत्र में पठित 'अभिहया' से लेकर 'जीवियाओ ववरोविआ' तक का पाठ देखें। —श्रमण सूत्र (उपा० अमरमुनि) पृ० ५४

यह अहिंसा धर्म किंचित् हिंसादि से मिश्रित या पापानुबन्धयुक्त नहीं है, इसे द्योतित करने हेतु 'शुद्ध' विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह त्रैकालिक और सार्वदेशिक, सदा सर्वत्र विद्यमान होने से इसे 'नित्य' कहा है, क्योंकि पंचमहाविदेह में तो यह सदा रहता है। शाश्वत इसलिए कहा है कि यह शाश्वत—सिद्धगति का कारण है।[1]

भ० महावीर ने प्रत्येक आत्मा में ज्ञानादि अनन्त क्षमताओं का निरूपण करके सबको स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज करने की प्रेरणा दी—'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'—यह कहकर। यही कारण है कि उन्होंने किसी पर अहिंसा धर्म के विचार थोपे नहीं, यह नहीं कहा कि "मैं कहता हूँ, इसलिए स्वीकार कर लो।" बल्कि भूत, भविष्य, वर्तमान के सभी तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित है, इसलिए यह अहिंसाधर्म सार्वभौमिक है, सर्वजन-ग्राह्य है, व्यवहार्य है, सर्वज्ञों ने केवलज्ञान के प्रकाश में इसे देखा है, अनुभव किया है, लघुकर्मी भव्य जीवों ने इसे सुना है, अभीष्ट माना है। जीवन में आचरित है, इसके शुभ-परिणाम भी जाने-देखे गए हैं, इस प्रकार 'अहिंसा धर्म की महत्ता एवं उपयोगिता बताने के लिए ही' 'उट्ठिएसु' से लेकर इस उद्देशक के अन्तिम वाक्य तक के सूत्रों द्वारा उल्लेख किया गया है; ताकि साधक की दृष्टि, मति, गति, निष्ठा और श्रद्धा अहिंसा-धर्म में स्थिर हो जाए।[2]

'दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा' का आशय यह है कि इष्ट या अनिष्ट रूप जो कि दृष्ट हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हैं, उनमें निर्वेद—वैराग्य धारण करे। इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष/घृणा न करे।[3]

'लोकैषणा' से तात्पर्य है—सामान्यतया इष्ट विषयों के संयोग और अनिष्ट के वियोग की लालसा। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी प्राणियों में रहती है, इसलिए साधक के लिए इस लोकैषणा का अनुसरण करने का निषेध किया गया है।[4]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

सम्यग्ज्ञान : आस्रव-परिस्रव चर्चा

१३४. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा।

१, आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
[illegible] टीका पत्रांक १६२।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।

एते य पए संबुज्झमाणे[1] लोगं च आणाए अभिसमेच्चा पुढो पवेदितं। आघाति[2] णाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणाणं विण्णाणपत्ताणं।

अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता।

अहासच्चमिणं ति बेमि।

णाऽणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि।

इच्छापणीता वंकाणिकेया कालग्गहीता णिचये णिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पेंति।[3]

१३५. इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवति। अहोववातिए फासे पडिसंवेदयंति। चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं चिट्ठं परिविचिट्ठति। अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं णो चिट्टं परिविचिट्ठति।

एगे वदंति अदुवा वि णाणी, णाणी वदंति अदुवा वि एगे।

१३६. आवंती केआवंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति "से दिट्ठं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो सुपडिलेहियं च णे—सव्वे[4] पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे सत्ता, हंतव्वा, अज्जावेतव्वा, परिघेत्तव्वा, परितावेतव्वा, उद्दवेतव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ दोसो।" अणारियवयणमेयं।

१३७. तत्थ जे ते आरिया[5] ते एवं वयासी—"से दुद्दिट्ठं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुव्विण्णायं च भे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो दुप्पडिलेहितं च भे, जं णं तुब्भे एवं आचक्खह, एवं भासह, एवं पण्णवेह, एवं परूवेह—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेतव्वा, परिघेत्तव्वा, परितावेयव्वा, उद्दवेतव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ[6] दोसो।" अणारियवयणमेयं।

---

१. 'एते य पए संबुज्झमाणे'..... पाठ में किसी-किसी प्रति में 'य' नहीं है। चूर्णि में इन पदों की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"एते य पदे संबुज्झ, च सद्दा अण्णे य जीव-अजीव-बंध-संवर-मोक्खा। संमं संगतं वा पसत्थं वा बुज्झमाणे"—'च' शब्द से अन्य (तत्त्व) जीव, अजीव, बन्ध, संवर और मोक्ष पदों का ग्रहण कर लेना चाहिए। 'संबुज्झमाणे' का अर्थ है—सम्यक्, संगत या प्रशस्तरूप से समझने वाला.........।

२. भदंत नागार्जुन वाचना में इस प्रकार का पाठ उपलब्ध है—"आघाति धम्मं खलु जे जीवाणं, संसार-पडिवण्णाणं मणुस्सभवत्थाणं आरंभविणयीणं दुक्खुब्वेअसुहेसगाणं, धम्मसवणगवेसगाणं (निक्खित्त-सत्थाणं) सुस्सूसमाणाणं पडिपुच्छमाणाणं विण्णाणपत्ताणं।" इसका भावार्थ इस प्रकार है—ज्ञानी पुरुष उन जीवों को धर्मोपदेश देते हैं, जो संसार (चतुर्गति रूप) में स्थित है, मनुष्यभव में स्थित हैं, आरम्भ से विशेष प्रकार से हटे हुए हैं, दुःख से उद्विग्न होकर सुख की तलाश करते हैं, धर्म-श्रवण की तलाश में रहते हैं, शस्त्र-त्यागी हैं, धर्म सुनने को इच्छुक हैं, प्रति-प्रश्न करने के अभिलाषी हैं, जिन्हें विशिष्ट अनुभव युक्त ज्ञान प्राप्त है।

३. 'पुढो पुढो जाइं पकप्पेंति' के स्थान पर 'एत्थ मोहे पुणो पुणो' पाठ मिलता है। इसका अर्थ है—इस विषय में पुनः पुनः मोह मूढ़ बनते हैं।

४. यहाँ पाठ में क्रम भंग हुआ लगता है। 'सव्वे पाणा, सव्वे भूता, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता'—यही क्रम ठीक लगता है।

५. 'आरिया' के स्थान पर 'आयरिया' पाठ भी है, उसका अर्थ है—आचार्य।

६. 'णत्थेत्थ' के स्थान पर कई प्रतियों में 'नत्थित्थ' शब्द मिलता है।

१३८. वयं पुण[1] एवमाचिक्खामो, एवं भासामो, एवं पण्णवेमो, एवं परूवेमो—'सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेतव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ दोसो।' आरियवयणमेयं।

१३९. पुव्वं णिकाय समयं पत्तेयं[2] पुच्छिस्सामो—[3]हं भो पावादुया! किं भे सायं दुक्खं उताहु[4] असायं? समिता पडिवण्णे या वि एवं बूया—सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१३४. जो आस्रव (कर्मबन्ध) के स्थान हैं, वे ही परिस्रव—कर्मनिर्जरा के स्थान बन जाते हैं, (इसीप्रकार) जो परिस्रव हैं, वे आस्रव हो जाते हैं, जो अनास्रव-व्रत विशेष हैं, वे भी (अशुभ अध्यवसाय वाले के लिए) अपरिस्रव—कर्म के कारण हो जाते हैं, (इसीप्रकार) जो अपरिस्रव—पाप के कारण हैं, वे भी (कदाचित्) अनास्रव (कर्मबंध के कारण) नहीं होते हैं।

इन पदों (भंगों-विकल्पों) को सम्यक् प्रकार से समझने वाला तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित लोक (जीव समूह) को आज्ञा (आगमवाणी) के अनुसार सम्यक् प्रकार से जानकर आस्रवों का सेवन न करे।

ज्ञानी पुरुष, इस विषय में, संसार में स्थित, सम्यक् बोध पाने के लिए उत्सुक एवं विज्ञान-प्राप्त (हित की प्राप्ति और अहित से निवृत्ति के निश्चय पर पहुँचे हुए) मनुष्यों को उपदेश करते हैं।

जो आर्त अथवा प्रमत्त (विषयासक्त) होते हैं, वे भी (कर्मों का क्षयोपशम होने पर अथवा शुभ अवसर मिलने पर) धर्म का आचरण कर सकते हैं।

यह यथातथ्य-सत्य है, ऐसा मैं कहता हूँ।

जीवों को मृत्यु के मुख में (कभी) जाना नहीं होगा, ऐसा सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ लोग (विषय-सुखों की) इच्छा द्वारा प्रेरित और वक्रता (कुटिलता) के घर बने रहते हैं। वे मृत्यु की पकड़ में आ जाने पर भी (अथवा धर्माचरण का काल/अवसर हाथ में आ जाने पर भी भविष्य में करने की बात सोचकर) कर्म-संचय करने या धन-संग्रह में रचे-पचे रहते हैं। ऐसे लोग विभिन्न योनियों में बारम्बार जन्म ग्रहण करते रहते हैं।

१३५. इस लोक में कुछ लोगों को उन-उन (विभिन्न मतवादों) का सम्पर्क होता है (वे उन मतान्तरों की असत्य धारणाओं से बंधकर कर्मास्रव करते हैं और

---

१. 'माचिक्खामो' के स्थान पर कहीं-कहीं 'मातिक्खामो' पाठ मिलता है।
२. कई प्रतियों में 'पत्तेयं पत्तेयं'—यों दो बार यह शब्द अंकित है।
३. 'हं भो पावादुया!' के स्थान पर किसी प्रति में 'हं भो पावादिया' तथा हं भो समणा माहणा किं··· पाठ है।
४. 'सायं दुक्खं उताहु असायं' के स्थान पर 'सातं दुक्खं उदाहु अस्सातं'—ऐसा पाठ चूर्णि में मिलता है।

तब वे आयुष्य पूर्ण कर) लोक में होने वाले (विभिन्न) दुःखों का संवेदन—भोग करते हैं।

जो व्यक्ति अत्यन्त गाढ़ अध्यवसायवश क्रूर कर्मों में प्रवृत्त होता है, वह (उन क्रूर कर्मों के फलस्वरूप) अत्यन्त प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में पैदा होता है। जो गाढ़ अध्यवसाय वाला न होकर, क्रूर कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, वह प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न नहीं होता।

यह बात चौदह पूर्वों के धारक श्रुतकेवली आदि कहते हैं या केवलज्ञानी भी कहते हैं। जो यह बात केवलज्ञानी कहते हैं वही श्रुतकेवली भी कहते हैं।

१३६. इस मत-मतान्तरों वाले लोक में जितने भी, जो भी श्रमण या ब्राह्मण हैं, वे परस्पर विरोधी भिन्न-भिन्न मतवाद (विवाद) का प्रतिपादन करते हैं। जैसे कि कुछ मतवादी कहते हैं—"हमने यह देख लिया है, सुन लिया है, मनन कर लिया है, और विशेष रूप से जान भी लिया है, (इतना ही नहीं), ऊँची, नीची और तिरछी सभी दिशाओं में सब तरह से भली-भाँति इसका निरीक्षण भी कर लिया है कि सभी प्राणी, सभी जीव, सभी भूत और सभी सत्त्व हनन करने योग्य हैं, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें परिताप पहुंचाया जा सकता है, उन्हें गुलाम बनाकर रखा जा सकता है, उन्हें प्राणहीन बनाया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में यही समझ लो कि (इस प्रकार से) हिंसा में कोई दोष नहीं है।"

यह अनार्य (पाप-परायण) लोगों का कथन है।

१३७. इस जगत् में जो भी आर्य—पाप कर्मों से दूर रहने वाले हैं, उन्होंने ऐसा कहा है—"ओ हिंसावादियों! आपने दोषपूर्ण देखा है, दोषयुक्त सुना है, दोषयुक्त मनन किया है, आपने दोषयुक्त ही समझा है, ऊँची-नीची-तिरछी सभी दिशाओं में सर्वथा दोषपूर्ण होकर निरीक्षण किया है, जो आप ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं, ऐसा प्ररूपण (मत-प्रस्थापन) करते हैं कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हनन करने योग्य हैं, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें बलात् पकड़ कर दास बनाया जा सकता है, उन्हें परिताप दिया जा सकता है, उनको प्राणहीन बनाया जा सकता है; इस विषय में यह निश्चित समझ लो कि हिंसा में कोई दोष नहीं है।" यह सरासर अनार्य-वचन है।

१३८. हम इस प्रकार कहते हैं, ऐसा ही भाषण करते हैं, ऐसा ही प्रज्ञापन करते हैं, ऐसा ही प्ररूपण करते हैं कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उनको जबरन शासित नहीं करना चाहिए, उन्हें पकड़ कर दास नहीं बनाना चाहिए, न ही परिताप देना चाहिए और न उन्हें डराना-धमकाना, प्राण-रहित करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निश्चित समझ लो कि अहिंसा का पालन सर्वथा दोष रहित है।"

यह (अहिंसा का प्रतिपादन) आर्यवचन है।

१३९. पहले उनमें से प्रत्येक दार्शनिक को, जो-जो उसका सिद्धान्त है, उसमें व्यवस्थापित कर हम पूछेंगे—"हे दार्शनिको ! प्रखरवादियों ! आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय ? यदि आप कहें कि हमें दुःख प्रिय है, तब तो वह उत्तर प्रत्यक्ष विरुद्ध होगा, यदि आप कहें कि हमें दुःख प्रिय नहीं है, तो आपके द्वारा इस सम्यक् सिद्धान्त के स्वीकार किए जाने पर हम आपसे यह कहना चाहेंगे कि, "जैसे आपको दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख असाताकारक है, अप्रिय है, अशान्तिजनक है और महा भयंकर है।" —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक में आस्रव और परिस्रव की परीक्षा के लिए तथा आस्रव में पड़े हुए लोग कैसे परिस्रव (निर्जरा-धर्म) में प्रवृत्त हो जाते हैं, तथा परिस्रव (धर्म) का अवसर आने पर भी लोग कैसे आस्रव में ही फंसे रहते हैं ? आस्रव मग्नजनों को नरकादि में विभिन्न दुःखों का स्पर्श होता है, तथा क्रूर अध्यवसाय से ही प्रगाढ़ वेदना होती हैं, अन्यथा नहीं इनके लिए विवेक सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं। अन्त में, हिंसावादियों के मिथ्यावाद-प्ररूपणा का सम्यग्वाद के मण्डन द्वारा निराकरण किया गया है। इस प्रकार अर्हद्दर्शन की सम्यक्ता का स्थापन किया है।[1]

आस्रव का सामान्य अर्थ है—'कायवाङ्मनः कर्म योगः, स आस्रवः'[2] काया, वचन और मन की शुभाशुभ क्रिया—प्रवृत्ति योग कहलाती है, वही आस्रव है।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि में प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है, और इनसे विपरीत शुभ आशय से की जाने वाली प्रवृत्ति शुभकायास्रव है।

कठोर शब्द, गाली, चुगली निन्दा आदि के रूप में पर-बाधक वचनों की प्रवृत्ति वाचिक अशुभ आस्रव है, इनसे विपरीत प्रवृत्ति वाचिक शुभास्रव है।

मिथ्याश्रुति, घातचिन्तन, अहितचिन्तन, ईर्ष्या, मात्सर्य, षड्यन्त्र आदि रूप में मन की प्रवृत्ति मानस अशुभास्रव हैं और इनसे विपरीत मानस शुभास्रव है।[3]

(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) मैथुन और (५) परिग्रह—ये पाँच आस्रव-द्वार माने जाते हैं।[4] आस्रव के भेद कुछ आचार्यों ने मुख्यतया पाँच माने हैं[5] (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। कुछ आचार्यों ने (१) इन्द्रिय, (२) कषाय, (३) अव्रत, (४) क्रिया और (५) योग—ये पाँच मुख्य भेद मानकर उत्तर भेद ४२ माने हैं—५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अव्रत, २५ क्रिया और ३ योग।[6] किन्तु इन सबका फलितार्थ एक ही है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४। २ तत्त्वार्थ सूत्र अ० ६, सू० १, २।
३ तत्त्वार्थ-राजवार्तिक अ० ७।१४।३६।२५।
४ (क) प्रश्नव्याकरण, प्रथम खण्ड आस्रवद्वार, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४।
५ (क) समयसार मूल १६४, (ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड मू० ८६, (ग) बृ० द्रव्य संग्रह मू० ३०।
६ (क) तत्त्वार्थसार ४।७, (ख) नवतत्त्वगाथा।

आस्रव का सर्व सामान्य लक्षण है—आठ प्रकार के शुभाशुभ कर्म जिन मिथ्यात्वादि स्रोतों से आते हैं—आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाते हैं, उन स्रोतों को आश्रव कहते हैं।[1]

आस्रव और बन्ध के कारणों में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु प्रक्रिया में थोड़ा-सा अन्तर है। कर्मस्कन्धों का आगमन आश्रव कहलाता है, और कर्मस्कन्धों के आगमन के वाद उन कर्म-स्कन्धों का जीव—(आत्म-) प्रदेशों में स्थित हो जाना वन्ध है। आस्रव और वन्ध में यही अन्तर है। इस दृष्टि से आस्रव को वन्ध का कारण कहा जा सकता है।[2]

इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में आश्रवों को कर्मवन्ध के स्थान— कारण वताए गये हैं।

परिस्रव—जिन अनुष्ठान विशेषों से कर्म चारों ओर से गल या वह जाता है, उसे परिस्रव कहते हैं।[3]

नव तत्त्व की शैली में इसे 'निर्जरा' कह सकते हैं, क्योंकि निर्जरा का यही लक्षण है। इसीलिए यहाँ परिस्रव को 'निर्जरा स्थान' वताया गया है। आस्रवों से निवृत्त होने का उपाय 'मूलाचार' में यों वताया गया है—'मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगों से जो कर्म आते हैं वे सम्यग्दर्शन, विरति, क्षमादिभाव और योगनिरोध से नहीं आने पाते, रुक जाते हैं।'[4] समयसार में निश्चय दृष्टि से आस्रव-निरोध का उपाय वताते हुए कहा है[5]—"ज्ञानी विचारता है कि 'मैं एक हूँ, निश्चयतः सवसे पृथक् हूं, शुद्ध हूं, ममत्वरहित हूं, ज्ञान और दर्शन से परिपूर्ण हूं।' इस प्रकार अपने आत्मभाव (स्वभाव) में स्थित उसी चैतन्य अनुभव में एकाग्रचित्त—तल्लीन हुआ मैं इस सव क्रोधादि आस्रवों का क्षय कर देता हूं। ये आस्रव जीव के साथ निबद्ध हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं, इनका फल दुःख ही है, यह जानकर ज्ञानी पुरुष उनसे निवृत्त होता है। जैसे-जैसे जीव आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, वैसे-वैसे वह विज्ञानघन स्वभाव होता है, यानी आत्मा ज्ञान में स्थिर होता जाता है।"

इसी दृष्टि का संक्षेप कथन यहाँ पर हुआ है कि जो आस्रव के—कर्मवन्धन के स्थान हैं, वे ही ज्ञानी पुरुष के लिए परिस्रव—कर्मनिर्जरा के स्थान—(कारण) हो जाते हैं। इसका आशय यह है कि[6] विषय-सुखमग्न मनुष्यों के लिए जो स्त्री, वस्त्र, अलंकार, शैया आदि वैषयिक सुख के कारणभूत पदार्थ कर्मबन्ध के हेतु होने से आस्रव हैं, वे ही पदार्थ विषय-सुखों से पराङ्मुख साधकों के लिए आध्यात्मिक चिन्तन का आधार वन कर परिस्रव—कर्मनिर्जरा के हेतु हैं—स्थान हैं और अर्हद्देव, निर्ग्रन्थ मुनि, चारित्र, तपश्चरण, दशविध धर्म या दशविध समाचारी का पालन आदि जो कर्म-निर्जरा के स्थान है, वे ही असम्वुद्ध—अज्ञानी व्यक्तियों के लिए कर्मोदयवश, अहंकार आदि अशुभ अध्यवसाय के कारण, ऋद्धि-रस-साता के गर्ववश या आशातना के कारण आस्रव रूप—कर्मबन्ध स्थान हो जाते हैं।

इसी वात को अनेकान्तशैली से शास्त्रकार वताते हैं—जो व्रतविशेषरूप अनास्रव है, अशुभ परिणामों के कारण वे असम्वुद्ध—अज्ञानी व्यक्ति के लिए अपरिस्रव—आस्रवरूप हो

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४।
२ द्रव्य संग्रह टीका ३३।६४।
३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४।
४ मूलाचार गा० २४१।
५ समयसार गा० ७३, ७४।
६ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४।

जाते है, कर्मबन्ध के हेतु वन जाते हैं, उनकी दृष्टि और कर्मों की विषमता के कारण। इसी प्रकार जो अपरिस्रव है—आस्रवरूप है—कर्म वन्ध के कारणरूप—किंवा कर्म से ग्रस्त वेश्या, हत्यारा, पापी या नारकीय जीव आदि हैं, वे ही सम्बुद्ध—ज्ञानवान् के लिए अनास्रवरूप हो जाते हैं, यानी वे उसके लिए आस्रवरूप न वनकर कर्मनिर्जरा के कारण वन जाते हैं। इसीलिए कहा है—

> यथाप्रकारा यावन्तः संसारावेशहेतवः।
> तावन्तस्तद्विपर्यासात् निर्वाणसुखहेतवः॥

—जिस प्रकार के और जितने संसार-परिभ्रमण के हेतु हैं, उसी प्रकार के और उतने ही निर्वाण-सुख के हेतु हैं।

वास्तव में इस सूत्र के आधार पर आस्रव, परिस्रव, अनास्रव और अपरिस्रव को लेकर चतुर्भंगी होती है, वह क्रमशः इस प्रकार है—

(१) जो आस्रव हैं, वे परिस्रव हैं, जो परिस्रव हैं, वे आस्रव हैं।

(२) जो आस्रव हैं, वे अपरिस्रव हैं, जो अपरिस्रव हैं, वे आस्रव हैं।

(३) जो अनास्रव हैं, वे परिस्रव हैं, जो परिस्रव हैं, वे अनास्रव हैं।

(४) जो अनास्रव है, वे अपरिस्रव हैं, जो अपरिस्रव हैं, वे अनास्रव हैं।

प्रस्तुत सूत्र में पहले और चौथे भंग का निर्देश है। दूसरा भंग शून्य है। अर्थात् आस्रव हो और निर्जरा न हो—ऐसा कभी नहीं होता। तृतीय भंग शैलेशी अवस्था-प्राप्त (निष्प्रकम्प-अयोगी) मुनि की अपेक्षा से है, उनको आस्रव नहीं होता; केवल परिस्रव (संचित कर्मों का क्षय) होता है। चतुर्थ भंग मुक्त आत्माओं की अपेक्षा से प्रतिपादित है। उनके आस्रव और परिस्रव दोनों ही नहीं होते। वे कर्म के बन्ध और कर्मक्षय दोनों से अतीत होते हैं।[1]

इस सूत्र का निष्कर्ष यह है कि किसी भी वस्तु, घटना, प्रवृत्ति, क्रिया, भावधारा या व्यक्ति के सम्वन्ध में एकांगी दृष्टि से सही निर्णय नहीं दिया जा सकता। एक ही क्रिया को करने वाले दो व्यक्तियों के परिणामों की धारा अलग-अलग होने से एक उससे कर्म-बन्धन कर लेगा, दूसरा उसी क्रिया से कर्म-निर्जरा (क्षय) कर लेगा। आचार्य अमितगति ने योगसार (६।१८) में कहा है—

> अज्ञानी बध्यते यत्र, सेव्यमानेऽक्षगोचरे।
> तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यतामाश्चर्यमीदृशम्॥

इन्द्रिय-विषय का सेवन करने पर अज्ञानी जहाँ कर्मबन्धन कर लेता है, ज्ञानी उसी विषय के सेवन करने पर कर्म-वन्धन से मुक्त होता है—निर्जरा कर लेता है। इस आश्चर्य को देखिए।

'अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता'—इस सूत्र का आशय वहुत गहन है। कई लोग अशुभ आस्रव-पापकर्म में पड़े हुए या विषय-सुखों में लिप्त प्रमत्त लोगों को देखकर यह कह देते हैं कि, "ये क्या धर्माचरण करेंगे, ये क्या पाप कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत होंगे?"

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६५।

शास्त्रकार कहते हैं कि अगर अनेकान्तवादात्मक सापेक्ष दृष्टिकोणमूलक उन आस्रव-परिस्रव के विकल्पों को वे हृदयंगम कर लें तो इस विज्ञान को प्राप्त हों, किसी निमित्त से अर्जुनमाली, चिलातीपुत्र आदि की तरह आर्त्त—राग-द्वेषोदयवश पीड़ित भी हो जाएँ अथवा शालिभद्र, स्थूलिभद्र आदि की तरह विषय-सुखों में प्रमत्त व मग्न भी हों तो भी तथाविधकर्म का क्षयोपशम होने पर धर्म-बोध प्राप्त होते ही जाग्रत होकर कर्म बन्धन के स्थान में धर्म मार्ग अपनाकर कर्मनिर्जरा करने लगते हैं।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं, यह बात पूर्ण सत्य है, इसीलिए आगे कहा गया है—'अहासच्चमिणं ति बेमि'। इस सिद्धान्त ने प्रत्येक आत्मा में विकास और कल्याण की असीम-अनन्त सम्भावनाओं का उद्घाटन कर दिया है तथा किसी पापात्मा को देखकर उसके प्रति तुच्छ धारणा न बनाने का भी संकेत दिया है।

कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ यों किया है—"आर्त्त और प्रमत्त मनुष्य धर्म को स्वीकार नहीं करते।" हमारे विचार में यह अर्थ-संगत नहीं है, क्योंकि सामान्यतः आर्त्त प्राणी दुःख से मुक्ति पाने के लिए धर्म की शरण ही ग्रहण करता है। फिर यहाँ 'आस्रव-परिस्रव' का अनैकान्तिक दृष्टि-प्रसंग चल रहा है, जब आस्रव, परिस्रव बन सकता है, तो आर्त्त और प्रमत्त मनुष्य धर्म को स्वीकार कर शांत और अप्रमत्त क्यों नहीं बन सकता? उसमें विकास व सुधार की सम्भावना स्वीकार करना ही उक्त वचन का उद्देश्य है—ऐसा हमारा विनम्र अभिमत है।

'एगे वदंति अदुवा वि णाणी'—यह सूत्र परीक्षात्मक है। इसके द्वारा आस्रवों से बचने की पूर्वोक्त प्रेरणा की कसौटी की गयी है कि आस्रवों के त्याग की बात अन्य दार्शनिक लोग कहते-मानते हैं या ज्ञानी ही कहते-मानते हैं? इसके उत्तर में आगे के सूत्रों में कुछ विरोधी विचारधारा के दार्शनिकों की मान्यता प्रस्तुत करके उनकी मान्यता क्यों अयथार्थ है? इसका कारण बताते हुए स्वकीय मत का स्थापन किया गया है। साथ ही हिंसा-त्याग क्यों आवश्यक है? इसके लिए एक अकाट्य, अनुभवगम्य तर्क प्रस्तुत करके वदतोव्याघातन्यायेन उन्हीं के उत्तर से उनको निरुत्तर कर दिया गया है।[2]

निष्कर्ष यह है कि यहाँ से आगे के सभी सूत्र 'अहिंसा धर्म के आचरण के लिए हिंसा त्याग की आवश्यकता' के सिद्धान्त की परीक्षा को लेकर प्रस्तुत किये गये हैं। एक दृष्टि से देखा जाए तो हिंसारूप आस्रव के त्याग की आवश्यकता का सिद्धान्त स्थापित करके—स्थालीपुलाकन्याय से शेष सभी आस्रवों (असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि) के त्याग की आवश्यकता ध्वनित कर दी गयी है।

'नत्थेत्थ दोसो०'—इस सूत्र के द्वारा सांख्य, मीमांसक, चार्वाक, वैशेषिक, बौद्ध आदि अन्य मतवादियों के हिंसा सम्बन्धी मन्तव्य में भिन्नवाक्यता, सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा का अस्वीकार, आत्मा के अस्तित्व का निषेध आदि दूषण ध्वनित किए गए हैं।[3] हिंसा में कोई

---

१. योगसार ६।१८।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६६।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६८।

दोष नहीं है'—इसे अनार्यवचन कहकर शास्त्रकार ने युक्ति से उनकी अनार्यवचनता सिद्ध की है। जैसे रोहगुप्त मन्त्री ने राजसभा में विभिन्न तीर्थकों की धर्मपरीक्षा हेतु उन्हीं की उक्ति से उनको दूषित सिद्ध किया था और 'सकुण्डलं वा वयणं न वत्ति'—इस गाथा की पादपूर्ति क्षुल्लक मुनि द्वारा करवा कर अर्हत् धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की थी, वैसे ही धर्म-परीक्षा के लिए करना चाहिए। निर्युक्ति में इसका विस्तृत वर्णन है।[1]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

सम्यक् तप : दुःख एवं कर्मक्षय-विधि

१४०. उवेहेणं बहिया य लोकं। से सव्वलोकंसि जे केइ विण्णू। अणुवियि[2] पास णिक्खित्तदंडा जे केइ सत्ता पलियं चयंति। णरा मुतच्चा धम्मविदु त्ति अंजू आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा।

एवमाहु सम्मत्तदंसिणो। ते सव्वे पावादिया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो।

१४१. इह आणाकंखी पंडिते अणिहे एगमप्पाणं सपेहाए धुणे सरीरं,[3] कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं। जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति[4] एवं अत्तसमाहिते अणिहे।

१४२. विगिंच कोहं अविकंपमाणे इमं निरुद्धाउयं सपेहाए। दुक्खं च जाण अदुवाऽऽगमेस्सं। पुढो फासाइं च फासे। लोयं च पास विप्फंदमाणं[5]।

जे णिव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणिदाणा ते वियाहिता।[6] तम्हाऽतिविज्जो णो पडिसंजलेज्जासि त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१४०. इस (पूर्वोक्त अहिंसादि धर्म से) विमुख (बाह्य) जो (दार्शनिक) लोग हैं उनकी उपेक्षा कर! जो ऐसा करता है, वह समस्त मनुष्य लोक में जो कोई विद्वान है, उनमें अग्रणी विज्ञ (विद्वान्) है। तू अनुचिन्तन करके देख—जिन्होंने (प्राणि-

---

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० २२८, २२९, २३०, २३१, (ख) उत्तरा० अ० २५।४२-४३ वृत्ति (ग) आचा० शीला० पत्रांक १६९-१७०।
२. 'अणुवियि', 'अणुवीइ', 'अणुवितिय', 'अणुचिंतिय', 'अणुविय' आदि पाठान्तर मिलते हैं।
३. 'सरीरं' के स्थान पर 'सरीरगं' शब्द मिलता है।
४. 'पमंथति' का अर्थ चूर्णि में है—"भिसं मंथेति"—(अत्यन्त मथन करती है—जला देती है)।
५. चूर्णि में 'विप्फंदमाणं' के स्थान पर 'विफुडमाणं' शब्द है।
६. 'तम्हाऽतिविज्जो' के स्थान पर 'तम्हा तिविज्जा' पाठ भी मिलता है। चूर्णि में पठित 'तम्हा ति विज्जं' पाठ अधिक युक्ति संगत लगता है।

विघातकारी) दण्ड (हिंसा) का त्याग किया है, (वे ही श्रेष्ठ विद्वान् होते हैं।) जो सत्त्वशील मनुष्य धर्म के सम्यक् विशेषज्ञ होते हैं, वे ही कर्म (पलित) का क्षय करते हैं। ऐसे मनुष्य धर्मवेत्ता होते हैं, अतएव वे सरल (ऋजु—कुटिलता रहित) होते हैं, (साथ ही वे) शरीर के प्रति अनासक्त या कषायरूपी अर्चा को विनष्ट किये हुए (मृतार्च) होते हैं, अथवा शरीर के प्रति भी अनासक्त होते हैं।

इस दुःख को आरम्भ (हिंसा) से उत्पन्न हुआ जानकर (समस्त हिंसा का त्याग करना चाहिए)—ऐसा समत्वदर्शियों (सम्यक्त्वदर्शियों या समस्तदर्शियों—सर्वज्ञों) ने कहा है।

वे सब प्रावादिक (यथार्थ प्रवक्ता सर्वज्ञ) होते हैं, वे दुःख (दुःख के कारण कर्मों) को जानने में कुशल होते हैं। इसलिए वे कर्मों को सब प्रकार से जानकर उनको त्याग करने का उपदेश देते हैं।

१४१. यहाँ (अर्हत्प्रवचन में) आज्ञा का आकांक्षी पण्डित (शरीर एवं कर्मादि के प्रति) अनासक्त (स्नेहरहित) होकर एकमात्र आत्मा को देखता हुआ, शरीर (कर्म-शरीर) को प्रकम्पित कर डाले। (तपश्चरण द्वारा) अपने कषाय-आत्मा (शरीर) को कृश करे, जीर्ण कर डाले। जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला डालती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला वीतराग पुरुष प्रकम्पित, कृश एवं जीर्ण हुए कषायात्मा—कर्म शरीर को (तप, ध्यान रूपी अग्नि से) शीघ्र जला डालता है।

१४२. यह मनुष्य-जीवन अल्पायु है, यह सम्प्रेक्षा (गहराई से निरीक्षण) करता हुआ साधक अकम्पित रहकर क्रोध का त्याग करे। (क्रोधादि से) वर्तमान में अथवा भविष्य में उत्पन्न होने वाले दुःखों को जान। क्रोधी पुरुष भिन्न-भिन्न नरकादि स्थानों में विभिन्न दुःखों (दुःख-स्पर्शों) का अनुभव करता है। प्राणिलोक को (दुःख प्रतीकार के लिए) इधर-उधर भाग दौड़ करते (विस्पन्दित होते) देख!

जो पुरुष (हिंसा, विषय-कषायादि जनित) पापकर्मों से निवृत्त हैं, वे अनिदान (बन्ध के मूल कारणों से मुक्त) कहे गये हैं।

इसलिए हे अति विद्वान! (त्रिविद्य साधक!) तू (विषय-कषाय की अग्नि से) प्रज्वलित मत हो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक में दुःखों और उनके कारणभूत कर्मों को जानने तथा उनका याग करने के लिए बाह्य-आभ्यन्तर सम्यक् तप का निर्देश किया गया है। आगे के सूत्रों में म्यक् तप की विधि बताई है। शरीर या कर्म शरीर—कषायात्मा को प्रकम्पित, कृश या ीर्ण करने का निर्देश सम्यक् तप का ही विधान है।

'**उवेहेणं**'—इस पद में, जो अहिंसादि धर्म से विमुख हैं, उनकी उपेक्षा करने का तात्पर्य है—उनके विधि-विधानों को, उनकी रीति-नीति को मत मान, उनके सम्पर्क में मत आ,

उनको प्रतिष्ठा मत दे, उनके धर्मविरुद्ध उपदेश को यथार्थ मत मान, उनके आडम्बरों और लच्छेदार भाषणों से प्रभावित मत हो, उनके कथन को अनार्यवचन समझ।[१]

'से सव्वलोकंसि जे केइ विण्णू'—यहाँ सर्वलोक से तात्पर्य समस्त दार्शनिक जगत् से है। जो व्यक्ति धर्म-विरुद्ध हिंसादि की प्ररूपणा करते हैं, उनके विचारों से जो भ्रान्त नहीं होता, वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से चिन्तन-मनन करता है, हेय-उपादेय का विवेक करता है, सारे संसार के प्राणियों के दुःख-सुख का आत्मौपम्यदृष्टि से विचार करता है, उसे समस्त दार्शनिक जगत् में श्रेष्ठ विद्वान कहा गया है।[२]

मन, वचन और काया से प्राणियों का विघात करने वाली प्रवृत्ति को 'दण्ड' कहा है। यहाँ दण्ड हिंसा का पर्यायवाची है। हिंसायुक्त प्रवृत्ति भाव-दण्ड है।[३]

'मुतच्चा' शब्द का संस्कृत रूप होता है—'मृतार्चाः'। 'अर्चा' शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त है—शरीर और क्रोध (तेज)। इसलिए 'मृतार्चा' का अर्थ हुआ—

(१) जिसकी देह अर्चा/साजसज्जा, संस्कार-शुश्रूषा के प्रति मृतवत् है—जो शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीन या अनासक्त है।

(२) क्रोध तेज से युक्त होता है, इसलिए क्रोध को अर्चा—अग्नि कहा गया है। उपलक्षण से समस्त कषायों का ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः जिसकी कषायरूप अर्चा मृत—विनष्ट हो गई है, वह भी 'मृतार्च' कहलाता है।[४]

'सम्मत्तदंसिणो'—इस शब्द के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं—'समत्वदर्शिनः' 'सम्यक्त्वदर्शिनः और 'समस्तदर्शिनः'। ये तीनों ही अर्थ घटित होते हैं। सर्वज्ञ अर्हद्देव की प्राणिमात्र पर समत्वदृष्टि होती ही है, वे प्राणिमात्र को आत्मवत् जानते-देखते हैं, इसलिए 'समत्वदर्शी' होते हैं। इसी प्रकार वे प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, विचारधारा, घटना आदि के तह में पहुँचकर उसकी सचाई (सम्यक्ता) को यथावस्थित रूप से जानते-देखते हैं, इसलिए वे 'सम्यक्त्वदर्शी' हैं और केवलज्ञान के महाप्रकाश में वे समस्त त्रैकालिक वस्तुओं को जानते—देखते हैं, इसलिए वे 'समस्तदर्शी' (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी) भी है।[५]

'इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो'—का तात्पर्य है, कर्मों से सर्वथा मुक्त एवं सर्वज्ञ होने के कारण, वे कर्म-विदारण करने में कुशल वीतराग तीर्थंकर, कर्मों का ज्ञान करा कर, उन्हें सर्वथा छोड़ने का उपदेश देते हैं।

आशय यह है कि वे कर्ममुक्ति में कुशल पुरुष कर्म का लक्षण, उसका उपादान कारण, कर्म की मूल-उत्तर प्रकृतियाँ, विभिन्न कर्मों के बन्ध के कारण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के रूप में बन्ध के प्रकार, कर्मों के उदयस्थान, विभिन्न कर्मों की उदीरणा, सत्ता और स्थिति, कर्मबन्ध को तोड़ने—कर्ममुक्त होने के उपाय आदि सभी प्रकार से कर्म का परिज्ञान करते हैं और कर्म से मुक्त होने की प्रेरणा करते हैं।[६]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
६. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७२।

'आणाकंखी पंडिते अणिहे'—यहाँ वृत्तिकार ने 'आणाकंखी' का अर्थ किया है—'आज्ञाकांक्षी'—सर्वज्ञ के उपदेश के अनुसार अनुष्ठान करने वाला।[1] किन्तु आज्ञा की आकांक्षा नहीं होती, उसका तो पालन या अनुसरण होता है, जैसा कि स्वयं टीकाकार ने भी आशय प्रकट किया है। हमारी दृष्टि से यहाँ 'अणाकंखी' शब्द होना अधिक संगत है, जिसका अर्थ होगा—'अनाकांक्षी'—निस्पृह, किसी से कुछ भी अपेक्षा या आकांक्षा न रखने वाला। ऐसा व्यक्ति ही शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव (परिवार आदि) एवं निर्जीव धन, वस्त्र, आभूषण, मकान आदि के प्रति अस्निह—स्नेहरहित—निर्मोही या रागरहित हो सकेगा। अतः 'अनाकांक्षी' पद स्वीकार कर लेने पर 'अस्निह' या 'अनीह' पद के साथ संगति बैठ सकती है।

आगमकार की भावना के अनुसार उस व्यक्ति को पण्डित कहा जा सकता है, जो शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान में निपुण हो।

'एगमप्पाणं सपेहाए'—इस वाक्य की चूर्णिकार ने एकत्वानुप्रेक्षा और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा-परक व्याख्याएं की हैं। एकाकी आत्मा की संप्रेक्षा (अनुप्रेक्षा) इस प्रकार करनी चाहिए—

एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्।
जायते म्रियते चैक एको याति भवान्तरम् ॥१॥

सदैकोऽहं, न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याऽहं, नासौ भावीति यो मम ॥२॥

संसार एवाऽयमनर्थसारः, कः कस्य, कोऽत्र स्वजनः परो वा।
सर्वे भ्रमन्ति स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा, न भवन्ति भूयः ॥३॥

विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥४॥

—आत्मा अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही जन्मान्तर में जाता है।१।

—मैं सदैव अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी दूसरे का हूँ। मैं ऐसा नहीं देखता कि जिसका मैं अपने आपको बता सकूँ, न ही उसे भी देखता हूँ, जो मेरा हो सके।२।

—इस संसार में अनर्थ की ही प्रधानता है। यहाँ कौन किसका है? कौन स्वजन या पर-जन है? ये सभी स्वजन और पर-जन तो संसार चक्र में भ्रमण करते हुए किसी समय (जन्म में) स्वजन और फिर पर-जन हो जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, जब न कोई स्वजन रहता है, न कोई पर-जन।३।

—आप यह चिन्तन कीजिए कि मैं अकेला हूँ। पहले भी मेरा कोई न था, और पीछे भी मेरा कोई नहीं है। अपने कर्मों (मोहनीयादि) के कारण मुझे दूसरों को अपना मानने की भ्रान्ति हो रही है। वास्तव में पहले भी मैं अकेला था, अब भी अकेला हूँ और पीछे भी मैं अकेला ही रहूँगा।४।[2]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७३।
२. आचारांग वृत्ति एवं निर्युक्ति पत्रांक १७३।

उनको प्रतिष्ठा मत दे, उनके धर्मविरुद्ध उपदेश को यथार्थ मत मान, उनके आडम्बरों और लच्छेदार भाषणों से प्रभावित मत हो, उनके कथन को अनार्यवचन समझ ।[1]

'से सव्वलोकंसि जे केइ विण्णू'—यहाँ सर्वलोक से तात्पर्य समस्त दार्शनिक जगत् से है। जो व्यक्ति धर्म-विरुद्ध हिंसादि की प्ररूपणा करते हैं, उनके विचारों से जो भ्रान्त नहीं होता, वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से चिन्तन-मनन करता है, हेय-उपादेय का विवेक करता है, सारे संसार के प्राणियों के दुःख-सुख का आत्मौपम्यदृष्टि से विचार करता है, उसे समस्त दार्शनिक जगत् में श्रेष्ठ विद्वान कहा गया है ।[2]

मन, वचन और काया से प्राणियों का विघात करने वाली प्रवृत्ति को 'दण्ड' कहा है। यहाँ दण्ड हिंसा का पर्यायवाची है। हिंसायुक्त प्रवृत्ति भाव-दण्ड है ।[3]

'मुतच्चा' शब्द का संस्कृत रूप होता है—'मृतार्चाः'। 'अर्चा' शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त है—शरीर और क्रोध (तेज)। इसलिए 'मृतार्चा' का अर्थ हुआ—

(१) जिसकी देह अर्चा/साजसज्जा, संस्कार-शुश्रूषा के प्रति मृतवत् है—जो शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीन या अनासक्त है।

(२) क्रोध तेज से युक्त होता है, इसलिए क्रोध को अर्चा—अग्नि कहा गया है। उपलक्षण से समस्त कषायों का ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः जिसकी कषायरूप अर्चा मृत—विनष्ट हो गई है, वह भी 'मृतार्च' कहलाता है ।[4]

'सम्मत्तदंसिणो'—इस शब्द के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं—'समत्वदर्शिनः' 'सम्यक्त्वदर्शिनः और 'समस्तदर्शिनः'। ये तीनों ही अर्थ घटित होते हैं। सर्वज्ञ अर्हद्देव की प्राणिमात्र पर समत्वदृष्टि होती ही है, वे प्राणिमात्र को आत्मवत् जानते-देखते हैं, इसलिए 'समत्वदर्शी' होते हैं। इसी प्रकार वे प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, विचारधारा, घटना आदि के तह में पहुँचकर उसकी सचाई (सम्यक्ता) को यथावस्थित रूप से जानते-देखते हैं, इसलिए वे 'सम्यक्त्वदर्शी' हैं और केवलज्ञान के महाप्रकाश में वे समस्त त्रैकालिक वस्तुओं को जानते—देखते हैं, इसलिए वे 'समस्तदर्शी' (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी) भी है ।[5]

'इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो'—का तात्पर्य है, कर्मों से सर्वथा मुक्त एवं सर्वज्ञ होने के कारण, वे कर्म-विदारण करने में कुशल वीतराग तीर्थंकर, कर्मों का ज्ञान करा कर, उन्हें सर्वथा छोड़ने का उपदेश देते हैं।

आशय यह है कि वे कर्ममुक्ति में कुशल पुरुष कर्म का लक्षण, उसका उपादान कारण, कर्म की मूल-उत्तर प्रकृतियाँ, विभिन्न कर्मों के बन्ध के कारण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के रूप में बन्ध के प्रकार, कर्मों के उदयस्थान, विभिन्न कर्मों की उदीरणा, सत्ता और स्थिति, कर्मबन्ध को तोड़ने—कर्ममुक्त होने के उपाय आदि सभी प्रकार से कर्म का परिज्ञान करते हैं और कर्म से मुक्त होने की प्रेरणा करते हैं ।[6]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१ ।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१ ।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१ ।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१ ।
५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१ ।
६. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७२ ।

'आणाकंखी पंडिते अणिहे'—यहाँ वृत्तिकार ने 'आणाकंखी' का अर्थ किया है—'आज्ञाकांक्षी'—सर्वज्ञ के उपदेश के अनुसार अनुष्ठान करने वाला।[1] किन्तु आज्ञा की आकांक्षा नहीं होती, उसका तो पालन या अनुसरण होता है, जैसा कि स्वयं टीकाकार ने भी आशय प्रकट किया है। हमारी दृष्टि से यहाँ 'अणाकंखी' शब्द होना अधिक संगत है, जिसका अर्थ होगा—'अनाकांक्षी'—निस्पृह, किसी से कुछ भी अपेक्षा या आकांक्षा न रखने वाला। ऐसा व्यक्ति ही शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव (परिवार आदि) एवं निर्जीव धन, वस्त्र, आभूषण, मकान आदि के प्रति अस्निह—स्नेहरहित—निर्मोही या रागरहित हो सकेगा। अतः 'अनाकांक्षी' पद स्वीकार कर लेने पर 'अस्निह' या 'अनीह' पद के साथ संगति बैठ सकती है।

आगमकार की भावना के अनुसार उस व्यक्ति को पण्डित कहा जा सकता है, जो शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान में निपुण हो।

'एगमप्पाणं सपेहाए'—इस वाक्य की चूर्णिकार ने एकत्वानुप्रेक्षा और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा-परक व्याख्याएँ की हैं। एकाकी आत्मा की संप्रेक्षा (अनुप्रेक्षा) इस प्रकार करनी चाहिए—

एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्।
जायते म्रियते चैक एको याति भवान्तरम्॥१॥

सदैकोऽहं, न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याऽहं, नासौ भावीति यो मम॥२॥

संसार एवाऽयमनर्थसारः, कः कस्य, कोऽत्र स्वजनः परो वा।
सर्वे भ्रमन्ति स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा, न भवन्ति भूयः॥३॥

विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात्॥४॥

—आत्मा अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही जन्मान्तर में जाता है।१।

—मैं सदैव अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी दूसरे का हूँ। मैं ऐसा नहीं देखता कि जिसका मैं अपने आपको बता सकूँ, न ही उसे भी देखता हूँ, जो मेरा हो सके।२।

—इस संसार में अनर्थ की ही प्रधानता है। यहाँ कौन किसका है? कौन स्वजन या पर-जन है? ये सभी स्वजन और पर-जन तो संसार चक्र में भ्रमण करते हुए किसी समय (जन्म में) स्वजन और फिर पर-जन हो जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, जब न कोई स्वजन रहता है, न कोई पर-जन।३।

—आप यह चिन्तन कीजिए कि मैं अकेला हूँ। पहले भी मेरा कोई न था, और पीछे भी मेरा कोई नहीं है। अपने कर्मों (मोहनीयादि) के कारण मुझे दूसरों को अपना मानने की भ्रान्ति हो रही है। वास्तव में पहले भी मैं अकेला था, अब भी अकेला हूँ और पीछे भी मैं अकेला ही रहूँगा।४।[2]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७३।
२. आचारांग वृत्ति एवं निर्युक्ति पत्रांक १७३।

उनको प्रतिष्ठा मत दे, उनके धर्मविरुद्ध उपदेश को यथार्थ मत मान, उनके आडम्बरों और लच्छेदार भाषणों से प्रभावित मत हो, उनके कथन को अनार्यवचन समझ।[1]

'से सव्वलोकंसि जे केइ विण्णू'—यहाँ सर्वलोक से तात्पर्य समस्त दार्शनिक जगत् से है। जो व्यक्ति धर्म-विरुद्ध हिंसादि की प्ररूपणा करते हैं, उनके विचारों से जो भ्रान्त नहीं होता, वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से चिन्तन-मनन करता है, हेय-उपादेय का विवेक करता है, सारे संसार के प्राणियों के दुःख-सुख का आत्मौपम्यदृष्टि से विचार करता है, उसे समस्त दार्शनिक जगत् में श्रेष्ठ विद्वान कहा गया है।[2]

मन, वचन और काया से प्राणियों का विघात करने वाली प्रवृत्ति को 'दण्ड' कहा है। यहाँ दण्ड हिंसा का पर्यायवाची है। हिंसायुक्त प्रवृत्ति भाव-दण्ड है।[3]

'मुतच्चा' शब्द का संस्कृत रूप होता है—'मृतार्चाः'। 'अर्चा' शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त है—शरीर और क्रोध (तेज)। इसलिए 'मृतार्चा' का अर्थ हुआ—

(१) जिसकी देह अर्चा/साजसज्जा, संस्कार-शुश्रूषा के प्रति मृतवत् है—जो शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीन या अनासक्त है।

(२) क्रोध तेज से युक्त होता है, इसलिए क्रोध को अर्चा—अग्नि कहा गया है। उपलक्षण से समस्त कषायों का ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः जिसकी कषायरूप अर्चा मृत—विनष्ट हो गई है, वह भी 'मृतार्च' कहलाता है।[4]

'सम्मत्तदंसिणो'—इस शब्द के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं—'समत्वदर्शिनः' 'सम्यक्त्वदर्शिनः और 'समस्तदर्शिनः'। ये तीनों ही अर्थ घटित होते हैं। सर्वज्ञ अर्हद्देव की प्राणिमात्र पर समत्वदृष्टि होती ही है, वे प्राणिमात्र को आत्मवत् जानते-देखते हैं, इसलिए 'समत्वदर्शी' होते हैं। इसी प्रकार वे प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, विचारधारा, घटना आदि के तह में पहुँचकर उसकी सचाई (सम्यक्ता) को यथावस्थित रूप से जानते-देखते हैं, इसलिए वे 'सम्यक्त्वदर्शी' हैं और केवलज्ञान के महाप्रकाश में वे समस्त त्रैकालिक वस्तुओं को जानते—देखते हैं, इसलिए वे 'समस्तदर्शी' (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी) भी है।[5]

'इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो'—का तात्पर्य है, कर्मों से सर्वथा मुक्त एवं सर्वज्ञ होने के कारण, वे कर्म-विदारण करने में कुशल वीतराग तीर्थंकर, कर्मों का ज्ञान करा कर, उन्हें सर्वथा छोड़ने का उपदेश देते हैं।

आशय यह है कि वे कर्ममुक्ति में कुशल पुरुष कर्म का लक्षण, उसका उपादान कारण, कर्म की मूल-उत्तर प्रकृतियाँ, विभिन्न कर्मों के बन्ध के कारण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के रूप में बन्ध के प्रकार, कर्मों के उदयस्थान, विभिन्न कर्मों की उदीरणा, सत्ता और स्थिति, कर्मबन्ध को तोड़ने—कर्ममुक्त होने के उपाय आदि सभी प्रकार से कर्म का परिज्ञान करते हैं और कर्म से मुक्त होने की प्रेरणा करते हैं।[6]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
६. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७२।

'आणाकंखी पंडिते अणिहे'—यहाँ वृत्तिकार ने 'आणाकंखी' का अर्थ किया है—'आज्ञाकांक्षी'—सर्वज्ञ के उपदेश के अनुसार अनुष्ठान करने वाला।[1] किन्तु आज्ञा की आकांक्षा नहीं होती, उसका तो पालन या अनुसरण होता है, जैसा कि स्वयं टीकाकार ने भी आशय प्रकट किया है। हमारी दृष्टि से यहाँ 'अणाकंखी' शब्द होना अधिक संगत है, जिसका अर्थ होगा—'अनाकांक्षी'—निस्पृह, किसी से कुछ भी अपेक्षा या आकांक्षा न रखने वाला। ऐसा व्यक्ति ही शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव (परिवार आदि) एवं निर्जीव धन, वस्त्र, आभूषण, मकान आदि के प्रति अस्निह—स्नेहरहित—निर्मोही या रागरहित हो सकेगा। अतः 'अनाकांक्षी' पद स्वीकार कर लेने पर 'अस्निह' या 'अनीह' पद के साथ संगति बैठ सकती है।

आगमकार की भावना के अनुसार उस व्यक्ति को पण्डित कहा जा सकता है, जो शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान में निपुण हो।

'एगमप्पाणं सपेहाए'—इस वाक्य की चूर्णिकार ने एकत्वानुप्रेक्षा और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा-परक व्याख्याएँ की हैं। एकाकी आत्मा की संप्रेक्षा (अनुप्रेक्षा) इस प्रकार करनी चाहिए—

एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्।
जायते म्रियते चैक एको याति भवान्तरम्॥१॥

सदैकोऽहं, न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याऽहं, नासौ भावीति यो मम॥२॥

संसार एवाऽयमनर्थसारः, कः कस्य, कोऽत्र स्वजनः परो वा।
सर्वे भ्रमन्ति स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा, न भवन्ति भूयः॥३॥

विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात्॥४॥

—आत्मा अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही जन्मान्तर में जाता है।१।

—मैं सदैव अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी दूसरे का हूँ। मैं ऐसा नहीं देखता कि जिसका मैं अपने आपको बता सकूँ, न ही उसे भी देखता हूँ, जो मेरा हो सके।२।

—इस संसार में अनर्थ की ही प्रधानता है। यहाँ कौन किसका है? कौन स्वजन या पर-जन है? ये सभी स्वजन और पर-जन तो संसार चक्र में भ्रमण करते हुए किसी समय (जन्म में) स्वजन और फिर पर-जन हो जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, जब न कोई स्वजन रहता है, न कोई पर-जन।३।

—आप यह चिन्तन कीजिए कि मैं अकेला हूँ। पहले भी मेरा कोई न था, और पीछे भी मेरा कोई नहीं है। अपने कर्मों (मोहनीयादि) के कारण मुझे दूसरों को अपना मानने की भ्रान्ति हो रही है। वास्तव में पहले भी मैं अकेला था, अब भी अकेला हूँ और पीछे भी मैं अकेला ही रहूँगा।४।[2]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७३।
२. आचारांग वृत्ति एवं निर्युक्ति पत्रांक १७३।

सामायिक पाठ[1] और आवश्यक सूत्र[2] आदि में इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला गया है।

'कसेहि अप्पाणं'—वाक्य में 'आत्मा' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'परव्यतिरिक्त आत्मा शरीरं'—दूसरों से अतिरिक्त अपना शरीर।[3]

यहाँ ध्यान, तपस्या एवं धर्माचरण के समय उपस्थित हुए उपसर्गों, कष्टों और परिषहों को समभावपूर्वक सहन करते हुए कर्मशरीर को कृश, जीर्ण एवं दग्ध करने हेतु जीर्ण काष्ठ और अग्नि की उपमा दी है।[4] किन्तु साथ ही उसके लिए साधक से दो प्रकार की योग्यता की अपेक्षा भी की गयी है—(१) आत्मसमाधि एवं (२) अस्निहता अनासक्ति की। इसलिए इस प्रकरण में 'आत्मा' से अर्थ है—कषायात्मारूप कर्मशरीर से। इसी सूत्र के 'धुणे सरीरं' वाक्य से इसी अर्थ का समर्थन मिलता है। अतः कर्मशरीर को कृश, प्रकम्पित एवं जीर्ण करना यहाँ विवक्षित प्रतीत होता है। इस स्थूल शरीर की कृशता यहाँ गौण है। तपस्या के साथ-साथ आत्मसमाधि आर अनासक्ति रखते हुए यदि यह (शरीर) भी कृश हो जाए तो कोई बात नहीं। इसके लिए निशीथ भाष्य की यह गाथा देखनी चाहिए—

> "इंदियाणि कसाए य गारवे य किसे कुरु।
> णो वयं ते पसंसामो, किसं साहु सरीरगं॥"—३७५८

—एक साधु ने लम्बे उपवास करके शरीर को कृश कर डाला। परन्तु उसका अहंकार क्रोध आदि कृश नहीं हुआ था। वह जगह-जगह अपने तप का प्रदर्शन और बखान किया करता था। एक अनुभवी मुनि ने उसकी यह प्रवृत्ति देखकर कहा—हे साधु! तुम इन्द्रियो विषयों, कषायों और गौरव-अहंकार को कृश करो। इस शरीर को कृश कर डाला तो क्या हुआ? कृश शरीर के कारण तुम प्रशंसा के योग्य नहीं हो।

'विगिंच कोहं अविकंपमाणे'—इसका तात्पर्य यह है कि क्रोध आने पर मनुष्य का हृदय मस्तिष्क व शरीर कम्पायमान हो जाता है, इसलिए अन्तर में क्रुद्ध—कम्पायमान व्यक्ति क्रोध

---

१. आचार्य अमितगति ने सामायिक पाठ में भी इसी एकत्वभाव की सम्पुष्टि की है—

> एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा, विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः।
> वहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥२६॥

—ज्ञान स्वभाव वाला शुद्ध और शाश्वत अकेला आत्मा ही मेरा है, दूसरे समस्त पदार्थ आत्मबाह्य हैं, वे शाश्वत नहीं हैं। वे सब कर्मोदय से प्राप्त होने से अपने कहे जाते हैं, वस्तुतः वे अपने नहीं हैं, वाह्यभाव हैं।

२. आवश्यक सूत्र में संस्तार-पौरुषी में एकत्व भावना-मूलक ये गाथाएँ पढ़ी जाती हैं—

> **एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।**
> **एवं अदीणमणसो अप्पाणमणुसासइ॥११॥**
> **एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।**
> **सेसा मे बहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥१२॥**

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७३।

४. आचारांग निर्युक्ति गा० २३४।

को नहीं छोड़ सकता। वह तो एकदम कम्पायमान हुए बिना ही दूर किया जा सकता है। इससे पूर्व सूत्र में 'अस्निह' पद से रागनिवृत्ति का विधान किया था, अब यहाँ क्रोध-त्याग का निर्देश करके द्वेष निवृत्ति का विधान किया गया है।[1]

'दुक्खं च जाण ...... विप्फंदमाणं'—इन वाक्यों में क्रोध से होने वाले वर्तमान और भविष्य के दुःखों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से छोड़ने की प्रेरणा दी गयी है। क्रोध से भविष्य में विभिन्न नरकभूमियों में होने वाले तथा सर्पादि योनियों में होने वाले दुःखों का दिग्दर्शन भी कराया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि क्रोधादि के परिणाम-स्वरूप केवल अपनी आत्मा ही दुःखों का अनुभव नहीं करती, अपितु सारा संसार क्रोधादिवश शारीरिक-मानसिक दुःखों से आक्रान्त होकर उनके निवारण के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करता रहता है, इसे तू विवेक चक्षुओं से देख !

'विप्फंदमाणं' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—"अस्वतन्त्र रूप से इधर-उधर दुःख-प्रतीकार के लिए दौड़ते हुए।"[2]

'जे णिव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणिदाणा'—यह लक्षण उपशान्तकषाय साधक का है। **'निव्वुडा'** का अर्थ है—तीर्थंकरों के उपदेश से जिनका अन्तःकरण वासित है, विषय-कषाय की अग्नि के उपशम से जो निवृत्त हैं—शान्त हैं, शीतीभूत है। पापकर्मों से अनिदान का अर्थ है—पाप कर्मबन्ध के निदान—(मूल कारण रागद्वेष) से रहित।[3]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

सम्यक्चारित्र : साधना के संदर्भ में

१४३. आवीलए पवीलए णिप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं[4]।
तम्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिते सदा जते।
दुरणुचरो[5] मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७३।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७४।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७४।
४. चूर्णि में इसके स्थान पर **'इहेच्चा उवसमं'** पाठ मिलता है, जिसका अर्थ वहाँ किया गया है—"**इहेति इह प्रवचने, एच्चा आगंतु**"—इस प्रवचन (वीतराग दर्शन) में (उपशम) प्राप्त करने के लिए।
५. **'दुरणुचरो......'** आदि वाक्य का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—"**केण दुरणुचरो ? जे ण अणियट्टगामी।**" अर्थात् (यह) मार्ग किसके लिए दुरनुचर है ? जो अनिवृत्तगामी (मोक्षगामी=मोक्षपथगामी) नहीं हैं। "**वीरा तव-णियम-संजमेसु ण विसीतंति अणियट्टकामी।**"—अर्थात् अनिवृत्त (मोक्ष) कामी वीर तप, नियम और संयम से कभी घबराते नहीं।

विगिंच मंस-सोणितं।

एस पुरिसे दविए वीरे आयाणिज्जे[1] वियाहिते जे धुणाति समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि।

१४४. णेत्तेहिं पलिछिण्णेहिं[2] आयाणसोतगढिते बाले अव्वोच्छिण्णबंधणे अणभिक्कंत-संजोए।

[3]तमंसि अविजाणओ आणाए लंभो णत्थि त्ति बेमि।

१४५. जस्स णत्थि पुरे पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ?।

से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए।

सम्ममेतं[4] ति पासहा।

जेण बंधं वहं घोरं परितावं च दारुणं।

पलिछिंदिय बाहिरगं च सोतं णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं।

कम्मुणा सफलं दट्ठुं ततो णिज्जाति वेदवी।

१४६. जे खलु भो वीरा समिता सहिता सदा जता संथडदंसिणो आतोवरता अहा तहा लोगं उवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं इति सच्चंसि परिविचिट्ठिंसु। साहिस्सामो णाणं वीराणं समिताणं सहिताणं सदा जताणं संथडदंसीणं आतोवरताणं अहा तहा लोगमुवेहमाणाणं।

किमत्थि उवाही पासगस्स, ण विज्जति ? णत्थि त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

१४३. मुनि पूर्व-संयोग (गृहस्थपक्षीय पूर्व-संयोग या अनादिकालीन असंयम के साथ रहे हुए पूर्व सम्बन्ध) का त्यागकर उपशम (कषायों और इन्द्रिय-विषयों का उपशमन) करके पहले (शरीर—कर्म शरीर का) आपीड़न करे, फिर प्रपीड़न करे और तब निष्पीड़न करे।

(तप तथा संयम में पीड़ा होती है) इसलिए मुनि सदा अविमना (—विषयों के प्रति रति, भय तथा शोक से मुक्त), प्रसन्नमना, स्वारत (—तप-संयमादि में रत),

---

१. इसके स्थान पर 'आताणिज्जे', 'आयाणिए,' 'आदाणिओ', 'आताणिओ'—ये पद कहीं-कहीं मिलते हैं।

२. 'णेत्तेहिं पलिछिण्णेहिं···' का अर्थ चूर्णि में यों किया गया है—"णयंतीति णेताणि चक्खुमादीणि।··· जेसिं संजतत्ते दव्वणेताणि छिण्णाणि आसी, जं भणितं जिताणि, त एव केयि परीसहोदया भावणे त्तेहिं छिण्णेहिं, किं ? ससोतेहिं मुच्छिता जाव अज्झोववण्णा।"—नेत्र-चक्षु आदि हैं। जिस संयमी ने द्रव्यनेत्र नष्ट हो गए फिर भी इन्द्रियाँ जीत लीं, वे ही साधक परिषह के उदय होने पर भाव नेत्रों के स्रोत (राग-द्वेष रहितता) नष्ट होने पर आसक्त—विषय-मूर्च्छित हो जाते हैं।

३. इसके स्थान पर 'तमस्स अवियाणतो········' पाठ है। चूर्णि में अर्थ किया गया है—'········एवं तस्स अवियाणतो तत्थ अवाया भवंति········' अर्थात् मोहान्धकार के कारण आत्महित न जानने के कारण अनेक अपाय (आपत्तियाँ) उपस्थित होते हैं।

४. चूर्णि में पाठ यों है— 'एतं च सम्मं पासहा'।

(पंचसमितियों से—) समित, (ज्ञानादि से—) सहित, (कर्मविदारण में—) वीर होकर (इन्द्रिय और मन का) संयमन करे।

अप्रमत्त होकर जीवन-पर्यन्त संयम-साधना करने वाले, अनिवृत्तगामी (मोक्षार्थी) मुनियों का मार्ग अत्यन्त दुरनुचर (चलने में अति कठिन) होता है।

(संयम और मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाले शरीर का) मांस और रक्त (विकट तपश्चरण द्वारा) कम कर।

यह (उक्त विकट तपस्वी) पुरुष, संयमी, रागद्वेष का विजेता होने से पराक्रमी और दूसरों के लिए अनुकरणीय आदर्श तथा मुक्तिगमन के योग्य (द्रव्यभूत) होता है। वह ब्रह्मचर्य में (स्थित) रहकर शरीर या कर्मशरीर को (तपश्चरण आदि से) धुन डालता है।

१४४. नेत्र आदि इन्द्रियों पर नियन्त्रण— संयम का अभ्यास करते हुए भी जो पुनः (मोहादि उदयवश) कर्म के स्रोत—इन्द्रियविषयादि (आदान स्रोतों) में गृद्ध हो जाता है, तथा जो जन्म-जन्मों के कर्मबन्धनों को तोड़ नहीं पाता, (शरीर तथा परिवार आदि के—) संयोगों को छोड़ नहीं सकता, मोह-अन्धकार में निमग्न वह बाल-अज्ञानी मानव अपने आत्महित एवं मोक्षोपाय को (या विषयासक्ति के दोषों को) नहीं जान पाता। ऐसे साधक को (तीर्थंकरों की) आज्ञा (उपदेश) का लाभ नहीं प्राप्त होता। —ऐसा मैं कहता हूँ।

१४५. जिसके (अन्तःकरण में भोगासक्ति का—) पूर्व-संस्कार नहीं है और पश्चात् (भविष्य) का संकल्प भी नहीं है, बीच में उसके (मन में विकल्प) कहाँ से होगा ?

(जिसकी भोगाकांक्षाएँ शान्त हो गई है) वही वास्तव में प्रज्ञानवान् है, प्रबुद्ध है और आरम्भ से विरत है।

(भोगाकांक्षा से निवृत्ति होने पर ही सावद्य आरम्भ—हिंसादि से निवृत्ति होती है) यह सम्यक् (सत्य) है, ऐसा तुम देखो—सोचो।

(भोगासक्ति के कारण) पुरुष बन्ध, वध, घोर परिताप और दारुण दुःख पाता है।

(अतः) पापकर्मों के बाह्य (—परिग्रह आदि) एवं अन्तरंग (—राग, द्वेष, मोह आदि) स्रोतों को बन्द करके इस संसार में मरणधर्मा प्राणियों के बीच तुम निष्कर्म-दर्शी (कर्ममुक्त-अमृतदर्शी) बन जाओ।

कर्म अपना फल अवश्य देते हैं, यह देखकर ज्ञानी पुरुष उनसे (कर्मों के बन्ध, संचय या आस्रव से, अवश्य ही निवृत्त हो जाता है।

१४६. हे आर्यो ! जो साधक वीर हैं, पाँच समितियों से समित—सम्पन्न हैं, ज्ञानादि से सहित हैं, सदा संयत हैं, सतत शुभाशुभदर्शी (प्रतिपल जागरूक) हैं, (पाप-

कर्मों से) स्वतः उपरत हैं, लोक जैसा है उसे वैसा ही देखते हैं, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—सभी दिशाओं में भली प्रकार सत्य में स्थित हो चुके हैं, उन वीर समित, सहित, सदा यतनाशील, शुभाशुभदर्शी, स्वयं उपरत, लोक के यथार्थ द्रष्टा, ज्ञानियों के सम्यग् ज्ञान का हम कथन करेंगे, उसका उपदेश करेंगे।

(ऐसे) सत्यद्रष्टा वीर के कोई उपाधि (कर्मजनित नर-नारक आदि विशेषण) होती है या नहीं होती ? नहीं होती। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक में सम्यक् चारित्र की साधना के सन्दर्भ में आत्मा के साथ शरीर और शरीर से सम्बद्ध वाह्य पदार्थों के संयोगों, मोहबन्धनों, आसक्तियों, रागद्वेषों एवं उनसे होने वाले कर्मबन्धों का त्याग करने की प्रेरणा दी गयी है।

'आवीलए पवीलए णिप्पीलए'—ये तीन शब्द मुनि जीवन की साधना के क्रम को सूचित करते हैं। आपीड़न, प्रपीड़न और निष्पीड़न, ये क्रमशः मुनि जीवन की साधना की तीन भूमिकाएँ हैं।

मुनि जीवन की प्राथमिक तैयारी के लिए दो वातें अनिवार्य है, जो इस सूत्र में सूचित की गई है—

'जहित्ता पुव्वसंजोगं, हिच्चा उवसमं'—(१) मुनि जीवन को अंगीकार करने से पूर्व के धन धान्य, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब-परिवार आदि के साथ बंधे हुए ममत्व सम्बन्धों—संयोगों क त्याग एवं (२) इन्द्रिय और मन (विकारों) की उपशान्ति।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद मुनि साधना की तीन भूमिकाओं से गुजरता है—प्रथम भूमिका दीक्षित होने से लेकर शास्त्राध्ययन काल तक की है। उसमें वह संयमरक्षा एवं शास्त्राध्ययन के हेतु आवश्यक तप (आयंविल-उपवास आदि) करता है। यह आपीड़न है।

उसके पश्चात् दूसरी भूमिका आती है—शिष्यों या लघुमुनियों के अध्यापन एवं धर्म प्रचार-प्रसार की। इस दौरान वह संयम की उत्कृष्ट साधना और दीर्घ तप करता है। यह 'प्रपीडन' है।

इसके बाद तीसरी भूमिका आती है—शरीरत्याग की। जब मुनि आत्म-कल्याण के साथ—कल्याण की साधना काफी कर चुकता है और शरीर भी जीर्ण-शीर्ण एवं वृद्ध हो जाता है, तब वह समाधिमरण की तैयारी में संलग्न हो जाता है। उस समय दीर्घकालीन (मासिक-पाक्षिक आदि) बाह्य और आभ्यन्तर तप, कायोत्सर्ग, उत्कृष्ट त्याग आदि की साधना करता है। यह 'निष्पीडन' है।

साधना की इन तीनों भूमिकाओं में वाह्य—आभ्यन्तर तप एवं शरीर तथा आत्मा का भेद-विज्ञान करके तदनुरूप स्थूल शरीर के आपीड़न, प्रपीड़न और निष्पीड़न की प्रेरणा दी गयी है।[1]

---

१. आयारो

यह तपश्चरण कर्मक्षय के लिए होता है, इसलिए कर्म या कार्मण शरीर का पीड़न भी यहाँ अभीष्ट है।

वृत्तिकार ने गुणस्थान क्रम से भी इन तीनों भूमिकाओं का सम्बन्ध बताया है। अपूर्व-करणादि गुणस्थानों में कर्मों का आपीड़न हो, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिबादर गुणस्थानों में प्रपीड़न हो। तथा सूक्ष्म-सम्पराय-गुणस्थान में निष्पीड़न हो। अथवा उपशमश्रेणी में आपीड़न, क्षपक श्रेणी में प्रपीड़न एवं शैलेशी अवस्था में निष्पीड़न हो।[1]

'**विगिंच मंस-सोणितं**'—कहकर ब्रह्मचर्य के साधक को मांस-शोणित घटाने का निर्देश दिया गया है। क्योंकि मांस-शोणित की वृद्धि से काम-वासना प्रबल होती है, उससे ब्रह्मचर्य की साधना में विघ्न आने की सम्भावना बढ़ जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी आशय को स्पष्टता के साथ कहा गया है—

'जहा दवग्गि पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई। —३२।११

—जैसे प्रबल पवन के साथ प्रचुर इन्धन वाले वन में लगा दावानल शांत नहीं होता, इसी प्रकार प्रकामभोजी की इन्द्रियाग्नि (वासना) शांत नहीं होती। ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन कभी भी हितकर नहीं है।

प्रकाम (रसयुक्त यथेच्छ भोजन) से मांस-शोणित बढ़ता है। शरीर में जब मांस और रक्त का उपचय नहीं होगा तो इसके बिना क्रमशः मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य का भी उपचय नहीं होगा। इस अवस्था में सहज ही आपीड़न आदि की साधना हो जाती है।

'**वसित्ता बंभचेरंसि**'—ब्रह्मचर्य में निवास करने का तात्पर्य भी गहन है। ब्रह्मचर्य के चार अर्थ फलित होते हैं—(१) ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) में विचरण करना, (२) मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रिय-संयम और (३) गुरुकुलवास तथा (४) सदाचार।

यहाँ ब्रह्मचर्य के ये सभी अर्थ घटित हो सकते हैं किन्तु दो अर्थ अधिक संगत प्रतीत होते हैं—(१) सदाचार तथा (२) गुरुकुलवास। '**वसित्ता**' शब्द 'गुरुकुल निवास' अर्थ को सूचित करता है। किन्तु यहाँ सम्यक्-चारित्र का प्रसंग है। ब्रह्मचर्य चारित्र का एक मुख्य अंग है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचर्य' में रहकर अर्थ भी घटित हो सकता है।[2]

'**आयाणसोतगढिते**'—इसका शब्दशः अर्थ होता है—'**आदान के स्रोतों में गृद्ध**'। 'आदान' का अर्थ कर्म है, जो कि संसार का बीजभूत होता है। उसके स्रोत (आने के द्वार) हैं—इन्द्रिय-विषय, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन आदान-स्रोतों में रात-दिन रचे-पचे रहने वाले अज्ञानी का अन्तःकरण राग, द्वेष और महामोहरूप अन्धकार से आवृत्त रहता है, उसे अर्हद्देव के प्रवचनों का लाभ नहीं मिल पाता, न उसे धर्मश्रवण में रुचि जागती है, न उसे

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७४।१७५।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७५।

कोई अच्छा कार्य या धर्माचरण करने की सूझती है।[1] इसीलिए कहा है—'आणाए लंभो णत्थि'—आज्ञा का लाभ नहीं मिलता।

आज्ञा के यहाँ दो अर्थ सूचित किये गये हैं—श्रुतज्ञान और तीर्थंकर-वचन या उपदेश। ज्ञान या उपदेश का सार आश्रवों से विरति और संयम या आचार में प्रवृत्ति है। उसी से कर्म निर्जरा या कर्ममुक्ति हो सकती है। आज्ञा का अर्थ वृत्तिकार ने बोधि या सम्यक्त्व भी किया है।[2]

'जस्स णत्थि पुरे पच्छा····'—इस पंक्ति में एक खास विषय का संकेत है। 'णत्थि' शब्द इसमें त्रैकालिक विषय से सम्बद्ध अव्यय है। इस वाक्य का एक अर्थ वृत्तिकार ने यों किया है—जिसकी भोगेच्छा के पूर्व संस्कार नष्ट हो चुके हैं, तब भला बीच में, वर्तमान काल में वह भोगेच्छा कहाँ से आ टपकेगी ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखा'—भोगेच्छा का मूल ही नहीं है, तब वह फलेगी कैसे ? साधना के द्वारा भोगेच्छा की आत्यन्तिक एवं त्रैकालिक निवृत्ति हो जाती है, तब न अतीत का संस्कार रहता है, न भविष्य की बांच्छा/कल्पना, ऐसी स्थिति में तो उसका चिन्तन भी कैसे हो सकता है ?[3]

इसका एक अन्य भावार्थ यह भी है—"जिसे पूर्वकाल में बोधि-लाभ नहीं हुआ, उसे भावी जन्म में कैसे होगा ? और अतीत एवं भविष्य में बोधि-लाभ का अभाव हो, वहाँ मध्य (बीच) के जन्म में बोधि-लाभ कैसे हो सकेगा ?

'णिक्कम्मदंसी' का तात्पर्य निष्कर्म को देखने वाला है। निष्कर्म के पाँच अर्थ इसी सूत्र में यत्र-तत्र मिलते हैं—(१) मोक्ष, (२) संवर, (३) कर्मरहित शुद्ध आत्मा, (४) अमृत और (५) शाश्वत। मोक्ष, अमृत और शाश्वत—ये तीनों प्रायः समानार्थक हैं। कर्मरहित आत्मा स्वयं अमृत रूप बन जाती है और संवर मोक्ष प्राप्ति का एक अनन्य साधन है। जिसकी समस्त इन्द्रियों का प्रवाह विषयों या सांसारिक पदार्थों की ओर से हटकर मोक्ष या अमृत की ओर उन्मुख हो जाता है, वही निष्कर्मदर्शी होता है।

'साहिस्सामो णाणं·······'—इन पदों का अर्थ भी समझ लेना आवश्यक है। वृत्तिकार तो इन शब्दों का इतना अर्थ करके छोड़ देते हैं—"सत्यवतां यज्ज्ञानं-योऽभिप्राय-स्तदहं कथयिष्यामि।"[4] त्रिकालवर्ती सत्यदर्शियों का जो ज्ञान/अभिप्राय है, उसे मैं कहूँगा। परन्तु 'साधिष्यामः' का एक विशिष्ट अर्थ यह भी हो सकता है—उस ज्ञान की साधना करूंगा, अपने जीवन में रमाऊँगा, उतारूंगा, उसे कार्यान्वित करूंगा।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ सम्यकत्व चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७४।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७५।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७६।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७७।

लोकसार—पञ्चम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र का पंचम अध्ययन है—'लोकसार'।
- 'लोक' शब्द विभिन्न दृष्टियों से अनेक अर्थों का द्योतक है। जैसे—नामलोक—'लोक' इस संज्ञा वाली कोई भी सजीव या निर्जीव वस्तु। स्थापनालोक—चतुर्दशरज्जू परिमित लोक की स्थापना (नक्शे में खींचा हुआ लोक का चित्र)। द्रव्यलोक—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप षड्विध। भावलोक—औदयिकादि षड्भावात्मक या सर्वद्रव्य—पर्यायात्मक लोक या क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषाय-लोक। गृहस्थ-लोक आदि भी 'लोक' शब्द से व्यवहृत होते हैं।
- यहाँ 'लोक' शब्द मुख्यत: प्राणि-लोक (संसार) के अर्थ में प्रयुक्त है।[1]
- 'सार' शब्द के भी विभिन्न दृष्टियों से अनेक अर्थ होते हैं—निष्कर्ष, निचोड़, तत्त्व, सर्वस्व, ठोस, प्रकर्ष, सार्थक, सारभूत आदि।
- सांसारिक भोग-परायण भौतिक लोगों की दृष्टि में धन, काम-भोग, भोग-साधन, शरीर, जीवन, भौतिक उपलब्धियाँ आदि सारभूत मानी जाती हैं, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि में ये सब पदार्थ सारहीन हैं, क्षणिक हैं, नाशवान् हैं, आत्मा को पराधीन बनाने वाले हैं, और अन्तत: दु:खदायी हैं। इसलिए इनमें कोई सार नहीं है।
- अध्यात्म की दृष्टि में मोक्ष (परम पद), परमात्मपद, आत्मा (शुद्ध निर्मल ज्ञानादि स्वरूप), मोक्ष प्राप्ति के साधन—धर्म, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, (अहिंसादि), तप, संयम, समत्व आदि सारभूत हैं।[2]
- निर्युक्तिकार ने लोक के सार के सम्बन्ध में प्रश्न उठाकर समाधान किया है कि लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है, और संयम का सार—निर्वाण—मोक्ष है।[3]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७८।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७८।

३. लोगस्ससारं धम्मो, धम्मंपि य नाणसारियं बिंति।
नाणं संजमसारं, संजमसारं च निव्वाणं ॥२४४॥

—आचा० निर्युक्ति आचा० टीका में उद्धृत

- ☆ लोकसार अध्ययन का अर्थ हुआ—समस्त जीव लोक के सारभूत मोक्षादि के सम्बन्ध में चिन्तन और कथन।
- ☆ लोकसार अध्ययन का उद्देश्य है—साधक लोक के सारभूत परमपद (परमात्मा, आत्मा और मोक्ष) के सम्बन्ध में प्रेरणा प्राप्त करे और मोक्ष से विपरीत आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, असंयम, अज्ञान और मिथ्यादर्शन आदि का स्वरूप तथा इनके परिणामों को भलीभाँति जानकर इनका त्याग करे।
- ☆ इस अध्ययन का वैकल्पिक नाम 'आवंती' भी प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि इस अध्ययन के उद्देशक १, २, ३ का प्रारम्भ 'आवंती' पद से ही हुआ है, अतः प्रथम पद के कारण इसका नाम 'आवंती' भी प्रसिद्ध हो गया है।
- ☆ लोकसार अध्ययन के ६ उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक में भावलोक के सारभूत तत्त्व को केन्द्र में रखकर कथन किया गया है।
- ☆ प्रथम उद्देशक में मोक्ष के विपरीत पुरुषार्थ, काम और उसके मूल कारणों (अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, आसक्ति, माया आदि) तथा उनके निवारणोपाय के सम्बन्ध में निरूपण है।
- ☆ दूसरे उद्देशक में अप्रमाद और परिग्रह-त्याग की प्रेरणा है।
- ☆ तीसरे उद्देशक में मुनिधर्म के सन्दर्भ में अपरिग्रह और काम-विरक्ति का संदेश है।
- ☆ चौथे उद्देशक में अपरिपक्व साधु की एकचर्या से होने वाली हानियों का, एवं अन्य चर्याओं में कर्मबन्ध और उसका विवेक तथा ब्रह्मचर्य आदि का प्रतिपादन है।
- ☆ पांचवे उद्देशक में आचार्य महिमा, सत्यश्रद्धा, सम्यक्-असम्यक्-विवेक, अहिंसा और आत्मा के स्वरूप का वर्णन है।
- ☆ छठे उद्देशक में मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि के परित्याग का तथा आज्ञा निर्देश एवं परम-आत्मा के स्वरूप का निरूपण है।
- ☆ यह अध्ययन सूत्र संख्या १४७ से प्रारम्भ होकर सूत्र १७६ पर समाप्त होता है।

'लोगसारो' अहवा 'आवंती' पञ्चमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

लोकसार (आवंती) : पंचम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

काम : कारण और निवारण

१४७. आवंती[1] केआवंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए वा एतेसु चेव विप्परामुसंति ।

गुरू से कामा । ततो से मारस्स अंतो । जतो से मारस्स अंतो ततो से दूरे ।

१४७. इस लोक (जीव-लोक) में जितने भी (जो भी) कोई मनुष्य सप्रयोजन (किसी कारण से) या निष्प्रयोजन (बिना कारण) जीवों की हिंसा करते हैं, वे उन्हीं जीवों (षड्जीवनिकायों) में विविध रूप में उत्पन्न होते हैं ।

उनके लिए शब्दादि काम (विपुल विषयेच्छा) का त्याग करना बहुत कठिन होता है ।

इसलिए (षड्जीवनिकाय-वध तथा विशाल काम-भोगेच्छाओं के कारण) वह मृत्यु की पकड़ में रहता है, इसलिए अमृत (परमपद) से दूर होता है ।

विवेचन—इस उद्देशक में पंचेन्द्रिय विषयक काम-भोगों और उनकी पूर्ति के लिए किए जाने वाले हिंसादि पाप-कर्मों की, तथा ऐसे मूढ़ अज्ञानी के जीवन की भी निःसारता बताकर अज्ञान एवं मोह से होने वाले पापकर्मों से दूर रहने की प्रेरणा दी गयी है । विषय-कषायों से प्रेरित होकर एकाकी विचरण करने वाले साधक की अज्ञानदशा का भी विशद निरूपण किया गया है ।

'विप्परामुसंति' क्रियापद है, यह प्रस्तुत सूत्र पाठ में दो बार प्रयुक्त हुआ है । 'वि+परामृश' दोनों से 'विपरामृशंति' क्रियापद बना है । पहली बार इसका अर्थ किया गया है—जो विविध प्रकार से विषयाभिलाषा या कषायोत्तेजना के वश (षड्जीवनिकायों को) परामृश—उपताप करते हैं, डंडे या चाबुक या अन्य प्रकार से मारपीट आदि करके जीवघात करते हैं ।

दूसरी बार जहाँ यह क्रियापद आया है, वहाँ प्रसंगवश अर्थ किया गया है—उन एकेन्द्रियादि प्राणियों का अनेक प्रकार से विघात करने वाले, उन्हें पीड़ा देकर पुनः उन्हीं

---

१. चूर्णि में भदन्त नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है—"जावंति केयि लोए छक्कायं समारंभंति" शीलांक टीकानुसार नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है—जावन्ति केइ लोए छक्कायवहं समारंभंति···

षट् जीवनिकायों में अनेक बार उत्पन्न होते हैं। अथवा षड्जीवनिकाय को दी गयी पीड़ा से उपार्जित कर्मों को, उन्हीं कायों (योनियों) में उत्पन्न होकर उन-उन प्रकारों से उदय में आने पर भोगते हैं—अनुभव करते हैं।

'अट्ठाए अणट्ठाए'—'अर्थ' का भाव यहाँ पर प्रयोजन या कारण है। हिंसा (जीव-विघात) के तीन प्रयोजन होते हैं—काम, अर्थ और धर्म। विषय-भोगों के साधनों को प्राप्त करने के लिए जहाँ दूसरों का वध या उत्पीड़न किया जाता है, वहाँ कामार्थक हिंसा है, जहाँ व्यापार-धन्धे, कल-कारखाने या कृषि आदि के लिए हिंसा की जाती है, वहाँ वह अर्थार्थक है और जहाँ दूसरे धर्म-सम्प्रदाय वालों को मारा-पीटा या सताया जाता है, उन पर अन्याय-अत्याचार किया जाता है या धर्म के नाम से या धर्म निमित्त पशुबलि आदि दी जाती है, वहाँ धर्मार्थक हिंसा है। ये तीनों प्रकार की हिंसाएं अर्थवान् और शेष हिंसा अनर्थक कहलाती हैं, जैसे—मनोरंजन, शरीरबल-वृद्धि आदि करने हेतु निर्दोष प्राणियों का शिकार किया जाता है, मनुष्यों को भूखे शेर के आगे छोड़ा जाता है, मुर्गे, सांड, भैंसे आदि परस्पर लड़ाए जाते हैं। ये सब हिंसाएँ निरर्थक हैं।

चूर्णिकार ने कहा है—'आत-पर उभयहेतु अट्ठा, सेसं अणट्ठाए'—अपने, दूसरे के या दोनों के प्रयोजन सिद्ध करने हेतु की जाने वाली हिंसा-प्रवृत्ति अर्थवान् और निष्प्रयोजन की जाने वाली निरर्थक या अनर्थक कहलाती है।[1]

'गुरू से कामा' का रहस्य यह है कि अज्ञानी की कामेच्छाएँ इतनी दुस्त्याज्य होती हैं कि उन्हें अतिक्रमण करना सहज नहीं होता, अल्पसत्त्व व्यक्ति तो काम की पहली ही मार में फिसल जाता है, काम की विशाल सेना से मुकाबला करना उसके वश की बात नहीं। इसलिए अज्ञजन के लिए कामों को 'गुरु' कहा गया है।[2]

'जतो से मारस्स अंतो' इस पंक्ति का भावार्थ यह भी है कि सुखार्थीजन काम-भोगों का परित्याग नहीं कर सकता, अतः काम-भोगों के परित्याग के बिना वह मृत्यु की पकड़ के भीतर होता है और चूँकि मृत्यु की पकड़ के अन्दर होने से वह जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से घिरा रहता है, अतः वह सुख से सैकड़ों कोस दूर हो जाता है।[3]

१४८. णेव से अंतो णेव से दूरे।

से पासति फुसितमिव कुसग्गे पणुण्णं णिवतितं वातेरितं। एवं बालस्स जीवितं मंदस्स अविजाणतो।

कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति, मोहेण गब्भं मरणाइ एति। एत्थ मोहे पुणो पुणो।

१४८. वह कामनाओं का निवारण करने वाला) पुरुष न तो मृत्यु की सीमा (पकड़) में रहता है और न मोक्ष से दूर रहता है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १७९, आचा० निर्युक्ति।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८०।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८०।

वह पुरुष (कामनात्यागी) कुश की नोंक को छुए हुए (बारम्बार दूसरे जल-कण पड़ने से) अस्थिर और वायु के झोंके से प्रेरित (प्रकम्पित) होकर गिरते हुए जल बिन्दु की तरह जीवन को (अस्थिर) जानता-देखता है। बाल (अज्ञानी), मन्द (मन्द बुद्धि) का जीवन भी इसी तरह अस्थिर है, परन्तु वह (मोहवश) (जीवन के अनित्यत्व) को नहीं जान पाता।

(इसी अज्ञान के कारण) वह बाल—अज्ञानी (कामना के वश हुआ) हिंसादि क्रूर कर्म उत्कृष्ट रूप से करता हुआ (दुःख को उत्पन्न करता है।) तथा उसी दुःख से मूढ़ उद्विग्न होकर वह विपरीत दशा (सुख के स्थान पर दुःख) को प्राप्त होता है।

उस मोह (मिथ्यात्व-कषाय-विषय-कामना) से (उद्भ्रान्त होकर कर्मबन्धन करता है, जिसके फलस्वरूप) बार-बार गर्भ में आता है, जन्म-मरणादि पाता है।

इस (जन्म-मरण की परम्परा) में (मिथ्यात्वादि के कारण) उसे बारम्बार मोह (व्याकुलता) उत्पन्न होता है।

विवेचन—'णेव से अंतो णेव से दूरे'—पद में कामनात्यागी के लिए कहा गया है—'वह मोक्ष से तो दूर नहीं है और मृत्यु की सीमा के अन्दर नहीं है अर्थात् वह जीवन्मुक्त स्थिति में है।'

इस पद का अनेक नयों से विवेचन किया गया है।

एक नय के अनुसार वह कामनात्यागी सम्यक् दृष्टि पुरुष ग्रन्थि-भेद हो जाने के कारण अब कर्मों की सुदीर्घ सीमा में भी नहीं रहा और देशोनकोटा-कोटी कर्मस्थिति रहने के कारण कर्मों से दूर भी नहीं रहा।

दूसरे नय के अनुसार यह पद केवलज्ञानी के लिए है। चार घाति-कर्मों का क्षय हो जाने से न तो वह संसार के भीतर है और भवोपग्राही चार अघातिकर्मों के शेष रहने के कारण न वह संसार से दूर है।

तीसरे नय के अनुसार इसका अर्थ है—जो साधक श्रमणवेश लेकर विषय-सामग्री को छोड़ देता है, किन्तु अन्तःकरण से कामना का त्याग नहीं कर पाता, वह अन्तरंग रूप में साधना के निकट—सीमा में नहीं है, और बाह्य रूप में साधना से दूर भी नहीं है, क्योंकि साधक के वेश में जो है।

इस सूत्र में अज्ञानी की मोह-मूढ़ता का चित्रण करते हुए उसके तीन विशेषण दिये हैं—

(१) बाल, (२) मन्द और (३) अविजान। बालक (शिशु) में यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उसी तरह वह भी अस्थिर व क्षण-भंगुर जीवन को अजर-अमर मानता है, यह उसकी ज्ञान-शून्यता ही उसका बचपन (बालत्व) है। सदसद्विवेक बुद्धि का अभाव होने से वह 'मन्द' है। तथा परम अर्थ—मोक्ष का ज्ञान नहीं होने से वह 'अविजान' है। इसी अज्ञानदशा के कारण वह सुख के लिए क्रूर कर्म करता है, बदले में दुःख पाता है, बार-बार जन्म व मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।

संसार स्वरूप-परिज्ञान

१४६. संसयं परिजाणतो संसारे परिण्णाते भवति, संसयं अपरिजाणतो संसारे अपरिण्णाते भवति।

जे[1] छेये से सागारियं ण सेवे। कट्टु एवं अविजाणतो[2] बितिया मंदस्स बालिया।
लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणयाए त्ति बेमि।
पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे। एत्थ फासे पुणो पुणो।

१४६. जिसे संशय (मोक्ष और संसार के विषय में सन्देह) का परिज्ञान हो जाता है, उसे संसार के स्वरूप का परिज्ञान हो जाता है।

जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को भी नहीं जान पाता।

जो कुशल (मोह के परिणाम या संसार के कारण को जानने में निपुण) है, वह मैथुन-सेवन नहीं करता। जो ऐसा (गुप्तरूप से मैथुन का सेवन) करके (गुरु आदि के पूछने पर) उसे छिपाता है—अनजान बनता है, यह उस मूर्ख (काममूढ़) की दूसरी मूर्खता (अज्ञानता) है।

उपलब्ध काम-भोगों का (उनके उपभोग के कटु-परिणामों का) पर्यालोचन करके, सर्व प्रकार से जानकर उन्हें स्वयं सेवन न करे और दूसरों को भी काम-भोगों के कटुफल का ज्ञान कराकर उनके अनासेवन (सेवन न करने) की आज्ञा-उपदेश दे, ऐसा मैं कहता हूँ।

हे साधको! विविध काम-भोगों (इन्द्रिय-विषयों) में गृद्ध-आसक्त जीवों को देखो, जो नरक-तिर्यंच आदि यातना-स्थानों में पच रहे हैं—उन्हीं विषयों से खिंचे जा रहे हैं। (वे इन्द्रिय-विषयों के वशीभूत प्राणी) इस संसार-प्रवाह में (कर्मों के फल-स्वरूप) उन्हीं स्थानों का बारम्बार स्पर्श करते हैं, (उन्हीं स्थानों में पुनः-पुनः जन्मते-मरते हैं)।

---

१. (क) 'जे छेये से सागारियं....' के बदले '**से सागारियं ण सेवए**' पाठ है। अर्थ होता है—'वह (साधक अब्रह्मचर्य (मैथुन)—सेवन न करे।'

(ख) नागार्जुनीय पाठान्तर इस प्रकार है—"**जे खलु विसए सेवति, सेवित्ता नालोएति, परेण व पुट्ठो णिण्हवति, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठतरएण वा (दोसेण) उवलिंपिज्जा।**"—"जो विषय (मैथुन) सेवन करता है, सेवन करके उसकी आलोचना नहीं करता, दूसरे द्वारा पूछे जाने पर छिपाता है, अथवा उस दूसरे व्यक्ति को अपने दोष से या इससे भी बढ़कर पापिष्ट दोष से लिप्त करता है....।"

२. 'अविजाणतो' के बदले चूर्णि में '**अवयाणतो**' पाठ है, '**अव परिवर्जने अवयाणति जं भणितं ण्हवति**'; 'अव' परिवर्जन अर्थ में है, अर्थात् मैं नहीं जानता, इस प्रकार पूछने पर इन्कार कर देता है, या पूछने पर अवज्ञा कर देता है। वृत्तिकार ने अर्थ किया है—**अकार्यमपलपतोऽविज्ञापयतो वा**। उस अकार्य का अपलाप (गोपन) करता हुआ या न बताता हुआ....।

विवेचन—इस सूत्र में संशय को परिज्ञान का कारण बताया है। इसका आशय यह है कि संशय यहाँ शंका के अर्थ में है। जब तक किसी पदार्थ के विषय में संशय—जिज्ञासा नहीं होती, तब तक उसके सम्बन्ध में ज्ञान के नये-नये उन्मेष खुलते नहीं है। जिज्ञासा-मूलक संशय मनुष्य के ज्ञान की अभिवृद्धि करने में बहुत बड़ा कारण है। भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधर गौतम स्वामी मन में जिज्ञासा-मूलक संशय उठते ही भगवान के पास समाधान के लिए सविनय उपस्थित होते हैं। भगवती सूत्र में ऐसे जिज्ञासा मूलक छत्तीस हजार संशयों का समाधान अंकित है। इतनी बड़ी ज्ञानराशि संशयों के निमित्त से प्राप्त हो सकी। **'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'**—'संशय का आश्रय लिए बिना मनुष्य कल्याण के दर्शन नहीं कर पाता'—यह नीति सूत्र जिज्ञासा—प्रधान संशय का समर्थन करता है। पश्चिमी दर्शनकार दर्शन का आरम्भ भी आश्चर्य के प्रति जिज्ञासा से मानते हैं।

संसार जन्म-मरण के चक्र का नाम है, वह सुखकर है या दुःखकर? ऐसी संशयात्मक जिज्ञासा पैदा होगी तभी ज्ञपरिज्ञा से संसार की असारता का यथार्थ परिज्ञान (दर्शन) होगा, तभी प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उससे निवृत्ति होगी। जिसे संसार के प्रति संशयात्मक जिज्ञासा न होगी, उसे संसार की असारता का ज्ञान नहीं होगा, फलतः संसार से उसकी निवृत्ति नहीं होगी।[1]

'बितिया मंदस्स बालया'—इस पद में बताया है कि साधक की पहली मूढ़ता यह है कि उसने गुप्तरूप से मैथुन-सेवन किया, उस पर दूसरी मूढ़ता यह है कि वह उसे छिपाता है, गुरु आदि द्वारा पूछने पर बताता नहीं है। इस सम्बन्ध में नागार्जुनीय वाचना में अधिक स्पष्ट पाठ है—**"जे खलु विसए सेवई, सेवित्ता वा णालोएई, परेण वा पुट्ठो निण्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठयरेण दोसेण उव-लिंपिज्जति।"**—अर्थात् जो साधक विषय (मैथुन) सेवन करता है, सेवन करके उसकी आलोचना गुरु आदि के समक्ष नहीं करता, दूसरे (ज्येष्ठ साधु) के पूछने पर छिपाता है, अथवा उस दूसरे को अपने उस दोष में या पापिष्टकर दोष में लपेटता है," यह दोहरा दोष-सेवन है—एक अब्रह्मचर्य का, दूसरा असत्य का।[2] इस सूत्र का संकेत है कि प्रमाद या अज्ञानवश भूल हो जाने पर उसे सरलतापूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा करने से उस दोष की शुद्धि हो जाती है। यदि दोष को छिपाने का प्रयत्न किया जाता है तो वह दोष, पर दोष दोहरा पाप करता है।

आरंभ-कषाय-पद

१५०. आवंती केआवंती लोयंसि आरंभजीवी एतेसु चेव आरंभजीवी।
एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे[3] रमति पावेहिं कम्मेहिं असरणं सरणं ति मण्णमाणे।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८१

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८२ में उद्धृत।

३. इसके बदले चूर्णि में **'परितप्पमाणे'** पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होता है—(विषय-पिपासा से) संतप्त=छटपटाता हुआ।

१५१. इहमेगेसिं एगचरिया भवति । से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए[1] बहुलोभे बहुरते[2] बहुणडे बहुसढे बहुसंकप्पे आसवसक्की[3] पलिओछण्णे[4] उट्ठितवादं पवदमाणे, 'मा मे केइ अदक्खु' अण्णाण-पमाददोसेणं ।

सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति ।

अट्टा पया माणव[5] ! कम्मकोविया,[6]

जे अणुवरता अविज्जाए पलिमोक्खमाहु, आवट्टं अणुपरियट्टंति त्ति बेमि ।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१५०. इस लोक में जितने भी मनुष्य आरम्भजीवी (हिंसादि पापकर्म करके जीते) हैं, वे इन्हीं (विषयासक्तियों-काम की कामनाओं के कारण आरम्भजीवी हैं।

अज्ञानी साधक इस संयमी (साधु) जीवन में भी विषय-पिपासा से छटपटाता हुआ (कामाग्नि प्रदीप्त होने के कारण) 'अशरण (सावद्य प्रवृत्ति) को ही शरण मानकर पापकर्मों में रमण करता है ।

१५१. इस संसार में कुछ साधक (विषय-कषाय के कारण) अकेले विचरण करते हैं । यदि वह साधक अत्यन्त क्रोधी है, अतीव अभिमानी है, अत्यन्त मायी (कपटी) है, अति लोभी है, भोगों में अत्यासक्त है, नट की तरह बहुरूपिया है, अनेक प्रकार की शठता—प्रवंचना करता है, अनेक प्रकार के संकल्प करता है, हिंसादि आस्रवों में आसक्त रहता है, कर्मरूपी पलीते से लिपटा हुआ (कर्मों में लिप्त) है, 'मैं भी साधु हूँ, धर्माचरण के लिए उद्यत हुआ हूँ, इस प्रकार से उत्थितवाद बोलता (डींगें

---

१. 'बहुमाए' के बदले चूर्णि में पाठ है—'बहुमायी', अर्थ किया गया है—'कलकतपसा च बहुमायी'—मिथ्या या दम्भपूर्ण तपस्या के कारण अत्यन्त कपटी, दम्भी या ढोंगी ।

२. 'बहुरते' का अर्थ चूर्णि में किया गया है—'बहुरतो उवचिणाति कम्मरयं'—बहुत से पाप कर्म रूप रज का संचय करता है ।'' शीलांकाचार्य ने अर्थ किया है—बहुरजाः बहुपापो, बहुषु वाऽऽरम्भादिषु रतो बहुरतः । अर्थात्—बहुत पाप करने वाला, जो बहुत-से आरम्भादि पापों में रत रहता है, वह बहुरत है ।

३. 'आसवसक्की' का अर्थ चूर्णि में यों है—आसवेसु विसु (स) त्तो आसव (स) क्की । आसव पान करके अधिकतर सोया रहता है, या आश्रवों में आसक्त रहता है । 'अहवा आसवे अणुसंचरति'—या आस्रवों में ही विचरण करता है ।

४. 'पलिओछण्णे' में 'पलिअ' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—''प्रलीयते भवं येन यच्च भूत्वा प्रलीयते, प्रलीयमुच्यते कर्म भृशं लीनं यदात्मनि'—जिससे जीव संसार में विशेष लीन होता है; जो उत्पन्न होकर लीन हो जाता है, उसे प्रलीय कहते हैं, वह है कर्म, जो आत्मा में अत्यन्त लीन हो जाता है ।

५. 'मणुयवच्चा माणवा तेसिं आमंतणं'—जो मनुज (मनुष्य) के अपत्य हैं, वे मानव हैं, यहाँ मानव शब्द का सम्बोधन में बहुवचन का रूप है ।

६. चूर्णि में 'कम्मअकोविता' पाठ है, अर्थ है—कहं कम्म बज्झति मुच्चति वा····कर्म कोविद (कर्म–पंडित उसे कहते हैं, जो यह भलीभाँति जानता है कि कर्म कैसे बन्धते हैं, कैसे छूटते हैं ?'

हाँकता) है, 'मुझे कोई देख न ले' इस आशंका से छिप-छिपकर अनाचार-कुकृत्य करता है, (तो समझ लो) वह यह सब अज्ञान और प्रमाद के दोष से सतत मूढ़ बना हुआ (करता है), वह मोहमूढ़ धर्म को नहीं जानता (धर्म-अधर्म का विवेक नहीं कर पाता)।

हे मानव ! जो लोग प्रजा (विषय-कषायों) से आर्त्त—पीड़ित हैं, कर्मबन्धन करने में ही चतुर हैं, जो आश्रवों (हिंसादि) से विरत नहीं है, जो अविद्या से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते हैं, वे (जन्म-मरणादि रूप) संसार के भंवर जाल में बराबर चक्कर काटते रहते हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सूत्र १५१ में एकाकी विचरण करने वाले अज्ञानी साधक के विषय में कहा है। **'एगचरिया'**—साधक के लिए एकचर्या दो प्रकार की है—प्रशस्त और अप्रशस्त। इन दोनों प्रकार की एकचर्या के भी दो भेद हैं—द्रव्य-एकचर्या और भाव-एकचर्या। द्रव्यतः प्रशस्त एकचर्या तब होती है, जब प्रतिमाधारी, जिनकल्पी या संघादि के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य या साधना के लिए एकाकी विचरण स्वीकार किया जाए। वह द्रव्यतः प्रशस्त एकचर्या होती है। जिस एकचर्या के पीछे विषय-लोलुपता हो, अतिस्वार्थ हो, दूसरों से पूजा-प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पाने का लोभ हो, कषायों की उत्तेजना हो, दूसरों की सेवा न करनी पड़े, दूसरों को अपने किसी दोष या अनाचार का पता न लग जाए—इन कारणों से एकाकी विचरण स्वीकार करना अप्रशस्त-एकचर्या है। यहाँ पर अप्रशस्त एकचर्या के दोषों का विशद उद्घाटन हुआ है।

भाव से एकचर्या तभी हो सकती है, जब राग-द्वेष न रहे। यह अप्रशस्त नहीं होती। अतः भाव से, प्रशस्त एकचर्या ही होती है और यह तीर्थंकरों आदि को होती है।

प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य से अप्रशस्त एकचर्या करने वाले की गलत रीति-नीति का निरूपण किया है। प्रशस्त एकचर्या अपनाने वाले में ऐसे दोष-दुर्गुणों का न होना अत्यन्त आवश्यक है।[1] अप्रशस्त एकचर्या अपनाने वाला साधक अज्ञान और प्रमाद से ग्रस्त रहता है। अज्ञान दर्शन मोहनीय का और प्रमाद चारित्र मोहनीय कर्म के उदय का सूचक है।[2]

'उत्थितवाद' पद के द्वारा एकचर्या करने वालों की उन मिथ्या उक्तियों का निरसन किया है जो यदा-कदा वे करते हैं—जैसे—"मैं इसलिए एकाकी विहार करता हूँ कि अन्य साधु शिथिलाचारी हैं, मैं उग्र आचारी हूँ, मैं उनके साथ कैसे रह सकता हूँ ? आदि'। सूत्रकार का कथन है इस प्रकार की आत्म-प्रशंसा सिर्फ उसका वाग्जाल है। इस 'उत्थितवाद' को—स्वयं को संयम में उत्थित बताने की मायापूर्ण उक्ति मात्र समझना चाहिए।

मोक्ष के दो साधन सूत्रकृतांग सूत्र में बताये गये हैं[3]—विद्या (ज्ञान) और चारित्र।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८२। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८२।
३. **आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खो**—सूत्र कृतांग श्रु० १, अ० १२ गा० ११।

अविद्या मोक्ष का कारण नहीं है। चूर्णिकार 'अविज्जाए' के स्थान पर 'विज्जाए' पाठ मानकर इसका अर्थ करते हैं—जैसे मंत्रों से विष का नाश हो जाता है (उतर जाता है), वैसे ही विद्या (देवी के मंत्र) से या (कोरे ज्ञान से) कोई-कोई परिमोक्ष (सर्वथा मुक्ति) चाहते हैं, जैसे सांख्य। विद्या—तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह सांख्यों का मत है। जैसा कि सांख्य कहते हैं—

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखीवाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः॥

—२५ तत्त्वों का जानकार किसी भी आश्रम में रत हो, अवश्य मुक्त हो जाता है, चाहे वह जटाधारी हो, मुण्डित हो या शिखाधारी हो।

मोक्ष से विपरीत संसार है। अविद्या संसार का कारण है। अतः जो दार्शनिक अविद्या को विद्या मानकर मोक्ष का कारण बताते हैं, वे संसार के भंवरजाल मे बार-बार पर्यटन करते रहते हैं, उनके संसार का अन्त नहीं आता।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अप्रमाद का पथ

१५२. आवंती केआवंती लोगंसि अणारंभजीवी, एतेसु[1] चेव अणारंभजीवी।

एत्थोवरते तं झोसमाणे अयं संधी ति अदक्खु, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे त्ति अन्नेसी[2]।

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते। उट्ठिते णो पमादए जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं पुढो छंदा[3] इह माणवा।

पुढो दुक्खं पवेदितं।

से अविहिंसमाणे[4] अणवयमाणे[5] पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए। एस समियापरियाए[6] वियाहिते।

---

१. 'एतेसु चेव अणारंभजीवी' के बदले चूर्णि में पाठ है—'एतेसु चेव छक्काएसु'—इन्हीं षड् जीवनिकायों में·······। शीलांकाचार्य अर्थ करते हैं—'तस्वेव गृहिषु' अर्थात्—उन्हीं गृहस्थों में।'
२. 'अन्नेसी' के बदले 'मण्णेसी' 'मन्नेसी' पाठ है, जिसका अर्थ है—मानते हैं।
३. 'पुढो छंदा इह माणवा' के बदले 'पुढो छंदाणं माणवाणं' पाठ है—अलग-अलग स्वच्छन्द मानवों के·······।'
४. 'से अविहिंसमाणे····' इत्यादि पाठ का अर्थ चूर्णि में मिलता है—"अणारंभजीविणा तवो अधिट्ठेयव्वो, जत्थ उवदेसो पुढो (पुट्ठो) फासे। अहवा जति तं विरतं परीसहा फुसिज्जा तत्थ सुत्तं—पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए। पुट्ठो पत्तो।" इसका अर्थ है—अनारम्भजीवी को तपश्चर्या का अनुष्ठान करना चाहिए। जिस साधक के हृदय में भगवदुपदेश स्पर्श कर गया है वह परीषहों का स्पर्श होने पर

१५३. जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आतंका[1] फुसंति । इति उदाहु धीरे[2] । ते फासे पुट्ठोऽधियासते ।

से पुव्वं पेतं पच्छा पेतं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितियं असासतं चयोवचइयं[3] विप्परिणामधम्मं । पासह एयं रूवसंधिं ।

समुपेहमाणस्स एगायतणरतस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि ।

१५२. इस मनुष्य लोक में जितने भी अनारम्भजीवी (अहिंसा के पूर्ण आराधक) हैं, वे (इन सावद्य-आरम्भ प्रवृत्त गृहस्थों) के बीच रहते हुए भी अनारम्भ-जीवी (विषयों से निर्लिप्त-अप्रमत्त रहते हुए जीते) हैं ।

इस सावद्य-आरम्भ से उपरत अथवा आर्हत्‌शासन में स्थित अप्रमत्त मुनि 'यह सन्धि (उत्तम अवसर या कर्म विवर-आस्रव) है'—ऐसा देखकर उसे (कर्मविवर-आस्रव को) क्षीण करता हुआ (क्षण भर भी प्रमाद न करे) ।

'इस औदारिक शरीर (विग्रह) का यह वर्तमान क्षण है', इस प्रकार जो क्षणान्वेषी (एक-एक क्षण का अन्वेषण करता है एवं प्रत्येक क्षण का महत्त्व समझता है) है; (वह सदा अप्रमत्त रहता है) ।

यह (अप्रमाद का) मार्ग आर्यों (तीर्थंकरों) ने बताया है ।

(साधक मोक्ष की साधना के लिए) उत्थित होकर प्रमाद न करे ।

प्रत्येक का दुःख और सुख (अपना-अपना स्वतन्त्र होता है) (अर्थात् दुःख-सुख के उपादानभूत कर्म सबके अपने-अपने होते हैं)—यह जानकर प्रमाद न करे ।

इस जगत में मनुष्य पृथक्-पृथक् विभिन्न अध्यवसाय (अभिप्राय या संकल्प) वाले होते हैं, (इसलिए) उनका दुःख (या दुःख का अन्तरंग कारण कर्म) भी (नाना प्रकार का) पृथक्-पृथक् होता है—ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है ।

विविध प्रकार से समभाव से सहन करे । यदि उस विरत साधु को परीषहों का स्पर्श हो तो यह सूत्र वहाँ उपयुक्त है—**पुढो फासे विप्प०** ।

५. **'अणवयमाणे'** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**'अवदमाणे मुसावादं'**—जो मृषावाद (झूठ) नहीं बोलता ।

६. **'समियापरियाए वियाहिते'** के बदले चूर्णि में **'समिताए परियाए वियाहिते'** पाठ स्वीकार करके अर्थ किया गया है—'समगमणं समिया परिगमणं परियाए, विविहं आहिते वियाहिते'—सम—गमन है समिता, परिगमन है—पर्याय, विविध प्रकार से आहित व्याहित होता है ।

१. **'आतंका'** के बदले चूर्णि में **'रोगातंका'** पाठ है । अर्थ होता है—रोगरूप उपद्रव ।

२. इसके स्थान पर **'वीरो'** या **'धीरो'** पाठ मिलता है जिसका अर्थ चूर्णि में किया गया है—"वी (धी) रो तत्थगरो अण्णतरो वा आयारिय विसेसो ।"—वी (धी) र का अर्थ है—तीर्थंकर या कोई आचार्य विशेष ।

३. इसकी चूर्णि में व्याख्या की गई है—**"इट्ठाहारतो चिज्जति,** तदभावा अवचिज्जति, अतो चयो-वचइयं," अर्थात्—अभीष्ट आहार से चय होता है, उसके अभाव में अपचय होता है, इसलिए कहा—**'चयोवचइयं ।'**

वह (अनारम्भजीवी) साधक किसी भी जीव की हिंसा न करता हुआ, वस्तु के स्वरूप को अन्यथा न कहे (मृषावाद न बोले)। (यदि) परीषहों और उपसर्गों का स्पर्श हो तो उनसे होने वाले दुःखस्पर्शों को विविध उपायों (संसार की असारता की भावना आदि) से प्रेरित होकर समभावपूर्वक सहन करे। ऐसा (अहिंसक और सहिष्णु) साधक शमिता या समता का पारगामी, (उत्तम चारित्र-सम्पन्न) कहलाता है।

१५३. जो साधक पापकर्मों में आसक्त नहीं है, कदाचित् उन्हें आतंक (शीघ्र-घाती व्याधि, मरणान्तक पीड़ा आदि) स्पर्श करें—पीड़ित करें, ऐसे प्रसंग पर धीर (वीर) तीर्थंकर महावीर ने कहा कि 'उन दुःख स्पर्शों को (समभावपूर्वक) सहन करें।'

यह प्रिय लगने वाला शरीर पहले या पीछे (एक न एक दिन) अवश्य छूट जाएगा। इस रूप-सन्धि—देह के स्वरूप को देखो, छिन्न-भिन्न और विध्वंस होना, इसका स्वभाव है। यह अध्रुव है, अनित्य है, अशाश्वत है, इसमें उपचय-अपचय (वढ़-घट) होता रहता है, विविध परिवर्तन होते रहना, इसका स्वभाव है।

जो (अनित्यता आदि स्वभाव से युक्त इस शरीर के स्वरूप को और इस शरीर को मोक्ष-लाभ के अवसर—सन्धि के रूप में देखता है), आत्म-रमण रूप एक आयतन में लीन है, (शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों की—) मोह ममता से मुक्त है; उस हिंसादि से विरत साधक के लिए संसार-भ्रमण का मार्ग नहीं है—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक के पूर्वार्द्ध में अप्रमाद क्यों, क्या और कैसे? इस पर कुछ सूत्रों में सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसके उत्तरार्द्ध में प्रमाद के एक अन्यतम कारण परिग्रह वृत्ति के त्याग पर प्रेरणादायक सूत्र अंकित है।

अप्रमाद के पथ पर चलने के लिए एक सजग प्रहरी की भाँति सचेष्ट और सतत रहना पड़ता है। खासतौर से उसे शरीर पर—स्थूल शरीर पर ही नहीं, सूक्ष्म कार्मण शरीर पर—विशेष देखभाल रखनी पड़ती है। इसकी हर गतिविधि को बारीकी से जांच-परख कर आगे बढ़ना होता है। अगर अष्टविध[1] प्रमाद में से कोई भी प्रमाद जरा भी भीतर में घुस आया तो वह आत्मा की गति-प्रगति को रोक देगा, इसलिए प्रमाद के मोर्चों (संधि) पर बराबर निगरानी रखनी चाहिए। जैसे-जैसे साधक अप्रमत्त होकर स्थूल शरीर की क्रियाओं और उनसे मन पर होने वाले प्रभावों को देखने का अभ्यास करता जाता है, वैसे-वैसे कार्मण शरीर की गतिविधि को देखने की शक्ति भी आती जाती है। शरीर के सूक्ष्म दर्शन का इस तरह दृढ़ अभ्यास होने पर अप्रमाद की गति बढ़ती है और शरीर से प्रवाहित होने वाली

---

१. प्रमाद के पाँच, छह तथा आठ भेद हैं। (क) १ मद्य, २ विषय, ३ कषाय ४ निद्रा, ५ विकथा। (उत्त० नि० १८०) (ख) १ मद्य, २ निद्रा, ३ विषय, ४ कषाय, ५ द्यूत, ६ प्रतिलेखन (स्था० ६) (ग) १ अज्ञान, २ संशय, ३ मिथ्याज्ञान, ४ राग, ५ द्वेष, ६ स्मृतिभ्रंश, ७ धर्म में अनादर, ८ योग-दुष्प्रणिधान (प्रव० द्वार २०७)—देखें, अभि० राजे० भाग ५, पृ० ४८०

चैतन्य धारा की उपलब्धि होने लगती है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—"एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते।"

आरम्भ और अनारम्भ : साधु-जीवन में—साधु गृहस्थाश्रम के वाह्य आरम्भों से विलकुल दूर रहता है, परन्तु साधना-जीवन में उसकी दैनिकचर्या के दौरान कई आरम्भ प्रमादवश हो जाते हैं। उसी प्रमाद को यहाँ आरम्भ कहा गया है—

"आदाणे निक्खेवे भासुस्सग्गे अ ठाण-गमणाई।
सव्वो पमत्तजोगो समणस्सऽवि होइ आरंभो ॥"[1]

—अपने धर्मोपकरणों या संयम-सहायक साधनों को उठाने-रखने, वोलने, वैठने, गमन करने, भिक्षादि द्वारा आहार का ग्रहण एवं सेवन करने एवं मल-मूत्रादि का उत्सर्ग करने आदि में श्रमण का भी मन-वचन-काया से समस्त प्रमत्त योग आरम्भ है।' आशय यह है कि गृहस्थ जहाँ सावद्यकार्यों में प्रवृत्त होते हैं, वहाँ साधु निरवद्य कार्यो में ही प्रवृत्त होते हैं। आरम्भ-जीवी गृहस्थ का भिक्षा, स्थान आदि के रूप में सहयोग प्राप्त करके भी, उनके वीच रहकर भी वे आरम्भ में लिप्त—आसक्त नहीं होते। इसलिए वे आरम्भजीवी में भी अनारम्भजीवी रहते हैं। संसार में रहते हुए भी वे जल-कमलवत् निर्लेप रहते हैं। शरीर-साधनार्थ भी वे निरवद्य विधि से जीते हैं।[2] यही—अनारम्भजीवी साधक का लक्षण है।

'अयं खणेत्ति अन्नेसी'—इस पद का अर्थ है कि शरीर के वर्तमान क्षण पर चिन्तन करे—शरीर के भीतर प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहे हैं, रोग-पीड़ा आदि नये-नये रूप में उभर रहे हैं, उनको देखे, एक क्षण का गम्भीर अन्वेषण भी शरीर की नश्वरता को स्पष्ट कर देता है। अतः गम्भीरतापूर्वक शरीर के वर्तमान क्षण का अन्वेषण करे।

पंचमहाव्रती साधु को गृहीत प्रतिज्ञा के निर्वाह के समय कई प्रकार के परीषह (कष्ट), उपसर्ग, दुःख, आतंक आदि आ जाते हैं, उस समय उसे क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—**'ते फासे पुट्ठोऽधियासते से पुव्वं पेतं पच्छा पेतं'** इसका आशय यह है कि उस समय साधक उन दुःख स्पर्शों को अनाकुल और धैर्यवान होकर सहन करे। संसार की असारता की भावना, दुःख सहने से कर्म-निर्जरा की साधना आदि का विचार करके उन दुःखों का वेदन न करे, मन में दुःखों के समय समभाव रखे। शरीर को अनित्य, अशाश्वत, क्षणभंगुर और नाशवान् तथा परिवर्तनशील मानकर इससे आसक्ति हटाए, देहाध्यास न करे। साथ ही यह भी विचार करे कि मैंने पूर्व में जो असातावेदनीय कर्म बांधे हैं, उनके विपाक (फल) स्वरूप जो दुःख आएँगे, वे मुझे ही सहन करने पड़ेंगे, मेरे स्थान पर कोई अन्य सहन करने नहीं आएगा। और किए हुए कर्मों से फल भोगे बिना छुटकारा कदापि नहीं हो सकता। अतः जैसे पहले भी मैंने असातावेदनीय कर्म-विपाक-जनित दुःख सहे थे, वैसे बाद में भी मुझे ये दुःख सहने पड़ेंगे। संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिस पर असातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप दुःख, रोग आदि आतंक न आये हों, यहाँ तक कि वीतराग तीर्थंकर जैसे महापुरुषों

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८५ में।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।

वह (अनारम्भजीवी) साधक किसी भी जीव की हिंसा न करता हुआ, वस्तु के स्वरूप को अन्यथा न कहे (मृषावाद न बोले)। (यदि) परीषहों और उपसर्गों का स्पर्श हो तो उनसे होने वाले दुःखस्पर्शों को विविध उपायों (संसार की असारता की भावना आदि) से प्रेरित होकर समभावपूर्वक सहन करे। ऐसा (अहिंसक और सहिष्णु) साधक शमिता या समता का पारगामी, (उत्तम चारित्र-सम्पन्न) कहलाता है।

१५३. जो साधक पापकर्मों में आसक्त नहीं है, कदाचित् उन्हें आतंक (शीघ्र-घाती व्याधि, मरणान्तक पीड़ा आदि) स्पर्श करें—पीड़ित करें, ऐसे प्रसंग पर धीर (वीर) तीर्थंकर महावीर ने कहा कि 'उन दुःख स्पर्शों को (समभावपूर्वक) सहन करें।'

यह प्रिय लगने वाला शरीर पहले या पीछे (एक न एक दिन) अवश्य छूट जाएगा। इस रूप-सन्धि—देह के स्वरूप को देखो, छिन्न-भिन्न और विध्वंस होना, इसका स्वभाव है। यह अध्रुव है, अनित्य है, अशाश्वत है, इसमें उपचय-अपचय (बढ़-घट) होता रहता है, विविध परिवर्तन होते रहना, इसका स्वभाव है।

जो (अनित्यता आदि स्वभाव से युक्त इस शरीर के स्वरूप को और इस शरीर को मोक्ष-लाभ के अवसर—सन्धि के रूप में देखता है), आत्म-रमण रूप एक आयतन में लीन है, (शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों की—) मोह ममता से मुक्त है; उस हिंसादि से विरत साधक के लिए संसार-भ्रमण का मार्ग नहीं है—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक के पूर्वार्द्ध में अप्रमाद क्यों, क्या और कैसे? इस पर कुछ सूत्रों में सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसके उत्तरार्द्ध में प्रमाद के एक अन्यतम कारण परिग्रह-वृत्ति के त्याग पर प्रेरणादायक सूत्र अंकित है।

अप्रमाद के पथ पर चलने के लिए एक सजग प्रहरी की भाँति सचेष्ट और सतर्क रहना पड़ता है। खासतौर से उसे शरीर पर—स्थूल शरीर पर ही नहीं, सूक्ष्म कार्मण शरीर पर—विशेष देखभाल रखनी पड़ती है। इसकी हर गतिविधि को बारीकी से जांच-परख कर आगे बढ़ना होता है। अगर अष्टविध[1] प्रमाद में से कोई भी प्रमाद जरा भी भीतर में घुस आया तो वह आत्मा की गति-प्रगति को रोक देगा, इसलिए प्रमाद के मोर्चों (संधि) पर बराबर निगरानी रखनी चाहिए। जैसे-जैसे साधक अप्रमत्त होकर स्थूल शरीर की क्रियाओं और उनसे मन पर होने वाले प्रभावों को देखने का अभ्यास करता जाता है, वैसे-वैसे कार्मण शरीर की गतिविधि को देखने की शक्ति भी आती जाती है। शरीर के सूक्ष्म दर्शन का इस तरह दृढ़ अभ्यास होने पर अप्रमाद की गति बढ़ती है और शरीर से प्रवाहित होने वाली

१. प्रमाद के पाँच, छह तथा आठ भेद हैं। (क) १ मद्य, २ विषय, ३ कषाय ४ निद्रा, ५ विकथा। (उत्त० नि० १८०) (ख) १ मद्य, २ निद्रा, ३ विषय, ४ कषाय, ५ द्यूत, ६ प्रतिलेखन (स्था० ६) (ग) १ अज्ञान, २ संशय, ३ मिथ्याज्ञान, ४ राग, ५ द्वेष, ६ स्मृतिभ्रंश, ७ धर्म में अनादर, ८ योग-दुष्प्रणिधान (प्रव० द्वार २०७)—देखें, अभि० राजे० भाग ५, पृ० ४८०

चैतन्य धारा की उपलब्धि होने लगती है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—"एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते।"

आरम्भ और अनारम्भ : साधु-जीवन में—साधु गृहस्थाश्रम के बाह्य आरम्भों से बिलकुल दूर रहता है, परन्तु साधना-जीवन में उसकी दैनिकचर्या के दौरान कई आरम्भ प्रमादवश हो जाते हैं। उसी प्रमाद को यहाँ आरम्भ कहा गया है—

"आदाणे निक्खेवे भासुस्सग्गे अ ठाण-गमणाई।
सव्वो पमत्तजोगो समणस्सऽवि होइ आरंभो॥[1]

—अपने धर्मोपकरणों या संयम-सहायक साधनों को उठाने-रखने, बोलने, बैठने, गमन करने, भिक्षादि द्वारा आहार का ग्रहण एवं सेवन करने एवं मल-मूत्रादि का उत्सर्ग करने आदि में श्रमण का भी मन-वचन-काया से समस्त प्रमत्त योग आरम्भ है।' आशय यह है कि गृहस्थ जहाँ सावद्यकार्यों में प्रवृत्त होते हैं, वहाँ साधु निरवद्य कार्यों में ही प्रवृत्त होते हैं। आरम्भ-जीवी गृहस्थ का भिक्षा, स्थान आदि के रूप में सहयोग प्राप्त करके भी, उनके बीच रहकर भी वे आरम्भ में लिप्त—आसक्त नहीं होते। इसलिए वे आरम्भजीवी में भी अनारम्भजीवी रहते हैं। संसार में रहते हुए भी वे जल-कमलवत् निर्लेप रहते हैं। शरीर-साधनार्थ भी वे निरवद्य विधि से जीते हैं।[2] यही—अनारम्भजीवी साधक का लक्षण है।

'अयं खणेत्ति अन्नेसी'—इस पद का अर्थ है कि शरीर के वर्तमान क्षण पर चिन्तन करे—शरीर के भीतर प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहे हैं, रोग-पीड़ा आदि नये-नये रूप में उभर रहे हैं, उनको देखे, एक क्षण का गम्भीर अन्वेषण भी शरीर की नश्वरता को स्पष्ट कर देता है। अतः गम्भीरतापूर्वक शरीर के वर्तमान क्षण का अन्वेषण करे।

पंचमहाव्रती साधु को गृहीत प्रतिज्ञा के निर्वाह के समय कई प्रकार के परीषह (कष्ट), उपसर्ग, दुःख, आतंक आदि आ जाते हैं, उस समय उसे क्या करना चाहिए? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—**'ते फासे पुट्ठोऽधियासते से पुव्वं पेतं पच्छा पेतं'** इसका आशय यह है कि उस समय साधक उन दुःख स्पर्शों को अनाकुल और धैर्यवान होकर सहन करे। संसार की असारता की भावना, दुःख सहने से कर्म-निर्जरा की साधना आदि का विचार करके उन दुःखों का वेदन न करे, मन में दुःखों के समय समभाव रखे। शरीर को अनित्य, अशाश्वत, क्षणभंगुर और नाशवान् तथा परिवर्तनशील मानकर इससे आसक्ति हटाए, देहाध्यास न करे। साथ ही यह भी विचार करे कि मैंने पूर्व में जो असातावेदनीय कर्म बांधे हैं, उनके विपाक (फल) स्वरूप जो दुःख आएँगे, वे मुझे ही सहन करने पड़ेंगे, मेरे स्थान पर कोई अन्य सहन करने नहीं आएगा। और किए हुए कर्मों से फल भोगे बिना छुटकारा कदापि नहीं हो सकता। अतः जैसे पहले भी मैंने असातावेदनीय कर्म-विपाक-जनित दुःख सहे थे, वैसे बाद में भी मुझे ये दुःख सहने पड़ेंगे। संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिस पर असातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप दुःख, रोग आदि आतंक न आये हों, यहाँ तक कि वीतराग तीर्थंकर जैसे महापुरुषों

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८५ में। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।

के भी पूर्वकृत असातावेदनीय कर्मवश दुःख, रोग, आतंक आदि आ जाते हैं। उन्हें भी कर्मफल अवश्य भोगने पड़ते हैं। अतः मुझे भी इनके आने पर घबराना नहीं चाहिए, समभावपूर्वक इन्हें सहते हुए कर्मफल भोगने चाहिए।[1]

'णत्थि मग्गे विरयस्स'—हिंसादि आश्रवद्वारों से निवृत्त मुनि के लिए कोई मार्ग नहीं है, इस कथन के पीछे तीन अर्थ फलित होते हैं—

(१) इस जन्म में विविध परमार्थ भावनाओं के अनुप्रेक्षण के कारण शरीरादि की आसक्ति से मुक्त साधक के लिए नरक-तिर्यंचादिगमन (गति) का मार्ग नहीं है—बन्द हो जाता है।

(२) उसी जन्म में समस्त कर्मक्षय हो जाने के कारण उसके लिए चतुर्गतिरूप कोई मार्ग नहीं है।

(३) जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु, ये चार दुःख के मुख्य मार्ग हैं। विरत और विप्रमुक्त के लिए ये मार्ग बन्द हो जाते हैं।[2]

यहाँ पर छद्मस्थ श्रमण के लिए प्रथम और तृतीय अर्थ घटित होता है। समस्त कर्मक्षय करने वाले केवली के लिए द्वितीय अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार अप्रमत्त साधक संसार-भ्रमण से मुक्त हो जाता है।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा

१५४. आवंती केआवंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा. एतेसु चेव परिग्गहावंती।

एतदेवेगेसिं महब्भयं भवति।

लोगवित्तं च णं उवेहाए।

एते संगे अविजाणतो।

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।

(ख) कर्मफल स्वेच्छा से भोगने और अनिच्छा से भोगने में बहुत अन्तर पड़ जाता है। एक आचार्य ने कहा है—

स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां विपाकः,
पुनरपि सहनीयोऽत्र तेनिर्गुणस्य।
स्वयमनुभवताऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो
भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते॥

—खेद रहित होकर स्वकृत-कर्मों के बन्ध का विपाक अभी नहीं सहन करोगे तो फिर (कभी न कभी) सहन करना (भोगना) ही पड़ेगा। यदि वह कर्मफल स्वयं स्वेच्छा से भोग लोगे तो शीघ्र दुःख से छुटकारा हो जाएगा। यदि अनिच्छा से भोगोगे तो वह सौ भवों (जन्मों) में गमन का कारण हो जाएगा।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८७।

१५५. से सुपडिबुद्धं सूवणीयं[1] ति णच्चा पुरिसा ! परमचक्खू ! विपरिक्कम ।
एतेसु चेव बंभचेरं ति बेमि ।
से सुतं च मे अज्झत्थं[2] च मे—बंधपमोक्खो तुज्झऽज्झत्थेव ।

१५६. एत्थ विरते अणगारे दीहरायं तितिक्खते ।
पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए ।
एयं मोणं सम्मं अणुवासेज्जासि त्ति बेमि ।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

१५४. इस जगत में जितने भी प्राणी परिग्रहवान् है, वे अल्प, या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त (सजीव) या अचित्त (निर्जीव) वस्तु का परिग्रहण (ममतापूर्वक ग्रहण या संग्रह) करते हैं। वे इन (वस्तुओं) में (मूर्च्छा-ममता रखने के कारण) ही परिग्रहवान् है। यह परिग्रह ही परिग्रहियों के लिए महाभय का कारण होता है।

साधको ! असंयमी—परिग्रही लोगों के वित्त—धन या वृत्त (संज्ञाओं) को देखो। (इन्हें भी महान भय रूप समझो)।

जो (परिग्रहजनित) आसक्तियों को नहीं जानता, वह महाभय को पाता है। (जो अल्प, बहुत द्रव्यादि तथा शरीरादिरूप परिग्रह से रहित होता है उसे परिग्रह-जनित महाभय नहीं होता।)

१५५. (परिग्रह महाभय का हेतु है—) यह (वीतराग सर्वज्ञों द्वारा) सम्यक् प्रकार से प्रतिबुद्ध (ज्ञात) है और सुकथित है, यह जानकर, हे परमचक्षुष्मान् (एक मात्र मोक्षदृष्टिमान्) पुरुष ! तू (परिग्रह आदि से मुक्त होने के लिए) पुरुषार्थ (पराक्रम) कर।

(जो परिग्रह से विरत हैं) उनमें ही (परमार्थतः) ब्रह्मचर्य होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

मैंने सुना है, मेरी आत्मा में यह अनुभूत (स्थिर) हो गया है कि बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही स्थित है।

१५६. इस परिग्रह से विरत अनगार (अपरिग्रहवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले क्षुधा-पिपासा आदि) परीषहों को दीर्घरात्री—मृत्युपर्यन्त-जीवन भर सहन करे।

---

१. 'सूवणीयं ति णच्चा' के बदले चूर्णि में पाठ है—'सुत अणुविचिंतेति णच्चा'। अर्थ किया गया है—"सुतेण अणुविचिंतित्ता गणधरे हिं णच्चा'—अर्थात्—सूत्र से तदनुरूप चिन्तन करके गणधरों द्वारा प्रस्तुत है, इसे जान कर…"।

२. 'अज्झत्थं' के बदले चूर्णि में पाठ है—'अज्झत्थियतं।' अर्थ किया है—"ऊहितं गुणितं चिंतितं ति एकट्ठा।' 'अध्यात्मितं' का अर्थ होता है—ऊहित, गुणित या चिन्तित। यानी (मन में) ऊहापोह कर लिया है, चिन्तन कर लिया है, या गुणन कर लिया है।

जो प्रमत्त (विषयादि प्रमादों से युक्त) है, उन्हें निर्ग्रन्थ धर्म से बाहर समझ (देख)। अतएव अप्रमत्त होकर परिव्रजन-विचरण कर।

(और) इस (परिग्रहविरतिरूप) मुनिधर्म का सम्यक् परिपालन कर।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—'एतेसु चेव परिग्गहावंती'—इस वाक्य का आशय बहुत गहन है। वृत्तिकार ने इसका रहस्य खोलते हुए कहा है—परिग्रह (चाहे थोड़ा सा भी हो, सूक्ष्म हो) सचित्त (शिष्य-शिष्या, भक्त, भक्ता का) हो या अचित्त (शास्त्र, पुस्तक, वस्त्र, पात्र, क्षेत्र, प्रसिद्धि आदि का) हो, अल्प मूल्यवान् हो या बहुमूल्य, थोड़े से वजन का हो या वजनदार, यदि साधक की मूर्च्छा ममता या आसक्ति इनमें से किसी भी पदार्थ पर थोड़ी या अधिक है तो महाव्रतधारी होते हुए भी उसकी गणना परिग्रहवान् गृहस्थों में होगी।

इसका दूसरा आशय यह भी है—इन्हीं षड्जीवनिकायरूप सचित्त जीवों के प्रति या विषयभूत अल्पादि द्रव्यों के प्रति मूर्च्छा—ममता करने वाले साधक परिग्रहवान् हो जाते हैं। इस प्रकार अविरत होकर भी स्वयं विरतिवादी होने की डींग हांकने वाला साधक अल्प-परिग्रह से भी परिग्रहवान् हो जाता है। आहार—शरीरादि के प्रति जरा-सी मूर्च्छा-ममता भी साधक को परिग्रही बना सकती है, अतः उसे सावधान (अप्रमत्त) रहना चाहिए।[1]

'एतदेवेगेसिं महब्भयं भवति'—इस वाक्य में 'एगेसिं' से तात्पर्य उन कतिपय साधकों से है, जो अपरिग्रहव्रत धारण कर लेने के बावजूद भी अपने उपकरणों या शिष्यों आदि पर मूर्च्छा-ममता रखते हैं। जैसे गृहस्थ के मन में परिग्रह की सुरक्षा का भय बना रहता है, वैसे ही पदार्थों (सजीव-निर्जीव) के प्रति ममता-मूर्च्छा रखने वाले साधक के मन में भी सुरक्षा का भय बना रहता है। इसीलिए परिग्रह को महाभय रूप कहा है। अगर इस कथन का साक्षात् अनुभव करना हो तो महापरिग्रही लोगों के वृत्त (चरित्र) या वित्त (स्थिति) को देखो कि उन्हें अहर्निश जान को कितना खतरा रहता है।[2]

'लोगवित्तं'—का एक अर्थ—लोक वृत्त—लोगों का व्यवहारिक कष्टमय जीवन है। तथा दूसरा अर्थ—लोकसंज्ञा से है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप लोक-संज्ञा को भय रूप जानकर उसकी उपेक्षा कर दे।

'एतेसु चेव बंभचेरं' का आशय यह है कि प्राचीन काल में स्त्री को भी परिग्रह माना जाता था। यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा की थी। ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह व्रत के अन्दर गतार्थ कर लिया गया था।

ब्रह्मचर्य-भंग भी मोहवश होता है, मोह आभ्यन्तर परिग्रह में है। इसलिए ब्रह्मचर्य-भंग को अपरिग्रह व्रत-भंग का कारण समझा जाता है। इस दृष्टि से कहा गया है कि परिग्रह से विरत व्यक्तियों में ही वास्तव में ब्रह्मचर्य का अस्तित्व है। जिसकी शरीर और वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा-ममता होगी, न वह इन्द्रिय-संयम रूप ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेगा, न वह अन्य

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८७।   २. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८८।

अहिंसादि व्रतों का आचरणरूप ब्रह्मचर्य पालन कर सकेगा, और न ही गुरुकुलवास रूप ब्रह्मचर्य में रह पाएगा, और न वह आत्मा-परमात्मा (ब्रह्म) में विचरण कर पाएगा। इसीलिए कहा गया कि परिग्रह से विरत मनुष्यों में ही सच्चे अर्थ में ब्रह्मचर्य रह सकेगा।[1]

'परमचक्खू'—परमचक्षु के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) जिसके पास परम-ज्ञान-रूपी—चक्षु (नेत्र) हैं वह परमचक्षु है, अथवा (२) परम—मोक्ष पर ही एकमात्र जिसके चक्षु (दृष्टि) केन्द्रित है, वह भी परमचक्षु है।[2]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

मुनि-धर्म की प्रेरणा

१५७. आवंती केआवंती लोगंसि अपरिग्गहावंती, एएसु चेव अपरिग्गहावंती। सोच्चा[3] वई मेधावी पंडियाणं निसामिया। समियाए धम्मे आरिएहिं[4] पवेदिते।

जहेत्थ मए संधी झोसिते एवमण्णत्थ संधी दुज्झोसए भवति।

तम्हा बेमि णो णिहेज्ज[5] वीरियं।

१५७. इस लोक में जितने भी अपरिग्रही साधक हैं, वे इन धर्मोपकरण आदि में (मूर्च्छा-ममता न रखने तथा उनका संग्रह न करने के कारण) ही अपरिग्रही है।

मेधावी साधक (तीर्थंकरों की आगमरूप) वाणी सुनकर तथा (गणधर एवं आचार्य आदि) पण्डितों के वचन पर चिन्तन-मनन करके (अपरिग्रही) बने।

आर्यों (तीर्थंकरों) ने 'समता में धर्म कहा है।'

(भगवान् महावीर ने कहा—) जैसे मैंने ज्ञान-दर्शन-चारित्र—इन तीनों की सन्धि रूप (समन्वित—) साधना की है, वैसी साधना अन्यत्र (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रहित या स्वार्थी मार्ग में) दुःसाध्य—दुराराध्य है। इसलिए मैं कहता हूँ—(—तुम मोक्ष मार्ग की इस समन्वित साधना में पराक्रम करो), अपनी शक्ति को छिपाओ मत।'

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८८। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८८।

३. **'सोच्चा वई मेहा (धा) वी'** इस पंक्ति का चूर्णिकार अर्थ करते हैं—"**सोच्चा**—सुणित्ता, **वयिं**—वयणं, मेहावी सिस्सामंतणं।...अहवा **सोच्चा मेहाविवयणं ति तित्थगरवयणं, तं पंडिते हिं भण्णमाणं गण-हरादीहि णिसामिया।**—अर्थात्—वचन सुनकर हे मेधावी!...अथवा मेधाविवचन=तीर्थंकरवचन सुनकर गणधरादि द्वारा हृदयंगम किये गए उन वचनों को, आचार्यों (पण्डितों) द्वारा उन वचनों को...।

४. **'आरिएहिं'** के बदले किसी प्रति में **'आयरिएहिं'** पाठ मिलता है, उसका अर्थ है—आचार्यों द्वारा।

५. **'णो णिहेज्ज'** के बदले कहीं **'णो निण्हवेज्ज'**, या **'णो णिहेज्जा'** पाठ है। अर्थ समान है। चूर्णिकार कहते हैं—**'णिहणं ति वा गूहणं ति वा छायणं ति वा एगट्ठा'**—निह्नवन, (छुपाना) गूहन और छादन, ये तीनों एकार्थक हैं।

विवेचन—इस उद्देशक में मुनि धर्म के विविध अंगोपांगों की चर्चा की गई है। जैसे—रत्नत्रय की समन्वित साधना की, उस साधना में रत साधकों की उत्थित-पतित मनोदशा की, भाव युद्ध की, विषय-कषायासक्ति की, लोक-सम्प्रेक्षा की रीति की, कर्मस्वातंत्र्य की, प्रशंसा-विरक्ति की, सम्यक्त्व और मुनित्व के अन्योन्याश्रय की, इस साधना के अयोग्य एवं योग्य साधक की और योग्य साधक के आहारादि की भलीभाँति चर्चा-विचारणा प्रस्तुत की गई है।

'समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते'—इस पद के विभिन्न नयों के अनुसार वृत्तिकार ने चार अर्थ प्रस्तुत किये हैं—

(१) आर्यों—तीर्थंकरों ने समता में धर्म बताया है।[1]

(२) देशार्य, भाषार्य, चारित्रार्य आदि आर्यों में समता से—समभावपूर्वक—निष्पक्षपात-पूर्वक भगवान् ने धर्म का कथन किया है, जैसे कि इसी शास्त्र में कहा गया है—**'जहा पुण्णस्स कत्थई, तहा तुच्छस्स कत्थई'** (जैसे पुण्यवान् को यह उपदेश दिया जाता है, वैसे तुच्छ निर्धन, पुण्यहीन को भी)।

(३) समस्त हेय बातों से दूर—आर्यों ने शमिता (कषायादि की उपशांति) में प्रकर्ष रूप से या आदि में धर्म कहा है।

(४) तीर्थंकरों ने उन्हीं को धर्म-प्रवचन कहा है, जिनकी इन्द्रियाँ और मन उपशान्त थे।[2]

इन चारों में से प्रसिद्ध अर्थ पहला है, किन्तु दूसरा अर्थ अधिक संगत लगता है, क्योंकि अपरिग्रह की बात कहते-कहते, एकदम 'समता' के विषय में कहना अप्रासंगिक-सा लगता है और इसी वाक्य के बाद भगवान् ने ज्ञानादित्रय की समन्वित साधना के संदर्भ में कहा है। इसलिए यहाँ यह अर्थ अधिक जचता हैं कि 'तीर्थंकरों' ने समभावपूर्वक—निष्पक्षपातपूर्वक धर्म का उपदेश दिया है।'

'जहेत्थ मए संधी झोसिते'········'—इस पंक्ति के भी वृत्तिकार ने दो अर्थ प्रस्तुत किये हैं—

(१) जैसे मैंने मोक्ष के सम्बन्ध में ज्ञानादित्रय की समन्वित (सन्धि) साधना की है····।

(२) जैसे मैंने (मुमुक्षु बनकर) स्वयं ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मोक्ष की प्राप्ति के लिए अष्टविध कर्म सन्तति (सन्धि) का (दीर्घ तपस्या करके) क्षय किया है।

इन दोनों में से प्रथम अर्थ अधिक संगत लगता है।'[3]

उस युग में कुछ दार्शनिक सिर्फ ज्ञान से ही मोक्ष मानते थे, कुछ कर्म (क्रिया) से ही मुक्ति बतलाते थे, और कुछ भक्तिवादी सिर्फ भक्ति से ही मोक्ष (परमात्म) प्राप्ति मानते थे। किन्तु तीर्थंकर महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इसी के अन्तर्गत तप) इन तीनों की सन्धि (समन्विति-मेल) को मोक्ष मार्ग बताया था, क्योंकि भगवान् ने स्वयं इन

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।　　२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।

तीनों की समन्विति को लेकर मोक्ष की साधना-सेवना की थी, और अत्यन्त विकट-उत्कट कर्मों को काटने के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र (समभाव रूप) के साथ दीर्घ तपस्या की थी। इसलिए ज्ञानादि तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है यह प्रतिपादन उन्होंने स्वयं अनुभव के बाद किया था। इससे दूसरे अर्थ की भी संगति बिठाई जा सकती है कि भगवान् महावीर ने अपने पूर्वकृत-कर्मों की सन्तति (परम्परा) का क्षय स्वयं दीर्घतपस्याएँ करके तथा परीषहादि को समभावपूर्वक सहन करके किया है। यही (ज्ञानादित्रयपूर्वक तप का) उपदेश उन्होंने अपने शिष्यों को देते हुए कहा है—'तम्हा बेमि णो णिहेज्ज वीरियं'—मैंने ज्ञानादि त्रय की सन्धि के साथ तपश्चर्या द्वारा कर्म-संतति का क्षय करने का स्वयं अनुभव किया है, इसलिए कहता हूँ—ज्ञानादि त्रय एवं तपश्चरण आदि की साधना करने की अपनी शक्ति को जरा भी मत छिपाओ, जितना भी सम्भव हो सके अपनी समस्त शक्ति को ज्ञानादि की साधना के साथ-साथ तपश्चर्या में झोंक दो।"[1]

तीन प्रकार के साधक

१५८. जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवाती। जे पुव्वुट्ठाई पच्छाणिवाती। जे णो पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवाती। से वि[2] तारिसए सिया जे परिण्णाय लोगमण्णेसति।

एयं णिदाय मुणिणा पवेदितं—इह आणाकंखी पंडिते अणिहे पुव्वावररायं जयमाणे सया सीलं सपेहाए[3] सुणिया भवे अकामे अझंझे।

१५८. (इस मुनि धर्म में प्रव्रजित होने वाले मोक्ष-मार्ग-साधक तीन प्रकार के होते हैं)—(१) एक वह होता है—जो पहले साधना के लिए उठता (उद्यत) है और बाद में (जीवन पर्यन्त) उत्थित ही रहता है, कभी गिरता नहीं। (२) दूसरा वह है—जो पहले साधना के लिए उठता है, किन्तु बाद में गिर जाता है। (३) तीसरा वह होता है—जो न तो पहले उठता है और न ही बाद में गिरता है।

जो साधक लोक को परिज्ञा से जान और त्याग कर पुनः (पचन-पाचनादि सावद्य कार्य के लिए) उसी का आश्रय लेता या ढूँढ़ता है, वह भी वैसा ही (गृहस्थ-तुल्य) हो जाता है।

इस (उत्थान-पतन के कारण) को केवलज्ञानालोक से जानकर मुनीन्द्र

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।

२. इसके बदले चूर्णि में इस प्रकार पाठ है—'**से वि तारिसए चेव**....जे **परिण्णात लोगमण्णेसति** अकार लोवा जे अपरिण्णाय लोगं छज्जीवकायलोगं अणुएसति—अण्णेसति। पढिज्जइ य—**लोगमणुस्सिते,** परिण्णात पच्चक्खाय....पुणरवि तदत्था लोगं अस्सिता।" अकार का लोप होने से...लोक (षड्जीव-निकाय लोक) का स्वरूप न जानकर पुनः उसी का अन्वेषण करता है। अथवा यह पाठ है—'लोग-मणुस्सिते', जिसका अर्थ होता है—षड्जीवनिकायरूप लोक को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से लोकप्रवाह छोड़कर पुनः उसके लिए लोक के आश्रित होना।..."

३. **'सपेहाए'** के बदले **'संपेहाए'** पाठ है। सपेहाए का अर्थ चूर्णिकार कहते हैं **'सम्मं पेवख'** सदा शील का सम्यक् प्रेक्षण करके।....

(तीर्थंकर) ने कहा—मुनि आज्ञा में रुचि रखे, वह पण्डित है, अतः स्नेह—आसक्ति से दूर रहे। रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग में (स्वाध्याय और ध्यान में) यत्नवान् रहे अथवा संयम में प्रयत्नशील रहे, सदा शील का सम्प्रेक्षण–अनुशीलन करे(लोक में सारभूत तत्त्व-परमतत्त्व को) सुनकर काम और लोभेच्छा। माया (झंझा) से मुक्त हो जाए।

विवेचन—मुनिधर्म की स्थापना करते समय साधकों के जीवन में कई आरोह-अवरोह (चढ़ाव-उतार) आते हैं, उसी के तीन विकल्प प्रस्तुत सूत्र पंक्ति में प्रस्तुत किये हैं। वृत्तिकार ने सिंहवृत्ति और शृगालवृत्ति की उपमा देकर समझाया है। इसके दो भंग (विकल्प) होते हैं—

(१) कोई साधक सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता (प्रव्रजित होता) है, और उसी वृत्ति पर अन्त तक टिका रहता है, वह 'पूर्वोत्थायी पश्चात् अनिपाती' है।

(२) कोई सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता है, किन्तु बाद में शृगालवृत्ति वाला हो जाता है। यह 'पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती' नामक द्वितीय भंग है।

पहले भंग के निदर्शन के रूप में गणधरों तथा धन्ना एवं शालिभद्र आदि मुनियों को लिया जा सकता है, जिन्होंने अन्त तक अपना जीवन तप, संयम में उत्थित के रूप में बिताया।

दूसरे भंग के निदर्शन के रूप में नन्दिषेण, कुण्डरीक आदि साधकों को प्रस्तुत कर सकते हैं, जो पहले तो बहुत ही उत्साह, तीव्र वैराग्य के साथ प्रव्रज्या के लिए उत्थित हुए, लेकिन बाद में मोहकर्म के उदय से संयमी जीवन में शिथिल और पतित हो गये थे।

इसके दो भंग और होते हैं—

(३) जो पूर्व में उत्थित न हो, बाद में श्रद्धा से भी गिर जाय। इस भंग के निदर्शन के रूप में किसी श्रमणोपासक गृहस्थ को ले सकते हैं, जो मुनिधर्म के लिए तो तैयार नहीं हुआ, इतना ही नहीं, जीवन के विकट संकटापन्न क्षणों में सम्यग्दर्शन से भी गिर गया।

(४) चौथा भंग है—जो न तो पूर्व उत्थित होता है, और न ही पश्चात्निपाती। इसके निदर्शन के रूप में बालतापसों को ले सकते हैं, जो मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए तैयार न हुए और जब उठे ही नहीं तो गिरने का सवाल ही कहाँ रहा।[1]

मुनि-धर्म के साधकों की उत्थित-पतित मनोदशा को जानकर भगवान ने मुनि-धर्म में स्थिरता के लिए आठ मूलमन्त्र बताए, जिनका इस सूत्र में उल्लेख है—

(१) साधक **आज्ञाकांक्षी** (आज्ञारुचि) हो, आज्ञा के दो अर्थ होते हैं—तीर्थंकरों का उपदेश और तीर्थंकर प्रतिपादित आगम।

(२) **पण्डित हो**—सद्-असद् विवेकी हो। अथवा **'स पण्डितो यः करणैरखण्डितः।'** इस श्लोकार्ध के अनुसार इन्द्रियों एवं मन से पराजित न हो, अथवा **'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः'** गीता की इस उक्ति के अनुसार जो ज्ञानरूपी अग्नि से अपने कर्मों को जला डालता हो, उसे ही तत्वज्ञों ने पण्डित कहा है।

(३) **अस्निह हो**—स्निग्धता=आसक्ति से रहित हो।

(४) पूर्वरात्रि और अपररात्रि में **यत्नवान रहना**। रात्रि के प्रथम याम को पूर्वरात्र और

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६०।

रात्रि के पिछले याम को अपररात्र कहते हैं। इन दोनों यामों में स्वाध्याय, ध्यान, ज्ञान-चर्चा या आत्मचिन्तन करते हुए अप्रमत्त रहना यतना है।[1]

(५) शील-सम्प्रेक्षा—(१) महाव्रतों की साधना, (२) तीन (मन-वचन-काया की) गुप्तियाँ (सुरक्षा-स्थिरता), (३) पञ्चेन्द्रिय दम (संयम) और (४) क्रोधादि चार कषायों का निग्रह—ये चार प्रकार के शील हैं, चिन्तन की गहराइयों में उतर कर अपने में इनका सतत निरीक्षण करना शील-सम्प्रेक्षा है।

(६) लोक में सारभूत परमतत्व (ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मोक्ष) का श्रवण करना।

(७) काम-रहित (इच्छाकाम और मदनकाम से रहित अकाम होना)।

(८) झंझा (माया या लोभेच्छा) से रहित होना।[2]

इन अष्टविध उपायों का सहारा लेकर मुनि अपने मार्ग में सतत आगे बढ़ता रहे।

अन्तर लोक का युद्ध

१५९. इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झतो ?
जुद्धारिहं[3] खलु दुल्लभं। जहेत्थ कुसलेहि परिण्णाविवेगे भासिते।
चुते हु बाले गब्भातिसु रज्जति। अस्सिं चेतं पवुच्चति रूवंसि वा छणंसि वा।
से हु एगे संविद्धपहे[4] मुणी अण्णहा लोगमुवेहमाणे[5]।

१६०. इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति, संजमति, णो पगब्भति,
उवेहमाणे पत्तेयं सातं, वण्णादेसी णारभे कंचणं सव्वलोए
एगप्पमुहे विदिसप्पतिण्णे णिव्विण्णचारी अरते पयासु।
से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं तं णो अण्णेसी।

१५९. इसी (कर्म-शरीर) के साथ युद्ध कर, दूसरों के साथ युद्ध करने में तुझे क्या मिलेगा ?

(अन्तर-भाव) युद्ध के योग्य (साधन) अवश्य ही दुर्लभ हैं।

जैसे कि तीर्थंकरों (मार्ग-दर्शन-कुशल) ने इस (भावयुद्ध) के परिज्ञा और विवेक (ये दो शस्त्र) बताए हैं।

---

१. दशवैकालिक सूत्र में कहा है—
'से पुव्वरत्ता वररत्तकाले संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।' [(चूलिका) २।११
—साधक पूर्वरात्रि एवं अपररात्रि में ध्यानस्थ होकर आत्मा से आत्मा का सम्यक् निरीक्षण करे।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १९०।

३. 'जुद्धारिहं' के बदले कहीं 'जुद्धारियं च दुल्लहं' पाठ है। इसका अर्थ वृत्तिकार ने किया है— युद्ध दो प्रकार के होते हैं—अनार्ययुद्ध और आर्ययुद्ध। तत्रानार्यं संग्रामयुद्धं, परीषहादि रिपुयुद्धं त्वार्यं, तद्-दुर्लभमेव तेन युद्ध्यस्व।— अनार्ययुद्ध है शस्त्रास्त्रों से संग्राम करना, और परिषहादि शत्रुओं के साथ युद्ध करना आर्ययुद्ध है, वह दुर्लभ ही है। अत: परिषहादि के साथ आर्ययुद्ध करो।

४. 'संविद्धपहे' के बदले 'संविद्धभये' पाठान्तर है। जिसका अर्थ है—जिसने भय को देख लिया है।

५. 'लोगमुवेहमाणे' के बदले चूर्णि में 'लोगं उविक्खमाणे' पाठ है; जिसका अर्थ होता है—लोक की उपेक्षा या उत्प्रेक्षा (निरीक्षण) करता हुआ।

(मोक्ष साधना के लिए उत्थित होकर) भ्रष्ट होने वाला अज्ञानी साधक गर्भ आदि (दुःख-चक्र) में फँस जाता है। इस आर्हत् शासन में यह कहा जाता है—रूप (तथा रसादि) में एवं हिंसा (उपलक्षण से असत्यादि) में (आसक्त होने वाला उत्थित होकर भी पुनः पतित हो जाता है)।

केवल वही एक मुनि मोक्षपथ पर अभ्यस्त (आरूढ़) रहता है, जो (विषय-कषायादि के वशीभूत एवं हिंसादि में प्रवृत्त) लोक का अन्यथा (भिन्नदृष्टि से) उत्प्रेक्षण (गहराई से अनुप्रेक्षण) करता रहता है अथवा जो (कषाय-विषयादि) लोक की उपेक्षा करता रहता है।

१६०. इस प्रकार कर्म (और उसके कारण) को सम्यक् प्रकार जानकर वह (साधक) सब प्रकार से (किसी जीव की) हिंसा नहीं करता, (शुद्ध) संयम का आचरण करता है, (असंयम-कर्मों या अकार्य में प्रवृत्त होने पर) धृष्टता नहीं करता।

प्रत्येक प्राणी का सुख अपना-अपना (प्रिय) होता है, यह देखता हुआ (वह किसी की हिंसा न करे)।

मुनि समस्त लोक (सभी क्षेत्रों) में कुछ भी (शुभ या अशुभ) आरम्भ (हिंसा) तथा प्रशंसा का अभिलाषी होकर न करे।

मुनि अपने एकमात्र लक्ष्य—मोक्ष की ओर मुख करके (चले); वह (मोक्ष मार्ग से) विपरीत दिशाओं को तेजी से पार कर जाए, (शरीरादि पदार्थों के प्रति) विरक्त (ममत्व-रहित) होकर चले, स्त्रियों के प्रति अरत (अनासक्त) रहे।

संयमधनी मुनि के लिए सर्व समन्वागत प्रज्ञारूप (सम्पूर्णसत्य-प्रज्ञात्मक) अन्तःकरण से पापकर्म अकरणीय है, अतः साधक उनका अन्वेषण न करे।

विवेचन—'इमेण चेव जुज्झाहि····जुद्धारिहं खलु दुल्लभं'—साधना के पूर्वोक्त आठ मूलमंत्र को सुनकर कुछ शिष्यों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—'भंते ! भेद-विज्ञान की भावना के साथ हम रत्नत्रय की साधना में पराक्रम करते रहते हैं, अपनी शक्ति जरा भी नहीं छिपाते, आपके उपदेशानुसार हम साधना में जुट गये लेकिन अभी तक हमारे समस्त कर्ममलों का क्षय नहीं हो सका, अतः समस्त कर्ममलों से रहित होने का असाधारण उपाय बताइए।'

इस पर भगवान ने उनसे पूछा—'क्या तुम और अधिक पराक्रम कर सकोगे ?' वे बोले—'अधिक तो क्या बताएँ, लौकिक भाषा में सिंह के साथ भी हम युद्ध कर सकते हैं शत्रुओं के साथ जूझना और पछाड़ना तो हमारे बाँए हाथ का खेल है।'

इस पर भगवान ने कहा—'वत्स ! यहाँ इस प्रकार का बाह्य युद्ध नहीं करना है, यहाँ तो आन्तरिक युद्ध करना है। यहाँ तो स्थूल शरीर और कर्मों के साथ लड़ना है। यह औदारिक शरीर, जो इन्द्रियों और मन के शस्त्र लिए हुए है, विषय-सुखपिपासु है, और स्वेच्छाचारी बनकर तुम्हें नचा रहा है, इसके साथ युद्ध करो, और उस कर्मशरीर के साथ लड़ो, जो वृत्तियों के माध्यम से तुम्हें अपना दास बना रहा है, काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर आदि सब कर्म-शत्रु की सेना है, इसलिए तुम्हें कर्मशरीर और स्थूल-शरीर के साथ आन्तरिक युद्ध करके कर्मों

को क्षीण कर देना है। किन्तु 'इस भाव युद्ध' के योग्य सामग्री का प्राप्त होना अत्यन्त दुष्कर है।' यह कहकर उन्होंने इस आन्तरिक युद्ध के योग्य सामग्री की प्रेरणा दी जो यहाँ 'जहेत्थ कुसलेहिं····' से लेकर 'णो अण्णेसी' तक अंकित है।

आन्तरिक युद्ध के लिए दो शस्त्र बताये हैं—परिज्ञा और विवेक। परिज्ञा से वस्तु का सर्वतोमुखी ज्ञान करना है और विवेक से उसके पृथक्करण की दृढ़ भावना करनी है। विवेक कई प्रकार का होता है—धन, धान्य, परिवार, शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि से पृथक्त्व/भिन्नता का चिन्तन करना, परिग्रह-विवेक आदि है। कर्म से आत्मा के पृथक्त्व की दृढ़ भावना करना कर्म-विवेक है और ममत्व आदि विभावों से आत्मा को पृथक् समझना—भाव-विवेक है।[1]

'रूवंसि वा छणंसि वा'—यहाँ रूप शब्द समस्त इन्द्रिय-विषयों का तथा शरीर का, एवं 'क्षण' शब्द हिंसा के अतिरिक्त असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का सूचक है, क्योंकि यहाँ दोनों शब्दों के आगे 'वा' शब्द आये हैं।[2]

'वण्णादेसी'—वर्ण के प्रासंगिक दो अर्थ होते हैं– यश और रूप। वृत्तिकार ने दोनों अर्थ किए हैं। रूप के सन्दर्भ में प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ यों होता है—मुनि सौन्दर्य बढ़ाने का इच्छुक होकर कोई भी (लेप, औषधि-प्रयोग आदि) प्रवृत्ति न करे, अथवा मुनि रूप (चक्षुरिन्द्रिय विषय) का इच्छुक होकर (तदनुकूल) कोई भी प्रवृत्ति न करे।[3]

'वसुमं'—वसुमान् धनवान् को कहते हैं, मुनि के पास संयम ही धन है, इसलिए 'संयम का धनी' अर्थ यहाँ अभीष्ट है।[4]

सम्यक्त्व-मुनित्व की एकता

१६१. जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा।

ण इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं[5] गुणासाएहिं[6] वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं।

मुणी मोणं समादाय धुणे सरीरगं[7]।
पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो।
एस ओहंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६१।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६१।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
५. 'अद्दिज्जमाणेहिं' का एक विशेष अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'अहवा अद्द अभिभवे, **परीसहेहि अभिभूयमाणेण···।'** अर्थात्—अद्द धातु अभिभव अर्थ में है। इसलिए यहाँ अर्थ होता है—परीषहों द्वारा पराजित हो जाने वाला।
६. 'गुणासाएहिं' के बदले 'गुणासातेहिं' पाठान्तर है। चूर्णि में इसका अर्थ यों किया गया है—'**गुणसातेणं ति गुणे सादयति, गुणा वा साता जं भणितं सुहा।** गुण=पंचेन्द्रिय-विषय में जो सुख मानता है, अथवा विषय ही जिसके लिए साता (सुख) रूप हैं।
७. 'सरीरगं' के बदले 'कम्मसरीरगं' पाठ कई प्रतियों में है।

१६१. (तुम) जिस सम्यक् (वस्तु के सम्यक्त्व-सत्यत्व) को देखते हो, वह मुनित्व को देखते हो, जिस मुनित्व को देखते हो, वह सम्यक् को देखते हो।

(सम्यक्त्व या सम्यक्त्वादित्रय) का सम्यक्रूप से आचरण करना उन साधकों द्वारा शक्य नहीं है, जो शिथिल (संयम और तप में दृढ़ता से रहित) हैं, आसक्तिमूलक स्नेह से आर्द्र बने हुए हैं, विषयास्वादन में लोलुप हैं, वक्राचारी (कुटिल) हैं, प्रमादी (विषय-कषायादि प्रमाद से युक्त) हैं, जो गृहवासी (गृहस्थ भाव अपनाए हुए) हैं।

मुनि मुनित्व (समस्त सावद्य प्रवृत्ति का त्याग) ग्रहण करके स्थूल और सूक्ष्म शरीर को प्रकम्पित करे—कृश कर डाले।

समत्वदर्शी वीर (मुनि) प्रान्त (वासी या बचा-खुचा थोड़ा-सा) और रूखा (नीरस, विकृति-रहित) आहारादि का सेवन करते हैं।

इस जन्म-मृत्यु के प्रवाह (ओघ) को तरने वाला मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—'जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा'—यहाँ 'सम्यक्' और 'मौन' दो शब्द विचारणीय हैं। सम्यक् शब्द से यहाँ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों समन्वित रूप से ग्रहण किए गए हैं। तथा मौन का अर्थ है—मुनित्व—मुनिपन। वास्तव में जहाँ सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय होंगे, वहाँ मुनित्व का होना अवश्यम्भावी है और जहाँ मुनित्व होगा, वहाँ रत्नत्रय का होना अनिवार्य है।[1]

'सम्मं' अर्थ साम्य भी हो सकता है। साम्य और मौन (मुनित्व) का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी उपयुक्त है।

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में समत्व-प्रधान मुनिधर्म की सुन्दर प्रेरणा दी गई है।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

<u>चर्या-विवेक</u>

१६२. गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परक्कंतं भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो।
वयसा वि एगे बुइता कुप्पंति माणवा।
उण्णतमाणे य णरे महता मोहेण मुज्झति।

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
(ख) 'मौन' शब्द के लिए अध्ययन २ सूत्र ९९ का विवेचन देखें।

संबाहा बहवे भुज्जो २ दुरतिक्कमा अजाणतो अपासतो ।

एतं ते मा होउ ।

एयं कुसलस्स दंसणं । तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए[1] तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे, जयं विहारी चित्तणिवाती पंथणिज्झाई पलिबाहिरे[2] पासिय पाणे गच्छेज्जा ।

से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचेमाणे पसारेमाणे विणियट्टमाणे संपलिमज्जमाणे ।

१६२. जो भिक्षु (अभी तक) अव्यक्त—अपरिपक्व-अवस्था में है, उसका अकेले ग्रामानुग्राम विहार करना दुर्यात (अनेक उपद्रवों से युक्त अतः अवांछनीय गमन) और दुष्पराक्रम (दुःसाहस से युक्त पराक्रम) है ।

कई मानव (अपरिपक्व साधक) (थोड़े-से प्रतिकूल) वचन सुनकर भी कुपित हो जाते हैं। स्वयं को उन्नत (उत्कृष्ट-उच्च) मानने वाला अभिमानी मनुष्य (अपरिपक्व साधक) (जरा-से सम्मान और अपमान में) प्रवल मोह से (अज्ञानोदय से) मूढ़ (मतिभ्रान्त-विवेकविकल) हो जाता है ।

उस (अपरिपक्व मनःस्थिति वाले साधक) को एकाकी विचरण करते हुए अनेक प्रकार की उपसर्गजनित एवं रोग-आतंक आदि परीषहजनित संबाधाएँ—पीड़ाएँ बार-बार आती हैं, तब उस अज्ञानी—अतत्त्वदर्शी के लिए उन बाधाओं को पार करना अत्यन्त कठिन होता है, वे उसके लिए दुर्लंघ्य होती हैं ।

(ऐसी अव्यक्त अपरिपक्व अवस्था में—'मैं अकेला विचरण करूँ'), ऐसा विचार तुम्हारे मन में भी न हो ।

यह कुशल (महावीर) का दर्शन/उपदेश है । (अव्यक्त साधक द्वारा एकाकी विचरण में ये दोष उन्होंने केवल ज्ञान के प्रकाश में देखे हैं) ।

अतः परिपक्व साधक उस (वीतराग महावीर के दर्शन में/संघ के आचार्य—गुरु या संयम) में ही एकमात्र दृष्टि रखे, उसी के द्वारा प्ररूपित विषय-कषायासक्ति से मुक्ति में मुक्ति माने, उसी को आगे (दृष्टिपथ में) रखकर विचरण करे, उसी का संज्ञान-स्मृति सतत सब कार्यों में रखे, उसी के सान्निध्य में तल्लीन होकर रहे ।

---

१. इसके बदले **'तम्मोत्तीए'** पाठान्तर है, जिसका अर्थ शीलांकवृत्ति में है—**'तेनोक्ता मुक्तिः तन्मुक्तिस्तया'**—उसके (तीर्थंकरादि) के द्वारा उक्त (कथित) मुक्ति को तन्मुक्ति कहते हैं, उससे ।

२. **'पलिवाहरे'** में 'पलि' का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया हैं—'चित्तणिधायी पलि' जो चित्त में रखी जाती है, वह पलि है ।
'पलिवाहरे' प्रतीपं आहरे, जन्तुं दृष्ट्वा चरणं संकोचए 'देसी भासाए'—पलिव देशी भाषा में व्यवहृत होता है । दोनों शब्दों का अर्थ हुआ—प्रतिकूल (दिशा में) खींच ले यानी जन्तु को देखकर पैर सिकोड़ ले । परन्तु शीलांकाचार्य इसका अन्य अर्थ करते हैं—परि समन्ताद् गुरोरवग्रहात् पुरतः पृष्ठतो वाऽवस्थानात् कार्यमृते सदा बाह्यः स्यात् ।—कार्य के सिवाय गुरु के अवग्रह (क्षेत्र) से आगे-पीछे चारों ओर स्थिति से बाहर रहने वाला…।

मुनि (प्रत्येक चर्या में) यतनापूर्वक विहार करे, चित्त को गति में एकाग्र कर, मार्ग का सतत अवलोकन करते हुए (दृष्टि टिका कर) चले। जीव-जन्तु को देखकर पैरों को आगे बढ़ने से रोक ले और मार्ग में आने वाले प्राणियों को देखकर गमन करे।

वह भिक्षु (किसी कार्यवश कहीं) जाता हुआ, (कहीं से) वापस लौटता हुआ, (हाथ, पैर आदि) अंगों को सिकोड़ता हुआ, फैलाता (पसारता हुआ) समस्त अशुभप्रवृत्तियों से निवृत्त होकर, सम्यक् प्रकार से (हाथ-पैर आदि अवयवों तथा उनके रखने के स्थानों को) परिमार्जन (रजोहरणादि से) करता हुआ समस्त क्रियाएँ करे।

विवेचन— इस सूत्र में अव्यक्त साधु के लिए एकाकी विचरण का निषेध किया गया है। वृत्तिकार ने अव्यक्त का लक्षण देकर उसकी चतुर्भंगी (चार विकल्प) बताई हैं। अव्यक्त साधु के दो प्रकार हैं—(१) श्रुत (ज्ञान) से अव्यक्त और (२) वय (अवस्था) से अव्यक्त।

जिस साधु ने 'आचार प्रकल्प' का (अर्थ सहित) अध्ययन नहीं किया है, वह गच्छ में रहा हुआ श्रुत से अव्यक्त है और गच्छ से निर्गत की दृष्टि से अव्यक्त वह है, जिसने नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु तक का अध्ययन न किया हो। वय से गच्छगत अव्यक्त वह है, जो सोलह वर्ष की उम्र से नीचे का हो, परन्तु गच्छ निर्गत अव्यक्त वह कहलाता है, जो ३० वर्ष की उम्र से नीचे का हो।

चतुर्भंगी इस प्रकार है—(१) कुछ साधक श्रुत और वय दोनों से अव्यक्त होते हैं, उनकी एकचर्या संयम और आत्मा की विघातक होती है।

(२) कुछ साधक श्रुत से अव्यक्त, किन्तु वय से व्यक्त होते हैं, अगीतार्थ होने से उनकी एकचर्या में भी दोनों खतरे हैं।

(३) कुछ साधक श्रुत से व्यक्त किन्तु वय से अव्यक्त होते हैं, वे बालक होने के कारण सबसे पराभूत हो सकते हैं।

(४) कुछ साधक श्रुत और वय दोनों से व्यक्त होते हैं। वे भी प्रयोजनवश या प्रतिमा स्वीकार करके एकाकी विहार या अभ्युद्यत विहार अंगीकार कर सकते हैं, किन्तु कारण विशेष के अभाव में उनके लिए भी एकचर्या की अनुमति नहीं है। प्रयोजन के अभाव में व्यक्त के एकाकी विचरण में कई दोषों की सम्भावनाएँ हैं। अकस्मात् अतिसार या वातादि क्षोभ से कोई व्याधि हो जाय तो संयम और आत्मा की विराधना होने की सम्भावना है, प्रवचन हीलना (संघ की बदनामी) भी हो सकती है।

वय व श्रुत से अव्यक्त साधक के एकाकी विचरण में दोष ये हैं—किसी गांव में किसी व्यक्ति ने जरा-सा भी उसे छेड़ दिया या अपशब्द कह दिया तो उसके भी गाली-गलौज या मारामारी करने को उद्यत हो जाने की सम्भावना है। गांव में कुलटा स्त्रियों के फंस जाने

का खतरा है, कुत्तों आदि का भी उपसर्ग सम्भव है। धर्म-विद्वेषियों द्वारा उसे वहकाकर धर्म-भ्रष्ट किये जाने की भी सम्भावना रहती है।[1]

इसी सूत्र में आगे वताया गया है कि अव्यक्त साधु एकाकी विचरण क्यों करता है? इससे क्या हानियाँ हैं? किसी अव्यक्त साधु के द्वारा संयम में स्खलना (प्रमाद) हो जाने पर गुरु आदि उसे उपालम्भ देते हैं—कठोर वचन कहते हैं, तव वह क्रोध से भड़क उठता है, प्रतिवाद करता है—"इतने साधुओं के वीच में मुझे क्यों तिरस्कृत किया गया? क्या मैं अकेला ही ऐसा हूँ? दूसरे साधु भी तो ऐसा प्रमाद करते हैं? मुझ पर ही क्यों वरस रहे हैं? आपके गच्छ (संघ) में रहना ही वेकार है।" यों क्रोधान्धकार से दृष्टि आच्छन्न होने पर महामोहोदयवश वह अव्यक्त, अपुष्टधर्मा, अपरिपक्व साधु गच्छ से निकलकर उसी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जैसे समुद्र से निकलकर मछली विनष्ट हो जाती है। अथवा क्रिया, या प्रवचन-पटुता, व्यावहारिक कुशलता आदि के मद में छके हुए अभिमानी अव्यक्त साधु की गच्छ में कोई जरा-सी प्रशंसा करता है तो वह फूल उठता है और कोई जरा-सा कुछ कठोर शब्द कह देता है, या प्रशंसा नहीं करता या दूसरों की प्रशंसा या प्रसिद्धि होते देखता है तो भड़क कर गच्छ (संघ) से निकल कर अकेला घूमता रहता है। अपने अभिमानी स्वभाव के कारण वह अव्यक्त साधु जगह-जगह झगड़ता फिरता है, मन में संक्लेश पाता है, प्रसिद्धि के लिए मारा-मारा फिरता है, अज्ञजनों से प्रशंसा पाकर, उनके चक्कर में आकर अपना शुद्ध आचार-विचार-विहार छोड़ बैठता है। निष्कर्ष यह है कि गुरु आदि का नियन्त्रण न रहने के कारण अव्यक्त साधु का एकाकी विचरण वहुत ही हानिजनक है।[2]

गुरु के सान्निध्य में गच्छ में रहने से गुरु के नियन्त्रण में अव्यक्त साधु को क्रोध के अवसर पर वोध मिलता है—

> "आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थान्वेषणे मतिः कार्या।
> यदि सत्यं कः कोपः? स्यादनृतं किं नु कोपेन?" ॥१॥
> "अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते?
> धर्मार्थकाममोक्षाणां, प्रसह्य परिपन्थिनि" ॥२॥

—बुद्धिमान् साधु को क्रोध आने पर वास्तविकता के अन्वेषण में अपनी बुद्धि लगानी चाहिए कि यदि (दूसरों की कही हुई वात) सच्ची है तो मुझे क्रोध क्यों करना चाहिए, यदि झूठी है तो क्रोध करने से क्या लाभ? ।१। यदि अपकारी के प्रति क्रोध करना ही है तो अपने वास्तविक अपकारी क्रोध के प्रति ही क्रोध क्यों नहीं करते, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों पुरुषार्थों में जवर्दस्त वाधक—शत्रु बना हुआ है? ।२।

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४।
(ख) "अक्कोस-हरण-मारण-धम्मब्भंसाण वालसुलभाणं।
लाभं मण्णइ धीरो जहुत्तरण्ण अभावंमि॥"

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४-१६५।
(ख) साहम्मिएहिं सम्मुज्जएहिं एगागिओअ जो विहरे।
आयंकपउरयाए छक्कायवहंमि आवउड ॥१॥

अव्यक्त साधु अनुभव में और आचार के अभ्यास में कच्चा होने से अप्रिय घटनाक्रम के समय ज्ञाता—द्रष्टा नहीं रह सकता।[1] उन विघ्न-बाधाओं से वह उच्छृंखल और स्वच्छन्द (एकाकी) साधु सफलतापूर्वक निपट नहीं सकता।[2] क्योंकि बाधाओं, उपसर्गों को सहन करने की क्षमता और कला—विनय तथा विवेक मे आती है। बाधाओं को सहन करने से क्या लाभ है ? उस पर विचार करने के लिए गम्भीर विचार व ज्ञान की अपेक्षा रहती है। अव्यक्त साधु में यह सब नहीं होता।

स्थानांग सूत्र (८।५९४) में बताया है—एकाकी विचरने वाला साधु निम्न आठ गुणों से युक्त होना चाहिए—

(१) दृढ़ श्रद्धावान, (२) सत्पुरुषार्थी, (३) मेधावी, (४) बहुश्रुत, (५) शक्तिमान्, (६) अल्प उपधि वाला, (७) धृतिमान तथा (८) वीर्य-सम्पन्न।

अव्यक्त साधु में ये गुण नहीं होते अतः उसका एकाकीविहार नितांत अहितकर बताया है।

'तद्दिट्ठिए तम्मुत्तीए'—ये विशेषण साधक की ईर्या-समिति के भी द्योतक हैं। चलते समय चलने में ही दृष्टि रखे, पथ पर नजर टिकाये, गति में ही बुद्धि को नियोजित करके चले। यहाँ पर ईर्यासमिति का प्रसंग भी है। चूर्णिकार ने इसे आचार्य (गुरु) आदि तथा ईर्या दोनों से सम्बन्ध माना है जबकि टीकाकार ने इन विशेषणों को आचार्य के साथ जोड़ा है। इन विशेषणों से आचार्य की आराधना-उपासना के पाँच प्रकार सूचित होते हैं—

(१) 'तद्दिट्ठीए'—आचार्य ने जो दृष्टि, विचार दिया है, शिष्य अपना आग्रह त्यागकर गुरु-प्रदत्त दृष्टि से ही चिन्तन करे।

एगागिअस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए।
भिक्खऽविसोहि महव्वय तम्हा सविइज्जए गमणं ॥२॥

१. परिणाम का चिन्तन करने की क्षमता न होने से वह अद्रष्टा माना गया है।

२. **जह सायरंमि मीणा संखोहं साअरस्स असहंता।**
णिंति तओ सुहकामी णिग्गगमित्ता विणस्संति ॥१॥
एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहि चोइआ संता।
णिंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥२॥
गच्छंमि केइ पुरिसा सउणी जह पंजरंतरणिरुद्धा।
सारण-वारण-चोइय पासत्थगया परिहरंति ॥३॥
जहा दिया पोयमपक्खजायं सवासया पविउमणं मणागं।
तमचाइया तरुणमपत्तजायं, ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥४॥—आचा० शीला० टीका पत्रांक १९४

—जैसे समुद्र की तरंगों के प्रहार से क्षुब्ध होकर मछली आदि सुख की लालसा से बाहर निकलकर दुखी होती है। इसी प्रकार गुरुजनों की सारणा-वारणादि से क्षुब्ध होकर जो श्रमण बाहर चले जाते हैं, वे विनाश को प्राप्त हो जाते हैं—१-२।

—जैसे शुक-मैना आदि पक्षी पिंजरे में बँधे रहकर सुरक्षित रहते हैं। वैसे ही श्रमण गच्छ में पार्श्वस्थ आदि के प्रहारों से सुरक्षित रहते हैं—३।

—जैसे नवजात पक्ष-रहित पक्षी आदि को ढंक आदि पक्षियों से भय रहता है, वैसे ही अव्यक्त-अगीतार्थ को अन्यतीर्थिकों का भय बना रहता है—४।

(२) 'तम्मुत्तीए'—गुरु की आज्ञा में ही तन्मय हो जाय।

(३) 'तप्पुरक्कारे'—गुरु के आदेश को सदा अपने सामने—आगे रखे या शिरोधार्य करे।

(४) 'तस्सण्णी'—गुरु द्वारा उपदिष्ट विचारों की स्मृति में एकरस हो जाय।

(५) 'तण्णिवेसणे'—गुरु के चिन्तन में ही स्वयं को निविष्ट कर दे, दत्तचित्त हो जाय।

'से अभिक्कममाणे'—आदि पदों का अर्थ वृत्तिकार ने संघाश्रित साधु के विशेषण मान कर किया है।[1] जबकि किसी-किसी विवेचक ने इन पदों को 'पाणे' का द्वितीयान्त बहुवचनान्त विशेषण मानकर अर्थ किया है। दोनों ही अर्थ हो सकते हैं।

कर्म का बंध और मुक्ति

१६३. एगया गुणसमितस्स रीयतो कायसंफासमणुचिण्णा एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेदणवेज्जावडियं[2]। जं आउट्टिकयं[3] कम्मं तं परिण्णाय विवेगमेति। एवं से अप्पमादेण विवेगं किट्टति वेदवी।

१६३. किसी समय (यतनापूर्वक) प्रवृत्ति करते हुए गुणसमित (गुणयुक्त) अप्रमादी (सातवें से तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती) मुनि के शरीर का संस्पर्श पाकर कुछ (सम्पातिम आदि) प्राणी परिताप पाते हैं। कुछ प्राणी ग्लानि पाते हैं अथवा कुछ प्राणी मर जाते हैं, (अथवा विधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त—षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि के कायस्पर्श से न चाहते हुए भी कोई प्राणी परितप्त हो जाए या मर जाए) तो उसके इस जन्म में वेदन करने (भोगने) योग्य कर्म का बन्ध हो जाता है।

(किन्तु उस षष्ठस्थानगुणवर्ती प्रमत्त मुनि के द्वारा) आकुट्टि से (आगमोक्त विधिरहित—अविधिपूर्वक—) प्रवृत्ति करते हुए जो कर्मबन्ध होता है, उसका (क्षय) ज्ञपरिज्ञा से जानकर (—परिज्ञात कर) दस प्रकार के प्रायश्चित्त में से किसी प्रायश्चित्त से करें।

इस प्रकार उसका (प्रमादवश किए हुए साम्परायिक कर्मबन्ध का) विलय (क्षय) अप्रमाद (से यथोचित्त प्रायश्चित से) होता है, ऐसा आगमवेत्ता शास्त्रकार कहते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ईर्यासमितिपूर्वक गमन करने वाले साधक के निमित्त से होने वाले आकस्मिक जीव-वध के विषय में चिन्तन किया गया है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९६।

२. 'वेज्जावडियं' के वदले चूर्णि में 'वेयावडियं' पाठ मानकर अर्थ किया गया है—"तवो वा छेदो वा करेति वेयावडियं, कम्म खवणीयं विदारणीयं वेयावडियं।"—अर्थात्—तप, छेद या वैयावृत्य (सेवा) (जिसके वेदन–भोगने के लिए) करता है, वह वैयावृत्यिक है, जो कर्म-विदारणीय क्षय करने योग्य है, वह भी वेदापतित हैं।

३. 'आउट्टिकतं परिण्णातविवेगमेति' यह पाठान्तर चूर्णि में है। अर्थ होता है—जो अकुट्टिकृत है, उसे परिज्ञात करके विवेक नामक प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

एक समान प्राणि वध होने पर भी कर्मबन्ध एक-सा नहीं होता, वह होता है—कषायों की तीव्रता-मन्दता या परिणामों की धारा के अनुरूप।

कायस्पर्श से किसी प्राणी का वध या उसे परिताप हो जाने पर प्रस्तुत सूत्र द्वारा वृत्तिकार ने उस हिंसा के पाँच परिणाम सूचित किये हैं:—

(१) शैलेशी (निष्कम्प अयोगी) अवस्था-प्राप्त मुनि के द्वारा प्राणी का प्राण-वियोग होने पर भी बन्ध के उपादान कारण—योग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता।

(२) उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली (वीतराग) के स्थिति निमित्तक कषाय न होने से सिर्फ दो समय की स्थिति वाला कर्मबन्ध होता है।

(३) अप्रमत्त (छद्मस्थ—छठे से दशवें गुणस्थानवर्ती) साधु के जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः आठ मुहूर्त की स्थितिवाला कर्मबन्ध होता है।

(४) विधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त साधु (षष्ठगुणस्थानवर्ती) से यदि अनाकुट्टिवश (अकामतः) किसी प्राणी का वध हो जाता है तो उसके जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः ८ वर्ष की स्थिति का कर्मबन्ध होता है, जिसे वह उसी भव (जीवन) में वेदन करके क्षीण कर देता है।

(५) आगमोक्त कारण के बिना आकुट्टिवश यदि किसी प्राणी की हिंसा हो जाती है, तो उससे जनित कर्मबन्ध को वह सम्यक् प्रकार से परिज्ञात करके प्रायश्चित[1] द्वारा ही समाप्त कर सकता है।[2]

ब्रह्मचर्य-विवेक

१६४. से पभूतदंसी पभूतपरिण्णाणे उवसंते समिए सहिते सदा जते दट्ठुं विप्पडिवेदेति अप्पाणं—किमेस जणो करिस्सति ?

एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ।

मुणिणा हु एतं पवेदितं।

उब्बाधिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिब्बलासए, अवि ओमोदरियं कुज्जा, अवि उड्ढं ठाणं ठाएज्जा, अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अवि आहारं वोच्छिदेज्जा, अवि चए इत्थीसु मणं।

पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा।

इच्चेते कलहासंगकरा भवंति।

पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्ज अणासेवणाए त्ति बेमि।

---

१. आगमों में दस प्रकार के प्रायश्चित बताये गये हैं—(१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह, (४) विवेकार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह, (९) अनवस्थाप्यार्ह और (१०) पाराञ्चिकार्ह। —स्था० ४।१।२६३ तथा दशवै० १।१ हारिभद्रीय टीका

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १९७।

१६५. से णो काहिए, णो पासणिए, णो संपसारए, णो मामए, णो कतकिरिए, वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सदा पावं।

एतं मोणं[1] समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१६४. वह प्रभूतदर्शी, प्रभूत परिज्ञानी, उपशान्त, समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) से युक्त, (ज्ञानादि-) सहित, सदा यतनाशील या इन्द्रियजयी अप्रमत्त मुनि (ब्रह्मचर्य से विचलित करने—उपसर्ग करने) के लिए उद्यत स्त्रीजन को देखकर अपने आपका पर्यालोचन (परिप्रेक्षण) करता है—

'यह स्त्रीजन मेरा क्या कर लेगा ?' अर्थात् मुझे क्या सुख प्रदान कर सकेगा ? (तनिक भी नहीं)

(वह स्त्री-स्वभाव का चिन्तन करे कि जितनी भी लोक में स्त्रियाँ हैं, वे मोह-रूप है, भाव बन्धन रूप हैं) वह स्त्रियाँ परम आराम (चित्त को मोहित करने वाली) है। (किन्तु मैं तो सहज आत्मिक-सुख से सुखी हूँ, ये मुझे क्या सुख देंगी ?)

ग्रामधर्म—(इन्द्रिय-विषयवासना) से उत्पीड़ित मुनि के लिए मुनीन्द्र तीर्थंकर महावीर ने यह उपदेश दिया है कि—

वह निर्बल (निःसार) आहार करे, ऊनोदरिका (अल्पाहार) भी करे—कम खाए, ऊर्ध्व स्थान (टांगों को ऊंचा और सिर को नीचा, अथवा सीधा खड़ा) होकर कायोत्सर्ग करे—(शीतकाल या उष्णकाल में खड़े होकर आतापना ले) ग्रामानुग्राम विहार भी करे, आहार का परित्याग (अनशन) करे, स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होने वाले मन का परित्याग करे।

(स्त्री-संग में रत अतत्त्वदर्शियों को कहीं-कहीं) पहले (अर्थोपार्जनादिजनित ऐहिक) दण्ड मिलता है और पीछे (विषयनिमित्तक कर्मफल जन्य दुःखों का) स्पर्श होता है, अथवा कहीं-कहीं पहले (स्त्री-सुख) स्पर्श मिलता है, बाद में उसका दण्ड (मार-पीट, सजा, जेल अथवा नरक आदि) मिलता है।

इसलिए ये काम-भोग कलह (कषाय) और आसक्ति (द्वेष और राग) पैदा करने वाले होते हैं। स्त्री-संग से होने वाले ऐहिक एवं पारलौकिक दुष्परिणामों को आगम के द्वारा तथा अनुभव द्वारा समझ कर आत्मा को उनके अनासेवन की आज्ञा दे। अर्थात् स्त्री का सेवन न करने का सुदृढ़ संकल्प करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. 'एतं मोणं' पाठ का अर्थ चूर्णि में किया गया है—एतं मोणं—मुणिभावो मोणं, सम्मं नाम ण आसंसप्पओगादीहिं उवहतं अणिणसिज्जासि। अहवा तित्थगरादी हिं वसिमं अणुवसिज्जासि।"—मुनिभाव या मुनित्व का नाम मौन है। जीवन-मरणादि की आकांक्षा रहित होना ही सम्यक् है। सम्यक् रूप से अन्वेषण करो अथवा तीर्थंकरादि द्वारा जिसे बसाया गया था, उस (मुनित्व) को जीवन में बसाओ—उतारो।

१६५. ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए) कामकथा—कामोत्तेजक कथा न करे, वासनापूर्ण दृष्टि से (स्त्रियों के अंगोपांगों को न देखे, परस्पर कामुक भावों—संकेतों का प्रसारण न करे, उन पर ममत्व न करे, शरीर की साज-सज्जा से दूर रहे (अथवा उनकी वैयावृत्य न करे) वचनगुप्ति का पालक वाणी से कामुक आलाप न करे—वाणी का संयम रखे, मन को भी कामवासना की ओर जाते हुए नियंत्रित करे, सतत पाप का परित्याग करे।

इस (अब्रह्मचर्य-विरति रूप) मुनित्व को जीवन में सम्यक् प्रकार से बसा ले—जीवन में उतार ले।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में ब्रह्मचर्य की साधना के विघ्नरूप स्त्री-संग का वर्जन तथा विषयों की उग्रता कम करने के लिए तप आदि का निर्देश है।

'स्त्री' एक होवा है, उनके लिए, जिनका मन स्वयं के काबू में नहीं है, जो दान्त, शान्त, एवं तत्वदर्शी नहीं हैं, उन्हीं को स्त्रीजन से भय हो सकता है, अतः साधक पहले यही चिन्तन करे—यह स्त्री-जन मेरा—मेरी ब्रह्मचर्य साधना का क्या बिगाड़ सकती है, अर्थात् कुछ भी नहीं।

'एस से परमा रामो'—पद में 'एस' शब्द से 'स्त्री-जन का ग्रहण न करके **'संयम'** ही उसके लिए परम आराम (सुखरूप) है'—यह अर्थ ग्रहण करना अधिक संगत लगता है। यह निष्कर्ष इसी में से फलित होता है कि मैं तो संयम से सहज आत्मसुख में हूं, यह स्त्री-जन मुझे क्या सुख देगा? यह विषय-सुखों में डुबाकर मुझे असंयमजन्य दुःख परम्परा में ही डालेगा।[1] कुन्दकुन्दाचार्य की यह उक्ति ठीक इसी बात पर घटित होती है—

"तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति॥"[2]

—"जिसकी दृष्टि ही अन्धकार का हरण करने वाली है, उसे दीपक से कोई काम नहीं होता। आत्मा स्वयं सुखरूप है, फिर उसके लिए विषय किस काम के?

'णिब्बलासए' के दो अर्थ फलित होते हैं—(१) निर्बल—निःसार अन्त-प्रान्तादि आहार करने वाला और (२) शरीर से निर्बल (कमजोर-कृश) होकर आहार करे। दोनों अर्थों में कार्य-कारण भाव है। पुष्टिकर शक्ति-युक्त भोजन करने से शरीर शक्तिशाली बनता है। सशक्त शरीर में कामोद्रेक की सम्भावना रहती है। शक्तिहीन भोजन करने से शरीरबल घट जाता है, कामोद्रेक की सम्भावना भी कम हो जाती है और शक्तिहीन शरीर होता है—शक्तिहीन—निःसार, अल्प एवं तुच्छ भोजन करने से। वास्तव में दोनों उपायों का उद्देश्य काम-वासना को शान्त करना है।[3]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १९८। २. प्रवचनसार गाथा ६७।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १९८।

'उड्ढं ठाणं ठाएज्जा'—ऊर्ध्वस्थान मुख्यतया सर्वांगासन, शीर्षासन, वृक्षासन आदि का सूचक है।[1] भगवती सूत्र[2] में इस मुद्रा को 'उड्ढं जाणू अहो सिरे' के रूप में बताया है। हठयोग प्रदीपिका[3] में भी 'अधःशिराश्चोर्ध्वपादः' का प्रयोग बताया है। इस आसन से कामकेन्द्र शान्त होते हैं, जिससे कामवासना भी शान्त हो जाती है।

साधक के सुखशील होने पर भी कामवासना उभरती है, इसीलिए कहा गया है—'आयावयाहि चय सोगमल्लं'[4] आतापना लो, सुकुमारता को छोड़ो। ग्रामानुग्राम विहार करने से श्रम या सहिष्णुता का अभ्यास होता है, सुखशीलता दूर होती है, विशेषतः एक स्थान पर रहने से होने वाले सम्पर्कजनित मोह बन्धन से भी छुटकारा हो जाता है।

'चए इत्थीसु मणं'—स्त्रियों में प्रवृत्त मन का परित्याग करने का आशय मन को कहीं और जगह बाँधकर फेंकना नहीं है, अपितु मन को स्त्री के प्रति काम-संकल्प करने से रोकना है, हटाना है; क्योंकि काम-वासना का मूल मन में उत्पन्न संकल्प ही है। इसीलिए साधक कहता है—

"काम ! जानामि ते मूलं, संकल्पात् किल जायसे।
संकल्पं न करिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥"

—'काम ! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ कि तू संकल्प से पैदा होता है। मैं संकल्प ही नहीं करूंगा, तब तू मेरे मन में पैदा नहीं हो सकेगा।[5]

निष्कर्ष यह है कि सूत्र १६४ में काम-निवारण के ६ मुख्य उपाय बताये गये हैं जो उत्तरोत्तर प्रभावशाली हैं—यथा (१) नीरस भोजन करना—विगय-त्याग, (२) कम खाना—ऊनोदरिका, (३) कायोत्सर्ग—विविध आसन करना, (४) ग्रामानुग्राम विहार—एक स्थान पर अधिक न रहना, (५) आहार-त्याग—दीर्घकालीन तपस्या करना तथा (६) स्त्री-संग के प्रति मन को सर्वथा विमुख रखना। इन उपायों में से जिस साधक के लिए जो उपाय अनुकूल और लाभदायी हो, उसी का उसे सबसे अधिक अभ्यास करना चाहिए। जिस-जिस उपाय से विषयेच्छा निवृत्त हो, वह-वह उपाय करना चाहिए। वृत्तिकार ने तो हठयोग जैसा प्रयोग भी बता दिया है—"पर्यन्ते···अपि पातं विदध्यात् अप्युद्बन्धनं कुर्यात्, न च स्त्रीषु मनः कुर्याद्।" सभी उपायों के अन्त में आजीवन सर्वथा आहार-त्याग करे, ऊपर से पात (गिर जाय) उद्बन्धन करे, फांसी लगा ले किन्तु स्त्री के साथ अनाचार सेवन की बात भी मन में न लाए।[6]

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १९८।
२ शतक १ उद्देशक ९
३. अध्याय १ श्लोक ८१
४. दशवै० २।५
५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १९८।
६. आचा० शीला० टीका पत्रांक १९८।

पंचमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

आचार्य-महिमा

१६६. से बेमि, तं जहा—अवि हरदे पडिपुण्णे चिट्ठति समंसि भोमे उवसंतरए सारक्खमाणे। से चिट्ठति सोतमज्झए। से पास सव्वतो गुत्ते। पास लोए महेसिणो जे य पण्णाणमंता पवुद्धा आरंभोवरता। सम्ममेतं ति पासहा। कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्ति बेमि।

१६६. मैं कहता हूं—जैसे एक जलाशय (ह्रद) जो (कमल या जल से) परिपूर्ण है, समभूभाग में स्थित है, उसकी रज उपशान्त (कीचड़ से रहित) है, (अनेक जलचर जीवों का) संरक्षण करता हुआ, वह जलाशय स्रोत के मध्य में स्थित है। (ऐसा ही आचार्य होता है)।

इस मनुष्य लोक में उन (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) सर्वतः (मन, वचन और काया से) गुप्त (इन्द्रिय-संयम से युक्त) महर्षियों को तू देख, जो उत्कृष्ट ज्ञानवान् (आगमज्ञाता) हैं, प्रवुद्ध हैं और आरम्भ से विरत हैं।

यह (मेरा कथन) सम्यक् है, इसे तुम अपनी तटस्थ बुद्धि से देखो।

वे काल प्राप्त होने की कांक्षा समाधि-मरण की अभिलाषा से (जीवन के अन्तिम क्षण तक मोक्ष मार्ग में) परिव्रजन (उद्यम) करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र में ह्रद (जलाशय) के रूपक द्वारा आचार्य की महिमा बताई गई 'अवि हरदे····' पाठ में 'अवि' शब्द ह्रद के अन्य विकल्पों का सूचक है। इसलिए वृत्तिकार ने चार प्रकार के ह्रद बताकर विषय का विशद विवेचन किया है—

(१) एक ह्रद ऐसा है जिसमें से पानी—जल प्रवाह निकलता है और मिलता भी है, सीता और सीतोदा नामक नदियों के प्रवाह में स्थित ह्रद के समान।

(२) दूसरा ह्रद ऐसा है, जिसमें से जल-स्रोत निकलता है किन्तु मिलता नहीं, हिमवान पर्वत पर स्थित पद्मह्रदवत्।

(३) तीसरा ह्रद ऐसा है, जिसमें से जल स्रोत निकलता नहीं, मिलता है, लवणोदधि के समान।

(४) चौथा ह्रद ऐसा है, जिसमें से न जल-स्रोत निकलता है, और न मिलता है, मनुष्य लोक से बाहर के समुद्रों की तरह।

श्रुत (शास्त्रज्ञान) और धर्माचरण की दृष्टि से प्रथम भंग में स्थविरकल्पी आचार्य आते हैं, जिनमें दान और आदान (ग्रहण) दोनों हैं, वे शास्त्रज्ञान एवं आचार का उपदेश देते भी हैं तथा स्वयं भी ग्रहण एवं आचरण करते हैं। दूसरे भंग में तीर्थंकर आते हैं, जो शास्त्रज्ञान एवं उपदेश देते तो हैं, किंतु लेने की आवश्यकता उन्हें नहीं रहती। तृतीय भंग में 'अहालंदिक'

विशिष्ट साधना करनेवाला साधु आता है, जो देता नहीं, शास्त्रीय ज्ञान आदि लेता है। चतुर्थ भंग में प्रत्येकबुद्ध आते हैं, जो ज्ञान न देते हैं, न लेते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रथम भंग वाले ह्रद के रूपक द्वारा आचार्य की महिमा का वर्णन किया है। आचार्य आचार्योचित ३६ गुणों, पाँच आचारों, अष्ट सम्पदाओं[1] एवं निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं। वे संसक्तादि-दोष रहित सुखविहार योग्य (सम) क्षेत्र में रहते हैं, अथवा ज्ञानादि रत्नत्रय रूप समता की भावभूमि में रहते हैं। उनके कषाय उपशान्त हो चुके हैं या मोह-कर्मरज उपशान्त हो गया है, षड्जीवनिकाय के या संघ के संरक्षक है, अथवा दूसरों को सदुप-देश देकर नरकादि दुर्गतियों से बचाते हैं, श्रुतज्ञान रूप स्रोत के मध्य में रहते हैं, शास्त्रज्ञान देते हैं, स्वयं लेते भी हैं।

महेसिणो के संस्कृत में 'महर्षि' तथा 'महैषी' दो रूप होते हैं। 'महैषी' का अर्थ है—महान्—मोक्ष की इच्छा करने वाला।[2]

पण्णाणमंता पबुद्धा—'प्रज्ञावान् और प्रबुद्ध' चूर्णिकार प्रज्ञावान का अर्थ चौदह पूर्वधारी और प्रबुद्ध का अर्थ मनःपर्यवज्ञानी करते हैं। वर्तमान में प्राप्त शास्त्रज्ञान में पारंगत विद्वान् को भी प्रबुद्ध कहते हैं।

'सम्ममेतं ति पासहा' का प्रयोग चिन्तन की स्वतन्त्रता का सूचक है। शास्त्रकार कहते है—मेरे कहने से तू मत मान, अपनी मध्यस्थ व कुशाग्र बुद्धि से स्वतन्त्र, निष्पक्ष चिन्तन द्वारा इसे देख।

सत्य में दृढ़ श्रद्धा

१६७. वितिगिच्छसमावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधिं।
सिता[3] वेगे अणुगच्छंति, असिता वेगे अणुगच्छंति।
अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं ण णिव्विज्जे?
१६८. तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं।

१६७. विचिकित्सा-प्राप्त (शंकाशील) आत्मा समाधि प्राप्त नहीं कर पाता।

कुछ लघुकर्मा सित (बद्ध/गृहस्थ) आचार्य का अनुगमन करते हैं, (उनके कथन को समझ लेते हैं) कुछ असित (अप्रतिबद्ध/अनगार) भी (विचिकित्सादि रहित होकर आचार्य का) अनुगमन करते हैं। इन अनुगमन करने वालों के बीच में रहता हुआ (आचार्य का) अनुगमन न करने वाला (तत्त्व नहीं समझने वाला) कैसे उदासीन (संयम के प्रति खेदखिन्न) नहीं होगा?

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक १९९।
(ख) आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोग और संग्रहपरिज्ञा, ये आचार्य की आठ गणि-सम्पदाएँ हैं। —आयारदसा ४ पृ० २१

२. देखें; दशवै० ३।१ की अग० चूर्णि पृ० ५९ तथा जिन० चू० पृ० १११, हारि० टीका ११६।
—महान्तं एषितुं शीलं येषां ते मेहसिणो—।

३. चूर्णि में पाठान्तर—'सिया वि अणुगच्छंति, असिता वि अणुगच्छंति एगदा'।

१६८. वही सत्य है, जो तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित है, इसमें शंका के लिए कोई अवकाश नहीं है।

विवेचन—जिस तत्व का अर्थ सरल होता है, वह सुखाधिगम कहलाता है। जिसका अर्थ दुर्बोध होता है, वह दुरधिगम, तथा जो नहीं जाना जा सकता, वह अनधिगम तत्व होता है। साधारणतः दुरधिगम अर्थ के प्रति विचिकित्सा या शंका का भाव उत्पन्न होता है। यहाँ बताया है कि विचिकित्सा से जिसका चित्त डावांडोल या कलुषित रहता है, वह आचार्यादि द्वारा समझाए जाने पर भी सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्रादि के विषय में समाधान नहीं पाता।[1]

विचिकित्सा—ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों विषयों में हो सकती है। जैसे—आगमोक्त ज्ञान सच्चा है या झूठा? इस ज्ञान को लेकर कहीं मैं धोखा तो नहीं खा जाऊंगा? मैं भव्य हूँ या नहीं? ये जो नौ तत्व या षट् द्रव्य बताए हैं, क्या ये सत्य हैं? अर्हन्त और सिद्ध कोई होते हैं या यों ही हमें डराने के लिए इनकी कल्पना की गई है? इतने कठोर तप, संयम और महाव्रतरूप चारित्र का कुछ सुफल मिलेगा या यों ही व्यर्थ का कष्ट सहना है?" ये और इस प्रकार की शंकाएं साधक के चित्त को अस्थिर, भ्रान्त, अस्वस्थ और असमाधियुक्त बना देती है। मोहनीय कर्म के उदय से ऐसी विचिकित्सा होती है। इसी को लेकर गीता में कहा है—'संशयात्मा विनश्यति'। विचिकित्सा से मन में खिन्नता पैदा होती है कि मैंने इतना जप, तप, संवर किया, संयम पाला, धर्माचरण किया, महाव्रतों का पालन किया, फिर भी मुझे अभी तक केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ? मेरी छद्मस्थ अवस्था नष्ट क्यों नहीं हुई? इस प्रकार की विचिकित्सा नहीं करनी चाहिए।[2] इस खिन्नता को मिटाकर मनःसमाधि प्राप्त करने का आलम्बन सूत्र है—'तमेव सच्चं०' आदि।[3]

'समाधि'—समाधि का अर्थ है—मन का समाधान। विषय की व्यापक दृष्टि से इसके चार अर्थ होते हैं—

(१) मन का समाधान। (२) शंका का निराकरण। (३) चित्त की एकाग्रता और (४) ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप सम्यग्भाव। यह भाव-समाधि कही जाती है।

वृत्तिकार के अनुसार यहाँ समाधि का अर्थ है—ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त चित्त की स्वस्थता। विभिन्न सूत्रों के अनुसार समाधि के निम्न अर्थ भी मान्य है।

(१) सम्यग् मोक्ष-मार्ग में स्थित होना।[4] (२) राग-द्वेष-परित्याग रूप धर्मध्यान।[5] (३) अच्छा स्वास्थ्य।[6] (४) चित्त की प्रसन्नता, स्वस्थता।[7] (५) नीरोगता।[8] (६) योग।[9]

१, आचा० शीला० टीका पत्रांक २०१।

२. उत्तराध्ययन सूत्र (२।४०-३३) में इस मनःस्थिति को प्रज्ञा-परीषह तथा अज्ञान-परीषह बताया है।

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०१।

४. सम० २०।

५. सूत्रकृत् १।२।२।

६. आव० मल० २।

७. सम० ३२।

८. व्यव० उ० १।

९. उत्तरा० २।

(७) सम्यग्दर्शन मोक्ष आदि विधि ।[1] (८) चित्त की एकाग्रता ।[2] (९) प्रशस्त भावना।[3]
दशवैकालिक[4] में चार प्रकार की समाधि का विस्तृत वर्णन है।

'तमेव सच्चं'—इस पंक्ति का आशय यह है कि साधक को कदाचित् स्व-पर-समय के ज्ञाता आचार्य के अभाव में, सूक्ष्म, व्यवहित (काल से दूर) दूरवर्ती (क्षेत्र से दूर) पदार्थों के विषय में दृष्टान्त, हेतु आदि के न होने से सम्यग्ज्ञान न हो पाए तो भी शंका—विचिकित्सादि छोड़ कर अनन्य श्रद्धापूर्वक यही सोचना चाहिए कि वही एकमात्र सत्य है, निःशंक है, जो राग-द्वेष विजेता तीर्थंकरों ने प्ररूपित किया है। कदाचित् कोई शंका उत्पन्न हो जाए, या पदार्थ को सम्यक् प्रकार से नहीं जाना जा सके तो यह भी सोचना चाहिए—

वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥

मिथ्या भाषण के मुख्य दो कारण हैं—(१) कषाय और (२) अज्ञान। इन दोनों कारणों से रहित वीतराग और सर्वज्ञ कदापि मिथ्या नहीं बोलते। इसलिए उनके वचन तथ्य-सत्य हैं, यथार्थवस्तुस्वरूप के दर्शक हैं।

भगवती सूत्र में कांक्षा मोहनीय कर्म-निवारण के सन्दर्भ में इसी वाक्य को आधार (आलम्बन) मानकर मन में धारण करने से जिनाज्ञा का आराधक माना गया है।[5]

सम्यक-असम्यक-विवेक

१६९. सड्ढिस्स णं समणुण्णस्स संपव्वयमाणस्स समियं ति मण्णमाणस्स एगदा समिया होति १, समियं ति मण्णमाणस्स एगदा असमिया होति २, असमियं ति मण्णमाणस्स एगया समिया होति ३, असमियं ति मण्णमाणस्स एगया असमिया होति ४, समियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होति उवेहाए ५, असमियं ति मण्णमाणस्स समिया वा

---

१. सूत्रकृत १।१३। २. द्वात्रिं० द्वा० ११।
३. स्थानांग २।३ (उक्त सभी स्थल देखें अभि० राजेन्द्र भाग ७ पृ० ४१९-२०)
४. अध्ययन ९ में विनयसाधि, श्रुतसमाधि, तपःसमाधि, आचारसमाधि का सुन्दर वर्णन है।
५. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २०१।
(ख) अत्थियणं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?
हंता अत्थि।
कहन्नं समणा वि णिग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेयंति ?
गोयमा ! तेसु तेसु नाणंतरेसु चरित्तंतरेसु० संकिया कंखिया विइगिच्छासमावन्ना, भेयसमावन्ना कलुससमावन्ना, एवं खलु गोयमा ! समणा वि निग्गथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।
तत्थालंबणं ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।
से णूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति ?—
एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति।" —शतक १ उ० ३ सूत्र—१७०
६. 'बूया एवं उवेह समियाए' यह पाठान्तर चूर्णि में है। कहता है—इस प्रकार से सम्यक् रूप से पर्यालोचन कर।

असमिया वा असमिया होति उवेहाए ६। उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ[1] संधी झोसितो भवति।

से उट्ठितस्स ठितस्स गतिं समणुपासह।

एत्थ वि बालभावे अप्पाणं णो उवदंसेज्जा[2]।

१६९. श्रद्धावान् सम्यक् प्रकार से अनुज्ञा (आचार्याज्ञा या जिनोपदेश के अनुसार, ज्ञान) शील एवं प्रव्रज्या को सम्यक् स्वीकार करने या पालने वाला (१) कोई मुनि जिनोक्त तत्व को सम्यक् मानता है और उस समय (उत्तरकाल में) भी सम्यक् (मानता) रहता है। (२) कोई प्रव्रज्याकाल में सम्यक् मानता है, किन्तु बाद में किसी समय (ज्ञेय की गहनता को न समझ पाने के कारण मति-भ्रमवश) उसका व्यवहार असम्यक् हो जाता है। (३) कोई मुनि (प्रव्रज्याकाल में) असम्यक् (मिथ्यात्वांश के उदयवश) मानता है, किन्तु एक दिन (शंका का समाधान हो जाने से उसका व्यवहार) सम्यक् हो जाता है। (४) कोई साधक (प्रव्रज्या के समय आगमोक्त ज्ञान न मिलने से) उसे असम्यक् मानता है, और बाद में भी (कुतर्क-बुद्धि के कारण) असम्यक् मानता रहता है। (५) (वास्तव में) जो साधक (निष्पक्षबुद्धि या निर्दोषहृदय से किसी वस्तु को सम्यक् मान रहा है, वह (वस्तु प्रत्यक्षज्ञानियों की दृष्टि में) सम्यक् हो या असम्यक्; उसकी सम्यक् उत्प्रेक्षा (सम्यक् पर्यालोचन—छानबीन या शुद्ध अध्यवसाय) के कारण (उसके लिए) वह सम्यक् ही होती है। (६) (इसके विपरीत) जो साधक किसी वस्तु को असम्यक् मान रहा है, वह (प्रत्यक्षज्ञानियों की दृष्टि में) सम्यक् हो या असम्यक्; उसके लिए सम्यक् उत्प्रेक्षा (शुद्ध अध्यवसाय) के कारण वह असम्यक् ही होती है।

(इस प्रकार) उत्प्रेक्षा (शुद्ध अध्यवसाय पूर्वक पर्यालोचन) करने वाला उत्प्रेक्षा नहीं करने वाले (मध्यस्थभाव से चिन्तन नहीं करने वाले) से कहता है—सम्यक् भाव समभाव-माध्यस्थ्यभाव से उत्प्रेक्षा (पर्यालोचना) करो।

इस (पूर्वोक्त) प्रकार से व्यवहार में होने वाली सम्यक्—असम्यक् की गुत्थी (संधि) सुलझाई जा सकती है। (अथवा इस पद्धति से (मिथ्यात्वादि के कारण होने वाली) कर्मसन्ततिरूप सन्धि तोड़ी जा सकती है।)

तुम (संयम में सम्यक् प्रकार से) उत्थित (जागृत-पुरुषार्थवान) और स्थित (संयम में शिथिल) की गति देखो।

तुम बाल भाव (अज्ञान-दशा) में भी अपने आपको प्रदर्शित मत करो।

---

१. यहाँ तत्थ-तत्थ दो बार है। चूर्णिकार व्याख्या करते हैं—"तत्थ-तत्थ णाणंतरे, दंसणचरित्तंतरे लिंगंतरे वा संधाणं संधी।—इस प्रकार वहाँ वहाँ ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, और वेशान्तर में होने वाली समस्या (संधि) सुलझाई जा सकती है।

२. **'णो दरिसिज्जा'** पाठान्तर चूर्णि में है, जिसका अर्थ होता है—**'मत दिखाओ'**।

विवेचन—सब श्रमण—आत्मसाधक प्रत्यक्षज्ञानी नहीं होते और न ही सबका ज्ञान, तर्कशक्ति, बुद्धि, चिन्तनशक्ति, स्फुरणाशक्ति, स्मरणशक्ति, निर्णयशक्ति, निरीक्षण-परीक्षण शक्ति एक-जैसी होती है, साथ ही परिणामों-अध्यवसायों की धारा भी सबकी समान नहीं होती, न सदा-सर्वदा शुभ या अशुभ ही होती है। अतीन्द्रिय (अनधिगम्य) पदार्थों के विषय में तो वह 'तमेव सच्चं०' का आलम्बन लेकर सम्यक् (सत्य) का ग्रहण और निश्चय कर सकता है, किन्तु जो पदार्थ इन्द्रियप्रत्यक्ष हैं, या जो व्यवहार-प्रत्यक्ष हैं, उनके विषय में सम्यक्-असम्यक् का निर्णय कैसे किया जाय? इसके सम्बन्ध में सूत्र १६९ में पहले तो साधक के दीक्षा-काल और पश्चात्काल को लेकर सम्यक्-असम्यक् की विवेचना की है, फिर उसका निर्णय दिया हैं। जिसका अध्यवसाय शुद्ध है, जिसकी दृष्टि मध्यस्थ एवं निष्पक्ष है, जिसका हृदय शुद्ध व सत्यग्राही है, वह व्यवहारनय से किसी भी वस्तु, व्यक्ति या व्यवहार के विषय को सम्यक् मान लेता है, तो वह सम्यक् ही है और असम्यक् मान लेता है तो असम्यक् ही है, फिर चाहे प्रत्यक्षज्ञानियों की दृष्टि में वास्तव में वह सम्यक् हो या असम्यक्।

यहाँ 'उवेहाए' शब्द का संस्कृत रूप होता है—उत्प्रेक्षया। उसका अर्थ शुद्ध अध्यवसाय या मध्यस्थदृष्टि, निष्पक्ष सत्यग्राही बुद्धि, शुद्ध सरल हृदय से पर्यालोचन करना है।[1]

गति के 'दशा' या 'स्वर्ग मोक्षादिगति' अर्थ के सिवाय वृत्तिकार ने और भी अर्थ सूचित किये हैं—ज्ञान-दर्शन की स्थिरता, सकल लोकश्लाध्यता, पदवी, श्रुतज्ञानाधारता, चारित्र में निष्कम्पता।[2]

अहिंसा की व्यापक दृष्टि

१७०. तुमं सि णाम तं[3] चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि,
तुमं सि णाम तं चेव जं अज्जावेतव्वं ति मण्णसि,
तुमं सि णाम तं चेव जं परितावेतव्वं ति मण्णसि,
तुमं सि णाम तं चेव जं परिघेतव्वं ति मण्णसि,
एवं तं चेव जं उद्दवेतव्वं ति मण्णसि।

अंजू चेयं पडिबुद्धजीवी। तम्हा ण हंता, ण वि घातए। अणुसंवेयणमप्पाणेणं, जं[4] हंतव्वं णाभिपत्थए।

१७०. तू वही है, जिसे तू हनन योग्य मानता है;
तू वही है, जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है;
तू वही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है;

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०२। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०३।
३. 'तं चेव' के बदले सच्चेव पाठ है।
४. 'जं हंतव्वं णाभिपत्थए' की व्याख्या चूर्णि में यों है—'जमिति जम्हा कारणा, हंतव्वं मारेयव्वमिति, ण पडिसेहे, अभिमुहं पत्थए।''—जिस कारण से उसे मारना है, उसकी ओर (तदभिमुख) इच्छा भी न करो। 'न' प्रतिषेध अर्थ में है।

तू वही है, जिसे तू दास बनाने हेतु ग्रहण करने योग्य मानता है;

तू वही है, जिसे तू मारने योग्य मानता है।

ज्ञानी पुरुष ऋजु (सरलात्मा) होता है, वह (परमार्थतः हन्तव्य और हन्ता की एकता का) प्रतिबोध पाकर जीने वाला होता है। इस (आत्मैक्य के प्रतिबोध) के कारण वह स्वयं हनन नहीं करता और न दूसरों से हनन करवाता है। (नहीं हनन करने वाले का अनुमोदन करता है)

कृत-कर्म के अनुरूप स्वयं को ही उसका फल भोगना पड़ता है; इसलिए किसी का हनन करने की इच्छा मत करो।

विवेचन—'तुमं सि णाम तं चेव' इत्यादि सूत्र में भगवान् महावीर ने आत्मौपम्यवा (आयतुले पयासु) का निरूपण करके सर्व प्रकार की हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया है दो भिन्न आत्माओं के सुख या दुःख की अनुभूति (संवेदन) की समता सिद्ध करना ही इस सू का उद्देश्य है। इसका तात्पर्य है—'दूसरे के द्वारा किसी भी रूप में तेरी हिंसा की जाने प जैसी अनुभूति तुझे होती है, वैसी ही अनुभूति उस प्राणी को होगी, जिसकी तू किसी भी रू में हिंसा करना चाहता है।[1] इसका एक भाव यह भी है कि तू किसी अन्य की हिंसा करन चाहता है, पर वास्तव में यह उसकी (अन्य की) हिंसा नहीं, किन्तु तेरी शुभवृत्तियों की हिंस है, अतः तेरी यह हिंसा-वृत्ति एक प्रकार से आत्म-हिंसा (स्व-हिंसा) ही है।

'अंजू' का अर्थ ऋजु—सरल, संयम में तत्पर, प्रबुद्ध साधु होता है। यहाँ पर यह आशय प्रतीत होता है—ऋजु और प्रतिबुद्धजीवी बनकर ज्ञानी पुरुष हिंसा से बचे, किसी भय, प्रलो भन या छल-बल से नहीं।[2]

'अणुसंवेयणमप्पाणेणं'—में अनुसंवेदन का अर्थ यह भी हो सकता है कि तुमने दूसरे जीव को जिस रूप में वेदना दी है, तुम्हारी आत्मा को भी उसी रूप में वेदना की अनुभूति होगी वेदना भोगनी होगी।[3]

आत्मा ही विज्ञाता

१७१. जे आता से विण्णाता, जे विण्णाता से आता।

जेण विजाणति से आता। तं पडुच्च पडिसंखाए। एस[4] आतावादी समियाए परियाए वियाहिते त्ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१७१. जो आत्मा है, वह विज्ञाता है, और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है; क्योंकि (मति आदि) ज्ञानों से आत्मा (स्व-पर को) जानता है, इसलिए वह आत्मा है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०४।

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०४।

४. 'एस आतावादी' के बदले चूर्णि में 'एस आतावाते' पाठ है। अर्थ किया है—अप्पणो वातो आता-वातो। —यह आत्मवाद है, अर्थात् आत्मा का (अपना) वाद=आत्मवाद होता है।

उस (ज्ञान की विभिन्न परिणतियों) की अपेक्षा से आत्मा की (विभिन्न नामों से) प्रतीति—पहचान होती है।

यह आत्मवादी सम्यक्ता (सत्यता या शमिता) का पारगामी (या सम्यक् भाव से दीक्षा पर्यायवाला) कहा गया है।

विवेचन—'*जे आता से विण्णाता०*' तथा '*जेण विजाणाति से आता*'—इन दो पंक्तियों द्वारा शास्त्रकार ने आत्मा का लक्षण द्रव्य और गुण दोनों अपेक्षाओं से बता दिया है। चेतन ज्ञाता है द्रव्य है, चैतन्य (ज्ञान) उसका गुण है। यहाँ ज्ञान (चैतन्य) से आत्मा (चेतन) की अभिन्नता तथा ज्ञान आत्मा का गुण है, इसलिए आत्मा से ज्ञान की भिन्नता दोनों बता दी हैं। द्रव्य और गुण न सर्वथा भिन्न होते हैं, न सर्वथा अभिन्न। इस दृष्टि से आत्मा (द्रव्य) और ज्ञान (गुण) दोनों न सर्वथा अभिन्न हैं, न भिन्न। गुण द्रव्य में ही रहता है और द्रव्य का ही अंश है इस कारण दोनों अभिन्न भी हैं और आधार एवं आधेय की दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। दोनों की अभिन्नता और भिन्नता का सूचन भगवती सूत्र[1] में मिलता है—

"जीवेणं भंते! जीवे जीवे जीवे?"

"गोयमा! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे।

—"भंते! जीव चैतन्य जीव है?"

—"गौतम! जीव नियमतः चैतन्य है, चैतन्य भी नियमतः जीव है।"

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी (ज्ञाता) और ज्ञान दोनों आत्मा हैं। ज्ञान ज्ञानी का प्रकाश है। इसी प्रकार ज्ञान की क्रिया (उपयोग) घट-पट आदि विभिन्न पदार्थों को जानने में होती है। अतः ज्ञान से या ज्ञान की क्रिया से ज्ञेय या ज्ञानी आत्मा को जान लिया जाता है।[2] सार यह है कि जो ज्ञाता है, वह तू (आत्मा) ही है, जो तू है, वही ज्ञाता है। तेरा ज्ञान तुझ से भिन्न नहीं है।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

आज्ञा-निर्देश

१७२. अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे णिरुवट्ठाणा।

एतं ते मा होतु।

एतं कुसलस्स दंसणं। तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे अभिभूय अदक्खू।

---

१. शतक ६। उद्देशक १० सूत्र १७४।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०५।

अणभिभूते पभू णिरालंवणताए, जे[1] महं अवहिमणे।

पवादेण पवायं जाणेज्जा सहसम्मइयाए[2] परवागरणेणं अण्णेसिं वा सोच्चा।

१७३. णिद्देसं णातिवत्तेज्ज मेहावी [3]सुपडिलेहिय सव्वओ सव्वताए सम्ममेव समभिजाणिया।

इह आरामं परिण्णाय अल्लीणगुत्तो परिव्वए।

निट्ठियट्ठी वीरे आगमेणं सदा परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

१७२. कुछ साधक अनाज्ञा (तीर्थंकर की अनाज्ञा) में उद्यमी होते हैं और कुछ साधक आज्ञा में अनुद्यमी होते हैं।

यह (अनाज्ञा में उद्यम और आज्ञा में अनुद्यम) तुम्हारे जीवन में न हो। यह (अनाज्ञा में अनुद्यम और आज्ञा में उद्यम) मोक्ष मार्ग-दर्शन-कुशल तीर्थंकर का दर्शन (अभिमत) है।

साधक उसी (तीर्थंकर महावीर के दर्शन) में अपनी दृष्टि नियोजित करे, उसी (तीर्थंकर के दर्शनानुसार) मुक्ति में अपनी मुक्ति माने, (अथवा उसी में मुक्त मन से लीन हो जाए), सब कार्यों में उसे आगे करके प्रवृत्त हो, उसी के संज्ञान-स्मरण में संलग्न रहे, उसी में चित्त को स्थिर कर दे, उसी का अनुसरण करे।

जिसने परीषह-उपसर्गों-बाधाओं तथा घातिकर्मों को पराजित कर दिया है, उसी ने तत्त्व (सत्य) का साक्षात्कार किया है। जो (परीषहोपसर्गों या विघ्न-बाधाओं से) अभिभूत नहीं होता, वह निरालम्बनता (निराश्रयता-स्वावलम्बन) पाने में समर्थ होता है।

जो महान् (मोक्षलक्षी लघुकर्मा) होता है, (अन्य लोगों की भौतिक अथवा यौगिक विभूतियों व उपलब्धियों को देखकर) उसका मन (संयमसे) बाहरनहीं होता।

प्रवाद (सर्वज्ञ तीर्थंकरों के वचन) से प्रवाद (विभिन्न दार्शनिकों या तीर्थिकों के वाद) को जानना (परीक्षण करना) चाहिए। (अथवा) पूर्वजन्म की स्मृति से (या सहसा उत्पन्न मति-प्रतिभादि ज्ञान से), तीर्थंकर से प्रश्न का उत्तर पाकर (या व्याख्या सुनकर), या किसी अतिशय ज्ञानी या निर्मल श्रुत ज्ञानी आचार्यादि से सुन कर (प्रवाद के यथार्थ तत्त्व को जाना जा सकता है)।

१७३. मेधावी निर्देश (तीर्थंकरादि के आदेश-उपदेश) का अतिक्रमण न करे।

---

१. 'जे महं अबहिमणे' का चूर्णि में अर्थ यों है—जे इति णिद्देसे, 'अहमेव सो जो अबहिमणो'—अर्थात्-'जे' निर्देश अर्थ में हैं। 'जो अबहिर्मना है, वह मैं ही हूँ।'—वह मेरा ही अंगभूत है।

२. 'सहसम्मुइयाए' 'सह संमुतियाए' ये दोनों पाठान्तर मिलते हैं। परन्तु 'सहसम्मइयाए' पाठ समुचि[त] लगता है।

३. 'सुपडिलेहिय' का अर्थ चूर्णि में किया गया है—'सयं भगवता सुष्ठु पडिलेहितं विण्णातं तमेव सिद्धं भागवतं।' —स्वयं भगवान ने सम्यक् प्रकार से विशेष रूप से (अपने केवलज्ञान के प्रकाश में) जा[ना] है, वही भागवत सिद्धान्त है।

वह सब प्रकार से (हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप में तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप में) भली-भाँति विचार करके सम्पूर्ण रूप से (सामान्य-विशेषात्मक रूप से सर्व प्रकार) (पूर्वोक्त जाति-स्मरण आदि तीन प्रकार से) साम्य (सम्यक्त्व-यथार्थता) को जाने।

इस सत्य (साम्य) के परिशीलन में आत्म-रमण (आत्म-सुख) की परिज्ञा करके आत्मलीन (मन-वचन-काया की गुप्तियों से गुप्त) होकर विचरण करे। मोक्षार्थी अथवा संयम-साधना द्वारा निष्ठितार्थ (कृतार्थ) वीर मुनि आगम निर्दिष्ट अर्थ या आदेश-निर्देश के अनुसार सदा पराक्रम करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक में तीर्थंकरों की आज्ञा-अनाज्ञा के अनुसार चलने वाले साधकों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् आसक्ति-त्याग से सम्बन्धित निर्देश किया गया है और अन्त में परमात्मा के स्वरूप की झांकी दी गयी है, जो कि लोक में सारभूत पदार्थ है।

'सोवट्ठाणा णिरुवट्ठाणा'—ये दोनों पद आगम के पारिभाषिक शब्द हैं। वृत्तिकार इनका स्पष्टीकरण करते हैं कि—'दो प्रकार के साधक होते हैं—

(१) अनाज्ञा में सोपस्थान और (२) आज्ञा में निरुपस्थान।

'उपस्थान' शब्द यहाँ उद्यत रहने या उद्यम/पुरुषार्थ करने के अर्थ में है। अनाज्ञा का अर्थ तीर्थंकरादि के उपदेश से विरुद्ध, अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पित मार्ग का अनुसरण करना या कल्पित अनाचार का सेवन करना है। ऐसी अनाज्ञा में उद्यमी वे होते हैं, जो इन्द्रियों के वशवर्ती (दास) होते हैं, अपने ज्ञान, तप, संयम, शरीर-सौन्दर्य, वाक्पटुता आदि के अभिमान से ग्रस्त होते हैं, सद्-असद् विवेक से रहित और 'हम भी प्रव्रज्या ग्रहण किये हुए साधक हैं', इस प्रकार के गर्व से युक्त होते हैं। वे धर्माचरण की तरह प्रतीत होने वाले अपने मन-माने सावद्य आचरण में उद्यम करते रहते हैं। और आज्ञा में अनुद्यमी वे होते हैं, जो आज्ञा का प्रयोजन, महत्व और उसके लाभ समझते हैं, कुमार्ग से उनका अन्तःकरण वासित नहीं है, किन्तु आलस्य, दीर्घसूत्रता, प्रमाद, गफलत, संशय, भ्रान्ति, व्याधि, जड़ता (बुद्धिमन्दता), आत्मशक्ति के प्रति अविश्वास आदि के कारण तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट धर्माचरण के प्रति उद्यमवान् नहीं होते हैं। यहाँ दोनों ही प्रकार के साधकों को ठीक नहीं बताया है। कुमार्गाचरण और सन्मार्ग का अनाचरण दोनों ही त्याज्य हैं। तीर्थंकर का दर्शन है—अनाज्ञा में निरुद्यम और आज्ञा में उद्यम करना।[1]

'तद्दिट्ठीए' आदि पदों का अर्थ वृत्तिकार ने तीर्थंकर-परक और आचार्य-परक दोनों ही प्रकार से किया है।[2] दोनों ही अर्थ संगत हैं क्योंकि दोनों के उपदेश में भेद नहीं होता। इससे पूर्व की पंक्ति है—**'एतं कुसलस्स दंसणं।'**

'अभिभूय और अणभिभूते'—मूल में ये दो शब्द ही मिलते हैं, किससे और कैसे? यह वहाँ नहीं बताया गया है, किन्तु पंक्ति के अन्त में 'पभू **णिरालंबणताए**' पद दिये हैं, इनसे ध्वनित होता है कि निरालम्बी (स्वावलम्बी) बनने में जो बाधक तत्व हैं, उन्हें अभिभूत कर देने पर

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०५। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०६।

ही साधक अनभिभूत होता है, वही निरवलम्बी (स्वाश्रयी) बनने में समर्थ होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में निरालम्बी की विशेषता बताते हुए कहा गया है—"निरालम्बी के योग (मन-वचन-काया के व्यापार) आत्मस्थित हो जाते हैं। वह स्वयं के लाभ में सन्तुष्ट रहता है, पर के द्वारा हुए लाभ में रुचि नहीं रखता, न दूसरे से होने वाले लाभ के लिए ताकता है, न दूसरे से अपेक्षा या स्पृहा रखता है, न दूसरे से होने वाले लाभ की आकांक्षा करता है। इस प्रकार पर से होने वाले लाभ के प्रति अरुचि, अप्रतीक्षा, अनपेक्षा, अस्पृहा, या अनाकांक्षा रखने से वह साधक द्वितीय सुखशय्या को प्राप्त करके विचरण करता है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार 'अभिभूय' का आशय है—'परीषह, उपसर्ग या घातिकर्म चतुष्टय को पराजित करके....।' वस्तुतः साधना के बाधक तत्वों में परीषह, उपसर्ग (कष्ट) आदि भी हैं, घातिकर्म भी हैं,[2] भौतिक सिद्धियाँ, यौगिक उपलब्धियाँ या लब्धियाँ भी बाधक हैं, उनका सहारा लेना आत्मा को पंगु और परावलम्बी बनाना है। इसी प्रकार दूसरे लोगों से अधिक सहायता की अपेक्षा रखना भी पर-मुखापेक्षित है, इन्द्रिय-विषयों, मन के विकारों आदि का सहारा लेना भी उनके वशवर्ती होना है, इससे भी आत्मा पराश्रित और निर्बल होता है। निरवलम्बी अपनी ही उपलब्धियों में सन्तुष्ट रहता है। वह दूसरों पर या दूसरों से मिली हुई सहायता, प्रशंसा या प्रतिष्ठा पर निर्भर नहीं रहता। साधक को आत्म-निर्भर (स्व-अवलम्बी) बनना चाहिए।

भगवान महावीर ने प्रत्येक साधक को धर्म और दर्शन के क्षेत्र में स्वतन्त्र चिन्तन का अवकाश दिया। उन्होंने दूसरे प्रवादों की परीक्षा करने की छूट दी। कहा—'मुनि अपने प्रवाद (दर्शन या वाद) को जानकर फिर दूसरे प्रवादों को जाने-परखे। शर्त इतनी ही है कि दूसरे प्रवादों की परीक्षा करते समय अपने प्रवाद के प्रति राग या मोह और दूसरे प्रवादों के प्रति घृणा या द्वेष न होना चाहिए। अपने प्रवाद की महत्ता और दूसरे प्रवादों की लघुता प्रदर्शित करने की मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिए। परीक्षा के समय पूर्ण मध्यस्थता-निष्पक्षता एवं समत्व-भावना रहनी चाहिए।[3] स्व-पर-वाद का निष्पक्षता के साथ परीक्षण करने पर वीतराग के दर्शन की महत्ता स्वतः सिद्ध हो जाएगी।

आसक्ति-त्याग के उपाय

१७४. उड्ढं सोता अहे सोता तिरियं सोता वियाहिता।
एते सोया-वियक्खाता जेहिं संगं ति पासहा॥ १२॥
[4]आवट्टमेयं तु पेहाए एत्थ विरमेज्ज वेदवी।

---

१. 'निरालंबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं आणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। —उत्तराध्ययनसूत्र २९।३४

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०६। ३. (आयारो) पृष्ठ २२३।

४. 'आवट्टमेयं तु पेहाए' के बदले चूर्णि में 'अट्टमेयं तुवेहाए' पाठ मिलता है। अर्थ किया गया है—'राग-दोसवसट्टं कम्मबंधगं उवेहेत्ता' —रागद्वेष के वश पीड़ित होने से हुए कर्मबन्ध का विचार करके....।

१७५. विणएत्तु सोतं निक्खम्म एस महं अकम्मा जाणति, पासति, पडिलेहाए णावकंखति।

१७४. ऊपर (आसक्ति के) स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं, मध्य में स्रोत (विषयासक्ति के स्थान हैं, जो अपनी कर्म-परिणतियों द्वारा जनित) हैं। ये स्रोत कर्मों के आस्रवद्वार कहे गये हैं, जिनके द्वारा समस्त प्राणियों को आसक्ति पैदा होती है, ऐसा तुम देखो।

(राग-द्वेष-कषाय-विषयावर्तरूप) भावावर्त का निरीक्षण करके आगमविद् (ज्ञानी) पुरुष उससे विरत हो जाए।

१७५. विषयासक्तियों के या आस्रवों के स्रोत को हटा कर निष्क्रमण (मोक्ष-मार्ग में परिव्रजन) करने वाला यह महान् साधक अकर्म (घाति कर्मों से रहित या ध्यानस्थ) होकर लोक को प्रत्यक्ष जानता, देखता है।

(इस सत्य का) अन्तर्निरीक्षण करने वाला साधक इस लोक में (अपने दिव्य ज्ञान से) संसार-भ्रमण और उसके कारण की परिज्ञा करके उन (विषय-सुखों) की आकांक्षा नहीं करता।

विवेचन—'**उड्ढं सोता०**'—इत्यादि सूत्र में जो तीनों दिशाओं या लोकों में स्रोत बताए हैं, वे क्या हैं? वृत्तिकार ने इस पर प्रकाश डाला है—"स्रोत हैं—कर्मों के आगमन (आस्रव) के द्वार; जो तीनों दिशाओं या लोकों में हैं। उर्ध्व स्रोत हैं—वैमानिक देवांगनाओं या देवलोक के विषय-सुखों की आसक्ति। इसी प्रकार अधोदिशा में हैं—भवनपति देवों के विषय-सुखों में आसक्ति, तिर्यक् लोक में व्यन्तर देव; मनुष्य; तिर्यंच सम्बन्धी विषय-सुखासक्ति। इन स्रोतों से साधक को सदा सावधान रहना चाहिए।"[1] एक दृष्टि से इन स्रोतों को ही आसक्ति (संग) समझना चाहिए। मन की गहराई में उतरकर इन्हें देखते रहना चाहिए। इन स्रोतों को बन्द कर देने पर ही कर्म बन्धन बन्द होगा। कर्म बन्धन सर्वथा कट जाने पर ही अकर्म स्थिति आती है, जिसे शास्त्रकार ने कहा—"**अकम्मा जाणति, पासति।**"

मुक्तात्म-स्वरूप

१७६. इह आगतिं गतिं परिण्णाय अच्चेति जातिमरणस्स वडुमग्गं[2] वक्खातरते।
सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ ण[3] विज्जति,

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०७।

२. '**वडुमग्गं**' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—*वडुमग्गो पंथो वदुमग्गं ति पंथानम्।* वट्टमार्ग का अर्थ है—वटमार्ग—रास्ता।

३. इसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**वक्खायरतो सुत्ते अत्थे य'**—सूत्र और अर्थ की व्याख्या (जो की गई है) में रत है।

मती तत्थ ण गाहिया ।
ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेत्तण्णे ।

से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिते, ण हालिद्दे, ण सुक्किले, ण सुब्भिगंधे, ण दुब्भिगंधे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ[1] ण रुहे, ण संगे, ण इत्थी[2], ण पुरिसे, ण अण्णहा ।

परिण्णे, सण्णे ।
उवमा ण विज्जति ।
अरूवी सत्ता ।
अपदस्स पदं णत्थि ।
से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, [3]इच्चेतावंति त्ति बेमि ।

॥ लोगसारो पंचमं अज्झयणं समत्तो ॥

१७६. इस प्रकार वह जीवों की गति-आगति (संसार-भ्रमण) के कारणों का परिज्ञान करके व्याख्यात-रत (मोक्ष-मार्ग में स्थित) मुनि जन्म-मरण के वृत्त (चक्राकार) मार्ग को पार कर जाता है (अतिक्रमण कर देता) है ।

(उस मुक्तात्मा का स्वरूप या अवस्था बताने के लिए) सभी स्वर लौट जाते हैं—(परमात्मा का स्वरूप शब्दों के द्वारा कहा नहीं जा सकता), वहाँ कोई तर्क नहीं है (तर्क द्वारा गम्य नहीं है) । वहाँ मति (मनन रूप) भी प्रवेश नहीं कर पाती, वह (बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है) । वहाँ (मोक्ष में) वह समस्त कर्ममल से रहित ओजरूप (ज्योति स्वरूप) शरीर रूप प्रतिष्ठान—आधार से रहित (अशरीरी) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) ही है ।

वह (परमात्मा या शुद्ध आत्मा) न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, और न परिमण्डल है । वह न कृष्ण (काला) है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न शुक्ल (श्वेत) है । न वह सुगन्ध—(युक्त) है और न दुर्गन्ध—(युक्त) है । वह न तिक्त (तीखा) है, न कड़वा है, न कसैला है, न खट्टा है

---

१. 'काऊ' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'काउग्गहणेणं लेस्साओ गहिताओ —'काऊ' शब्द से यहाँ लेश्या का ग्रहण किया गया है ।

२. यहाँ चूर्णि में पाठान्तर है—ण इत्थिवेदगो, ण णपुंसगवेदगो ण अण्णहत्ति । अर्थात्—वह (परमात्मा) न स्त्रीवेदी है, न नपुंसकवेदी है और न ही अन्य है (यानी पुरुषवेदी है) ।

३. इच्चेतावंति की चूर्णिसम्मत व्याख्या इस प्रकार है—"इति परिसमत्तीए, एतावंति त्ति तस्य परियाता, एतावंति य परियायविसेसा इति ।" —इति समाप्ति अर्थ में है । इतने ही उसके पर्याय विशेष हैं । उपनिषद् में भी 'नेति नेति' कह कर परमात्मा की परिभाषा के विषय में मौन अंगीकार कर लिया है ।

और न मीठा (मधुर) है। वह न कर्कश है, न मृदु (कोमल) है, न गुरु (भारी) है, न लघु (हलका) है, न ठण्डा है, न गर्म है, न चिकना है, और न रूखा है। वह (मुक्तात्मा) कायवान् नहीं है। वह जन्मधर्मा नहीं (अजन्मा) है, वह संगरहित—(असंग-निर्लेप) है, वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

वह (मुक्तात्मा) परिज्ञ है, संज्ञ (सामान्य रूप से सभी पदार्थ सम्यक् जानता) है। वह सर्वतः चैतन्यमय—ज्ञानधन है। (उसका बोध कराने के लिए) कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी (अमूर्त्त) सत्ता है। वह पदातीत (अपद) है, उसका बोध कराने के लिए कोई पद नहीं है।

वह न शब्द है, न रूप है, न गन्ध है, न रस है, और न स्पर्श है। बस, इतना ही है।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—परमात्मा (मुक्तात्मा) का स्वरूप सूत्र १७६ में विशदरूप से बताया गया है, परन्तु वहाँ उसे जगत में पुनः लौट आने वाला या संसार की रचना करने वाला (जगत्कर्त्ता) नहीं बताया गया है। परमात्मा जब समस्त कर्मों से रहित हो जाता है, तो संसार में लौटकर पुनः कर्मबन्धन में पड़ने के लिए क्यों आएगा ?[1]

योगदर्शन में मुक्त-आत्मा (ईश्वर) का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।''

—क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों (वासनाओं) से अछूता जो विशिष्ट पुरुष—(आत्मा) है, वही ईश्वर है।[2]

इसीलिए यहाँ कहा—'अच्चेति जातिमरणस्स वट्टमग्गं'—वह जन्म-मरण के वृत्तमार्ग (चक्राकार) मार्ग का अतिक्रमण कर देता है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

॥ लोकसार पंचम अध्ययन समाप्त ॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०८। २. योग दर्शन १।२४।

विशेष—वैदिक ग्रन्थों में इसी से मिलता-जुलता ब्रह्म या परमात्मा का स्वरूप मिलता है, देखिये—

''अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥'' —कठोपनिषद् १।३।१५

'यत्तदद्रश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षुश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं नश्यन्ति धीराः॥'—मुण्डकोपनिषद् ६।१।६

'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कदाचन।'' —तैत्तिरीय उपनिषद् २।४।१

ते होवा चैतदवेतदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय-मतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनेऽतेजस्कमप्राणाऽमुखमगात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन, न तदश्नाति कश्चन। —बृहदारण्यक ३।८।८।४।५।१४

'धूत' छठा अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र के इस छठे अध्ययन का नाम है—'धूत'।

☆ 'धूत' शब्द यहाँ विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है, प्रकम्पित व शुद्ध वस्त्रादि पर से धूल आदि झाड़कर उसे निर्मल कर देना द्रव्यधूत कहलाता है। भावधूत वह है, जिससे अष्टविध कर्मों का धूनन (कम्पन, त्याग) होता है।[1]

☆ अतः त्याग या संयम अर्थ में यहाँ भावधूत शब्द प्रयुक्त है।[2]

☆ वैसे धूत शब्द का प्रयोग विभिन्न शास्त्रों में यत्र-तत्र विभिन्न अर्थों में हुआ है।[3]

☆ धूत नामक अध्ययन का अर्थ हुआ—जिसमें विभिन्न पहलुओं से स्वजन, संग उपकरण आदि विभिन्न पदार्थों के त्याग (धूनन) का प्रतिपादन किया गया है, वह अध्ययन।[4]

☆ धूत अध्ययन का उद्देश्य है—साधक संसारवृक्ष के बीजरूप कर्मों (कर्मबन्धों) के विभिन्न कारणों को जानकर उनका परित्याग करे और कर्मों से सर्वथा मुक्त (अवधूत) बने।[5]

☆ सरल भाषा में 'धूत का अर्थ है—कर्मरज से रहित निर्मल आत्मा अथवा संसार-वासना का त्यागी—अनगार।

---

१. 'दव्वधुतं वत्थादि, भावधुयं कम्ममट्ठविहं।'—आचा० निर्युक्ति गा० २५०।

२. 'धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद् धूतम् संयमानुष्ठाने।' 'धूननार्हत्वाद् धूतम्।'
—सूत्रकृत् १ श्रु० २ अ० २

३. (क) 'संयमे, मोक्षे'—सूत्रकृत् १ श्रु० ७ अ०
(ख) अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४ पृ० २७५८ में अपनीत, कम्पित, स्फोटित और क्षिप्त अर्थ में 'धूत' शब्द के प्रयोग बताये हैं।
(ग) दशवैकालि सूत्र ३।१३ में 'धुयमोह'—धुतमोह शब्द का प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार अगस्त्य सिंह ने इसका 'विकीर्ण-मोह' तथा जिनदासगणी ने 'जितमोह' अर्थ किया है।
—दसवेआलियं पृष्ठ ६५,

४. 'धूतं संगानां त्यजनम्, तत्प्रतिपादकमध्ययनं धूतम्।'—स्था० वृत्ति० स्थान ६

५. आचारांग निर्युक्ति गा० २५१।

- ☆ धूत अध्ययन के पाँच उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक में भावधूत के विभिन्न पहलुओं को लेकर सूत्रों का चयन-संकलन किया गया है।
- ☆ स्वजन-परित्यागरूप प्रथम उद्देशक में धूत का निरूपण है।
- ☆ द्वितीय उद्देशक में संग-परित्यागरूप धूत का वर्णन है।
- ☆ तीसरे उद्देशक में उपकरण, शरीर एवं अरति के धूनन (त्याग) का प्रतिपादन है।
- ☆ चौथे उद्देशक में अहंता (त्रिविध गौरव) त्याग, एवं संयम में पराक्रम-धूत का वर्णन है -
- ☆ पाँचवें उद्देशक में तितिक्षा, धर्माख्यान एवं कषाय-परित्यागरूप धूत का सांगोपांग उपदेश है।[1]
- ☆ इस अध्ययन की सूत्र संख्या १७७ से प्रारम्भ होकर सूत्र १९८ पर समाप्त है।

□

'धुयं' छट्ठमज्झयणं

पढमो उद्देसओ

धूत : छठा अध्ययन : प्रथम उद्देशक

सम्यग ज्ञान का आख्यान

१७७. ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ[1] से णरे, जस्स इमाओ जातीओ सव्वतो सुपडिलेहिताओ भवंति आघाति से णाणमणेलिसं।

से किट्टति तेसिं समुट्ठिताणं निक्खित्तदंडाणं समाहिताणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं।

१७७. इस मर्त्यलोक में मनुष्यों के बीच में ज्ञाता (अवबुद्ध) वह (अतीन्द्रिय ज्ञानी या श्रुतकेवली) पुरुष (ज्ञान का—धार्मिक ज्ञान का) आख्यान करता है।

जिसे ये जीव-जातियाँ (समग्र संसार) सब प्रकार से भली-भाँति ज्ञात होती है, वही विशिष्ट ज्ञान का सम्यग् आख्यान करता है।

वह (सम्बुद्ध पुरुष) इस लोक में उनके लिए मुक्ति-मार्ग का निरूपण (यथार्थ आख्यान) करता है, जो (धर्माचरण के लिए) सम्यक् उद्यत हैं, मन-वाणी और काया से जिन्होंने दण्डरूप हिंसा का त्याग कर स्वयं को संयमित किया है, जो समाहित (एकाग्रचित्त या तप-संयम में उद्यत) हैं तथा सम्यग् ज्ञानवान् हैं।

विवेचन—प्रथम उद्देशक में धूतवाद की परिभाषा समझाने से पूर्व सम्यग्ज्ञान एवं मोह से आवृत्त जीवों की विविध दुःखों और रोगों से आक्रान्त दशा का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् स्वयं स्फूर्त तत्त्व ज्ञान के सन्दर्भ में स्वजन-परित्याग रूप धूत का दिग्दर्शन कराया गया है। '....आघाइ से नरे' इस पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने जैन धर्म के एक महान् सिद्धान्त की ओर संकेत किया है कि जब भी धर्म का, ज्ञान का, या मोक्ष-मार्ग विषयक तत्त्व-ज्ञान का प्ररूपण किया जाता है, वह ज्ञानी पुरुष के द्वारा ही किया जाता है, वह अपौरुषेय नहीं होता, न ही बौद्धों की तरह दीवार आदि से धर्म देशना प्रकट होती है, और न वैशेषिकों की तरह उलूकभाव से पदार्थों का आविर्भाव होता है। चार घातिकर्मों के क्षय हो जाने पर केवलज्ञान से सम्पन्न होकर मनुष्य देह से युक्त (भवोपग्राही कर्मों के रहते मनुष्यभाव में स्थित) तथा स्वयं कृतार्थ होने पर भी प्राणियों के हित के लिए धर्मसभा/समवसरण में वह नरपुङ्गव धर्म या ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

अतीन्द्रिय ज्ञानी या श्रुत केवली भी धर्म या असाधारण ज्ञान का व्याख्यान कर सकते हैं, जिनके विशिष्ट ज्ञान के प्रकाश में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की प्राणिजातियाँ सूक्ष्म-

---

१. पाठान्तर हैं—अग्घादि, अक्खादि, अग्घाति, अग्घाइ।

बादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि रूपों में सभी प्रकार के संशय-विपर्यय-अनध्यवसायादि दोषों से रहित होकर स्पष्ट रूप से जानी-समझी होती हैं।[1]

आघाति से णाणमणेलिसं—वह (पूर्वोक्त विशिष्ट ज्ञानी पुरुष) अनीदृश—अनुपम या विशिष्ट ज्ञान का कथन करते हैं। वृत्तिकार के अनुसार वह अनन्य-सदृश ज्ञान आत्मा का ही ज्ञान होता है, जिसके प्रकाश में (श्रोता को) जीव-अजीव आदि नौ तत्वों का सम्यक् बोध हो जाता है।

अनुपम ज्ञान का आख्यान किन-किन को ?—इस सन्दर्भ में ज्ञान-श्रवण के पिपासु श्रोता की योग्यता के लिए चार गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक है—वह (१) समुत्थित, (२) निक्षिप्त-दण्ड—हिंसापरित्यागी, (३) इन्द्रिय और मन की समाधि से सम्पन्न और (४) प्रज्ञावान हो।[2]

समुट्ठियाणं—धर्माचरण के लिए जो सम्यक् प्रकार से उद्यत हो वह समुत्थित कहलाता है। यहाँ वृत्तिकार ने उत्थित के दो प्रकार बताये हैं[3]—द्रव्य से और भाव से। द्रव्यतः शरीर से उत्थित (धर्म-श्रवण के लिए श्रोता का शरीर से भी जागृत होना आवश्यक है), भावतः ज्ञानादि से उत्थित। भाव से उत्थित व्यक्तियों को ही ज्ञानी धर्म या ज्ञान का उपदेश करते हैं। देवता और तिर्यंचों, जो उत्थित होना चाहते हैं, उन्हें तथा कुतूहल आदि से भी जो सुनते हैं, उन्हें भी धर्मोपदेश के द्वारा वे ज्ञान देते हैं।[4]

किन्तु आगे चलकर वृत्तिकार निक्षिप्तदण्ड आदि सभी गुणों को भाव समुत्थित का विशेषण बताते हैं, जबकि उत्थित का ऊपर बताया गया स्तर तो प्राथमिक श्रेणी का है, इस-लिए प्रतीत होता है कि भाव-समुत्थित आत्मा, सच्चे माने में आगे के तीन विशेषणों से युक्त हो यह विवक्षित है और वह व्यक्ति साधु-कोटि का ही हो सकता है।

मोहाच्छन्न जीव की करुण-दशा

१७८. एवं पेगे महावीरा विप्परक्कमंति।
पासह एगेऽवसीयमाणे[5] अणत्तपण्णे।
से बेमि—से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छण्णपलासे, उम्मुग्गं[6] से णो लभति। भंजगा इव संनिवेसं नो चयंति
एवं पेगे अणेगरूवेहिं[7] कुलेहिं जाता
रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति, णिदाणतो ते ण लभंति मोक्खं।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २११।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २११।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक, २११।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २११।
५. 'एगेऽवसीयमाणे' के बदले पाठान्तर है—'एगे विसीदमाणे, चूर्णिकार अर्थ करते हैं—विविहं सीयंति···· ते विसीयंति —विविध प्रकार से दुःखी होते हैं।
६. 'उम्मुग्गं' के बदले उम्मग्गं पाठ भी है।
७. 'अणेगगोतेसु कुलेसु' पाठान्तर है। 'एगे ण सव्वे, अणेगगोतेसु मरुगादिसु ४ अहवा उच्चणीएसु —यह अर्थ चूर्णिकार ने किया है। अर्थात्—सभी नहीं, कुछेक, मरुक आदि अनेक गोत्रों में, कुलों में···· अथवा उच्चनीच कुलों में—उत्पन्न।

१७८. कुछ (विरले लघुकर्मी) महान् वीर पुरुष इस प्रकार के ज्ञान के आख्यान (उपदेश) को सुनकर (संयम में) पराक्रम भी करते हैं।

(किन्तु) उन्हें देखो, जो आत्मप्रज्ञा से शून्य हैं, इसलिए (संयम में) विषाद पाते हैं, (उनकी करुणदशा को इस प्रकार समझो)।

मैं कहता हूँ—जैसे एक कछुआ है, उसका चित्त (एक) महाह्रद (—सरोवर) में लगा हुआ है। वह सरोवर शैवाल और कमल के पत्तों से ढका हुआ है। वह कछुआ उन्मुक्त आकाश को देखने के लिए (कहीं) छिद्र को भी नहीं पा रहा है।

जैसे वृक्ष (विविध शीत-ताप-तूफान तथा प्रहारों को सहते हुए भी) अपने स्थान को नहीं छोड़ते, वैसे ही कुछ लोग हैं (जो अनेक सांसारिक कष्ट, यातना, दुःख आदि बार-बार पाते हुए भी गृहवास को नहीं छोड़ते)।

इसी प्रकार कई (गुरुकर्मी) लोग अनेक प्रकार (दरिद्र, सम्पन्न, मध्यवित्त आदि) कुलों में जन्म लेते हैं, (धर्माचरण के योग्य भी होते हैं), किन्तु रूपादि विषयों में आसक्त होकर (अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दुःखों से, उपद्रवों से और भयंकर रोगों से आक्रान्त होने पर) करुण विलाप करते हैं, (लेकिन इस पर भी वे दुःखों के आवास-रूप गृहवास को नहीं छोड़ते) ऐसे व्यक्ति दुःखों के हेतुभूत कर्मों से मुक्त नहीं हो पाते।

विवेचन—आत्मज्ञान से शून्य पूर्वग्रह तथ पूर्वाध्यास से ग्रस्त व्यक्तियों की करुणदशा का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने दो रूपक प्रस्तुत किये हैं—

(१) **शैवाल**—एक बड़ा विशाल सरोवर था। वह सघन शैवाल और कमल-पत्रों (जल-वनस्पतियों) से आच्छादित रहता था। उसमें अनेक प्रकार के छोटे-बड़े जलचर जीव निवास करते थे। एक दिन संयोगवश उस सघन शैवाल में एक छोटा-सा छिद्र हो गया। एक कछुआ अपने पारिवारिक जनों से बिछुड़ा भटकता हुआ उसी छिद्र (विवर) के पास आ पहुँचा। उसने छिद्र से बाहर गर्दन निकाली, आकाश की ओर देखा तो चकित रह गया। नील गगन में नक्षत्र और ताराओं को चमकते देखकर वह एक विचित्र आनन्द में मग्न हो उठा। उसने सोचा—"ऐसा अनुपम दृश्य तो मैं अपने पारिवारिक जनों को भी दिखाऊँ।" वह उन्हें बुलाने के लिए चल पड़ा। गहरे जल में पहुँचकर उसने परिवारी जनों को उस अनुपम दृश्य की बात सुनाई तो पहले तो किसी ने विश्वास नहीं किया, फिर उसके आग्रहवश सब उस विवर को खोजते हुए चल पड़े। किन्तु इतने विशाल सरोवर में उस लघु छिद्र का कोई पता नहीं चला, वह विवर उसे पुनः प्राप्त नहीं हुआ।

रूपक का भाव इस प्रकार है—संसार एक महाह्रद है। प्राणी एक कछुआ है। कर्मरूप अज्ञान-शैवाल से यह आवृत्त है। किसी शुभ संयोगवश सम्यक्त्व रूपी छिद्र (विवर) प्राप्त हो गया। संयम-साधना के आकाश में चमकते शान्ति आदि नक्षत्रों को देखकर उसे आनन्द हुआ। पर, परिवार के मोहवश वह उन्हें भी यह बताने के लिए वापस घर जाता है, गृहवासी बनता

हैं, बस, वहाँ आसक्त होकर भटक जाता है। हाथ से निकला यह अवसर (विवर) पुनः प्राप्त नहीं होता और मनुष्य खेदखिन्न हो जाता है। संयम आकाश के दर्शन पुनः दुर्लभ हो जाते हैं।

(२) वृक्ष—सर्दी, गर्मी, आंधी, वर्षा आदि प्राकृतिक आपत्तियों तथा फल-फूल तोड़ने के इच्छुक लोगों द्वारा पीड़ा, यातना, प्रहार आदि कष्टों को सहते हुए वृक्ष जैसे अपने स्थान पर स्थित रहता है, वह उस स्थान को छोड़ नहीं पाता, वैसे ही गृहवास में स्थित मनुष्य अनेक प्रकार के दुःखों, पीड़ाओं, १६ महारोगों से आक्रान्त होने पर भी वे मोहमूढ़ बने हुए दुःखालय रूप गृहवास का त्याग नहीं कर पाते।

प्रथम उदाहरण एक बार सत्य का दर्शन कर पुनः मोहमूढ़ अवसर-भ्रष्ट आत्मा का है, जो पूर्वाध्यास या पूर्व-संस्कारों के कारण संयम-पथ का दर्शन करके भी पुनः उससे विचलित हो जाती है।

दूसरा उदाहरण अब तक सत्य-दर्शन से दूर अज्ञानग्रस्त, गृहवास में आसक्त आत्मा का है।

दोनों ही प्रकार के मोहमूढ़ पुरुष केवलीप्ररूपित धर्म का, आत्म-कल्याण का अवसर पाने से वंचित रह जाते हैं और वे संसार के दुःखों से त्रस्त होते हैं।

जैसे वृक्ष दुःख पाकर भी अपना स्थान नहीं छोड़ पाता, वैसे ही पूर्व-संस्कार, पूर्वग्रह-मिथ्या-दृष्टि, कुल का अभिमान, साम्प्रदायिक अभिनिवेश आदि की पकड़ के कारण वह संसार में अनेक प्रकार के कष्ट पाकर भी उसे छोड़ नहीं सकता।

आत्म-कृत दुःख

१७९. अह पास तेहिं[1] कुलेहिं आयत्ताए जाया—
गंडी अदुवा कोढी रायंसी अवमारियं।
काणियं झिमियं[2] चेव कुणितं खुज्जितं तहा॥ १३॥
उदरिं च पास मुइं च सूणियं[3] च गिलासिणिं[4]।
वेवइं पीढसप्पिं च सिलिवयं[5] मधुमेहणिं॥ १४॥

---

१. इसके बदले चूर्णि में पाठ है—'तेहिं तेहि कुलेहिं जाता'—उन उन कुलों में पैदा हुए।

२. इसके बदले 'सिमियं' पाठ है। चूर्णि में अर्थ किया है—सिमिता अलसयवाही—सिमिता=आलस्य-वाही व्याधि।

३. 'सूणियं' के बदले किसी-किसी प्रति में सूणीयं, पाठ मिलता है। चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—'सूणीया सूणसरीरा'—शरीर का शून्य हो जाना, शून्य रोग है।

४. गिलासिणि का अर्थ वृत्तिकार 'भस्मक व्याधि' करते हैं।

५. 'सिलिवयं' के बदले चूर्णि में 'सिलवती' पाठ है। अर्थ किया गया है—"सिलवती पादा सिलीभवंति" श्लीपद—हाथीपगा रोग में पैर सूज कर हाथी की तरह हो जाते हैं।

सोलस एते रोगा अक्खाया अणुपुव्वसो ।
अह णं फुसंति आतंका फासा[1] य असमजसा ॥ १५ ॥

१८०. मरणं[2] तेसिं सपेहाए उववायं चयणं च णच्चा परियागं च सपेहाए तं सुणेह जहा तहा ।

संति पाणा अंधा तमंसि[3] वियाहिता । तामेव[4] सइं असइं अतियच्च उच्चावचे[5] फासे पडिसंवेदेति ।

बुद्धेहिं एयं पवेदितं ।

संति पाणा वासगा रसगा उदए उदयचरा आगासगामिणो ।

पाणा पाणे किलेसंति । पास लोए महब्भयं ।

बहुदुक्खा हु जंतवो ।

सत्ता कामेहिं माणवा । अबलेण वहं गच्छंति सरीरेण पभंगुरेण ।

अट्टे से बहुदुक्खे इति बाले पकुव्वति[6] ।
एते रोगे बहू णच्चा आतुरा परितावए ।

णालं पास । अलं तवेतेहिं । एतं पास मुणी ! महब्भयं । णातिवादेज्ज कंचणं ।

१७६. अच्छा तू देख वे (मोह-मूढ़ मनुष्य) उन (विविध) कुलों में आत्मत्व (अपने-अपने कृत कर्मों के फलों को भोगने) के लिए निम्नोक्त रोगों के शिकार हो जाते हैं—(१) गण्डमाला, (२) कोढ़, (३) राजयक्ष्मा (तपेदिक), (४) अपस्मार (मृगी या मूर्च्छा), (५) काणत्व (कानापन), (६) जड़ता (अंगोपांगों में शून्यता), (७) कुणित्व (टूँटापन, एक हाथ या पैर छोटा और एक बड़ा), (८) कुबड़ापन, (९) उदररोग (जलोदर, अफारा, उदरशूल आदि), (१०) मूकरोग (गूंगापन), (११) शोथरोग-सूजन,

---

१. इसके अतिरिक्त चूर्णिकार ने तीन पाठ माने हैं—(१) 'फासा……असमंतिया' (२) फासा…… असममिता, (३) फासा य असमंजसा । क्रमशः अर्थ किये हैं—(१) **असमंतिया**=नाम अप्पत्तपुव्वा, (२) **असमिता**=असमिता णाम विसमा तिव्वमंदमज्झा, (३) अहवा फासा य **असमंजसा** उल्लत्थ-पल्लत्था ।" अर्थात् असमंत्रिता—अप्राप्तपूर्व स्पर्श, जो स्पर्श अप्रत्याशित रूप में प्राप्त हुए हों, अपूर्व हों । असमिता का अर्थ है—विषम—तीव्र-मन्द-मध्यम स्पर्श अथवा जो स्पर्श उलट-पलट हों उन्हें असमंजस स्पर्श कहते हैं ।

२. इसके बदले चूर्णि में पाठ है—'**मरणं (च) तत्थ सपेहाए** ।' अर्थ किया गया है—**मरणं तत्थ समिक्खिज्ज, चसद्दा जम्मणं च**—साथ ही उनमें मरण की भी सम्यक् समीक्षा करके, च शब्द से 'जन्म' का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ।

३. इसके बदले चूर्णि में '**तमं पविट्ठा**' पाठ है । जिसका अर्थ किया गया है—अन्धकार में प्रविष्ट ।

४. इसके बदले किसी-किसी प्रति में '**तामेव सयं असइं अतिगच्च०**' सयं का अर्थ स्वयं है, बाकी के अर्थ समान हैं ।

५. चूर्णि में पाठान्तर मिलता है—'**उच्चावते फासे……पडिवेदेति**' । अर्थ वही है ।

६. '**पकुव्वति**' के बदले '**पगब्भति**' पाठ चूर्णि में है । अर्थ होता है—प्रगल्भ (धृष्टता) करता है ।

(१२) भस्मकरोग, (१३) कम्पनवात, (१४) पीठसर्पी-पंगुता, (१५) श्लीपदरोग, (हाथीपगा) और १६ मधुमेह; ये सोलह रोग क्रमशः कहे गये हैं।

इसके अनन्तर (शूल आदि मरणान्तक) आतंक (दु:साध्य रोग) और अप्रत्याशित (दु:खों के) स्पर्श प्राप्त होते हैं।

१८०. उन (रोगों-आतंकों और अनिष्ट दु:खों से पीड़ित) मनुष्यों की मृत्यु का पर्यालोचन कर, उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) को जानकर तथा कर्मों के विपाक (फल) का भली-भाँति विचार करके उसके यथातथ्य (यथार्थस्वरूप) को सुनो।

(इस संसार में) ऐसे भी प्राणी बताए गये हैं, जो अन्धे होते हैं, और अन्धकार में ही रहते हैं। वे प्राणी उसी (नाना दु:खपूर्ण अवस्था) को एक बार या अनेक बार भोगकर तीव्र और मन्द (ऊँचे-नीचे) स्पर्शों का प्रतिसंवेदन करते हैं।

बुद्धों (तीर्थंकरों) ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

(और भी अनेक प्रकार के) प्राणी होते हैं, जैसे—वर्षज (वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाले मेंढ़क आदि) अथवा वासक (भाषालब्धि-सम्पन्न द्वीन्द्रियादि प्राणी) रसज (रस) में उत्पन्न होने वाले (कृमि आदि जन्तु), अथवा रसग (रसज्ञ संज्ञी जीव), उदक रूप-एकेन्द्रिय अप्कायिक जीव, या जल में उत्पन्न होने वाले कृमि या जलचर जीव, आकाशगामी—नभचरपक्षी आदि।

वे प्राणी अन्य प्राणियों को कष्ट देते हैं, (प्रहार से लेकर प्राणहरण तक करते हैं)।

(अतः) तू देख, लोक में महान् भय (दु:खों का महाभय) है।

संसार में (कर्मों के कारण) जीव बहुत ही दु:खी हैं। (बहुत-से) मनुष्य काम-भोगों में आसक्त हैं। (जिजीविषा में आसक्त मानव) इस निर्बल (निःसार और स्वतः नष्ट होने वाले) शरीर को सुख देने के लिए अन्य प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं (अथवा कर्मोदयवश अनेक बार वध-विनाश को प्राप्त होते हैं)।

वेदना से पीड़ित वह मनुष्य बहुत दु:ख पाता है। इसलिए वह अज्ञानी (वेदना के उपशमन के लिए) प्राणियों को कष्ट देता है, (अथवा प्राणियों को क्लेश पहुंचाता हुआ वह धृष्ट (बेदर्द) हो जाता है)।

इन (पूर्वोक्त) अनेक रोगों को उत्पन्न हुए जानकर (उन रोगों की वेदना से) आतुर मनुष्य (चिकित्सा के लिए दूसरे प्राणियों को) परिताप देते हैं।

तू (विशुद्ध विवेक दृष्टि से) देख। ये (प्राणिघातक-चिकित्साविधियाँ कर्मोदय जनित रोगों का शमन करने में पर्याप्त) समर्थ नहीं हैं। (अतः जीवों को परिताप देने वाली) इन (पाप कर्मजनक चिकित्साविधियों) से तुमको दूर रहना चाहिए।

मुनिवर! तू देख! यह (हिंसामूलक चिकित्सा) महान् भयरूप है। (इसलिए चिकित्सा के निमित्त भी) किसी प्राणी का अतिपात/वध मत कर।

विवेचन—पिछले सूत्रों में बताया है—आसक्ति में फंसा हुआ मनुष्य धर्म का आचरण नहीं कर पाता तथा वह मोह एवं वासना में गृद्ध होकर कर्मों का संचय करता रहता है।

आगमों में कर्म के मुख्यतः तीन प्रकार बताये है। (१) क्रियमाण (वर्तमान में किया जा रहा कर्म), (२) संचित (जो कर्म-संचय कर लिया गया है, पर अभी उदय में नहीं आया—वह बद्ध), (३) प्रारब्ध (उदय में आने वाला कर्म या भावी)।

क्रियमाण—वर्तमान में जो कर्म किया जाता है, वही संचित होता है, तथा भविष्य में प्रारब्ध रूप में उदय में आता है। कृत-कर्म जब अशुभ रूप में उदय आता है तब प्राणी उनके विपाक से अत्यन्त दुःखी, पीड़ित व त्रस्त हो उठता है। प्रस्तुत सूत्र में यही बात बताई है कि ये अपने कृत-कर्म (आयत्ताए) अपने ही किये कर्म इस प्रकार विविध रोगातंकों के रूप में उदय आते हैं। तब अनेक रोगों से पीड़ित मानव उनके उपचार के लिए अनेक प्राणियों का वध करता-कराता है। उनके रक्त, मांस, कलेजे, हड्डी आदि का अपनी शारीरिक-चिकित्सा के लिए वह उपयोग करता है, परन्तु प्रायः देखा जाता है कि उन प्राणियों की हिंसा करके चिकित्सा कराने पर भी रोग नहीं जाता, क्योंकि रोग का मूल कारण विविध कर्म है, उनका क्षय या निर्जरा हुए बिना रोग मिटेगा कहाँ से ? परन्तु मोहावृत अज्ञानी इस बात को नहीं समझता। वह प्राणियों को पीड़ा पहुँचाकर और भी भयंकर कर्मबन्ध कर लेता है। इसीलिए मुनि को इस प्रकार की हिंसामूलक चिकित्सा के लिए सूत्र १८० में निषेध किया गया है।[1]

फासा य असमंजसा—जिन्हें धूतवाद का तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त नहीं होता, वे अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप पूर्वोक्त १६ तथा अन्य अनेक रोगों में से किसी भी रोग के शिकार होते हैं, साथ ही असमंजस स्पर्शों का भी उन्हें अनुभव होता है। यहाँ चूर्णिकार ने तीन पाठ माने हैं—(१) फासा य असमंजसा, (२) फासा य असमंतिया, (३) फासा य असमिता इन तीनों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। असमंजस का अर्थ है—उलट-पलट हो, जिनका परस्पर कोई मेल न बैठता हो, ऐसे दुःखस्पर्श। असमंतिया का अर्थ है—असमंजितस्पर्श यानी जो स्पर्श पहले कभी प्राप्त न हुए हों, ऐसे अप्रत्याशित प्राप्त स्पर्श, और असमित स्पर्श का अर्थ है—विषम स्पर्श; तीव्र, मन्द या मध्यम दुःखस्पर्श। आकस्मिक रूप से होने वाले दुःखों का स्पर्श ही अज्ञ-मानव को अधिक पीड़ा देता है।

संति पाणा अंधा—अंधे दो प्रकार से होते हैं—द्रव्यान्ध और भावान्ध। द्रव्यान्ध द्रव्य नेत्रों से हीन होता है और भावान्ध सद्-असद्-विवेकरूप भाव चक्षु से रहित होता है। इसी प्रकार अन्धकार भी दो प्रकार का होता है—द्रव्यान्धकार—जैसे नरक आदि स्थानों में घोर अंधेरा रहता है और भावान्धकार—कर्मविपाकजन्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि के रूप में रहता है।[2] यहाँ पर भावान्ध प्राणी विवक्षित है, जो सम्यग् ज्ञान रूप नेत्र से हीन है तथा मिथ्यत्व रूप अन्धकार में ही भटकता है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१२। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१२।

धूतवाद का व्याख्यान

१८१. आयाण भो ! सुस्सूस भो ! धूतवादं[1] पवेदयिस्सामि। इह खलु अत्तत्ताए[2] तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूता अभिसंजाता अभिणिव्वट्टा अभिसंवुड्ढा अभिसंबुद्धा अभिणिक्खंता अणुपुव्वेण महामुणी।

१८२. तं परक्कमंतं परिदेवमाणा मा णे चयाहि[4] इति ते वदंति।
छंदोवणीता अज्झोववण्णा अक्कंदकारी जणगा रुदंति।
अतारिसे मुणी ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा।
सरणं तत्थ णो समेति। किह णाम से तत्थ रमति।
एतं णाणं सया समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१८१. हे मुने ! समझो, सुनने की इच्छा (रुचि) करो, मैं (अब) धूतवाद का निरूपण करूँगा (तुम) इस संसार में आत्मत्व (स्वकृत-कर्म के उदय) से प्रेरित होकर उन-उन कुलों में शुक्र-शोणित के अभिषेक—अभिसिंचन से माता के गर्भ में कललरूप हुए, फिर अर्बुद (मांस) और पेशी रूप बने, तदनन्तर अंगोपांग—स्नायु, नस, रोम आदि के क्रम से अभिनिष्पन्न (विकसित) हुए, फिर प्रसव होकर (जन्म लेकर) संवर्द्धित हुए, तत्पश्चात् अभिसम्बुद्ध (सम्बोधि को प्राप्त) हुए, फिर धर्म-श्रवण करके विरक्त होकर अभिनिष्क्रमण किया (प्रव्रजित हुए)। इस प्रकार क्रमशः महामुनि बनते हैं।

१८२. (गृहवास से पराङ्मुख एवं सम्बुद्ध होकर) मोक्षमार्ग—संयम में पराक्रम करते हुए उस मुनि के माता-पिता आदि करुण-विलाप करते हुए यों कहते हैं—"तुम हमें मत छोड़ो, हम तुम्हारे अभिप्राय के अनुसार व्यवहार करेंगे, तुम पर हमें ममत्व (—स्नेह/विश्वास) है। इस प्रकार आक्रन्द करते (चिल्लाते) हुए वे रुदन करते हैं।"

(वे रुदन करते हुए स्वजन कहते हैं—) "जिसने माता-पिता को छोड़ दिया

---

१. 'धूतवादं' के बदले चूर्णि में पाठ मिलता है धुयं वायं पवेदइस्सामि' धुयं भणितं धुयस्स वादो। धुजति जेण कम्मं तवसा। —जिस तपस्या से कर्मों का धूनन-कम्पित किया जाता है, वह है—धूत। धूत का वाद दर्शन = धूतवाद है।
नागार्जुनीय पाठान्तर यह है—धुतोवायं पवेदइस्सामि—जेण···कम्मं धुणति तं उवायं।'—जिससे कर्म धूने जाए—क्षय किये जाएँ, उसे धूत कहते हैं, उसके उपाय को धूतोपाय कहते हैं।
२. इसकी व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में देखिये—अत्तभावो अत्तता, ताए······तेसु तेसुत्ति उत्तम-अहम-मज्झिमेसु'—आत्मभाव-आत्मता है, उसके द्वारा······उन-उन उत्तम-अधम-मध्यम कुलों में·······
३. 'अभिसंवुड्ढा' के बदले चूर्णि में 'अभिसंबुद्धा' पाठ है।
४. 'चयाहि' के बदले 'जहाहि' क्रियापद मिलता है।

है, ऐसा व्यक्ति न मुनि हो सकता है, और न ही संसार-सागर को पा[र कर]
सकता है।"

वह मुनि (पारिवारिक जनों का विलाप—रुदन सुनकर) उनकी श[रण में]
नहीं जाता, (वह उनकी बात स्वीकार नहीं करता)। वह तत्त्वज्ञ पुरुष भला कै[से]
(गृहवास) में रमण कर सकता है?

मुनि इस (पूर्वोक्त) ज्ञान को सदा (अपनी आत्मा में) अच्छी तरह ब[साले]
(स्थापित करले)।

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—धूतवाद के श्रवण और पर्यालोचन के लिए प्रेरणा—धूतवाद क्यों मा[नना]
सुनना चाहिए? इसकी भूमिका इन सूत्रों में शास्त्रकार ने बांधी है। वास्तव में
जीवों को नाना दुःख, कष्ट और रोग आते हैं, वह उनका प्रतीकार दूसरों को
करता है, किन्तु जब तक उनके मूल का छेदन नहीं करता, तब तक ये दुःख, रोग
नहीं मिटते। मूल है—कर्म। कर्मों का उच्छेद ही धूत है। कर्मों के उच्छेद का सर्वो[त्तम उपाय]
है—शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों पर से आसक्ति, मोह
त्याग करना। त्याग और तप के बिना कर्म निर्मूल नहीं हो पाते। इसके लि[ए]
गृहासक्ति और स्वजनासक्ति का त्याग करना अनिवार्य है और वह स्व-चिंतन से
होगी। तभी वह कर्मों का धूनन (क्षय) करके इन (पूर्वोक्त) दुःखों से सर्वथा मुक्त
है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने बारम्बार साधक को स्वयं देखने एवं सोच[ने]
की प्रेरणा दी है—वह स्वयं विचार कर मन को आसक्ति के बंधन से मुक्त करे।

अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया……

मरणं तेसिं सपेहाए, उववायं चवणं च णच्चा, परियागं च सपेहाए……

तं सुणेह जहा तहा……

पास लोए महब्भयं……

एए रोगा बहू णच्चा……

एयं पास मुणी! महब्भयं……

आयाण भो सुस्सूस!……

ये सभी सूत्र स्व-चिंतन को प्रेरित करते हैं। संक्षेप में, यही धूतवाद की [भूमिका है]
जिसके प्रतिपक्षी अधूतवाद को और तदनुसार चलने के दुष्परिणामों को जान-सम[झकर]
भलीभाँति देख-सुनकर साधक उससे निवृत्त हो जाए। अधूतवाद के जाल से मु[क्त होने के]
लिए अनगार मुनि बनकर धूतवाद के अनुसार मोहमुक्त संयमी जीवन या[पन करना]
अनिवार्य है।[1]

धूतवाद या धूतोपाय?—वृत्तिकार ने आठ प्रकार के कर्मों को धुनने-झाड़ने क[ो]

---

1. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१२-२१३।

है, अथवा ज्ञाति (परिजनों) के परित्याग को भी धूत बताया है। चूर्णि के अनुसार धूत उसे कहते हैं, जिसने कर्मों को तपस्या से प्रकम्पित/नष्ट कर दिया। धूत का वाद—सिद्धान्त या दर्शन धूतवाद कहलाता है।[1]

नागार्जुनीय सम्मत पाठ है—'धूतोवायं पवेएंति' अर्थात्—धूतोपाय का प्रतिपादन करते हैं। धूतोपाय का मतलब है—अष्टविध कर्मों को धूनने—क्षय करने का उपाय।[2]

धूत बनने का दुर्गम एवं दुष्कर क्रम—शास्त्रकार ने 'इहं खलु अत्तताए···' 'अणुपुव्वेण महामुणी' तक की पंक्ति में धूत (कर्मक्षय कर्ता) बनने का क्रम इस प्रकार बताया है—इसके ६ सोपान हैं—(१) अभिसम्भूत, (२) अभिसंजात, (३) अभिनिर्वृत्त, (४) अभिसंवृद्ध, (५) अभिसम्बुद्ध और (६) अभिनिष्क्रान्त। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

अभिसम्भूत—सर्वप्रथम अपने किये हुए कर्मों के परिणाम (फल) भोगने के लिए स्वकर्मानुसार उस-उस मानव कुल में सात दिन तक कलल (पिता के शुक्र और माता के रज) के अभिषेक के रूप में बने रहना; इसे अभिसम्भूत कहते हैं।

अभिसंजात—फिर ७ दिन तक अर्बुद के रूप में बनना, तब अर्बुद से पेशी बनना और पेशी से घन तक बनना अभिसंजात कहलाता है।[3]

अभिनिर्वृत्त—उसके पश्चात् क्रमशः अंग, प्रत्यंग, स्नायु, सिरा, रोम आदि का निष्पन्न होना अभिनिर्वृत्त कहलाता है।

अभिसंवृद्ध—उसके पश्चात् माता-पिता के गर्भ से उसका प्रसव (जन्म) होने से लेकर समझदार होने तक संवर्धन होना अभिसंवृद्ध कहलाता है।

अभिसम्बुद्ध—इसके अनन्तर धर्मश्रवण करने योग्य अवस्था पाकर पूर्व पुण्य के फलस्वरूप धर्मकथा सुनकर पुण्य-पापादि नौ तत्त्वों को भली-भाँति जानना, गुरु आदि के निमित्त से सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके, संसार के स्वरूप का बोध प्राप्त करना अभिसम्बुद्ध बनना कहलाता है।

अभिनिष्क्रान्त—इसके पश्चात् विरक्त होकर घर-परिवार भूमि-सम्पत्ति आदि सबका परित्याग करके मुनि धर्म पालन के लिए अभिनिष्क्रमण (दीक्षा-ग्रहण) करना अभिनिष्क्रान्त कहलाता है। इतना ही नहीं, दीक्षा लेने के बाद गुरु के सान्निध्य में शास्त्रों का गहन अध्ययन, रत्नत्रय की साधना आदि के द्वारा चारित्र के परिणामों में वृद्धि करना और क्रमशः गीतार्थ,

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र २१६, 'धूतमष्टप्रकारकर्मधूननं, ज्ञातिपरित्यागो वा तस्य वादो धूतवादः।' चूर्णि में—'धुजन्ति जेण कम्मं तवसा तं धूयं भणितं, धुयस्स वादो।'

२. अष्टप्रकारकर्म—'धूननोपायं वा प्रवेदयन्ति तीर्थंकरादयः।' —आचा० शीला० टीका २१६।

३. सप्ताहं कललं विद्यात् ततः सप्ताहमर्बुदम्।
अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशीतोऽपि घनं भवेत्॥ —(उद्धृत) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१६।

स्थविर, क्षपक, परिहार-विशुद्धि आदि उत्तम अवस्थाओं को प्राप्त करना भी अभिनिष्क्रान्त कोटि में आता है। कितना दुर्लभ, दुर्गम और दुष्कर क्रम है, मुनि धर्म में प्रव्रजित होने तक का। यही धूत बनने योग्य अवस्था है।[1]

अभिसम्भूत से अभिनिष्क्रान्त तक की धूत बनने की प्रक्रिया को देखते हुए एक तथ्य यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वजन्म के संस्कार, इस जन्म में माता-पिता आदि के रक्त सम्बन्ध जनित संस्कार तथा सामाजिक वातावरण से प्राप्त संस्कार धूत बनने के लिए आवश्यक व उपयोगी होते हैं।

धूतवादी महामुनि की अग्नि-परीक्षा—धूत बनने के दुष्कर क्रम को बताकर उस धूतवादी महामुनि की आन्तरिक अनासक्ति की परीक्षा कब होती है? यह बताते हुए कहा है कि 'स्वजन-परित्यागरूप धूत की प्रक्रिया के बाद उसके मोहाविष्ट स्वजनों की ओर से करुणा-जनक विलाप आदि द्वारा पुनः गृहवास में खींचने के लिए किस-किस प्रकार के उपाय अजमाये जाते हैं? इसे शास्त्रकार स्पष्ट रूप में सू० १८२ में चित्रित करते हैं। साथ ही वे स्वजन परित्यागरूप धूत में दृढ़ बने रहने के लिए धूतवादी महामुनि को प्रेरित करते हैं—"**सरणं तत्थ नो समेति, किह णाम से तत्थ रमति?**"

वृत्तिकार इसका भावार्थ लिखते हैं—जिस (महामुनि) ने संसार-स्वभाव को भलीभाँति जान लिया है, वह उस अवसर पर अनुरक्त बन्धु-बान्धवों की शरण-ग्रहण स्वीकार नहीं करता। जिसने मोह-कपाट तोड़ दिए हैं, भला वह समस्त बुराइयों और दुःखों के स्थान एवं मोक्ष द्वार में अवरोधक गृहवास में कैसे आसक्ति कर सकता है?[2]

'**अतारिसे मुणी ओहं तरए**....' शास्त्रकार स्वजन-परित्याग रूप धूतवाद में अविचल रहने वाले महामुनि का परीक्षाफल घोषित करते हुए कहते हैं—वह अनन्य सदृश—(अद्वितीय) मुनि संसार-सागर से उत्तीर्ण हो जाता है। यहाँ '**अतारिसे**' शब्द के दो अर्थ चूर्णिकार ने किए हैं—(१) जो इस धर्म-संकट को पार कर जाता है, वह संसार-सागर को पार कर जाता है; (२) उस मुनि के जैसा कोई नहीं है, जो संसार के प्रवाह को पार कर जाता है।[3]

'.......**समणुवासेज्जासि**'—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों इस पंक्ति की पृथक्-पृथक् व्याख्या करते हैं। वृत्तिकार के अनुसार अर्थ है—इस (पूर्वोक्त धूतवाद के) ज्ञान को सदा आत्मा में सम्यक् प्रकार से अनुवासित—स्थापित कर ले—जमा ले। चूर्णिकार के अनुसार

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्र २१७।

२. आचा० शीला० टीका पत्र २१७।

३. (क) **संसार सागरं तारी मुणी भवति**....। **अथवा अतारिसो—ण तारिसो मुणी णत्थि जेण**...।
—आचारांग चूर्णि पृष्ठ ६० सूत्र १८२

(ख) **न तादृशो मुनिर्भवति, न चौघं—संसारं तरति**....। —आचा० शीला० टीका पत्र २१७

अर्थ यों हैं—इस (पूर्वोक्त) ज्ञान को सम्यक् प्रकार से अनुकूल रूप में आचार्य श्री के सान्निध्य में रहकर अपने भीतर में बसा ले, उतार ले।[1]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

सर्वसंग-परित्यागी धूत का स्वरूप

१८३. आतुरं लोगमायाए चइत्ता[2] पुव्वसंजोगं हेच्चा[3] उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइ[4] कुसीला वत्थं पडिग्गहं कंबलं पाय-पुंछणं विउसिज्ज[5] अणुपुव्वेण अणधियासेमाणा परीसहे दुरहियासए।

कामे ममायमाणस्स इदाणिं वा मुहुत्ते वा अपरिमाणाए भेदे।

एवं[6] से अंतराइएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं,[7]अवितिण्णा[8] चेते।

१८३. (काम-राग आदि से) आतुर लोक (—माता-पिता आदि सम्बन्धित समस्त प्राणि जगत्) को भलीभाँति जानकर, पूर्व संयोग को छोड़कर, उपशम को प्राप्त कर,

---

१. वृत्तिकार—'एतत्' (पूर्वोक्तं) 'ज्ञानं' सदा आत्मनि सम्यगनुवासयेः' व्यवस्थापयेः।'
—आचा० शीला० टीका पत्रांक २१७

चूर्णिकार—'एतं णाणं सम्मं····अणुकूलं आयरिय समीवे अणुवसाहि-अणुवसिज्जासि। वही, सू० १८२

२. पाठान्तर चूर्णि में इस प्रकार है—'जहित्ता पुव्वमायतणं' अर्थ है—पूर्व आयतन को छोड़कर।

३. इसका अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—'इह एच्चा हिच्चा' आदि अक्खरलोवा हिच्चा, इहेति अस्मि प्रवचने। 'हिच्चा' की इस प्रकार स्थिति थी—इह+एच्चा=हिच्चा। आदि के इकार का लोप हो गया। अर्थ—इस प्रवचन-संघ में (उपशम को) प्राप्त करके·······।

४. चूर्णि में पाठान्तर के साथ अर्थ यों दिया गया है—'तमच्चाई····अच्चाई णाम अच्चाएमाणा, जं भणितं असत्तमंता'—अत्यागी कहते हैं—त्याज्य (पापादि, व असंयम) को न त्यागने वाले, अथवा जो कहा है, उतना पालन करने में अशक्त।

५. 'विउसेज्जा, विओसेज्जा, वियोसेज्जा' आदि पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ एक-सा है। चूर्णि में अर्थ दिया है—विउसज्ज—विविहं उसज्जा विविध उत्सर्ग।

६. एवं से अंतराइएहिं' में 'एवं' शब्द अवधारण अर्थ में है। अवधारण से ही काम-भोग अन्तराययुक्त होते हैं।

७. 'आकेवलिएहिं' का चूर्णि में अर्थ है—"केवलं संपुण्णं, ण केवलिया असंपुण्णा।"—केवल यानी सम्पूर्ण अकेवल यानी असम्पूर्ण।

८. 'अवितिण्णा' का स्पष्टीकरण चूर्णि में यों किया गया है—"विविहं तिण्णा वितिण्णा, ण वितिण्णा' विणा वेरग्गेणं ण एते, कोति तिण्णपुव्वो तरति वा तरिस्सइ वा? जहा—अलं ममतेहि।"—जो विविध प्रकार से तीर्ण नहीं हैं, पार नहीं पाए जाते, वे अवितीर्ण है। वैराग्य के विना ये (पार) होते नहीं। अतः कौन ऐसा है, जो काम-सागर को पार कर चुका है? पार कर रहा है या पार करेगा? कोई नहीं। इसलिए कहा—ममता मत करो।

ब्रह्मचर्य (चारित्र या गुरुकुल) में वास करके वसु (संयमी साधु) अथवा अनवसु (सराग साधु या श्रावक) धर्म को यथार्थ रूप से जानकर भी कुछ कुशील (मलिन चारित्र वाले) व्यक्ति उस धर्म का पालन करने में समर्थ नहीं होते।

वे वस्त्र, पात्र, कम्बल एवं पाद-प्रोंछन को छोड़कर उत्तरोत्तर आने वाले दु:सह परिषहों को नहीं सह सकने के कारण (मुनि-धर्म का त्याग कर देते हैं)

विविध काम-भोगों को अपनाकर (उन पर) गाढ़ ममत्व रखने वाले व्यक्ति का तत्काल (प्रव्रज्या परित्याग के बाद ही) अन्तर्मुहूर्त्त में या अपरिमित (किसी भी) समय में शरीर छूट सकता है—(आत्मा और शरीर का भेद न चाहते हुए भी हो सकता है)।

इस प्रकार वे अनेक विघ्नों और द्वन्द्वों (विरोधों) या अपूर्णताओं से युक्त काम-भोगों से अतृप्त ही रहते हैं (अथवा उनका पार नहीं पा सकते, बीच में ही समाप्त हो जाते हैं)।

विवेचन—इस उद्देशक में मुख्यतया आत्मा से बाह्य (पर) भावों के संग के त्याग रूप धूत का सभी पहलुओं से प्रतिपादन किया गया है।

'आतुरं लोगमायाए'—इस पंक्ति में लोक और आतुर दो शब्द विचारणीय हैं। लोक शब्द के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—माता-पिता, स्त्री-पुरुष आदि पूर्व-संयोगी स्वजन लोक, और प्राणिलोक। इसी प्रकार आतुर शब्द के भी दो अर्थ यहाँ अंकित हैं—स्वजनलोक उस मुनि के वियोग के कारण या उसके बिना व्यवसाय आदि कार्य ठप्प हो जाने से स्नेह-राग से आतुर होता है, और प्राणिलोक इच्छाकाम और मदनकाम से आतुर होता है।[1]

'चइत्ता पुव्वसंजोगं'—किसी सजीव या निर्जीव वस्तु के साथ संयोग होने से धीरे-धीरे आसक्ति, स्नेह-राग, काम-राग या ममत्वभाव बढ़ता जाता है, इसलिए प्रव्रज्या-ग्रहण से पूर्व जिन-जिन के साथ ममत्वयुक्त संयोग सम्बन्ध था, उसे छोड़कर ही सच्चे अर्थ में अनगार बन सकता है। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र (१।१) में कहा गया है—

'संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो' (संयोग से विशेष प्रकार से मुक्त अनगार और गृहत्यागी भिक्षु के……)। चूर्णि में इसके स्थान पर **'जहित्ता पुव्वमायतणं'** पूर्व आयतन को छोड़कर, ऐसा पाठ है। आयतन का अर्थ शब्दकोष के अनुसार यहाँ 'कर्मबन्ध का कारण' या 'आश्रय' ये दो ही उचित प्रतीत होते हैं।[2]

'वसित्ता बंभचेरंसि' यहाँ प्रसंगवश ब्रह्मचर्य का अर्थ गुरुकुलवास या चारित्र ही उपयुक्त लगता है। गुरुकुल (गुरु के सान्निध्य) में निवास करके या चारित्र में रमण करके, ये दोनों अर्थ फलित होते हैं।[3]

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१७।
(ख) आचारांग चूर्णि आचा० मूल पृष्ठ ६१।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१७।
(ग) 'पाइयसद्दमहण्णवो' पृष्ठ ११४।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१७.
(ख) आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० २३५।

'वसु वा अणुवसु वा'—ये दोनों पारिभाषिक शब्द दो कोटि के साधकों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वृत्तिकार ने वसु और अनुवसु के दो-दो अर्थ किए। वैसे, वसु द्रव्य (धन) को कहते हैं। यहाँ साधक का धन है—वीतरागत्व, क्योंकि उसमें कषाय, राग-द्वेष मोहादि की कालिमा बिलकुल नहीं रहती। यहाँ वसु का अर्थ वीतराग (द्रव्यभूत), और अनुवसु का अर्थ है सराग। वह वसु (वीतराग) के अनुरूप दिखता है, उसका अनुसरण करता है, किन्तु सराग होता है इसलिए संयमी साधु अर्थ फलित होता है अथवा वसु का अर्थ महाव्रती साधु और अनुवसु का अर्थ—अणुव्रती श्रावक—ऐसा भी हो सकता है।[1]

'अहेगे तमचाइ कुसीला'—शास्त्रकार ने उन साधकों के प्रति खेद व्यक्त किया है, जो सभी पदार्थों का संयोग छोड़कर, उपशम प्राप्त करके, गुरुकुलवास करके अथवा आत्मा में विचरण करके धर्म को यथार्थ रूप से जानकर भी मोहोदयवश धर्म-पालन में अशक्त बन जाते हैं। धर्म-पालन में अशक्त होने के कारण ही वे कुशील (कुचारित्री) होते हैं। चूर्णिकार ने भी 'अच्चाई' शब्द मानकर उसका अर्थ 'अशक्तिमान' किया है। यद्यपि 'अच्चाई' का संस्कृत रूपान्तर 'अत्यागी' होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस साधक ने बाहर से पदार्थों को छोड़ दिया, कषायों का उपशम भी किया, ब्रह्मचर्य भी पालन किया, शास्त्र पढ़कर धर्मज्ञाता भी बन गया, परन्तु अन्दर से यह सब नहीं हुआ। अन्तर में पदार्थों को पाने की ललक है, निमित्त मिलते ही कषाय भड़क उठते हैं, ब्रह्मचर्य भी केवल शारीरिक है या गुरुकुलवास भी औपचारिक है, धर्म के अन्तरंग को स्पर्श नहीं किया, इसलिए बाहर से धूतवादी एवं त्यागी प्रतीत होने पर भी अन्तर से अधूतवादी एवं अत्यागी 'अचाइ' है।[2]

दशवैकालिक सूत्र में निर्दिष्ट अत्यागी और त्यागी का लक्षण इसी कथन का समर्थन करता है—'जो साधक वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रियाँ, शय्या, आसन आदि का उपभोग अपने अधीन न होने से नहीं कर पाता, (मन में उन पदार्थों को पाने की लालसा बनी हुई है) तो वह त्यागी नहीं कहलाता। इसके विपरीत जो साधक कमनीय-प्रिय भोग्य पदार्थ स्वाधीन एवं उपलब्ध होने या हो सकने पर भी उनकी ओर पीठ कर देता है, (मन में भी उन वस्तुओं की कामना नहीं करता), उन भोगों का हृदय से त्याग कर देता है, वही त्यागी कहलाता है।[3] निष्कर्ष यह है कि बाह्यरूप से धूतवाद को अपनाकर भी संग परित्याग रूप धूत को नहीं अपनाया, इसलिए वह संग-अत्यागी ही बना रहा।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१७।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१७,
(ख) आचारांग चूर्णि—आचा० मूल पृ० ६१।

३. देखें, दशवैकालिक सूत्र अ० २, गा० २-३—

वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥
जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥३॥

अत्यागी बनने के कारण और परिणाम—सूत्र १८३ के उत्तरार्ध में उस साधक के सच्चे अर्थ में त्यागी और धूतवादी न बनने के कारणों का सपरिणाम उल्लेख किया गया है—

'**वत्थं पडिग्गहं···अवितिण्णा चे ते**' वृत्तिकार इसका आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं-करोड़ों भवों में दुष्प्राप्य मनुष्य जन्म को पाकर, पूर्व में उपलब्ध, संसार-सागर को पार करने में समर्थ बोधि-नौका को अपना कर, मोक्ष-तरु के बीज रूप सर्व विरति-चारित्र को अंगीकार करके, काम की दुर्निवारता, मन की चंचलता, इन्द्रिय-विषयों की लोलुपता और अनेक जन्मों के कुसंस्कार-वश वे परिणाम और कार्याकार्य का विचार न करके, अदूरदर्शिता पूर्वक महादुःख रूप सागर को अपनाकर एवं वंश परम्परागत साध्वाचार से पतित होकर कई व्यक्ति मुनि-धर्म (धूतवाद) को छोड़ बैठते हैं। उनमे से कई तो वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरणों को निरपेक्ष होकर छोड़ देते हैं और देशविरति अंगीकार कर लेते हैं, कुछ केवल सम्यक्त्व का आलम्बन लेते हैं, कई इससे भी भ्रष्ट हो जाते हैं।[1]

मुनि-धर्म को छोड़कर ऐसे अत्यागी बनने के तीन मुख्य कारण यहाँ शास्त्रकार ने बताये हैं—

(१) **असहिष्णुता**—धीरे-धरे क्रमशः दुःसह परीषहों को सहन न कर सकना।

(२) **काम-आसक्ति**—विविध काम-भोगों का उत्कट लालसावश स्वीकार।

(३) **अतृप्ति**—अनेक विघ्नों, विरोधों (द्वन्द्वों) एवं अपूर्णताओं से भरे कामों से अतृप्ति। इसके साथ ही इनका परिणाम भी यहाँ बता दिया गया है कि वह दीक्षात्यागी दुर्गति को न्यौता दे देता है, प्रव्रज्या त्याग के बाद तत्काल, मुहूर्तभर में या लम्बी अवधि में भी शरीर छूट सकता है, और भावों में अतृप्ति बनी रहती है।

निष्कर्ष यह है कि भोग्य पदार्थों और भोगों के संग का परित्याग न कर सकना ही सर्वविरति चारित्र से भ्रष्ट होने का मुख्य कारण है।[2]

विषय-विरतिरूप उत्तरवाद

१८४. अहेगे धम्ममादाय आदाणप्पभिति सुप्पणिहिए चरे[3] अप्पलीयमाणे[4] दढे सव्वं[5] गेहिं परिण्णाय।

एस पणते महामुणी अतियच्च सव्वओ संगं 'ण महं अत्थि' त्ति, इति एगो अहमंसि,[6]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१८। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१८।

३. 'चर' क्रिया, यहाँ उपदेश अर्थ में है, 'चर इति उवदेसो', **धम्मं चर** 'धर्म का आचरण कर'—चूर्णि।

४. 'अप्पलीयमाणे' का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—'**अप परिवर्जने लीणो विसय-कसायादि**'—विषय-कषायादि से दूर रहते हुए।

५. '**सव्वं गंथं परिण्णाय**' का चूर्णि में अर्थ—'**सव्वं निरवसेसं गंथो गेही**' समस्त ममत्व की गांठ—गृद्धि को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग कर·······।

६. किसी प्रति में '**एगो महमंसि**' पाठ है, अर्थ है—तुम एक और महान् हो।

जयमाणे, एत्थ विरते अणगारे सव्वतो मुंडे रीयंते जे अचेले परिवुसिते संचिक्खति[1] ओमोयरियाए। से अकुट्ठे व हते व लूसिते वा पलियं पगंथं[2] अदुवा पगंथं अतहेहिं सद्दफासेहिं इति संखाए एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमणा[3]।

१८५. चेच्चा सव्वं विसोत्तियं फासे फासे समितदंसणे।
एते भो णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो।
आणाए मामगं धम्मं। एस उत्तरवादे इह माणवाणं वियाहिते।
एत्थोवरते तं झोसमाणे[4] आयाणिज्जं परिण्णाय परियाएण विगिं.... .

१८४. यहाँ, कई लोग (श्रुत-चारित्ररूप) धर्म (मुनि-धर्म) को ग्रहण करके निर्ममत्वभाव से धर्मोपकरणादि से युक्त होकर, अथवा धर्माचरण में इन्द्रिय और मन को समाहित करके विचरण करते हैं।

वह (माता-पिता आदि लोक में या काम-भोगों में) अलिप्त/अनासक्त और (तप, संयम आदि में) सुदृढ़ रहकर (धर्माचरण करते हैं)।

समग्र आसक्ति (गृद्धि) को (ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से) छोड़कर वह (धर्म के प्रति) प्रणत—समर्पित महामुनि होता है; (अथवा) वह महामुनि संयम में या कर्मों को धूनने में प्रवृत्त होता है।

(फिर वह महामुनि) सर्वथा संग (आसक्ति) का (त्याग) करके (यह भावना करे कि—) 'मेरा कोई नहीं है', इसलिए 'मैं अकेला हूँ।'

वह इस (तीर्थंकर के संघ) में स्थित, (सावद्य प्रवृत्तियों से) विरत तथा (दशविध समाचारी में) यतनाशील अनगार सब प्रकार से मुण्डित होकर (संयम पालनार्थ) पैदल विहार करता है, जो अल्पवस्त्र या निर्वस्त्र (जिनकल्पी) हैं, वह अनियत-

---

१. इसके बदले चूर्णि में 'संचिक्खमाणे ओमोदरियाए' पाठ मानकर अर्थ किया गया है—"सम्मं चिट्ठमाणे संचिक्खमाणे"—अवमौदर्य (तप) की सम्यक् चेष्टा (प्रयत्न) करता हुआ। अथवा उसमें सम्यक रूप से स्थित होकर.... ...।

२. इसके बदले पाठान्तर हैं—'अदुवा पकत्थं, अदुवा पकप्पं, अदुवा पगंथं, पलियं पगंथे'।—अर्थ क्रमशः यों हैं—"पलियं णाम कम्म....अदुवेति अहवा अन्नेहि चेव जगार-सगारेहिं भिसं कथेमाणो पगंथमाणो।" —पलित का अर्थ कर्म है, (यहाँ उस साधक के पूर्व जीवन के करतब, धंधे या किसी दुष्कृत्य के अर्थ में कर्म शब्द है) अथवा दूसरों द्वारा 'तू ऐसा है, तू वैसा है', इत्यादि रूप से बहुत भद्दी गालियों या अपशब्दों द्वारा निन्दित किया जाता हुआ.......। अथवा प्रकल्प=आचार-आचरण पर छींटाकशी करते हुए.......अथवा पूर्वकृत दुष्कर्म को बढ़ा-चढ़ा कर नुक्ताचीनी करते हुए.......।

३. इसके बदले 'अहिरीमाणा' पाठ है, अर्थ होता है—लज्जित न करने वाले। कहीं-कहीं 'हारीणा अहारीणा' पाठ भी मिलता है। अर्थ होता है—हारी=मन हरण करने वाले, अहारी=मन हरण न करने वाले।

४. इसके बदले चूर्णि में 'तज्झोसमाणे' पाठ मानकर अर्थ किया गया है—तं जहोदिट्ठं झोसेमाणे—उसे उद्देश्य या निर्दिष्ट के अनुसार सेवन-पालन करते हुए.......।

वासी रहता है या अन्त-प्रान्तभोजी होता है, वह भी ऊनोदरी तप का सम्यक् प्रकार से अनुशीलन करता है।

(कदाचित्) कोई विरोधी मनुष्य उसे (रोषवश) गाली देता है, (डंडे आदि से) मारता-पीटता है, उसके केश उखाड़ता या खींचता है (अथवा अंग-भंग करता है) पहले किये हुए किसी घृणित दुष्कर्म की याद दिलाकर कोई बक-झक करता है (या घृणित व असभ्य शब्द-प्रयोग करके उसकी निन्दा करता है) कोई व्यक्ति तथ्यहीन (मिथ्यारोपात्मक) शब्दों द्वारा (सम्बोधित करता है), हाथ-पैर आदि काटने का झूठा दोषारोपण करता है; ऐसी स्थिति में मुनि सम्यक् चिन्तन द्वारा समभाव से सहन करे। उन एकजातीय (अनुकूल) और भिन्नजातीय (प्रतिकूल) परीषहों को उत्पन्न हुआ जानकर समभाव से सहन करता हुआ संयम में विचरण करे। (साथ ही वह मुनि) लज्जाकारी (याचना, अचेल आदि) और अलज्जाकारी (शीत, उष्ण आदि) (दोनों प्रकार के परीषहों को सम्यक् प्रकार से सहन करता हुआ विचरण करे)।

१८५. सम्यग्दर्शन-सम्पन्न मुनि सब प्रकार की शंकाएँ छोड़कर दुःख-स्पर्शों को समभाव से सहे।

हे मानवो! धर्मक्षेत्र में उन्हें ही नग्न (भावनग्न, निर्ग्रन्थ या निष्किंचन) कहा गया है, जो (परिषह-सहिष्णु) मुनिधर्म में दीक्षित होकर पुनः गृहवास में नहीं आते।

आज्ञा में मेरा (तीर्थंकर का) धर्म है, यह उत्तर (उत्कृष्ट) वाद/सिद्धान्त इस मनुष्य लोक में मनुष्यों के लिए प्रतिपादित किया है।

विषय से उपरत साधक ही इस उत्तरवाद का आसेवन (आचरण) करता है।

वह कर्मों का परिज्ञान (विवेक) करके पर्याय (मुनि-जीवन/संयमीजीवन) से उसका क्षय करता है।

विवेचन—धूतवादी महामुनि—जो महामुनि विशुद्ध परिणामों से श्रुत-चारित्ररूप मुनि धर्म अंगीकार करके उसके आचरण में आजीवन उद्यत रहते हैं, उनके लक्षण संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) धर्मोपकरणों का यत्नापूर्वक निर्ममत्वभाव से उपयोग करने वाला।
(२) परीषह-सहिष्णुता का अभ्यासी।
(३) समस्त प्रमादों का यत्नापूर्बक त्यागी।
(४) काम-भोगों में या स्वजन लोक में अलिप्त/अनासक्त।
(५) तप, संयम तथा धर्माचरण में दृढ़।
(६) समस्त गृद्धि—भोगाकांक्षा का परित्यागी।
(७) संयम या धूतवाद के प्रति प्रणत/समर्पित।
(८) एकत्वभाव के द्वारा कामासक्ति या संग का सर्वथा त्यागी।
(९) द्रव्य एवं भाव से सर्व प्रकार से मुण्डित।

(१०) संयम पालन के लिए अचेलक (जिनकल्पी) या अल्पचेलक (स्थविरकल्पी) साधना का स्वीकारने वाला।

(११) अनियत—अप्रतिबद्धविहारी।

(१२) अन्त-प्रान्तभोजी, अवमौदर्य तपःसम्पन्न।

(१३) अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों का सम्यक् प्रकार से सहन करने वाला।[1]

अप्पलीयमाणे—इसका अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—'जो विषय-कषायादि से दूर रहता है।' लीन का अर्थ है—मग्न या तन्मय, इसलिए अलीन का अर्थ होगा अमग्न या अतन्मय। वृत्तिकार ने अप्रलीयमान का अर्थ किया है—'काम-भोगों में या माता-पिता आदि स्वजन लोक में अनासक्त।[2]

'सव्वं गेहिं परिण्णाय'—इस पंक्ति का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'समस्त गृद्धि-भोगाकांक्षा को दुःखरूप (ज्ञपरिज्ञा से) जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका परित्याग करे। चूर्णिकार 'गिद्धि' के स्थान पर 'गंन्थ' शब्द मानकर इसी प्रकार अर्थ करते हैं।[3]

'अतियच्च सव्वओ संगं—यह वाक्य सर्वसंग-परित्यागरूप धूत का प्राण है। संग का अर्थ है—आसक्ति या ममत्वयुक्त सम्बन्ध। इसका सर्वथा अतिक्रमण करने का मतलब है इससे सर्वथा ऊपर उठना। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव किसी भी प्रकार का प्रतिबन्धात्मक सम्बन्ध संग को उत्तेजित कर सकता है। इसलिए सजीव (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि पूर्व सम्बन्धियों) और निर्जीव (सांसारिक भोगों आदि) पदार्थों के प्रति आसक्ति का सर्वथा त्याग करना धूतवादी महामुनि के लिए अनिवार्य है। किस भावना का आलम्बन लेकर संग-परित्याग किया जाय? इसके लिए शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—**'ण महं अत्थि'** मेरा कोई नहीं हैं, मैं (आत्मा) अकेला हूँ इस प्रकार से एकत्व भावना का अनुप्रेक्षण करे।[4] आवश्यक सूत्र में संस्तार पौरुषी के सन्दर्भ में मुनि के लिए प्रसन्नचित्त और दैन्यरहित मन से इस प्रकार की एकत्व भावना का अनुचिन्तन करना आवश्यक बताया गया है—

> **'एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।**
> **सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥''**[5]

—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और उपलक्षण से सम्यक्-चारित्र से युक्त एक मात्र शाश्वत आत्मा ही मेरा है। आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ बाह्य हैं, वे संयोग मात्र से मिले हैं।

'सव्वतो मुंडे'—केवल सिर मुँडा लेने से ही कोई मुण्डित या श्रमण नहीं कहला सकता, मनोजनित कषायों और इन्द्रियों को भी मूँडना (वश में करना) आवश्यक है। इसीलिए यहाँ

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।
२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।
   (ख) आचारांग चूर्णि आचा० मूलपाठ पृ० ६१ टिप्पण। (मुनि जम्बूविजयजी)
३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।
   (ख) आचारांग चूर्णि आचा० मूलपाठ पृष्ट ६१ टिप्पण
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।
५. तुलना करे—नियमसार १०२। आतुर प्र० २६

'सर्वतः मुण्ड' होना बताया है। स्थानांग सूत्र में क्रोधादि चार कषायों, पांच इन्द्रियों एवं सिर से मुण्डित होने (विकारों को दूर करने) वाले को सर्वथा मुण्ड कहा गया है।[1]

वध, आक्रोश आदि परिषहों के समय धूतवादी मुनि का चिन्तन—वृत्तिकार ने स्थानांग-सूत्र का उद्धरण देकर पांच प्रकार से चिन्तन करके परीषह सहन करने की प्रेरणा दी है—

(१) यह पुरुष किसी यक्ष (भूत-प्रेत) आदि से ग्रस्त है।

(२) यह व्यक्ति पागल है।

(३) इसका चित्त दर्प से युक्त है।

(४) मेरे ही किसी जन्म में किये हुए कर्म उदय में आए हैं, तभी तो यह पुरुष मुझ पर आक्रोश करता है, बांधता है, हैरान करता है, पीटता है, संताप देता है।

(५) ये कष्ट समभाव से सहन किये जाने पर एकान्ततः कर्मों की निर्जरा (क्षय) होगी।[2]

'तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमणा'—इस पंक्ति का भावार्थ स्पष्ट है। परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहन करता हुआ मुनि संयम में विचरण करे। इससे पूर्व परीषह के दो प्रकार बताए गए हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। जिनके लिए **'एगतरे-अण्णतरे'** शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इस पंक्ति में भी पुनः परीषह के दो प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं—**'हिरी'** और **'अहिरीमणा'**। **'ह्री'** का अर्थ लज्जा है। जिन परीषहों से लज्जा का अनुभव हो, जैसे याचना, अचेल आदि वे **'ह्रीजनक'** परीषह कहलाते हैं, तथा शीत, उष्ण आदि जो परीषह अलज्जाकारी हैं, उन्हें **'अह्रीमना'** परीषह कहते हैं। वृत्तिकार ने **'हारीणा'**, **'अहारीणा'** इन दो पाठान्तरों को मानकर इनके अर्थ क्रमशः यों किये हैं—

सत्कार, पुरस्कार आदि जो परीषह साधु के 'हारी' यानी मन को आह्लादित करने वाले हैं, वे 'हारी' परीषह तथा जो परीषह प्रतिकूल होने के कारण मन के लिए अनाकर्षक—अनिष्टकर हैं, वे 'अहारी' परीषह कहलाते हैं। धूतवादी मुनि को इन चारों प्रकार के परीषहों को समभावपूर्वक सहना चाहिए।[3]

'चेच्चा सव्वं विसोत्तियं'—समस्त विस्रोतसिका का त्याग करके। **'विसोत्तिया'** शब्द प्रतिकूल गति, विमार्ग गमन, मन का विमार्ग में गमन, अपध्यान, दुष्ट चिन्तन और शंका—इन अर्थों में व्यवहृत होता है।[4] यहाँ 'विसोत्तिय' शब्द के प्रसंगवश शंका, दुष्टचिन्तन, अपध्यान या मन का विमार्गगमन—ये अर्थ हो सकते हैं। अर्थात् परीषह या उपसर्ग के आ

---

१. स्थानांग सूत्र स्था० ५ उ० ३ सू० ४४३।

२. पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थे उप्पन्ने परिसहोवसग्गे सम्मं सहइ खमई तितिक्खइ अहियासेइ तंजहा—
(१) जक्खाइट्ठे अयं पुरिसे. (२) दत्तचित्ते अयं पुरिसे, (३) उम्मायपत्ते अयं पुरिसे, (४) मम च णं पुव्वब्भव वेअणीआणि कम्माणि उदिन्नाणि भवंति, जन्नं एस पुरिसे आउसह बंधइ, तिप्पइ, पिट्टइ, परितावेइ, (५) मम चणं सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स एगंतसो कम्मणिज्जरा हवइ।
—स्था० स्थान ५ उ० १ सू० ७३

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।

४. 'पाइअसद्दमहण्णवो' पृष्ठ ७०७।

पड़ने पर मन में जो आर्त्त-रौद्र-ध्यान आ जाते हैं, या विरोधी के प्रति दुश्चिन्तन होने लगता है, अथवा मन चंचल और क्षुब्ध होकर असंयम में भागने लगता है, अथवा मन में कुशंका पैदा हो जाती है कि ये जो परीषह और उपसर्ग के कष्ट मैं सह रहा हूँ, इसका शुभ फल मिलेगा या नहीं ?" इत्यादि समस्त विस्रोतसिकाओं को धूतवादी सम्यग्दर्शी मुनि त्याग दे ।[1]

'अणागमणधम्मिणो'—जो साधक पंचमहाव्रत और सर्वविरति चारित्र (संयम) की प्रतिज्ञा का भार जीवन के अन्त तक वहन करते हैं, परीषहों और उपसर्गों के समय हार खाकर पुनः गृहस्थलोक या स्वजनलोक—(गृह-संसार) की ओर नहीं लौटते; न ही किसी प्रकार की कामासक्ति को लेकर लौटना चाहते हैं, वे—'अनागमनधर्मा' कहलाते हैं। यहाँ शास्त्रकार उनके लिए कहते हैं—**"एए भो णगिणा वुत्ता, जे लोगं सि अणागमणधम्मिणो ।"** अर्थात्—इन्हीं परीषहसहिष्णु निष्किंचन निर्ग्रन्थों को 'भावनग्न' कहा गया है, जो लोक में अनागमन धर्मी हैं ।[2]

'आणाए मामगं धम्मं' का प्रचलित अर्थ है—'मेरा धर्म मेरी आज्ञा में है ।' परन्तु 'आज्ञा' शब्द को यहाँ तृतीयान्त मानकर वृत्तिकार इस वाक्य के दो अर्थ करते हैं—

(१) जिससे सर्वतोमुखी ज्ञापन किया जाये—वताया जाये, उसे आज्ञा कहते हैं, आज्ञा से (शास्त्रानुसार या शास्त्रोक्त आदेशानुसार) मेरे धर्म का सम्यक् अनुपालन करे । अथवा

(२) धर्माचरणनिष्ठ साधक कहता है—'एकमात्र धर्म ही मेरा है, अन्य सब पराया है, इसलिए मैं आज्ञा से—तीर्थंकरोपदेश से उसका सम्यक् पालन करूंगा ।[3]

'एस उत्तरवादे······' का तात्पर्य है—समस्त परीषहों और उपसर्गों के आने पर समभाव से सहना, मुनि धर्म से विचलित होकर पुनः स्वजनों के प्रति आसक्तिवश गृहवास में न लौटना, काम-भोगों में जरा भी आसक्त न होना, तप, संयम और तितिक्षा में दृढ़ रहना; यह उत्तरवाद है । यही मानवों के लिए उत्कृष्ट—धूतवाद कहा है । इसमें लीन होकर इस वाद का यथा-निर्दिष्ट सेवन—पालन करता हुआ आदानीय-अष्ट-विधकर्म को, मूल-उत्तर प्रकृतियों आदि सहित सांगोपांग जानकर मुनि-पर्याय (श्रमण-धर्म) में स्थिर होकर उस कर्म-समुदाय को आत्मा से पृथक् करे—उसका क्षय करे । यह शास्त्रकार का आशय है ।[4]

एकचर्या-निरूपण

१८६. इह एगेसिं एगचरिया होति । तत्थियतराइतरेहिं[5] कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेधावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भि । अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति । ते फासे पुट्ठो धीरो अधियासेज्जासि त्ति बेमि ।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२० । २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२० ।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२० । ४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२० ।
५. 'तत्थ इयरातरेहिं' पाठ मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—"इतराइतरं–इतरेतरं कमो गहितो ण उड्डड्डयाहिं"—अन्यान्य या भिन्न-भिन्न कुलों से······यहाँ इतरेतर शब्द से भिन्न-भिन्न कर्म या क्रम का ग्रहण किया गया है । यहाँ कर्म का अर्थ व्यवसाय या धंधा है । विभिन्न धंधों वाले परिवारों से······। अथवा भिक्षाटन के समय क्रमशः भिन्न-भिन्न कुलों से·······विना क्रम के अंट-संट नहीं ।

१८६. इस (निर्ग्रन्थ संघ) में कुछ लघुकर्मी साधुओं द्वारा एकाकी चर्या (एकल विहार प्रतिमा की साधना) स्वीकृत की जाती है।

उस (एकाकी विहार प्रतिमा) में वह एकल विहारी साधु विभिन्न कुलों से शुद्ध-एषणा और सर्वेषणा (आहारादि की निर्दोष भिक्षा) से संयम का पालन करता है।

वह मेधावी (ग्राम आदि में) परिव्रजन (विचरण) करे।

सुगन्ध से युक्त या दुर्गन्ध से युक्त (जैसा भी आहार मिले, उसे समभाव से ग्रहण या सेवन करे) अथवा एकाकी विहार-साधना में भयंकर शब्दों का सुनकर या भयंकर रूपों को देखकर भयभीत न हो।

हिंस्र प्राणी तुम्हारे प्राणों को क्लेश (कष्ट) पहुँचाएं; (उससे विचलित न हो)।

उन स्पर्शों (परीषहजनित-दुःखों) का स्पर्श होने पर धीर मुनि उन्हें सहन करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पूर्व सूत्रों में धूतवाद का सम्यक् निरूपण कर उसे **'उत्तरवाद'**—श्रेष्ठ आदर्श सिद्धान्त के रूप में प्रस्थापित किया है। धूतवादी का जीवन कठोर साधना का मूर्तिमंत रूप हैं, अनासक्ति की चरम परिणति है। यह प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है।

'सुद्धे सणाए सव्वेसणाए'—ये दो शब्द धूतवादी मुनि के आहार-सम्बन्धी सभी एषणाओं से सम्बन्धित हैं। एषणा शब्द यहाँ तृष्णा, इच्छा, प्राप्ति या लाभ अर्थ में नहीं है, अपितु साधु की एक समिति (सम्यक्प्रवृत्ति) है, जिसके माध्यम से वह निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है। अतः **'एषणा'** शब्द यहाँ निर्दोष आहारादि (भिक्षा) की खोज करना, निर्दोष भिक्षा या उसका ग्रहण करना, निर्दोषभिक्षा का अन्वेषण-गवेषण करना, इन अर्थों में प्रयुक्त है। एषणा के मुख्यतः तीन प्रकार हैं—(१) गवेषणैषणा, (२) ग्रहणैषणा, (३) ग्रासैषणा या परिभोगैषणा। गवेषणैषणा के ३२ दोष हैं—१६ उद्गम के है, १६ उत्पादना के हैं। ग्रहणैषणा के १० दोष हैं, और ग्रासैषणा के ५ दोष हैं। इन ४७ दोषों से बचकर आहार, धर्मोपकरण, शय्या आदि वस्तुओं का अन्वेषण, ग्रहण और उपभोग (सेवन) करना शुद्ध एषणा कहलाती है। आहारादि के अन्वेषण से लेकर सेवन करने तक मुनि की समस्त एषणाएँ शुद्ध होनी चाहिए, यही इस पंक्ति का आशय है।[1]

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२०, (ख) उत्तरा० अ० २४ गा० ११-१२,
(ग) पिण्ड निर्युक्ति गा० ९२-९३, गा० ४०८
पिण्डनिर्युक्ति में औद्देशिक आदि १६ उद्गम-गवेषणा के दोषों का तथा १६ उत्पादना-गवेषणा के दोषों (धाइ-दुई-निमित्ते आदि) का वर्णन है। शंकित आदि १० ग्रहणैषणा (एषणा) के दोष हैं तथा संयोजना अप्रमाण आदि ५ दोष ग्रासैषणा के हैं; कुल मिलाकर एषणा के ये ४७ दोष हैं। उद्गम दोषों का वर्णन स्थानांग (९।६२) उत्पादना दोषों का निशीथ (१२) दशवैकालिक (५) तथा संयोजना दोषों का वर्णन भगवती (७।१) आदि स्थानों पर भी मिलता है। विस्तार के लिए देखें इसी सूत्र में पिंडैषणा अध्ययन सूत्र ३२४ का विवेचन।

एकचर्या और भयंकर परीषह-उपसर्ग—धूतवादी मुनि कर्मों को शीघ्र क्षय करने हेतु एकल विहार प्रतिमा अंगीकार करता है। यह साधना सामान्य मुनियों की साधना में कुछ विशिष्टतरा होती है। एकचर्या की साधना में मुनि की सभी एषणाएं शुद्ध हों, इसके अतिरिक्त मनोज्ञ—अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्राप्त होने पर राग और द्वेष न करे। एकाकी साधु को रात्रि में जन-शून्य स्थान या श्मशान आदि में कदाचित् भूत-प्रेतों, राक्षसों के भयंकर रूप दिखाई दें या शब्द सुनाई दें या कोई हिंस्र या भयंकर प्राणी प्राणों को क्लेश पहुंचाएं, उस समय मुनि को उन कष्टों का स्पर्श होने पर तनिक भी क्षुब्ध न होकर धैर्य से समभावपूर्वक सहना चाहिए; तभी उसके पूर्व संचित कर्मों का धूनन-क्षय हो सकेगा।[1]

॥ बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

उपकरण-लाघव

१८७. एतं[2] खु मुणी आदाणं सदा सुअक्खातधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता[3]।

जे अचेले परिवुसिते तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति—परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि[4], परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।

---

१. आचा० शीला टीका पत्रांक २२०।

२. चूर्णिमान्य पाठान्तर इस प्रकार हैं—'**एस मुणी आदाणं**' अर्थ—"एस त्ति जं भणितं 'ते फासे पुट्ठो अहियासए' एस तव तित्थगराओ आणा।····एसा ते जा भणिता वक्खमाणा य, मुणी भगवं सिस्सामंतणं वा, आणप्पत इति आणा, जं भणितं उवदेसो।"—यहा 'एस' से तात्पर्य हैं—जो (अभी-अभी) कहा गया था, कि उन स्पर्शों के आ पड़ने पर मुनि समभाव से सहन करे या आगे कहा जाएगा, यह तुम्हारे लिए तीर्थंकरों की आज्ञा है—आज्ञापन है—उपदेश है। मुणी शब्द मुनि के लिए सम्बोधन का प्रयोग है कि 'हे मुनि भगवन्!' अथवा शिष्य के लिए सम्बोधन हैं—"हे मुने!" 'आताणं आयाणं नाणातियं' (अथवा) आदान का अर्थ है—(तीर्थंकरों की ओर से) ज्ञानादिरूप आदान—विशेष सर्वतोमुखी दान है।

३. चूर्णिकार ने '**विधूतकप्पो णिज्झोसतित्ता**' पाठ मानकर अर्थ किया है—"णियतं णिच्छितं वा झोसइत्ता, अहवा जुसी प्रीतिसेवणयो णियतं णिच्छित्तं वा झोसतिता, जं भणितं णिसेवतिता फासइत्ता पालयित्ता।"—नियत या निश्चित रूप से मुनि आदान को (उपकरणादि को) कम करके आदान=कर्म को सूखा दे—हटा दे। अथवा जुष धातु प्रीति और सेवन के अर्थ में भी है। नियत किये हुए या निश्चित किये हुए संकल्प या जो कहा है—उस वचन का मुनि सेवन—पालन या स्पर्शन करे।

४. चूर्णि में 'अवकरिसणं वोक्कसणं, णियंसणं णियंसिसामि उवरिं पाउरणं'। इस प्रकार अर्थ किया गया है।—अपकर्षण (कम करने) को व्युत्कर्षण कहते हैं। ऊपर ओढ़ने के वस्त्र को पहनूंगा। इससे मालूम होता है—चूर्णि में '**वोक्कसिस्सामि णियंसिस्सामि पाउणिस्सामि**' पाठ अधिक है।

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीतफासा फुसंति तेउफास फुसंति, दंस-मसगफासा फुसंति, एगतरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अधियासेति अचेले लाघवं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागए भवति। जहेतं भगवता पवेदितं। तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो[2] सव्वत्ताए सम्मत्तमेव[3] समभिजाणिया।

एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं[4] पुव्वाइं वासाइं रीयमाणाणं दवियाणं पास अधियासियं।

१८८. आगतपण्णाणाणं[5] किसा बाहा भवंति पयणुए य मंससोणिए। विस्सेणिं कट्टु, परिण्णाय[6] एस तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि।

१८७. सतत सु-आख्यात (सम्यक् प्रकार से कथित) धर्म वाला विधूतकल्पी (आचार का सम्यक् पालन करने वाला) वह मुनि आदान (मर्यादा से अधिक वस्त्रादि) का त्याग कर देता है।

जो भिक्षु अचेलक रहता है, इस भिक्षु को ऐसी चिन्ता (विकल्प) उत्पन्न नहीं होती कि मेरा वस्त्र सब तरह से जीर्ण हो गया है, इसलिए मैं वस्त्र की याचना करूँगा, फटे वस्त्र को सीने के लिए धागे (डोरे) की याचना करूँगा, फिर सूई की याचना करूँगा, फिर उस वस्त्र को साँधूंगा, उसे सीऊंगा, छोटा है, इसलिए दूसरा टुकड़ा जोड़कर बड़ा बनाऊंगा; बड़ा है, इसलिए फाड़कर छोटा बनाऊंगा, फिर उसे पहनूंगा और शरीर को ढकूँगा।

अथवा अचेलत्व-साधना में पराक्रम करते हुए निर्वस्त्र मुनि को बार-बार तिनकों (घास के तृणों) का स्पर्श, सर्दी और गर्मी का स्पर्श तथा डांस और मच्छरों का स्पर्श पीड़ित करता है।

---

१. चूर्णि में इसके बदले पाठ है—'**लाघवियं आगमेमाणे**' इसका अर्थ नागार्जुनसम्मत अधिक पाठ मानकर किया गया है—"एवं खलु से उवगरणलाघवियं तवं कम्मक्खयकरणं करेइ,"—इस प्रकार वह मुनि उपकरण लाघविक (उपकरण-अवमौदर्य) कर्मक्षयकारक तप करता है।

२. चूर्णि में नागार्जुन सम्मत अधिक पाठ दिया गया है—'**सव्वं सव्वं चेव (सव्वत्थेव ?) सव्वकालं पि सव्वेहिं**...'—सबको सर्वथा सर्वकाल में, सर्वात्मना....जानकर।

३. '**समत्तमेव समभिजाणित्ता**' पाठ मानकर चूर्णि में अर्थ किया है—पसत्थो भावो सम्मत्तं...सम्मं अभिजाणित्ता—समभिजाणित्ता, अहवा समभावो सम्मत्तमिति।...सम्मत्तं समभिजाणमाणे 'आराधओ भवति', इति वक्कसेसं।'—'सम्मत्तं' प्रशस्तभाव का नाम है। प्रशस्तभावपूर्वक सम्यक् प्रकार से जान अथवा सम्मत्तं का अर्थ समभाव है। 'समभाव को सम्यक् जानता हुआ', आराधक होता है (वाक्यशेष)।

४. '**चिररायं**' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'**चिरराइं जं भणितं जावज्जीवाए**'।

५. चूर्णि में इसका अर्थ इस प्रकार है—**आगतं उवलद्धं भिसं णाणं पण्णाणं....एवं तेसिं महावीराणं आगतपण्णाणाणं**....जिन्हें अत्यन्त ज्ञान (प्रज्ञान) आगत—उपलब्ध हो गया है, उन आगतप्रज्ञान महावीरों की...।

६. '**परिण्णाय**' का भावार्थ चूर्णि में इस प्रकार है—'**एगाए णातुं बितियाए पच्चक्खाएत्ता** एक (ज्ञ) परिज्ञा से जानकर, दूसरी (प्रत्याख्यानपरिज्ञा) से प्रत्याख्यान—त्याग करके....

अचेलक मुनि उनमें से एक या दूसरे, नाना प्रकार के स्पर्शों (परीषहों) को (समभाव से) सहन करे।

अपने आपको लाघवयुक्त (द्रव्य और भाव से हलका) जानता हुआ वह अचेलक एवं तितिक्षु भिक्षु) तप (उपकरण-ऊनोदरी एवं कायक्लेश तप) से सम्पन्न होता है।

भगवान ने जिस रूप में अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जान-समझकर, सब प्रकार से सर्वात्मना सम्यक्त्व/सत्य जाने अथवा समत्व का सेवन करे।

जीवन के पूर्व भाग में प्रव्रजित होकर चिरकाल तक (जीवनपर्यन्त) संयम में विचरण करने वाले, चारित्र-सम्पन्न तथा संयम में प्रगति करने वाले महान् वीर साधुओं ने जो (परीषहादि) सहन किये हैं; उसे तू देख।

१८८. प्रज्ञावान् मुनियों की भुजाएँ कृश (दुर्बल) होती हैं, (तपस्या से तथा परीषह सहन से) उनके शरीर में रक्त-मांस बहुत कम हो जाते हैं।

संसार-वृद्धि की राग-द्वेष-कषायरूप श्रेणी—संतति को (समत्व की) प्रज्ञा से जानकर (क्षमा, सहिष्णुता आदि से) छिन्न-भिन्न करके वह मुनि (संसार-समुद्र से) तीर्ण, मुक्त एवं विरत कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पिछले उद्देशक में कर्म-धूनन के सन्दर्भ में स्नेह-त्याग तथा सहिष्णुता का निर्देश किया गया था, सहिष्णुता की साधना के लिए ज्ञानपूर्वक देह-दमन, इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है। वस्त्र आदि उपकरणों की अल्पता भी अनिवार्य है। इसलिए तप, संयम, परीषह सहन आदि से उसे शरीर और कषाय को कृश करके लाघव—अल्पीकरण का अभ्यास करना चाहिए। धूतवाद के सन्दर्भ में देह-धूनन करने का उत्तम मार्ग इस उद्देशक में बताया गया है।

'एवं खु मुणी आदाणं'—यह वाक्य बहुत ही गम्भीर है। इसमें से अनेक अर्थ फलित होते हैं। वृत्तिकार ने 'आदान' शब्द के दो अर्थ सूचित किये हैं—जो आदान—ग्रहण किया जाए, उसे आदान-कहते हैं, वह है कर्म। अथवा जिसके द्वारा कर्म का ग्रहण (आदान) किया जाए, वह कर्मों का उपादान आदान है। वह आदान है, धर्मोपकरण के अतिरिक्त आगे की पंक्तियों में कहे जाने वाले वस्त्रादि। इस (पूर्वोक्त) कर्म को मुनि…क्षय करके…अथवा (आगे कहे जाने वाले धर्मोपकरण से अतिरिक्त वस्त्रादि का मुनि परित्याग करे।[1]

चूर्णिकार के मतानुसार यहाँ **'एस मुणी आदाणं…'** पाठ है। 'मुणी' शब्द को उन्होंने सम्बोधन का रूप माना है। 'एस' शब्द के उन्होंने दो अर्थ फलित किये हैं—(१) यह जो अभी-अभी कहा गया था—परीषहादि-जनित नाना दुःखों का स्पर्श होने पर उन्हें समभाव से सहन करे। (२) जो आगे कहा जायगा, हे मुनि! तुम्हारे लिए तीर्थंकरों की आज्ञा-आज्ञापन या उपदेश है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८६।

आदान शब्द का एक अर्थ ज्ञानादि भी है, जो तीर्थकरों की ओर से विशेष रूप से सर्वतोमुखी दान है।

तात्पर्य यह है कि आदान का अर्थ, आज्ञा, उपदेश या सर्वतोमुखी ज्ञानादि का दान करने पर सारे वाक्य का अर्थ होगा—हे मुने! विधूत के आचार में तथा सु-आख्यात धर्म में सदा तीर्थकरों की यह (पूर्वोक्त या वक्ष्यमाण) आज्ञा, उपदेश या दान है, जिसे तुम्हें भलीभाँति पालन-सेवन करना चाहिए। आदान का अर्थ कर्म या वस्त्रादि उपकरण करने पर अर्थ होगा—स्वाख्यात धर्मा और विधूतकल्प मुनि इस (पूर्वोक्त या वक्ष्यमाण) कर्म या कर्मों के उपादान रूप वस्त्रादि का सदा क्षय या परित्याग करे।[1]

णिज्जोसइत्ता के भी विभिन्न अर्थ फलित होते हैं। नियत या निश्चित (कर्म या पूर्वोक्त स्वजन, उपकरण आदि का) त्याग करके····। जुष् धातु प्रीति पूर्वक सेवन अर्थ में प्रयुक्त होता है वहाँ **णिज्झोसइत्ता** का अर्थ होगा—जो कुछ पहले (परिषहादि सहन, स्वजनत्याग आदि सम्बन्ध में) कहा गया है, उस नियत या निश्चित उपदेश या वचन का मुनि सेवन—पालन या स्पर्शन करे।[2]

'जे अचेले परिवुसिते····'—इस पंक्ति में 'अचेले' शब्द का अर्थ विचारणीय है। अचेल के दो अर्थ मुख्यतया होते हैं—अवस्त्र और अल्पवस्त्र।[3] नञ् समास दोनों प्रकार का होता है—निषेधार्थक और अल्पार्थक। निषेधार्थक अचेल शब्द जंगल में निर्वस्त्र रहकर साधना करने वाले जिनकल्पी मुनि का विशेषण है और अल्पार्थक अचेल शब्द स्थविरकल्पी मुनि के लिए प्रयुक्त होता है, जो संघ में रहकर साधना करते हैं। दोनों प्रकार के मुनियों को साधना अवस्था में कुछ धर्मोपकरण रखने पड़ते हैं। यह बात दूसरी है कि उपकरणों की संख्या में अन्तर होता है। जंगलों में निर्वस्त्र रहकर साधना करने वाले जिनकल्पी मुनियों के लिए शास्त्र में मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण ही विहित हैं। इन उपकरणों में भी कमी की जा सकती है। अल्पतम उपकरणों से काम चलाना कर्म-निर्जराजनक अवमोदर्य (ऊनोदरी) तप है। किन्तु दोनों कोटि के मुनियों को वस्त्रादि उपकरण रखते हुए भी उनके सम्बन्ध में विशेष चिन्ता, आसक्ति या उनके वियोग में आर्तध्यान या उद्विग्नता नहीं होनी चाहिए।[4] कदाचित वस्त्र फट जाए या समय पर शुद्ध—ऐषणिक वस्त्र न मिले, तो भी उसके लिए विशेष चिन्ता या आर्तध्यान-रौद्रध्यान नहीं होना चाहिए। अगर आर्त-रौद्रध्यान होगा या चिन्ता होगी तो उसकी विधूत-साधना खण्डित हो जायेगी। कर्मधूत की साधना तभी होगी, जब एक ओर स्वेच्छा से वह अत्यन्त अल्प वस्त्रादि उपकरण रखने का संकल्प करेगा, दूसरी ओर से अल्प वस्त्रादि होते हुए भी आने वाले परीषहों (रति-अरति, शीत, उष्ण, तृण स्पर्श, दंशमशक आदि)

---

१. आचारांग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पण पृ० ६३।

२. आचारांग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पण पृ० ६३।

३. जैसे अज्ञ का अर्थ अल्पज्ञ होता है न कि ज्ञान-शून्य, वैसे ही यहाँ 'अचेल' का अर्थ अल्पचेल (अल्प वस्त्र वाला) भी होता है। —आचा० शीला० टीका पत्रांक २२१।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२१।

को समभावपूर्वक सहेगा, मन में किसी प्रकार की उद्विग्नता, क्षोभ, चंचलता या अपध्यान नहीं आने देगा। अचेल मुनि को किस-किस प्रकार की चिन्ता, उद्विग्नता या अपध्यानमग्नता नहीं होनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में विविध विकल्प 'परिजुण्णे मे वत्थे' से लेकर 'दंस-मसगफासा फुसंति' तक की पंक्तियों में प्रस्तुत किये हैं। 'परिवुसिते' शब्द से दोनों कोटि के मुनियों का हर हालत में सदैव संयम में रहना सूचित किया गया है। यही इस सूत्र का आशय है।[1]

'लाघवं आगममणो'—मुनि परिषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से अविचल होकर क्यों सहन करे ? इससे उसे क्या लाभ है ? इसी शंका के समाधान के रूप में शास्त्रकार उपर्युक्त पंक्ति प्रस्तुत करते हैं। लाघव का अर्थ यहाँ लघुता या हीनता नहीं है, अपितु लघु (भार में हलका) का भाव 'लाघव' यहाँ विवक्षित है। वह दो प्रकार से होता है—द्रव्य से और भाव से। द्रव्य से उपकरण-लाघव और भाव से कर्मलाघव। इन दोनों प्रकार से लाघव समझ कर मुनि परिषहों तथा उपसर्गों को सहन करे। इस सम्बन्ध में नागार्जुन-सम्मत जो पाठ है, उसके अनुसार अर्थ होता है—'इस प्रकार उपकरण लाघव से कर्मक्षयजनक तप हो जाता है।' साथ ही परिषह-सहन के समय तृणादि-स्पर्श या शीत-उष्ण, दंश-मशक आदि स्पर्शों को सहने से कायक्लेश रूप तप होता है।[2]

'तमेव'''समभिजाणिया—यह पंक्ति लाघवधूत का हृदय है। जिस प्रकार से भगवान महावीर ने पूर्व में जो कुछ आदेश-उपदेश (उपकरण-लाघव, आहार-लाघव आदि के सम्बन्ध में) दिया है, उसे उसी प्रकार से सम्यक् रूप में जानकर—कैसे जानकर ? सर्वतः सर्वात्मना—वृत्तिकार ने इसका स्पष्टीकरण किया है—सर्वतः यानी द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव से। द्रव्यतः—आहार, उपकरण आदि के विषय में, क्षेत्रतः—ग्राम, नगर आदि में, कालतः—दिन, रात, दुर्भिक्ष आदि समय में सर्वात्मना, भावतः—मन में कृत्रिमता, कपट, वंचकता आदि छोड़कर।[3]

समत्तं[4]—सम्यक्त्व के अर्थ हैं—प्रशस्त, शोभन, एक या संगत तत्त्व। इस प्रकार के सम्यक्त्व को सम्यक् प्रकार से, निकट से जाने। अथवा समत्तं का समत्वं रूप हो तो, तब वाक्यार्थ होगा—इस प्रकार के समत्व-समभाव को सर्वतः सर्वात्मना प्रशस्त भावपूर्वक जानता हुआ या जानकर (आराधक होता है)। आचारांग चूर्णि में ये दोनों अर्थ किये गये हैं।[5] तात्पर्य यह है कि उपकरण-लाघव आदि में भी समभाव रहे, दूसरे साधकों के पास अपने से न्यूनाधिक उपकरणादि देखकर उनके प्रति घृणा, द्वेष, तेजोद्वेष, प्रतिस्पर्धा, रागभाव, अवज्ञा आदि मन में न आवे, यही समत्व को सम्यक् जानना है। इसी शास्त्र में बताया गया है—जो साधक

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२१।
२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२२।
(ख) आचारांग चूर्णि में नागार्जुन सम्मत पाठ और व्याख्या।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२२।
४. आचारांगवृत्ति में सम्यक्त्व के पर्यायवाची शब्द विषयक श्लोक—
"प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः संगत एव च।
इत्यैतेरुपसृष्टस्तु भावः सम्यक्त्वमुच्यते॥"
५. देखिये, आचारांग मूलपाठ के पादटिप्पण में पृ० ६४।

तीन वस्त्र-युक्त दो वस्त्र-युक्त, एक वस्त्र-युक्त या वस्त्ररहित रहता है, वह परस्पर एक दूसरे की अवज्ञा, निन्दा, घृणा न करे, क्योंकि ये सभी जिनाज्ञा में हैं।[1] वस्त्रादि के सम्बन्ध में समान आचार नहीं होता, उसका कारण साधकों का अपना-अपना संहनन, धृति, सहनशक्ति आदि हैं, इसलिए साधक अपने से विभिन्न आचार वाले साधु को देखकर उसकी अवज्ञा न करे, न ही अपने को हीन माने। सभी साधक यथाविधि कर्मक्षय करने के लिए संयम में उद्यत हैं, ये सभी जिनाज्ञा में हैं, इस प्रकार जानना ही सम्यक् अभिज्ञात करना है।

अथवा उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सम्भव है—उसी लाघव को सर्वतः (द्रव्यादि से) सर्वात्मना (नामादि निक्षेपों से) निकट से प्राप्त (आचरित) करके सम्यक्त्व को ही सम्यक् प्रकार से जान ले—अर्थात् तीर्थंकरों एवं गणधरों के द्वारा प्रदत्त उपदेश से उसका सम्यक् आचरण करे।

'एवं तेसिं······अधियासियं'—इस पंक्ति के पीछे आशय यह है कि यह लाघव या परीषह-सहन आदि धूतवाद का उपदेश अव्यवहार्य या अशक्य अनुष्ठान नहीं है। यह बात साधकों के दिल में जमाने के लिए इस पंक्ति में बताया गया है कि इस प्रकार अचेलत्वपूर्वक लाघव से रहकर विविध परीषह जिन्होंने कई पूर्व (वर्षों) तक (अपनी दीक्षा से लेकर जीवन पर्यन्त) सहे हैं; तथा संयम में दृढ़ रहे हैं, उन महान् वीर मुनिवरों (भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक के मुक्तिगमन योग्य मुनिवरों) को देख।[2]

'किसा बाहा भवंति'—इस वाक्य के वृत्तिकार नें दो अर्थ किए हैं—(१) तपस्या तथा परीषह-सहन से उन प्रज्ञा-प्राप्त (स्थितप्रज्ञ) मुनियों की बाहें कृश—दुर्बल हो जाती हैं, (२) उनकी बाधाएँ—पीड़ाएँ कृश—कम हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म-क्षय के लिए उद्यत प्रज्ञावान मुनि के लिए तप या परीषह-सहन केवल शरीर को ही पीड़ा दे सकते हैं, उनके मन को वे पीड़ा नहीं दे सकते।[3]

'विस्सेणि कट्टु' का तात्पर्य वृत्तिकार ने यह बताया है कि संसार-श्रेणी—संसार में अवतरित करने वाली राग-द्वेष-कषाय संतति (शृंखला) है, उसे क्षमा आदि से विश्रेणित करके—तोड़कर।[4]

'परिण्णाय' का अर्थ है—समत्व भावना से जान कर। जैसे भगवान् महावीर के धर्म

---

१. जोऽवि दुवत्थतिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वेऽपि य ते जिणाणाए ॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा संघयणधिइआदि कारणं पप्प।
णऽव मन्नइ, ण य हीणं अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥२॥
सव्वेऽवि जिणाणाए जहाविहिं कम्म-खणण-अट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणई एवं ॥३॥
—आचा० शीला० टीका पत्रांक २२२।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२२। ३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२२।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२३।

शासन में कोई जिनकल्पी (अवस्त्र) होता है, कोई एक वस्त्रधारी, कोई द्विवस्त्रधारी और कोई त्रिवस्त्रधारी, कोई स्थविरकल्पी मासिक उपवास (मासक्षपण) करता है, कोई अर्द्धमासिक तप; इस प्रकार न्यूनाधिक तपश्चर्याशील और कोई प्रतिदिन भोजी भी होते हैं। वे सब तीर्थंकर के वचनानुसार संयम पालन करते हैं, इनकी परस्पर निन्दा या अवज्ञा न करना ही समत्व भावना है जो ऐसा करता है वही समत्वदर्शी है।[1]

असंदीन-द्वीप तुल्य धर्म

१८९. विरयं भिक्खुं रीयंतं चिररातोसियं अरती तत्थ किं विधारए ? संधेमाणे समुट्ठिते।

जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए। ते अणवकंखमाणा[2] अणतिवातेमाणा दइता[3] मेधाविणो पंडिता।

एवं तेसिं भगवतो अणुट्ठाणे जहा से दियापोते। एवं ते सिस्सा दिया य रातो य अणुपुव्वेण वायित त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१८९. चिरकाल से मुनि धर्म में प्रव्रजित (स्थित) विरत और (उत्तरोत्तर) संयम में गतिशील भिक्षु को क्या अरति (संयम में उद्विग्नता) धर दबा सकती है ?

(प्रतिक्षण आत्मा के साथ धर्म का) संधान करने वाले तथा (धर्माचरण में) सम्यक् प्रकार से उत्थित मुनि को (अरति अभिभूत नहीं कर सकती)।

जैसे असंदीन (जल में नहीं डूबा हुआ) द्वीप (जलपोत-यात्रियों के लिए) आश्वासन-स्थान होता है, वैसे ही आर्य (तीर्थंकर) द्वारा उपदिष्ट धर्म (संसार—समुद्र पार करने वालों के लिए आश्वासन-स्थान) होता है।

मुनि (भोगों की) आकांक्षा तथा (प्राणियों का) प्राण-वियोग न करने के कारण लोकप्रिय (धार्मिक जगत् में आदरणीय) मेधावी और पण्डित (पापों से दूर रहने वाले) कहे जाते हैं।

जिस प्रकार पक्षी के बच्चे का (पंख आने तक उसके माता-पिता द्वारा) पालन किया जाता है, उसी प्रकार (भगवान् महावीर के) धर्म में जो अभी तक अनुत्थित हैं (जिनकी बुद्धि अभी तक धर्म में संस्कारबद्ध नहीं हुई है), उन शिष्यों का

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२३।

२. 'ते अणवकंखमाणा' के बदले 'ते अवयमाणा' पाठ मानकर चूर्णि में अर्थ किया गया है—'अवदमाणा मुसावातं'=मृषावाद न बोलते हुए…।

३. इसके बदले चूर्णि में अर्थ सहित पाठ है—चत्तोवगरणसरीरा दियत्ता, अहवा साहुवग्गस्स सन्निवग्गस्स वा चियत्ता जं भणितं सम्मता। —दियत्ता का अर्थ है—जिन्होंने उपकरण और शरीर (ममत्व) का त्याग कर दिया है। अथवा दयिता पाठ मानकर अर्थ—साधुवर्ग के या संज्ञी जीवों के या श्रावक वर्ग के प्रिय होते हैं, जो कुछ कहते हैं, उसमें वे (साधु श्रावक) सम्मत हो जाते हैं।

वे—(महाभाग आचार्य) क्रमशः वाचना आदि के द्वारा दिन-रात पालन—संवर्द्धन करते हैं। —ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—दीर्घ काल तक परीषह एवं संकट सहने के कारण कभी-कभी ज्ञानी और वैरागी श्रमण का चित्त भी चंचल हो सकता है, उसे संयम में अरति हो सकती है। इसकी सम्भावना तथा उसका निराकरण-बोध प्रस्तुत सूत्र में है।

अरती तत्थ किं विधारए ?—इस वाक्य के वृत्तिकार ने दो फलितार्थ दिए हैं—(१) जो साधक विषयों को त्याग कर मोक्ष के लिए चिरकाल से चल रहा है, बहुत वर्षों से संयम-पालन कर रहा है, क्या उसे भी अरति स्खलित कर सकती है ? हाँ। अवश्य कर सकती है; क्योंकि इन्द्रियाँ दुर्बल होने पर भी दुर्दमनीय होती हैं, मोह की शक्ति अचिन्त्य है, कर्म-परिणति क्या-क्या नहीं कर देती ? सम्यग्ज्ञान में स्थित पुरुष को भी सघन, चीकने, भारी एवं वज्र-सारमय कर्म अवश्य ही पथ या उत्पथ पर ले जाते हैं। अतः ऐसे भुलावे में न रहे कि 'मैं वर्षों से संयम-पालन कर रहा हूँ, चिरदीक्षित हूँ, अरति (संयम में उद्विग्नता) मेरा क्या करेगी ? क्या बिगाड़ देगी ? इस पद का दूसरा अर्थ है, (२) वाह ! क्या ऐसे पुराने मंजे हुए परिपक्व साधक को भी अरति धर दबाएगी ? नहीं धर दबा सकती।[1] प्रथम अर्थ अरति के प्रति सावधान रहने की सूचना देता है जबकि दूसरा अर्थ अरति की तुच्छता बताता है।

'दीवे असंदीणे'—वृत्तिकार 'दीव' शब्द के 'द्वीप' और 'दीप' दोनों रूप मानकर व्याख्या करते हैं। द्वीप नदी-समुद्र आदि के यात्रियों को आश्रय देता है और दीप अन्धकाराच्छन्न पथ के ऊबड़-खाबड़ स्थानों से बचने तथा दिशा बताने के लिए प्रकाश देता है। दोनों ही दो-दो प्रकार के होते हैं—(१) संदीन और (२) असंदीन। 'संदीन द्वीप' वह है—जो कभी पानी में डूबा रहता है, कभी नहीं और 'संदीन दीप' वह है जिसका प्रकाश बुझ जाता है।

'असंदीन द्वीप' वह है, जो कभी पानी में नहीं डूबता, इसी प्रकार 'असंदीन दीप' वह है जो कभी बुझता नहीं, जैसे सूर्य, चन्द्र आदि का प्रकाश। अध्यात्म क्षेत्र में सम्यक्त्वरूप भाव द्वीप या ज्ञानरूपदीप भी धर्म रूपी जहाज में बैठकर संसार-समुद्र पार करने वाले मोक्ष-यात्रियों को आश्वासनदायक एवं प्रकाशदायक होता है।[2] —प्रतिपाती सम्यक्त्व संदीन भाव-द्वीप है, जैसे औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। और अप्रतिपाती (क्षायिक) सम्यक्त्व असंदीन भाव-द्वीप है। इसी तरह संदीन भाव दीप श्रुत ज्ञान है और असंदीन भाव दीप केवल-ज्ञान या आत्म-ज्ञान है। आर्योपदिष्ट धर्म के क्षेत्र में असंदीन भावद्वीप क्षायिक सम्यक्त्व है और असंदीन भावदीप आत्म-ज्ञान या केवलज्ञान है। अथवा विशिष्ट साधुपरक व्याख्या करने पर—भावद्वीप या भावदीप विशिष्ट असंदीन साधु होता है, जो संसार-समुद्र में डूबते हुए यात्रियों या धर्म-जिज्ञासुओं को चारों ओर कर्मास्रव रूपी जल से सुरक्षित धर्मद्वीप की शरण में लाता है। अथवा सम्यग्ज्ञान से उत्थित परीषहोपसर्गों से अक्षोभ्य साधु असंदीन दीप है, जो मोक्षयात्रियों को शास्त्रज्ञान का प्रकाश देता रहता है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२४।　　　　१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२४।

अथवा धर्माचरण के लिए सम्यक् उद्यत साधु अरति से बाधित नहीं होता, इस सन्दर्भ में उस धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न उठने पर यह पंक्ति दी गयी कि असंदीन द्वीप की तरह वह आर्य-प्रदेशित धर्म भी अनेक प्राणियों के लिए सदैव शरणदायक एवं आश्वासन हेतु होने से असंदीन है। आर्यप्रदेशित (तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट) धर्म कष, ताप, छेद के द्वारा सोने की तरह परीक्षित है, या कुतर्कों द्वारा अकाट्य एवं अक्षोभ्य है, इसलिए यह धर्म असंदीन है।[1]

'जहा से दियापोते'—यहाँ पक्षी के बच्चे से नवदीक्षित साधु को भागवत-धर्म में दीक्षित-प्रशिक्षित करने के व्यवहार की तुलना की गई है। जैसे मादा पक्षी अपने बच्चे को अण्डे में स्थित होने से लेकर पंख आकर स्वतन्त्र रूप से उड़ने योग्य नहीं होता, तब तक उसे पालती-पोसती है, इसी प्रकार महाभाग आचार्य भी नवदीक्षित साधु को दीक्षा देने से लेकर समाचारी का शिक्षण-प्रशिक्षण तथा शास्त्र-अध्यापन आदि व्यवहारों में क्रमशः गीतार्थ (परिपक्व) होने तक उसका पालन-पोषण-संवर्द्धन करते हैं। इस प्रकार भगवान के धर्म में अनुस्थित शिष्यों का संसार-समुद्र पार करने में समर्थ बना देना परमोपकारक आचार्य अपना कर्त्तव्य समझते हैं।[2]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

गौरव त्यागी

१९०. एवं ते सिस्सा दिया य रातो य अणुपुव्वेण वायिता तेहिं महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं तेसंतिए पण्णाणमुवलब्भ हेच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति। वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं णो त्ति मण्णमाणा आघायं[3] तु सोच्चा णिसम्म 'समणुण्णा जीविस्सामो' एगे णिक्खम्म,

ते असंभवंता विडज्झमाणा कामेसु गिद्धा अज्झोववण्णा

समाहिमाघातमझोसयंता सत्थारमेव फरुसं वदंति।

१९१. सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा। असीला अणुवयमाणस्स बितिया मंदस्स बालया।

णियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, णाणब्भट्ठा दंसणलूसिणो।

णममाणा वेगे जीवितं विप्परिणामेंति।

पुट्ठा वेगे णियट्टंति जीवितस्सेव कारणा।

णिक्खंतं पि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवति। बालवयणिज्जा हु ते णरा पुणो[4] पुणो जातिं

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२४।

३. 'अक्खातं सोच्चा णिसम्मा य' यह पाठान्तर स्वीकार करके चूर्णिकार ने अर्थ दिया है—"अक्खाता गणधरेहिं थेरेहिं वा, तेसिं सोच्चा णिसम्मा य।" गणधरों या स्थविरों के द्वारा कहे हुए प्रवचनों को सुनकर और विचार करके···।

४. 'पुणो पुणो गब्भं पगप्पेति' पाठ इसके बदले चूर्णिकार ने माना है। अर्थ होता है—पुनः पुनः माता के गर्भ में आता है।

पकप्पेंति। अधे संभवंता विद्दायमाणा, अहमंसीति विउक्कसे। उदासीणे फरुसं वदंति, पलियं पगंथे अदुवा[1] पगंथे अतहेहिं। तं मेधावी जाणेज्जा धम्मं।

१६०. इस प्रकार वे शिष्य दिन और रात में (स्वाध्याय-काल में) उन महावीर और प्रज्ञानवान (गुरुओं) द्वारा (पक्षियों के बच्चों के प्रशिक्षण-संवर्द्धन क्रम की तरह) क्रमशः प्रशिक्षत/संवर्द्धित किये जाते हैं।

उन (आचार्यादि) से विशुद्ध ज्ञान पाकर (बहुश्रुत बनने पर) उपशमभाव को छोड़कर (ज्ञान प्राप्ति से गर्वित होकर) कुछ शिष्य कठोरता अपनाते हैं। अर्थात्—गुरुजनों का अनादर करने लगते।

वे ब्रह्मचर्य में निवास करके भी उस (आचार्यादि की) आज्ञा को 'यह (तीर्थंकर की आज्ञा) नहीं है', ऐसा मानते हुए (गुरुजनों के वचनों की अवहेलना कर देते हैं)।

कुछ व्यक्ति (आचार्यादि द्वारा) कथित (आशातना आदि के दुष्परिणामों) को सुन-समझकर 'हम (आचार्यादि से) सम्मत या उत्कृष्ट संयमी जीवन जीएँगे' इस प्रकार के संकल्प से प्रव्रजित होकर वे (मोहोदयवश) अपने संकल्प के प्रति सुस्थिर नहीं रहते। वे विविध प्रकार (ईर्ष्यादि) से जलते रहते हैं, काम-भोगों में गृद्ध या (ऋद्धि, रस, और सुख की संवृद्धि में) रचे-पचे रहकर (तीर्थंकरों द्वारा) प्ररूपित समाधि (संयम) को नहीं अपनाते, शास्ता (आचार्यादि) को भी वे कठोर वचन कह देते हैं।

१६१. शीलवान, उपशान्त एवं प्रज्ञापूर्वक संयम-पालन में पराक्रम करने वाले मुनियों को वे अशीलवान् कहकर बदनाम करते हैं।

यह उन मन्दबुद्धि लोगों की दूसरी मूढ़ता (अज्ञानता) है।

कुछ संयम से निवृत्त हुए (या वेश परित्याग कर देने वाले) लोग (आचार-सम्पन्न मुनियों के) आचार-विचार का बखान करते हैं, (किन्तु) जो ज्ञान से भ्रष्ट हो गए, वे सम्यग्दर्शन के विध्वंसक होकर (स्वयं चारित्र-भ्रष्ट हो जाते हैं, तथा दूसरों को भी शंकाग्रस्त करके सन्मार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं)।

कई साधक (आचार्यादि के प्रति या तीर्थंकरोक्त श्रुतज्ञान के प्रति) नत—(समर्पित) होते हुए भी (मोहोदयवश) संयमी जीवन का बिगाड़ देते हैं।

कुछ साधक (परीषहों से) स्पृष्ट (आक्रान्त) होने पर केवल (सुखपूर्वक) जीवन

---

१. 'पगंथे' पद की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—"अदुवत्ति अहवा कत्थ शलाघायां, कत्थणं ति वड्ढणं ति वा मद्दणं ति वा एगट्ठा, ण पडिसेधणे, पगंथ अभणंतो चेव मुहमक्कडियाहि वा...तं हिलेंति।" —अथवा कत्थ धातु श्लाघा (आत्मप्रशंसा) अर्थ में है, अतः कत्थन=वर्द्धन—बढ़ा-चढ़ा कर कहना, अथवा मर्दन करना—बात को बार-बार पिष्टपेषण करना। कत्थणं, वड्ढणं, मद्दणं, ये एकार्थक हैं। 'न' निषेध अर्थ में है। प्रकत्थन न करके कई लोग मुंह मचकोड़ना आदि मुख चेष्टाएँ करते [illegible]ीलना (निन्दा) करते हैं। इससे प्रतीत होता है—चूर्णिकार ने 'पगंथे' के बदले 'अपगंथे' [illegible] किया है।

जीने के निमित्त से (संयम और संयमीवेश मे) निवृत्त हो जाते हैं—संयम छोड़ बैठते हैं।

उन (संयम को छोड़ देने वालों) का गृहवास से निष्क्रमण भी दुर्निष्क्रमण हो जाता है, क्योंकि साधारण (अज्ञ) जनों द्वारा भी वे निन्दनीय हो जाते हैं तथा (ऋद्धि, रस और विषय-सुखों में आसक्त होने से) वे पुनः-पुनः जन्म धारण करते हैं।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र में वे नीचे स्तर के होते हुए भी अपने आपको ही विद्वान मानकर 'मैं ही सर्वाधिक विद्वान हूँ', इस प्रकार से डींग मारते हैं। जो उनसे उदासीन (मध्यस्थ) रहते हैं, उन्हें वे कठोर वचन बोलते हैं। वे (उन मध्यस्थ मुनियों के पूर्व-आचरित-गृहवास के समय किए हुए) कर्म को लेकर बकवास (निन्द्य वचन) करते हैं, अथवा असत्य आरोप लगाकर उन्हें बदनाम करते हैं, (अथवा उनकी अंगविकलता या मुखचेष्टा आदि को लेकर उन्हें अपशब्द कहते हैं)। बुद्धिमान् मुनि (इन सबको अज्ञ एवं धर्म-शून्य जन की चेष्टा समझकर) अपने धर्म (श्रुतचारित्र रूप मुनिधर्म) को भलीभाँति जाने-पहचाने।

विवेचन—इस उद्देशक में ऋद्धिगर्व, रसगर्व और साता (सुख) गर्व को लेकर साधक-जीवन के उतार-चढ़ावों का विभिन्न पहलुओं से विश्लेषण करके इन तीन गर्वों (गौरवों) का परित्याग कर विशुद्ध संयम में पराक्रम करने की प्रेरणा दी गयी है।

'पण्णाणमुवलब्भ·······'—इस पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने गर्व होने का रहस्य खोल दिया है। मुनिधर्म जैसी पवित्र उच्च संयम-साधना में प्रव्रजित होकर तथा वर्षों तक पराक्रमी ज्ञानी गुरुजनों द्वारा अहर्निश वात्सल्यपूर्वक क्रमशः प्रशिक्षित-संवर्द्धित किये जाने पर भी कुछ शिष्यों को ज्ञान का गर्व हो जाता है। बहुश्रुत हो जाने के मद में उन्मत्त होकर वे गुरु-जनों द्वारा किए गए समस्त उपकारों को भूल जाते हैं, उनके प्रति विनय, नम्रता, आदर-सत्कार, बहुमान, भक्तिभाव आदि को ताक में रख देते हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से उसके अज्ञान मिथ्यात्व एवं क्रोधादि का उपशम होने के बदले प्रबल मोहोदयवश वह उपशमभाव को सर्वथा छोड़कर उपकारी गुरुजनों के प्रति कठोरता धारण कर लेते हैं। उन्हें अज्ञानी, कुदृष्टि-सम्पन्न, एवं चारित्रभ्रष्ट बताने लगते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में ऋद्धिगौरव के अन्तर्गत ज्ञान-ऋद्धि का गर्व कितना भयंकर है, यह बताया गया है। ज्ञान-गर्वस्फीत साधक गुरुजनों के साथ वितण्डावाद में जाता है। जैसे—किसी आचार्य ने अपने शिष्य को किन्हीं शब्दों का रहस्य ... शिष्य ने प्रतिवाद किया—आप नहीं जानते। इन शब्दों का यह अर्थ नहीं है ... आपने बताया है। अथवा उसके सहपाठी किसी साधक के द्वारा यह कहने ... 'हमारे आचार्य ऐसा बताते हैं', वह (अविनीत एवं गर्वस्फीत) तपाक से उत्तर दे ... "अरे! वह बुद्धि-विकल है, उसकी वाणी भी कुण्ठित है, वह क्या जानता? तू ... द्वारा तोते की तरह पढ़ाया हुआ है, तेरे पास न कोई तर्क-वितर्क है, न युक्ति है।"

पकप्पेंति। अधे संभवंता विद्दायमाणा, अहमंसीति विउक्कसे। उदासीणे फरुसं वदंति, पलियं पगंथे अदुवा[1] पगंथे अतहेहिं। तं मेधावी जाणेज्जा धम्मं।

१६०. इस प्रकार वे शिष्य दिन और रात में (स्वाध्याय-काल में) उन महावीर और प्रज्ञानवान (गुरुओं) द्वारा (पक्षियों के बच्चों के प्रशिक्षण-संवर्द्धन क्रम की तरह) क्रमशः प्रशिक्षत/संवर्द्धित किये जाते हैं।

उन (आचार्यादि) से विशुद्ध ज्ञान पाकर (बहुश्रुत बनने पर) उपशमभाव को छोड़कर (ज्ञान प्राप्ति से गर्वित होकर) कुछ शिष्य कठोरता अपनाते हैं। अर्थात्—गुरुजनों का अनादर करने लगते।

वे ब्रह्मचर्य में निवास करके भी उस (आचार्यादि की) आज्ञा को 'यह (तीर्थकर की आज्ञा) नहीं है', ऐसा मानते हुए (गुरुजनों के वचनों की अवहेलना कर देते हैं)।

कुछ व्यक्ति (आचार्यादि द्वारा) कथित (आशातना आदि के दुष्परिणामों) को सुन-समझकर 'हम (आचार्यादि से) सम्मत या उत्कृष्ट संयमी जीवन जीएँगे' इस प्रकार के संकल्प से प्रव्रजित होकर वे (मोहोदयवश) अपने संकल्प के प्रति सुस्थिर नहीं रहते। वे विविध प्रकार (ईर्ष्यादि) से जलते रहते हैं, काम-भोगों में गृद्ध या (ऋद्धि, रस, और सुख की संवृद्धि में) रचे-पचे रहकर (तीर्थंकरों द्वारा) प्ररूपित समाधि (संयम) को नहीं अपनाते, शास्ता (आचार्यादि) को भी वे कठोर वचन कह देते हैं।

१६१. शीलवान, उपशान्त एवं प्रज्ञापूर्वक संयम-पालन में पराक्रम करने वाले मुनियों को वे अशीलवान् कहकर वदनाम करते हैं।

यह उन मन्दबुद्धि लोगों की दूसरी मूढ़ता (अज्ञानता) है।

कुछ संयम से निवृत्त हुए (या वेश परित्याग कर देने वाले) लोग (आचार-सम्पन्न मुनियों के) आचार-विचार का बखान करते हैं, (किन्तु) जो ज्ञान से भ्रष्ट हो गए, वे सम्यग्दर्शन के विध्वंसक होकर (स्वयं चारित्र-भ्रष्ट हो जाते हैं, तथा दूसरों को भी शंकाग्रस्त करके सन्मार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं)।

कई साधक (आचार्यादि के प्रति या तीर्थंकरोक्त श्रुतज्ञान के प्रति) नत—(समर्पित) होते हुए भी (मोहोदयवश) संयमी जीवन का बिगाड़ देते हैं।

कुछ साधक (परीषहों से) स्पृष्ट (आक्रान्त) होने पर केवल (सुखपूर्वक) जीवन

---

१. 'पगंथे' पद की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—"अदुवत्ति अहवा कत्थ श्लाघायां, कत्थणं ति वड्ढणं ति वा मद्दणं ति वा एगट्ठा, ण पडिसेधणे, पगंथ अभणंतो चेव मुहमक्कडियाहि वा'''तं हिलेंति।" —अथवा कत्थ धातु श्लाघा (आत्मप्रशंसा) अर्थ में है, अतः कत्थन=वर्द्धन—वढ़ा-चढ़ा कर कहना, अथवा मर्दन करना—बात को बार-बार पिष्टपेषण करना। कत्थणं, वड्ढणं, मद्दणं, ये एकार्थक हैं। 'न' निषेध अर्थ में है। प्रकत्थन न करके कई लोग मुंह मचकोड़ना आदि मुख चेष्टाएँ करते हुए उसकी हीलना (निन्दा) करते हैं। इससे प्रतीत होता है—चूर्णिकार ने 'पगंथे' के बदले 'अपगंथे' शब्द स्वीकार किया है।

जीने के निमित्त से (संयम और संयमीवेश से) निवृत्त हो जाते हैं—संयम छोड़ बैठते हैं।

उन (संयम को छोड़ देने वालों) का गृहवास से निष्क्रमण भी दुर्निष्क्रमण हो जाता है, क्योंकि साधारण (अज्ञ) जनों द्वारा भी वे निन्दनीय हो जाते हैं तथा (ऋद्धि, रस और विषय-सुखों में आसक्त होने से) वे पुनः-पुनः जन्म धारण करते हैं।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र में वे नीचे स्तर के होते हुए भी अपने आपको ही विद्वान मानकर 'मैं ही सर्वाधिक विद्वान हूँ', इस प्रकार से डींग मारते हैं। जो उनसे उदासीन (मध्यस्थ) रहते हैं, उन्हें वे कठोर वचन बोलते हैं। वे (उन मध्यस्थ मुनियों के पूर्व-आचरित-गृहवास के समय किए हुए) कर्म को लेकर बकवास (निन्द्य वचन) करते हैं, अथवा असत्य आरोप लगाकर उन्हें बदनाम करते हैं, (अथवा उनकी अंगविकलता या मुखचेष्टा आदि को लेकर उन्हें अपशब्द कहते हैं)। बुद्धिमान् मुनि (इन सबको अज्ञ एवं धर्म-शून्य जन की चेष्टा समझकर) अपने धर्म (श्रुतचारित्र रूप मुनिधर्म) को भलीभांति जाने-पहचाने।

विवेचन—इस उद्देशक में ऋद्धिगर्व, रसगर्व और साता (सुख) गर्व को लेकर साधक-जीवन के उतार-चढ़ावों का विभिन्न पहलुओं से विश्लेषण करके इन तीन गर्वों (गौरवों) का परित्याग कर विशुद्ध संयम में पराक्रम करने की प्रेरणा दी गयी है।

'पण्णाणमुवलब्भ·······'—इस पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने गर्व होने का रहस्य खोल दिया है। मुनिधर्म जैसी पवित्र उच्च संयम-साधना में प्रव्रजित होकर तथा वर्षों तक पराक्रमी ज्ञानी गुरुजनों द्वारा अहर्निश वात्सल्यपूर्वक क्रमशः प्रशिक्षित-संवर्द्धित किये जाने पर भी कुछ शिष्यों को ज्ञान का गर्व हो जाता है। बहुश्रुत हो जाने के मद में उन्मत्त होकर वे गुरुजनों द्वारा किए गए समस्त उपकारों को भूल जाते हैं, उनके प्रति विनय, नम्रता, आदर-सत्कार, बहुमान, भक्तिभाव आदि को ताक में रख देते हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से उसके अज्ञान मिथ्यात्व एवं क्रोधादि का उपशम होने के बदले प्रबल मोहोदयवश वह उपशमभाव को सर्वथा छोड़कर उपकारी गुरुजनों के प्रति कठोरता धारण कर लेते हैं। उन्हें अज्ञानी, कुदृष्टि-सम्पन्न, एवं चारित्रभ्रष्ट बताने लगते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में ऋद्धिगौरव के अन्तर्गत ज्ञान-ऋद्धि का गर्व कितना भयंकर होता है, यह बताया गया है। ज्ञान-गर्वस्फीत साधक गुरुजनों के साथ वितण्डावाद में उतर जाता है। जैसे—किसी आचार्य ने अपने शिष्य को किन्हीं शब्दों का रहस्य बताया, इस शिष्य ने प्रतिवाद किया—आप नहीं जानते। इन शब्दों का यह अर्थ नहीं होता, जो आपने बताया है। अथवा उसके सहपाठी किसी साधक के द्वारा यह कहने पर कि 'हमारे आचार्य ऐसा बताते हैं', वह (अविनीत एवं गर्वस्फीत) तपाक से उत्तर देता है—"अरे! वह बुद्धि-विकल है, उसकी वाणी भी कुण्ठित है, वह क्या जानता? तू भी उसके द्वारा तोते की तरह पढ़ाया हुआ है, तेरे पास न कोई तर्क-वितर्क है, न युक्ति है।" इस प्रकार

कुछ अक्षरों को दुराग्रहपूर्वक पकड़कर वह ज्ञानलव-दुर्विग्ध व्यक्ति महान् उपशम के कारण भूत ज्ञान को भी विपरीत रूप देकर अपनी उद्धतता प्रकट करता हुआ कठोर वचन बोलता है।[1]

'आणं तं णोत्ति मण्णमाणा'—कुछ साधक ज्ञान-समृद्धि के गर्व के अतिरिक्त साता (सुख के काल्पनिक गौरव की तरंगों में बहकर गुरुजनों के सान्निध्य में वर्षों रहकर भी उनके द्वारा अनुशासित किए जाने पर तपाक से उनकी आज्ञा को ठुकरा देते हैं और कह बैठते हैं—'शायद यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है। 'णो' शब्द यहाँ आंशिक निषेध के अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिए 'शायद' शब्द वाक्य के आदि में लगाया गया है। अथवा साता-गौरव की कल्पना में बहकर साधक अपवाद सूत्रों का आश्रय लेकर चल पड़ता है, जब आचार्य उन्हें उत्सर्ग सूत्रानुसार चलने के लिए प्रेरित करते हैं तो वे कह देते हैं—'यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है।' वस्तुतः ऐसे साधक शारीरिक सुख की तलाश में अपवाद मार्ग का आश्रय लेते हैं।[2]

'समणुण्णा जीविस्सामो'—गुरुजनों द्वारा अविनय-आशातना और चारित्रभ्रष्टता के दुष्परिणाम बताये जाने पर वे चुपचाप सुन-समझ लेते हैं, लेकिन उस पर आचरण करने की अपेक्षा वे गुरुजनों के समक्ष केवल संकल्प भर कर लेते हैं कि 'हम उत्कृष्ट संयमी जीवन जीएँगे।' आशय यह है कि वे आश्वासन देते हैं कि 'हम आपके मनोज्ञ-मनोऽनुकूल होकर जीएँगे।' यह एक अर्थ है। दूसरा वैकल्पिक अर्थ यह भी है—'हम समनोज्ञ-लोकसम्मत होकर जीएँगे।' जनता में प्रतिष्ठा पाना और अपना प्रभाव लोगों पर डालना यह यहाँ 'लोकसम्मत होने का अर्थ है। इसके लिए मंत्र, यंत्र, तंत्र, ज्योतिष, व्याकरण, अंगस्फुरण आदि शास्त्रों का अध्ययन करके लोक-प्रतिष्ठित होकर जीना ही वे अपने साधु जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं गुरुजनों द्वारा कही बातों को कानों से सुनकर, जरा-सा सोचकर रह जाते हैं।[3]

गौरव-दोषों से ग्रस्त साधक[4]—जो साधक ऋद्धि-गौरव, रस, (पंचेन्द्रिय-विषय-रस) गौरव और साता गौरव, इन तीनों गौरव दोषों के शिकार बन जाते हैं, वे निम्नोक्त दुर्गुणों से घिर जाते हैं—

(१) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग पर चलने के संकल्प के प्रति वे सच्चे नहीं रहते।
(२) शब्दादि काम-भोगों में अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं।
(३) तीनों गौरवों को पाने के लिए अहर्निश लालायित रहते हैं।

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२६ के अनुसार।
(ख) "अन्यैः स्वेच्छारचितान् अर्थ-विशेषान् श्रमेण विज्ञाय।
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यंगानि दर्पेण॥"
(उद्धृत)—आचा० शीला० टीका पत्रांक २२६।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२६।

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७ के आधार पर।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७।

(४) तीर्थंकरों द्वारा कथित समाधि (इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण) का सेवन-आचरण नहीं करते।

(५) ईर्ष्या, द्वेष, कषाय आदि से जलते रहते हैं।

(६) शास्ता (आचार्यादि) द्वारा शास्त्रवचन प्रस्तुत करके अनुशासित किये जाने पर कठोर वचन बोलते हैं।

चूर्णिकार **'कामेहिं गिद्धा अज्झोववण्णा'** का अर्थ करते हैं–शब्दादि कामों में गृद्ध—आसक्त एवं अधिकाधिक ग्रस्त।

'सत्थारमेव फरुसं वदंति'—इस पंक्ति के दो अर्थ वृत्तिकार ने सूचित किये हैं—

(१) आचार्यादि द्वारा शास्त्राभिप्रायपूर्वक प्रेरित किए जाने पर भी उस शास्ता को ही कठोर बोलने लगते हैं—'आप इस विषय में कुछ नहीं जानते। मैं जितना सूत्रों का अर्थ, शब्द-शास्त्र, गणित या निमित्त (ज्योतिष) जानता हूँ, उस प्रकार से उतना दूसरा कौन जानता है?' इस प्रकार आचार्यादि शास्ता की अवज्ञा करता हुआ वह तीखे शब्द कह डालता है।

(२) अथवा शास्ता का अर्थ शासनाधीश तीर्थंकर आदि भी होता है। अतः यह अर्थ भी सम्भव है कि शास्ता अर्थात् तीर्थंकर आदि के लिए भी कठोर शब्द कह देते हैं। शास्त्र के अर्थ करने में या आचरण में कहीं भूल हो जाने पर आचार्यादि द्वारा प्रेरित किये जाने पर वे कह देते हैं—तीर्थंकर इससे अधिक क्या कहेंगे? वे हमारा गला काटने से बढ़कर क्या कहेंगे? इस प्रकार शास्त्रकारों के सम्बन्ध में भी वे मिथ्या बकवास कर देते हैं।[1]

दोहरी मूर्खता—तीन प्रकार के गौरव के चक्कर में पड़े हुए ऐसे साधक पहली मूर्खता तो यह करते हैं कि भगवद्-उपदिष्ट विनय आदि या क्षमा, मार्दव आदि मुनिधर्म के उन्नत पथ को छोड़कर सुविधावादी बन जाते हैं, अपनी सुख-सुविधा, मिथ्या प्रतिष्ठा एवं अल्पज्ञता के आधार पर आसान रास्ते पर चलने लगते हैं, जब कोई गुरुजन रोक-टोक करते हैं, तो कठोर शब्दों में उनका प्रतिवाद करते हैं। फिर दूसरी मूर्खता यह करते हैं कि जो शीलवान् उपशान्त और सम्यक् प्रज्ञापूर्व संयम में पराक्रम कर रहे हैं, उन पर कुशीलवान होने का दोषारोपण करते हैं। अथवा उनके पीछे लोगों के समक्ष 'कुशील' कह कर उनकी निन्दा करते हैं।

इस पद का अन्य नय से यह अर्थ भी होता है—स्वयं चारित्र से भ्रष्ट हो गया, यह एक मूर्खता है, दूसरी मूर्खता है—उत्कृष्ट संयम पालकों की निन्दा या बदनामी करना।

तीसरे नय से यह अर्थ भी हो सकता है—किसी ने ऐसे साधकों के समक्ष कहा कि 'ये बड़े शीलवान हैं, उपशान्त हैं, तब उसकी बात का खण्डन करते हुए कहना कि इतने सारे उपकरण रखने वाले इन लोगों में कहाँ शीलवत्ता है या उपशान्तता है? यह उस निन्दक एवं हीनाचारी की दूसरी मूर्खता है।[2]

'णियट्टमाणा०'—कुछ साधक सातागौरव-वश सुख-सुविधावादी बन कर मुनि धर्म के

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७।

मौलिक संयम-पथ से या संयमी वेश से भी निवृत्त हो जाते हैं, फिर भी वे विनय को नहीं छोड़ते, न ही किसी साधु पर दोषारोपण करते हैं, न कठोर बोलते हैं, अर्थात् वे गर्वस्फीत होकर दोहरी मूर्खता नहीं करते। वे अपने आचार में दम्भ, दिखावा नहीं करते, न ही झूठा वहाना बनाकर अपवाद का सेवन करते हैं, किन्तु सरल एवं स्पष्ट हृदय से कहते हैं—'मुनि धर्म का मौलिक आचार तो ऐसा है, किन्तु हम उतना पालन करने में असमर्थ हैं।' वे यों नहीं कहते कि 'हम जैसा पालन करते हैं, वैसा ही साध्वाचार है। इस समय दुःषम-काल के प्रभाव से बल, वीर्य आदि के ह्रास के कारण मध्यम मार्ग (मध्यम आचरण) ही श्रेयस्कर है, उत्कृष्ट-आचरण का अवसर नहीं है। जैसे सारथी घोड़ों की लगाम न तो अधिक खींचता है और न ही ढीली छोड़ता है, ऐसा करने से घोड़े ठीक चलते हैं, इसी प्रकार का (मुनियों का आचार रूप) योग सर्वत्र प्रशस्त होता है।[1]

'णाणब्भट्ठा दंसणलूसिणो'—ज्ञानभ्रष्ट और सम्यग्दर्शन के विध्वंसक इन दोनों प्रकार के लक्षणों से युक्त साधक बहुत खतरनाक होते हैं। वे स्वयं तो चारित्र से भ्रष्ट होते ही हैं, अन्य साधकों को भी अपने दूषण का चेप लगाते हैं, उन्हें भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट करके सन्मार्ग से विचलित कर देते हैं।[2] उनसे सावधान रहने की सूचना यहाँ दी गयी है।

'णममाणा०'—कुछ साधक ऐसे होते हैं, जो गुरुजनों, तीर्थकरों तथा उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति विनीत होते हैं, हर समय वे दवकर, झुककर, नम कर चलते हैं, कई बार वे अपने दोषों को छिपाने या अपराधों के प्रगट हो जाने पर प्रायश्चित्त या दण्ड अधिक न दे दें, इस अभिप्राय से गुरुजनों तथा अन्य साधुओं की प्रशंसा, चापलूसी एवं वन्दना करते रहते हैं। पर यह सब होता है—गौरव त्रिपुटी के चक्कर में पड़कर कर्मोदयवश संयमी जीवन को विगाड़ लेने के कारण। इसलिए उनकी नमन आदि क्रियाएँ केवल द्रव्य से होती हैं, भाव से नहीं।

'पुट्ठा वेगे णियट्टंति'—कुछ साधक इन्हीं तीन गौरवों से प्रतिबद्ध होते हैं, असंयमी जीवन—सुख-सुविधापूर्ण जिन्दगी—के कारण से। किन्तु ज्यों ही परीषहों का आगमन होता है, त्यों ही वे कायर बनकर संयम से भाग खड़े होते हैं, संयमी वेश भी छोड़ बैठते हैं।

'अधे संभवता विद्दायमाणा'—कुछ साधक संयम के स्थानों से नीचे गिर जाते हैं, अथवा अविद्या के कारण अधःपतन के पथ पर विद्यमान होते हैं; स्वयं अल्पज्ञानयुक्त होते हुए भी 'हम विद्वान हैं' इस प्रकार से अपनी मिथ्या श्लाघा (प्रशंसा) करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि थोड़ा-बहुत जानता हुआ भी ऐसा साधक गर्वोन्नत होकर अपनी डींग हांकता रहता है कि 'मैं बहुश्रुत हूँ, आचार्य को जितना शास्त्र ज्ञान है, उतना तो मैंने अल्प समय में ही पढ़ लिया

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८।

(ख) "जो जत्थ होइ भग्गो, ओवासं सो परं अविंदंतो।
गंतुं तत्थऽचयंतो, इमं पहाणं घोसेति॥"

था। इतना ही नहीं, वह जो साधक उसकी अभिमान भरी बात सुनकर मध्यस्थ या मौन बने रहते हैं, उसकी हाँ में हाँ नहीं मिलाते, अथवा बहुश्रुत होने के कारण जो राग-द्वेष और अशान्ति से दूर रहते हैं, उन्हें भी वे कठोर शब्द बोलते हैं। उनमें से किसी के द्वारा किसी गलती के विषय में जरा-सा इशारा करने पर वह भड़क उठता है—"पहले अपने कृत्य-अकृत्य को जान लो, तब दूसरों को उपदेश देना।[1]

'पलियं पगंथे अदुवा पगंथे अतहेहिं'—गर्वस्फीत साधक उद्धत होकर कठोर शब्द ही नहीं बोलता, वह अन्य दो उपाय भी उन सुविहित मध्यस्थ साधकों को दबाने या लोगों की दृष्टि में गिराने के लिए अपनाता है—(१) उस साधु के पूर्वाश्रम के किसी कर्म (धंधे या दुश्चरण) को लेकर कहना—तू तो वही लकड़हारा है न? अथवा तू वही चोर है न? (२) अथवा उसकी किसी अंग-विकलता को लेकर मुँह मचकोड़ना आदि व्यर्थ चेष्टाएँ करते हुए अवज्ञा करना।[2]

चूर्णिकार ने इनके अतिरिक्त एक और अर्थ की कल्पना की है—कत्थन, वर्द्धन और मर्दन—ये तीनों एकार्थक हैं। अतथ्य—(मिथ्या) शब्दों से आत्मश्लाघा करना या छोटी-सी बात को बढ़ाकर कहना या बार-बार एक ही बात को कहते रहना।[3]

बाल का निकृष्टाचरण

१९२. अधम्मट्ठी तुमं सि णाम बाले आरंभट्ठी अणुवयमाणे, हणमाणे, घातमाणे, हणतो यावि समणुजाणमाणे। घोरे धम्मे उदीरिते। उवेहति णं अणाणाए। एस विसण्णे वितद्दे[4] वियाहिते त्ति बेमि।

१९३. किमणेण भो जणेण करिस्सामि त्ति मण्णमाणा एवं पेगे वदित्ता मातरं पितरं हेच्चा णातओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वता दंता[5]। पस्स दीणे उप्पइए पडिवतमाणे। वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति।

१९४. अहमेगेसिं सिलोए पावए भवति—से समणविब्भंते[6] समणविब्भंते।

पासहेगे समण्णागतेहिं असमण्णागए णममाणेहिं अणममाणे विरतेहिं अविरते दवितेहिं अदविते।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८।

३. आचारांग चूर्णि मूल पाठ सूत्र १९१ का टिप्पण।

४. 'वितद्दे' के बदले पाठान्तर मिलते हैं—'वितड्डे, वितंडे' निरर्थक विवाद वितंडा कहलाता है। वितंडा करने वाले को वितंड कहते हैं। वितड्ड शब्द का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—विविहं तड्डो ....वितड्डो।" —विविध प्रकार के तर्द (हिंसा के प्रकार) वितड्ड हैं।

५. इसके बदले नागार्जुनसम्मत पाठान्तर इस प्रकार है—'समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू अविहिंसगा सुव्वता दंता परदत्तभोइणो पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए।"—हम मुनि धर्म के लिए समुत्थित होकर अनगार, अकिंचन, अपुत्र, अप्रसू, (मातृविहीन) अविहिंसक, सुव्रत, दान्त, परदत्त-भोजी श्रमण बनेंगे, पापकर्म नहीं करेंगे।"

६. चूर्णि में इसके बदले 'समणवितंते समण वितंते' पाठ स्वीकार करके अर्थ किया हैं—'विविहं तंतो वितंतो, समणत्तणेण विविहं तंतो जं भणितं उपप्पवतति'—अर्थात्—विविध तंत या तंत्र (प्रपंच) वितंत है। जिसके श्रमणत्व में विविध तंत्र (प्रपंच) है, वह श्रमणवितंत या श्रमण-वितंत्र है।

१९५. अभिसमेच्चा पंडिते मेहावी णिट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सदा परिक्कमेज्जासि त्ति बेमि ।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

१९२. (धर्म से पतित होने वाले अहंकारी साधक को आचार्यादि इस प्रकार अनुशासित करते हैं—) तू अधर्मार्थी है, बाल—(अज्ञ) है, आरम्भार्थी है, (आरम्भ-कर्त्ताओं का) अनुमोदक है, (तू इस प्रकार कहता है—) प्राणियों का हनन करो—(अथवा तू स्वयं प्राणिघात करता है); दूसरों से प्राणिवध कराता है और प्राणियों का वध करने वाले का भी अच्छी तरह अनुमोदन करता है। (भगवान् ने) घोर (संवर-निर्जरारूप दुष्कर—) धर्म का प्रतिपादन किया है, तू आज्ञा का अतिक्रमण कर उसकी उपेक्षा कर रहा है।

वह (अधमार्थी तथा धर्म की उपेक्षा करने वाला) विषण्ण (काम-भोगों की कीचड़ में लिप्त) और वितर्द (हिंसक) कहा गया है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१९३. ओ (आत्मन् !) इस स्वार्थी स्वजन का (या मनोज्ञ भोजनादि का) मैं क्या करूँगा ? यह मानते और कहते हुए (भी) कुछ लोग माता, पिता, ज्ञातिजन और परिग्रह को छोड़कर वीर वृत्ति से मुनि धर्म में सम्यक् प्रकार से उत्थित/प्रव्रजित होते हैं; अहिंसक, सुव्रती और दान्त बन जाते हैं।

(हे शिष्य ! पराक्रम की दृष्टि से) दीन और (पहले सिंह की भाँति प्रव्रजित होकर अब) पतित बनकर गिरते हुए साधकों को तू देख ! वे विषयों से पीड़ित कायरजन (व्रतों के) विध्वंसक हो जाते हैं।

१९४. उनमें से कुछ साधकों की श्लाघारूप कीर्ति पाप रूप हो जाती है; (बदनामी का रूप धारण कर लेती है)—"यह श्रमण विभ्रान्त (श्रमण धर्म से भटक गया) है, यह श्रमण विभ्रान्त है।"

(यह भी) देख ! संयम से भ्रष्ट होने वाले कई मुनि उत्कृष्ट आचार वालों के बीच शिथिलाचारी, (संयम के प्रति) नत/समर्पित मुनियों के बीच (संयम के प्रति) असमर्पित (सावद्य प्रवृत्ति-परायण), विरत मुनियों के बीच अविरत तथा (चारित्र-सम्पन्न) साधुओं के बीच (चारित्रहीन) होते हैं।

१९५. (इस प्रकार संयम-भ्रष्ट साधकों तथा संयम-भ्रष्टता के परिणामों को) निकट से भली-भाँति जानकर पण्डित, मेधावी, निष्ठितार्थ (कृतार्थ) वीर मुनि सदा आगम (—में विहित साधनापथ) के अनुसार (संयम में) पराक्रम करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पिछले सूत्रों में श्रुत आदि के मद से उन्मत्त श्रमण की मानसिक एवं वाचिक ीन वृत्तियों का निदर्शन कराया गया है। सूत्रकार ने बड़ी मनोवैज्ञानिक पकड़ से उसके

चिन्तन और कथन की अपवृत्तियों का स्पष्टीकरण किया है। अब इन अगले चार सूत्रों में उसकी अनियन्त्रित कायिक चेष्टाओं का वर्णन कर गौरव-त्यागधुत की व्याख्या की गयी है।

'अणुवयमाणे'—यह उस अविनीत, गर्वस्फीत और गौरवत्रय से ग्रस्त उच्छृंखल साधक का विशेषण है। इसका अर्थ वृत्तिकार ने यों किया है—(गुरु आदि उसे शिक्षा देते हैं—) तू गौरवत्रय से अनुबद्ध होकर पचन-पाचनादि क्रियाओं में प्रवृत्त है, और उनमें जो गृहस्थ प्रवृत्त हैं, उनके समक्ष तू कहता है—'इसमें क्या दोष है? शरीर रहित होकर कोई भी धर्म नहीं पाल सकता। इसलिए धर्म के आधारभूत शरीर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए।' ऐसा अधर्मयुक्त कथन करने वाला आचारहीन साधक है।[1]

'वितद्दं'—'वितर्द' शब्द के वृत्तिकार ने दो अर्थ किए हैं[2]—(१) विविध प्रकार से हिंसक, (२) संयम-घातक शत्रु या संयम के प्रतिकूल। चूर्णिकार ने इसके दो रूप प्रस्तुत किए हैं—वितड्ड और वितंड। जो विविध प्रकार से हिंसक हो वह वितड्ड और जो वितंडावादी हो वह वितंड।

'उप्पइए पडिवतमाणे'—इस पद में उन साधकों की दशा का चित्रण है, जो पहले तो वीर वृत्ति से स्वजन, ज्ञातिजन, परिग्रह आदि को छोड़ कर विरक्त भाव दिखाते हुए प्रव्रजित होते हैं, एक बार तो वे अहिंसक, दान्त और सुव्रती बन कर लोगों को अत्यन्त प्रभावित कर देते हैं, परन्तु बाद में जब उनकी प्रसिद्धि और प्रशंसा अधिक होने लगती है, पूजा-प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, उन्हें सुख-सुविधाएं भी अधिक मिलने लगती हैं, खान-पान भी स्वादिष्ट, गरिष्ठ मिलता है, चारों ओर मानव-मेदिनी का जमघट और ठाट-बाट लगा रहता है, तब वे इन्द्रिय-सुखों की ओर झुक जाते हैं, उनका शरीर भी सुकुमार बन जाता है, तब वे संयम में पराक्रम की अपेक्षा से दीन-हीन और तीनों गौरवों के दास बन जाते हैं। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'उठकर पुनः गिरते हुए साधकों को तू देख।'[3]

'समणविब्भंते'—यह उस साधक के लिए कहा गया है, जो श्रमण होकर आरंभार्थी, इन्द्रिय-विषय—कषायों से पीड़ित, कायर एवं व्रत-विध्वंसक हो गए हैं। यह श्रमण होकर विविध प्रकार से भ्रान्त हो गया है—भटक गया है, श्रमण धर्म से। चूर्णिकार ने पाठ स्वीकार किया है—**'समण वितंते'**। उसका अर्थ फलित होता है—जिसके श्रमणत्व में विविध तंत या तंत्र (प्रपंच) हैं, उसे श्रमण-वितन्त या श्रमण-वितंत्र कहते हैं।[4]

'दवितेहिं'—द्रव्यिक वह है, जिसके पास द्रव्य हो। द्रव्य का अर्थ धन होता है, साधु के

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८।
२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८।
   (ख) आचारांग चूर्णि—आचा० मूल पाठ सूत्र १९२ की टिप्पणी।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२९ के आधार पर।
४. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २३०।
   (ख) आचारांग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पणी १९४।

पास ज्ञानादि रत्नत्रय रूप धन होता है, अथवा द्रव्य का अर्थ भव्य है—मुक्तिगमन योग्य है।[1] 'द्रविक' का अर्थ दयालु भी होता है।

'णिट्ठियट्ठे'—का अर्थ निष्ठितार्थ—कृतार्थ होता है। जो आत्मतृप्त हो, वही कृतार्थ हो सकता है। आत्मतृप्त वही हो सकता है, जिसकी विषय-सुखों की पिपासा सर्वथा बुझ गयी हो। इसीलिए वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—'विषयसुख-निष्पिपासः निष्ठितार्थः।''[2]

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में गौरव-त्याग की इन विविध प्रेरणाओं पर साधक को दत्तचित्त होकर भौतिक पिपासाओं से मुक्त होने की शिक्षा दी गयी है।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पञ्चम उद्देसओ

पंचम उद्देशक

तितिक्षु-धूत का धर्म कथन

१९६. से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु[3] वा गामंतरेसु वा णगरेसु वा णगरंतरेसु वा जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा संतेगतिया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति। ते फासे पुट्ठो धीरो अधियासए ओए समितदंसणे।

दयं लोगस्स[3] जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे विभए किट्टे वेदवी।

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं, अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा।

१९७. अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसादेज्जा णो परं आसादेज्जा णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसादेज्जा।

---

१. आचारांग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पणी सूत्र १९४।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३०।

३. इसके बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर और उसका अर्थ देखिए—"गामंतरं तु गामतो गामाणं वा अंतरं गामंतरं पंथो उप्पहो वा। एवं **नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जाव रायहाणीसु वा रायहाणिअंतरेसु वा।** एत्थं सण्णिगासो कायव्वो अत्थतो, तं जहा—गामस्स य नगरस्स य अंतरे, एवं गामस्स खेडस्स य अंतरे, जाव गामस्स रायहाणीए य, एवं एक्केक्कं छड्डेतेणं जाव अपच्छिमे रायहाणीए य। एवं एक्केक्कं तेसु जहुद्दिट्ठेसु ठाणेसु **जणवयंतरेसु वा**" इस विवेचन के अनुसार चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**गामंतरेसु वा खेडेसु वा खेडंतरेसु वा कब्बडेसु वा कब्बडंतरेसु वा मडंबेसु वा मडंबंतरेसु वा दोणमुहेसु वा दोणमुहंतरेसु वा पट्टणेसु वा पट्टणंतरेसु वा आगरेसु वा आगरंतरेसु वा आसमेसु वा आसमंतरेसु वा संवाहेसु वा संवाहंतरेसु वा रायहाणीसु वा रायहाणिअंतरेसु वा (जणवएसु वा) जणवयंतरेसु वा**' अर्थात्—ग्राम और नगर के बीच में ग्राम और खेड़ के बीच में यावत् ग्राम और राजधानी तक। इसी प्रकार उन यथोद्दिष्ट स्थानों में से एक-एक बीच में डालना चाहिए। जणवयंतरेसु वा तक। तब पाठ इस प्रकार होगा जो कि ऊपर बताया गया है। चूर्णिसम्मत पाठ यही प्रतीत होता है।

से अणासादए अणासादमाणे वज्झमाणाणं[1] पाणाणं भूताणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवति सरणं महामुणी।

एवं से उट्ठिते ठितप्पा अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए।

संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।

१९८. तम्हा संगं ति पासहा। गंथेहिं गढिता णरा विसण्णा कामक्कंता[2]। तम्हा लूहातो णो परिवित्तसेज्जा। जस्सिमे आरंभा सव्वतो सव्वताए सुपरिण्णाता भवंति जस्सिमे लूसिणो णो परिवित्तसंति, से वंता कोधं च माणं च मायं च लोभं च। एस तिउट्टे वियाहिते त्ति बेमि।

कायस्स वियावाए[3] एस संगामसीसे वियाहिए। से हु पारंगमे मुणी।

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीते कंखेज्ज कालं जाव सरीरभेदो त्ति बेमि।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

१९६. वह (धुत/श्रमण) घरों में, गृहान्तरों में (घरों के आस-पास), ग्रामों में ग्रामान्तरों (ग्रामों के बीच) नगरों में, नगरान्तरों (नगरों के अन्तराल) में, जनपदों में या जनपदान्तरों (जनपदों के बीच) में (आहारादि के लिए विचरण करते हुए अथवा कायोत्सर्ग में स्थित मुनि को देखकर) कुछ विद्वेषी जन हिंसक—(उपद्रवी) हो जाते हैं, (वे अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग देते हैं)। अथवा (सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि परिषहों के) स्पर्श (कष्ट) प्राप्त होते हैं। उनसे स्पृष्ट होने पर धीर मुनि उन सबको (समभाव से) सहन करे।

राग और द्वेष से रहित (निष्पक्ष) सम्यग्दर्शी (या समितदर्शी) एवं आगमज्ञ मुनि लोक (=प्राणिजगत्) पर दया/अनुकम्पा भावपूर्वक पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सभी दिशाओं और विदिशाओं में (स्थित) जीवलोक को धर्म का आख्यान (उपदेश) करे। उसका विभेद करके, धर्माचरण के सुफल का प्रतिपादन करे।

वह मुनि सद्ज्ञान सुनने के इच्छुक व्यक्तियों के बीच, फिर वे चाहे (धर्माचरण के लिए) उत्थित (उद्यत) हों या अनुत्थित (अनुद्यत), शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (कोमलता), लाघव (अपरिग्रह) एवं अहिंसा का प्रतिपादन करे।

वह भिक्षु समस्त प्राणियों, सभी भूतों सभी जीवों और समस्त सत्त्वों का हित-

---

१. 'वज्झमाणाणं' के बदले चूर्णि में बुज्झमाणाणं पाणाणं ·· पाठ स्वीकृत है, जिसका अर्थ है—जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व बोध पाए हुए हैं। अथवा वहिज्जमाणाणं वा संसारसमुद्दतेण' अर्थात्—संसार समुद्र का अन्त (पार) करके बाहर होने वाले।

२. इसके बदले 'काम-अक्कंता' 'कामधिप्पिता' पाठ भी मिलते हैं। अर्थ क्रमशः यों हैं—काम से आक्रान्त या कामग्रस्त या कामगृहीत।

३. 'वियावाए' के बदले पाठान्तर हैं—विवाघाए वियाघाओ विओपाए वियोवाते विउवाते आदि हैं। क्रमशः अर्थ यों हैं—विशेष रूप से व्याघात, व्याघात, (विनाश), व्यापात् (विशेष रूप से पात)।

चिन्तन करके (या उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति के अनुरूप विचार करके) धर्म का व्याख्यान करे।

१९७. भिक्षु विवेकपूर्वक धर्म का व्याख्यान करता हुआ अपने आपको बाधा (आशातना) न पहुँचाए, न दूसरे को बाधा पहुँचाए और न ही अन्य प्राणों, भूतों, जीवों और सत्वों को बाधा पहुँचाए।

किसी भी प्राणी को बाधा न पहुँचाने वाला, तथा जिससे प्राण, भूत, जीव और सत्व का वध हो, (ऐसा धर्म व्याख्यान न देने वाला) तथा आहारादि की प्राप्ति के निमित्त भी (धर्मोपदेश न करने वाला) वह महामुनि संसार-प्रवाह में डूबते हुए प्राणों, भूतों, जीवों और सत्वों के लिए असंदीन द्वीप की तरह शरण होता है।

इस प्रकार वह (संयम में) उत्थित, स्थितात्मा (आत्मभाव में स्थित), अस्नेह, अनासक्त, अविचल (परिषहों और उपसर्गों आदि से अप्रकम्पित), चल (विहारचर्या करने वाला), अध्यवसाय (लेश्या) को संयम से बाहर न ले जाने वाला मुनि (अप्रतिबद्ध) होकर परिव्रजन (विहार) करे।

वह सम्यग्दृष्टिमान् मुनि पवित्र उत्तम धर्म को सम्यक्‌रूप में जानकर (कषायों और विषयों) को सर्वथा उपशान्त करे।

१९८. इसके (विषय-कषायों को शान्त करने के) लिए तुम आसक्ति (आसक्ति के विपाक) को देखो।

ग्रन्थों (परिग्रह) में गृद्ध और उनमें निमग्न बने हुए मनुष्य कामों से आक्रान्त होते हैं।

इसलिए मुनि निःसंग रूप संयम (संयम के कष्टों) से उद्विग्न—खेदखिन्न न हो।

जिन संगरूप आरम्भों से (विषय-निमग्न) हिंसक वृत्ति वाले मनुष्य उद्विग्न नहीं होते, ज्ञानी मुनि उन सब आरम्भों को सब प्रकार से, सर्वात्मना त्याग देते हैं। वे ही मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करने वाले होते हैं।

ऐसा मुनि त्रोटक (संसार-शृंखला को तोड़ने वाला) कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

शरीर के व्यापात को (मृत्यु के समय की पीड़ा को) ही संग्रामशीर्ष (युद्ध का अग्रिम मोर्चा) कहा गया है। (जो मुनि उसमें हार नहीं खाता), वही (संसार का) पारगामी होता है।

(परिषहों और उपसर्गों से अथवा किसी के द्वारा घातक प्रहार से) आहत होने पर भी मुनि उद्विग्न नहीं होता, बल्कि लकड़ी के पाटिये—फलक की भाँति (स्थिर या कृश) रहता है। मृत्युकाल निकट आने पर (विधिवत् संलेखना से शरीर और कषाय को कृश बनाकर समाधिमरण स्वीकार करके मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए) जब तक शरीर का (आत्मा से) भेद (वियोग) न हो, तब तक वह मरणकाल (आयुष्य क्षय) की प्रतीक्षा करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक में परिषहों और उपसर्गों को समभाव से सहने और विवेक तथा समभाव पूर्वक सबको उनकी भूमिका के अनुरूप धर्मोपदेश देने की प्रेरणा दी गयी है।

'लूसगा भवंति'—'लूषक' शब्द हिंसक, उत्पीड़क विनाशक, क्रूर, हत्यारा, हैरान करने वाला, दूषित करने वाला,[1] आज्ञा न मानने वाला, विराधक आदि अर्थों में आचारांग और सूत्रकृतांग में यत्र-तत्र प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रसंगवश लूषक के क्रूर, निर्दय, उत्पीड़क, हिंसक या हैरान करने वाला—ये अर्थ हो सकते हैं। पादविहारी साधुओं को भी ऐसे लूषक जंगलों, छोटे से गांवों, जनशून्य-स्थानों या कभी-कभी घरों में भी मिल जाते हैं। शास्त्रकार ने स्वयं ऐसे कई स्थानों का नाम निर्देश किया है।

निष्कर्ष यह है किसी भी स्थान में साधु को ऐसे उपद्रवी तत्व मिल सकते हैं, और वे साधु को तरह-तरह से हैरान-परेशान कर सकते हैं। वे उपद्रवी या हिंसक तत्व मनुष्य ही हों, ऐसी बात नहीं है, देवता भी हो सकते हैं, तिर्यंच भी हो सकते हैं। साधु प्रायः विचरणशील होता है, वह अकारण एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता। इस दृष्टि से वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण किया है कि साधु उच्च-नीच-मध्यम कुलों (गृहों) में भिक्षा आदि के लिए जा रहा हो, या विभिन्न ग्रामों आदि में हो, या बीच में मार्ग में विहार कर रहा हो, अथवा कहीं गुफा या जनशून्य स्थान में कायोत्सर्ग या अन्य किसी स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि साधना में संलग्न हो, उस समय संयोगवश कोई मनुष्य, तिर्यंच या देव द्वेष-वैर-वश या कुतूहल, परीक्षा, भय, स्वरक्षण आदि की दृष्टि से उपद्रवी हो जाता है। निर्मल, सरल, निष्कलंक, निर्दोष मुनि पर अकारण ही कोई उपसर्ग करने लगता है या फिर अनुकूल या प्रतिकूल परिषहों का स्पर्श हो जाता है। उस समय धूतवादी (कर्मक्षयार्थी) मुनि को शान्ति, समाधि और संयम-निष्ठा भंग न करते हुए समभावपूर्वक उन्हें सहना चाहिए; क्योंकि शान्ति आदि दशविध, मुनिधर्म में सुस्थिर रहने वाला मुनि ही दूसरों को धर्मोपदेश द्वारा सन्मार्ग बता सकता है।[2]

'ओए समितदंसणे'—ये दोनों विशेषण मुनि के हैं। इनका अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—ओज का अर्थ है—एकल; राग-द्वेष रहित होने से अकेला। समित-दर्शन पद के तीन अर्थ किए गये हैं—(१) जिसका दर्शन समित—सम्यक् हो गया हो, वह सम्यग्दृष्टि, (२) जिसका दर्शन (दृष्टि, ज्ञान या अध्यवसाय) शमित—उपशान्त हो गया हो, वह शमितदर्शन और (३) जिसकी दृष्टि समता को प्राप्त कर चुकी है, वह समित-दर्शन—समदृष्टि।[3] इन दोनों विशेषणों से युक्त मुनि ही उपसर्ग/परीषह को समभावपूर्वक सह सकता है।

'ओए' का संस्कृत रूपान्तर 'ओतः' करने पर ऐसा अर्थ भी सम्भव है—अपने आत्मा में ओत-प्रोत, जिसे शरीर आदि पर-भाव से कोई वास्ता न हो। ऐसा साधक ही उपसर्गों और परीषहों को सह सकता है।

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ७२८।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३१ के आधार पर।

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३२।

धर्म व्याख्यान क्यों, किसको और कैसे ?—सूत्र १९६ के उत्तरार्ध में इन तीनों शंकाओं का समाधान किया गया है। वृत्तिकार ने उसे स्पष्ट करते हुए कहा है—द्रव्यतः—प्राणिलोक पर दया व अनुकम्पा बुद्धिपूर्वक, क्षेत्रतः—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर—इन चार दिशाओं और विदिशाओं के विभाग का भलीभाँति निरीक्षण करके धर्मोपदेश दे, कालतः—यावज्जीवन और भावतः—समभावी निष्पक्ष—राग-द्वेष रहित होकर।

चूँकि सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, सुख प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं—इस बात को आत्मौपम्यदृष्टि से सदा तौलकर जो स्वयं के लिए प्रतिकूल है, उसे दूसरों के लिए न करे, इस आत्मधर्म को समझकर कहे। किन्तु विभाग करके कहे। यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से भेद करके आक्षेपणी आदि कथा विशेषों से या प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रिभोजन-विरति आदि के रूप में धर्म का—पृथक्करण करे। तथा यह भी भलीभाँति देखे कि यह पुरुष कौन है ? किस देवता विशेष को नमस्कार करता है ? अर्थात् किस धर्म का अनुयायी है ? आग्रही है या अनाग्रही है ? इस प्रकार का विचार करे। तदनन्तर वह आगमवेत्ता साधक, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, धर्माचरण आदि का फल बताए—धर्मोपदेश करे।

धर्म-श्रोता कैसा हो ? इस सम्बन्ध में शास्त्र के पाठानुसार वृत्तिकार स्पष्टीकरण करते हैं—वह आगमवेत्ता स्व-पर-सिद्धान्त का ज्ञाता मुनि यह देखे कि जो भाव से उत्थित पूर्ण संयम पालन के लिए उद्यत हैं, उन्हें अथवा सदैव उत्थित स्वशिष्यों को समझाने के लिए अथवा अनुत्थित—श्रावकों आदि को, धर्म-श्रवण के जिज्ञासुओं को अथवा गुरु आदि की पर्युपासना करने वाले उपासकों को, संसार-सागर पार करने के लिए धर्म का व्याख्यान करे।[1]

धर्म के किस-किस रूप का व्याख्यान करे ? इसके लिए शास्त्रकार ने बताया है—'संति···अणतिवत्तियं····।'

'अणतिवत्तिय'—शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किए हैं[2]—(१) जिस धर्मकथा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अतिव्रजन-अतिक्रमण न हो, वैसी अनतिव्राजिक धर्मकथा कहे, अथवा जिस कथा से अतिपात (हिंसा) न हो, वैसी अनतिपातिक धर्मकथा कहे। वृत्तिकार ने इसका दूसरा ही अर्थ किया है—'आगमों में जो वस्तु जिस रूप में कही है, उस यथार्थ वस्तु स्वरूप का अतिक्रमण/अतिपात न करके धर्मकथा कहे।'

धर्मकथा किसके लिए न करे ?—शास्त्रकार ने धर्माख्यान के साथ पाँच निषेध भी बताए हैं—(१) अपने आपको बाधा पहुँचती हो तो, (२) दूसरे को बाधा पहुँचती हो तो, (३) प्राण, भूत, जीव, सत्त्व को बाधा पहुँचती हो तो, (४) किसी जीव की हिंसा होती हो तो, (५) आहारादि की प्राप्ति के लिए।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३२।

२. "अणतिवत्तियं नाणादीणि जहा ण अतिवयति तहा कहेति। अहवा अतिपतणं अतिपातो···ण अतिवातेति अणतिवातियं।" —आचारांग चूर्णि पृष्ठ ६७

आत्माशातना—पराशातना—आत्मा की आशातना का वृत्तिकार ने अर्थ किया है—अपने सम्यग्दर्शन आदि के आचरण में बाधा पहुँचाना आत्माशातना है। श्रोता की आशातना—अवज्ञा या बदनामी करना पराशातना है।[1]

धर्म व्याख्यानकर्ता की योग्यताएँ—शास्त्रकार ने धर्माख्यानकर्ता की सात योग्यताएँ बतायी हैं—(१) निष्पक्षता, (२) सम्यग्दर्शन, (३) सर्वभूत दया, (४) पृथक्-पृथक् विश्लेषण करने की क्षमता, (५) आगमों का ज्ञान, (६) चिंतन करने की क्षमता और (७) आशातना-परित्याग।

नागार्जुनीय वाचना में जो पाठ अधिक है[2]—जिसके अनुसार निम्नोक्त गुणों से युक्त मुनि धर्माख्यान करने में समर्थ होता है—(१) जो बहुश्रुत हो, (२) आगम-ज्ञान में प्रवुद्ध हो, (३) उदाहरण एवं हेतु-अनुमान में कुशल हो, (४) धर्मकथा की लब्धि से सम्पन्न हो, (५) क्षेत्र, काल और पुरुष के परिचय में आने पर यह—पुरुष कौन है? किस दर्शन (मत) को मानता है, इस प्रकार की परीक्षा करने में कुशल हो। इन गुणों से सुसम्पन्न साधक ही धर्माख्यान कर सकता है।

सूत्रकृतांग सूत्र में धर्माख्यानकर्ता की आध्यात्मिक क्षमताओं का प्रतिपादन किया गया है, यथा—(१) मन, वचन, काया से जिसका आत्मा गुप्त हो, (२) सदा दान्त हो, (३) संसार-स्रोत जिसने तोड़ दिए हों, (४) जो आस्रव-रहित हो, वही शुद्ध, परिपूर्ण और अद्वितीय धर्म का व्याख्यान करता है।[3]

'लूहातो'—का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—संग या आसक्ति रहित—लूखा—रुक्ष अर्थात्—संयम।[4]

'संगामसीसे'—शरीर का विनाश-काल (मरण)—वस्तुतः साधक के लिए संग्राम का अग्रिम मोर्चा है। मृत्यु का भय संसार में सबसे बड़ा भय है। इस भय पर विजय पाने वाला, सब प्रकार के भयों को जीत लेता है। इसलिए मृत्यु निकट आने पर या मारणान्तिक वेदना होने पर शांत, अविचल रहना—मृत्यु के मोर्चे को जीतना है। इस मोर्चे पर जो हार खा जाता है, वह प्रायः सारे संयमी जीवन की उपलब्धियों को खो देता है। उस समय शरीर के प्रति सर्वथा निरपेक्ष और निर्भय होना जरूरी है, अन्यथा की-कराई सारी साधना चौपट हो जाती है। शरीर के प्रति मोह-ममत्व या आसक्ति से बचने के लिए पहले से ही कषाय और शरीर की संलेखना (कृशीकरण) करनी होती है। इसके लिए दोनों तरफ से छीले हुए फलक की उपमा देकर बताया है—जैसे काष्ठ को दोनों ओर से छीलकर उसका पाटिया—फलक बनाया जाता है, वैसे ही साधक शरीर और कषाय से कृश—दुबला हो जाता है। ऐसे साधक को 'फलगावतट्ठी' की उपमा दी गयी है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३२।

२. "जे खलु भिक्खू बहुस्सुतो बब्भागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहियलद्धिसंपण्णे खित्तं कालं पुरिसं समासज्ज के अयं पुरिसं कं वा दरिसणं अभिसंपण्णे एवं गुणजाईए पभू धम्मस्स आघवित्तए।"
—आचारांग चूर्णि पृ० ६७

३. सूत्रकृतांग श्रु० १ अ० ११ गाथा २४।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३३।

धर्म व्याख्यान क्यों, किसको और कैसे ?—सूत्र १९६ के उत्तरार्ध में इन तीनों शंकाओं का समाधान किया गया है। वृत्तिकार ने उसे स्पष्ट करते हुए कहा है—द्रव्यतः—प्राणिलोक पर दया व अनुकम्पा बुद्धिपूर्वक, क्षेत्रतः—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर—इन चार दिशाओं और विदिशाओं के विभाग का भलीभाँति निरीक्षण करके धर्मोपदेश दे, कालतः—यावज्जीवन और भावतः—समभावी निष्पक्ष—राग-द्वेष रहित होकर।

चूँकि सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, सुख प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं—इस बात को आत्मौपम्यदृष्टि से सदा तौलकर जो स्वयं के लिए प्रतिकूल है, उसे दूसरों के लिए न करे, इस आत्मधर्म को समझकर कहे। किन्तु विभाग करके कहे। यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से भेद करके आक्षेपणी आदि कथा विशेषों से या प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रिभोजन-विरति आदि के रूप में धर्म का—पृथक्करण करे। तथा यह भी भलीभाँति देखे कि यह पुरुष कौन है ? किस देवता विशेष को नमस्कार करता है ? अर्थात् किस धर्म का अनुयायी है ? आग्रही है या अनाग्रही है ? इस प्रकार का विचार करे। तदनन्तर वह आगमवेत्ता साधक, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, धर्माचरण आदि का फल बताए—धर्मोपदेश करे।

धर्म-श्रोता कैसा हो ? इस सम्बन्ध में शास्त्र के पाठानुसार वृत्तिकार स्पष्टीकरण करते हैं—वह आगमवेत्ता स्व-पर-सिद्धान्त का ज्ञाता मुनि यह देखे कि जो भाव से उत्थित पूर्ण संयम पालन के लिए उद्यत हैं, उन्हें अथवा सदैव उत्थित स्वशिष्यों को समझाने के लिए अथवा अनुत्थित—श्रावकों आदि को, धर्म-श्रवण के जिज्ञासुओं को अथवा गुरु आदि की पर्युपासना करने वाले उपासकों को, संसार-सागर पार करने के लिए धर्म का व्याख्यान करे।[1]

धर्म के किस-किस रूप का व्याख्यान करे ? इसके लिए शास्त्रकार ने बताया है—'संति···अणतिवत्तियं····।'

'अणतिवत्तिय'—शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किए हैं[2]—(१) जिस धर्मकथा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अतिव्रजन-अतिक्रमण न हो, वैसी अनतिव्राजिक धर्मकथा कहे, अथवा जिस कथा से अतिपात (हिंसा) न हो, वैसी अनतिपातिक धर्मकथा कहे। वृत्तिकार ने इसका दूसरा ही अर्थ किया है—'आगमों में जो वस्तु जिस रूप में कही है, उस यथार्थ वस्तु स्वरूप का अतिक्रमण/अतिपात न करके धर्मकथा कहे।'

धर्मकथा किसके लिए न करे ?—शास्त्रकार ने धर्माख्यान के साथ पाँच निषेध भी बताए हैं—(१) अपने आपको वाधा पहुँचती हो तो, (२) दूसरे को वाधा पहुँचती हो तो, (३) प्राण, भूत, जीव, सत्व को वाधा पहुँचती हो तो, (४) किसी जीव की हिंसा होती हो तो, (५) आहारादि की प्राप्ति के लिए।

१, आचा० शीला० टीका पत्रांक २३२।

२. "अणतिवत्तियं नाणादीणि जहा ण अतिवयति तहा कहेति। अहवा अतिपतणं अपिपातो···ण अतिवातेति अणतिवातियं।" —आचारांग चूर्णि पृष्ठ ६७

आत्माशातना—पराशातना—आत्मा की आशातना का वृत्तिकार ने अर्थ किया है—अपने सम्यग्दर्शन आदि के आचरण में बाधा पहुँचाना आत्माशातना है। श्रोता की आशातना—अवज्ञा या बदनामी करना पराशातना है।[1]

धर्म व्याख्यानकर्ता की योग्यताएँ—शास्त्रकार ने धर्माख्यानकर्ता की सात योग्यताएँ बतायी हैं—(१) निष्पक्षता, (२) सम्यग्दर्शन, (३) सर्वभूत दया, (४) पृथक्-पृथक् विश्लेषण करने की क्षमता, (५) आगमों का ज्ञान, (६) चिंतन करने की क्षमता और (७) आशातना-परित्याग।

नागार्जुनीय वाचना में जो पाठ अधिक है[2]—जिसके अनुसार निम्नोक्त गुणों से युक्त मुनि धर्माख्यान करने में समर्थ होता है—(१) जो बहुश्रुत हो, (२) आगम-ज्ञान में प्रवुद्ध हो, (३) उदाहरण एवं हेतु-अनुमान में कुशल हो, (४) धर्मकथा की लब्धि से सम्पन्न हो, (५) क्षेत्र, काल और पुरुष के परिचय में आने पर यह—पुरुष कौन है? किस दर्शन (मत) को मानता है, इस प्रकार की परीक्षा करने में कुशल हो। इन गुणों से सुसम्पन्न साधक ही धर्माख्यान कर सकता है।

सूत्रकृतांग सूत्र में धर्माख्यानकर्ता की आध्यात्मिक क्षमताओं का प्रतिपादन किया गया है, यथा—(१) मन, वचन, काया से जिसका आत्मा गुप्त हो, (२) सदा दान्त हो, (३) संसार-स्रोत जिसने तोड़ दिए हों, (४) जो आस्रव-रहित हो, वही शुद्ध, परिपूर्ण और अद्वितीय धर्म का व्याख्यान करता है।[3]

'लूहात्तो'—का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—संग या आसक्ति रहित—लूखा—रूक्ष अर्थात्—संयम।[4]

'संगामसीसे'—शरीर का विनाश-काल (मरण)—वस्तुतः साधक के लिए संग्राम का अग्रिम मोर्चा है। मृत्यु का भय संसार में सबसे बड़ा भय है। इस भय पर विजय पाने वाला, सब प्रकार के भयों को जीत लेता है। इसलिए मृत्यु निकट आने पर या मारणान्तिक वेदना होने पर शांत, अविचल रहना—मृत्यु के मोर्चे को जीतना है। इस मोर्चे पर जो हार खा जाता है, वह प्रायः सारे संयमी जीवन की उपलब्धियों को खो देता है। उस समय शरीर के प्रति सर्वथा निरपेक्ष और निर्भय होना जरूरी है, अन्यथा की-कराई सारी साधना चौपट हो जाती है। शरीर के प्रति मोह-ममत्व या आसक्ति से बचने के लिए पहले से ही कषाय और शरीर की संलेखना (कृशीकरण) करनी होती है। इसके लिए दोनों तरफ से छीले हुए फलक की उपमा देकर बताया है—जैसे काष्ठ को दोनों ओर से छीलकर उसका पाटिया—फलक बनाया जाता है, वैसे ही साधक शरीर और कषाय से कृश—दुबला हो जाता है। ऐसे साधक को 'फलगावतट्ठी' की उपमा दी गयी है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३२।

२. "जे खलु भिक्खू बहुस्सुतो बज्भागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहियलद्धिसंपण्णे खित्तं कालं पुरिसं समासज्ज के अयं पुरिसं कं वा दरिसणं अभिसंपण्णे एवं गुणजाईए पभू धम्मस्स आघवित्तए।"
—आचारांग चूर्णि पृ० ६७

३. सूत्रकृतांग श्रु० १ अ० ११ गाथा २४।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३३।

'कालोवणीते' शब्द से शास्त्रकार ने यह व्यक्त किया है कि काल (आयुष्य-क्षय/काल की प्रतीक्षा की जानी चाहिए)।

चूर्णिकार ने 'कालोवणीते' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—कालोपनीत शब्द से यह ध्वनित होता है कि काल (मृत्यु) प्राप्त न हो तो मरण का उद्यम नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य नागार्जुन का अभिमत साक्षी है—(साधक विचार करता है—) "यदि मैं आयुष्य क्षय न होने की स्थिति में मृत्यु प्राप्त कर जाऊँगा तो सुपरिणाम का लोप, अकीर्ति और दुर्गतिगमन हो जाएगा।"[1]

इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—'कंखेज्ज कालं जाव सरीरभेदो'—जब तक शरीर छूटे नहीं, तब तक काल (मृत्यु) की प्रतीक्षा) करे।[2]

'कालोपणीते' का आशय वृत्तिकार प्रगट करते हैं—मृत्युकाल ने परवश कर दिया, इसलिए १२ वर्ष तक संलेखना द्वारा अपने आपको कृश करके पर्वत की गुफा आदि स्थण्डिल भूमि में पादपोपगमन, इंगित-मरण या भक्तपरिज्ञा, इनमें से किसी एक द्वारा अनशन-स्थित होकर मरण (आयुष्य क्षय) तक यानी आत्मा से शरीर पृथक् होने तक, आकांक्षा—प्रतीक्षा करे।

'अवि हम्ममाणे'—यह समाधि-मरण के साधक का विशेषण है। इसके द्वारा सूचित किया गया है कि साधक को अन्तिम समय में परीषहों और उपसर्गों से घबराना नहीं चाहिए, पराजित न होना चाहिए। बल्कि इनसे आहत होने पर फलकवत् सुस्थिर रहना चाहिए। अन्यथा समाधि-मरण का अवसर खोकर वह बालमरण को प्राप्त हो जाएगा।[3]

'से हु पारंगमे मुणी'—जो मुनि मृत्यु के समय मोहमूढ़ नहीं होता, परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहता है, वह अवश्य ही पारगामी, संसार या कर्म का अंत पाने वाला हो जाता है। अथवा जो संयम भार उठाया था, उसे पार पहुँचाने वाला होता है।[4]

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

॥ 'धूत' षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. "काल ग्रहणा 'कालोवणीतो' ग्रहणाद्वा ण अप्पत्ते काले मरणस्स उज्जमियव्वं। एत्य णागज्जुणा सक्खिणो—'जति खलु अहं अपुण्णे आउत्ते उ कालं करिस्सामि तो—परिण्णालोवे अकित्ती दुग्गति-गमणं च भविस्सई।' सो एवं कालोवणीतो।" —आचारांग चूर्णि पृ० ६८

२. आचा० शीला० टीका पत्र २३४। ३. आचा० शीला० टीका पत्र २३४।

४. आचा० शीला० टीका पत्र २३४।

'महापरिज्ञा' सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र के सातवें अध्ययन का नाम 'महापरिज्ञा' है, जो वर्तमान में अनुपलब्ध (विच्छिन्न) है।[1]
- 'महापरिज्ञा' का अर्थ है महान्—विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोहा-जनित दोषों को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करना।
- तात्पर्य यह है कि साधक मोह उत्पन्न होने के कारणों एवं आकांक्षाओं, कामनाओं, विषय-भोगों की लालसाओं, आदि से बंधने वाले मोहकर्म के दुष्परिणामों को जानकर उनका क्षय करने के लिए महाव्रत, समिति, गुप्ति, परीषह-उपसर्ग सहनरूप तितिक्षा, विषय-कषाय-विजय, बाह्य-आभयन्तर तप, संयम, स्वाध्याय एवं आत्मालोचन आदि को स्वीकार करे, यही महापरिज्ञा है।
- इस पर लिखी हुई आचारांगनिर्युक्ति छिन्न-भिन्न रूप में आज उपलब्ध है। उसके अनुशीलन से पता चलता है कि निर्युक्तिकार के समय में यह अध्ययन उपलब्ध रहा होगा। निर्युक्तिकार ने **'महापरिन्ना'** शब्द के **'महा'** और **'परिन्ना'** इन दो पदों का निरूपण करने के साथ-साथ **'परिन्ना'** के प्रकारों का भी वर्णन किया है एवं अन्तिम गाथा में बताया है कि साधक को देवांगना, नरांगना आदि के मोहजनित परीषहों तथा उपसर्गों को सहन करके मन, वचन, काया से उनका त्याग करना चाहिए। इस परित्याग का नाम महापरिज्ञा है।
- सात उद्देशकों से युक्त इस अध्ययन में निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु के अनुसार मोहजन्य परीषहों या उपसर्गों का वर्णन था।[2] वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'संयमादि गुणों से युक्त साधक की साधना में कदाचित् मोहजन्य परीषह या उपसर्ग विघ्नरूप में आ पड़े तो उन्हें समभावपूर्वक (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) सहना चाहिए।[3]

---

१. यह मत आचारांग निर्युक्ति; चूर्णि एवं वृत्ति के अनुसार है। स्थानांग तथा समवायांग सूत्र के अनुसार 'महापरिण्णा' नवमं अध्ययन है। नंदि सूत्र की हारिभद्रीय वृत्ति के अनुसार यह अष्टम अध्ययन था। —देखें आचारांग मुनि जम्बूविजय जी की प्रस्तावना पृष्ठ २८।

२. **'मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा'** —आचा० निर्युक्ति गा० ३४

३. **सप्तमेत्वयम् संयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिन्मोहसमुत्थाः परीषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः।** —आचा० शीला० टीका पत्रांक २५९

☆ सभी साधकों की दृढ़ता, धृति, मति, विरक्ति, कष्ट-सहनक्षमता, संहनन, प्रज्ञा, एक सरीखी नहीं होती, इसलिए निर्बल मन आदि से युक्त साधक संयम से सर्वथा भ्रष्ट न हो जाए, क्योंकि संयम में स्थिर रहेगा तो आत्म-शुद्धि करके दृढ़ हो जाएगा, इस दृष्टि से संभव है, इस अध्ययन में कुछ मंत्र, तंत्र, यंत्र विद्या आदि के प्रयोग[1] साधक को संयम में स्थिर रखने के लिए दिए गये हों, परन्तु आगे चलकर इनका दुरुपयोग होता देखकर इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया हो[2] और सम्भव है, एक दिन इस अध्ययन को आचारांग से सर्वथा पृथक् कर दिया गया हो।

☆ वृत्तिकार इस अध्ययन को विच्छिन्न बताते हैं।[3] जो भी हो, यह अध्ययन आज हमारे समक्ष अनुपलब्ध है।

□

---

१. जेणुद्धरिया विज्जा आगाससमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुयधराणं ॥७६९॥ —आवश्यक निर्युक्ति
इस गाथा से प्रतीत होता है, आर्यवज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से कई विद्याएँ उद्धृत की थीं। प्रभावक चरित वज्रप्रबन्ध (१४८) में भी कहा है—वज्रस्वामी ने आचारांग के महापरिज्ञाध्ययन से 'आकाश गामिनी' विद्या उद्धृत की।

२. संपत्ते महापरिण्णा ण पढिज्जइ असमणुण्णाया—आचा० चर्णि।

३. सप्तमं महापरिज्ञाध्ययनं, तच्च सम्प्रति व्यवच्छिन्नम् —आचा० शीला० टीका पत्रांक २५९।

'विमोक्ष' अष्टम अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र के अष्टम अध्ययन का नाम 'विमोक्ष' है।

☆ अध्ययन के मध्य और अन्त में 'विमोह' शब्द का उल्लेख मिलता है, इसलिए इस अध्ययन के 'विमोक्ष' और 'विमोह', ये दो नाम प्रतीत होते हैं। यह भी सम्भव है कि 'विमोह' का ही 'विमोक्ष' यह संस्कृत स्वरूप स्वीकार कर लिया गया हो।[1]

☆ 'विमोक्ष' का अर्थ परित्याग करना—अलग हो जाना है और विमोह का अर्थ—मोह रहित हो जाना। तात्त्विक दृष्टि से अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

☆ बेड़ी आदि किसी बन्धन रूप द्रव्य से छूट जाना—'द्रव्य-विमोक्ष' है और आत्मा को बन्धन में डालने वाले कषायों अथवा आत्मा के साथ लगे कर्मों के बन्धन रूप संयोग से मुक्त हो जाना 'भाव-विमोक्ष' है।[2]

☆ यहाँ भाव-विमोक्ष का प्रतिपादन है। वह मुख्यतया दो प्रकार का है—देश-विमोक्ष और सर्व-विमोक्ष। अविरत सम्यग्दृष्टि का, अनन्तानुबन्धी (चार) कषायों के क्षयोपशम से देशविरतों का, अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानी, (आठ) कषायों के क्षयोपशम से सर्वविरत साधुओं का, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी, (इन १२) कषायों के क्षयोपशम से तथा क्षपकश्रेणी में जिसका कषाय क्षीण हुआ है, उनका उतना 'देश-विमोक्ष'—कहलाता है। सर्वथा विमुक्त सिद्धों का 'सर्वविमोक्ष' होता है।[3]

☆ 'भाव-विमोक्ष' का एक अन्य नय से यह भी अर्थ होता है कि पूर्वबद्ध या अनादिबन्धन-बद्ध जीव का कर्म से सर्वथा अभाव रूप विवेक (पृथक्करण) भावविमोक्ष है। ऐसा भाव-विमोक्ष जिसका होता है, उसे भक्तपरिज्ञा, इंगितमरण और पादपोपगमन, इन तीन समाधिमरणों में से किसी एक मरण का अवश्य स्वीकार करना होता है। ये मरण

---

१. (क) अध्ययन के मध्य में, 'इच्चेयं विमोहाययणं' तथा 'अणुपुव्वेण विमोहाइ' एवं अध्ययन के अन्त में 'विमोहन्नयरं हियं' इन वाक्यों में स्पष्ट रूप से 'विमोह' का उल्लेख है। निर्युक्ति एवं वृत्ति में 'विमोक्ष' नाम स्वीकृत हैं। चूर्णि में अध्ययन की समाप्ति पर 'विमोक्षायतन' नाम अंकित है।
(ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २५६, २७६, २६५।

२. आचारांग निर्युक्ति गा० २५६, २६०। आचा० शीला० टीका पत्रांक २६०।

३. आचा० निर्युक्ति गा० २६०, आचा० शीला० टीका पत्रांक २६०।

भी भाव-विमोक्ष के कारण होने से भावविमोक्ष हैं।[1] उनके अभ्यास के लिए साधक के द्वारा विविध बाह्याभ्यन्तर तपों द्वारा शरीर और कषाय की संलेखना करना उन्हें कृश करना भी भाव-विमोक्ष है।

☆ विमोक्ष अध्ययन के ८ उद्देशक हैं। जिनमें पूर्वोक्त भाव-विमोक्ष के परिप्रेक्ष्य में विविध पहलुओं से विमोक्ष का निरूपण है।

☆ प्रथम उद्देशक में असमनोज्ञ-विमोक्ष का, द्वितीय उद्देशक में अकल्पनीय-विमोक्ष का, तथा तृतीय उद्देशक में इन्द्रिय-विषयों से विमोक्ष का वर्णन है। चतुर्थ उद्देशक से अष्टम उद्देशक तक एक या दूसरे प्रकार से उपकरण और शरीर के परित्यागरूप विमोक्ष का प्रतिपादन है। जैसे कि चतुर्थ में वैहानस और गृद्धपृष्ठ नामक मरण का, पंचम में ग्लानता एवं भक्तपरिज्ञा का, छठे में एकत्वभावना और इंगितमरण का, सप्तम में भिक्षु प्रतिमाओं तथा पादपोपगमन का एवं अष्टम उद्देशक में द्वादश वर्षीय संलेखना-क्रम एवं भक्त-परिज्ञा, इंगितमरण एवं पादपोपगमन के स्वरूप का प्रतिपादन है।[2]

☆ यह अध्ययन सूत्र १९९ से प्रारम्भ होकर सूत्र २५३ पर समाप्त होता है।

निश्चित समझ लो—(हमारे मठ या आश्रम में प्रतिदिन) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन (मिलता है)। तुम्हें ये प्राप्त हुए हों या न हुए हों तुमने भोजन कर लिया हो या न किया हो, मार्ग सीधा हो या टेढा हो; हमसे भिन्न धर्म का पालन (आचरण) करते हुए भी तुम्हें (यहाँ अवश्य आना है)। (यह बात) वह (उपाश्रय—धर्म-स्थान में) आकर कहता हो या (रास्ते में) चलते हुए कहता हो, अथवा उपाश्रय में आकर या मार्ग में चलते हुए वह अशन-पान आदि देता हो, उनके लिए निमंत्रित (मनुहार) करता हो, या (किसी प्रकार का) वैयावृत्य करता हो, तो मुनि उसकी बात का बिलकुल अनादर (उपेक्षा) करता हुआ (चुप रहे)।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—समनोज्ञ-असमनोज्ञ—ये दोनों शब्द श्रमण भगवान् महावीर के धर्मशासन के साधु-साध्वियों के लिए साधनाकाल में दूसरे के साथ सम्बन्ध रखने व न रखने में विधि-निषेध के लिए प्रयुक्त हैं। समनोज्ञ उसे कहते हैं—जिसका अनुमोदन दर्शन से, वेष से और समाचारी से किया जा सके। और असमनोज्ञ उसे कहते हैं—जिसका अनुमोदन दृष्टि से, वेष से और समाचारी से न किया जा सके। एक जैनश्रमण के लिए दूसरा जैनश्रमण समनोज्ञ होता है, जबकि अन्य धर्म-सम्प्रदायानुयायी साधु असमनोज्ञ। समनोज्ञ के भी मुख्यतया चार विकल्प होते हैं।[1]

(१) जिनके दर्शन (श्रद्धा-प्ररूपणा) में थोड़ा-सा अन्तर हो, वेष में जरा-सा अन्तर हो, समाचारी में भी कई बातों में अन्तर हो।

(२) जिनके दर्शन और वेश में अन्तर न हो, परन्तु समाचारी में अन्तर हो।

(३) जिनके दर्शन, वेष और समाचारी, तीनों में कोई अन्तर न हो, किन्तु आहारादि सांभोगिक व्यवहार न हो, और

(४) जिनके दर्शन, वेष और समाचारी तीनों में कोई अन्तर न हो तथा जिनके साथ आहारादि सांभोगिक व्यवहार भी हो।

इन चारों विकल्पों में पूर्ण समनोज्ञ तो चौथे विकल्प वाला होता है। प्रायः सम आचार वाले के साथ सांभोगिक व्यवहार सम्बन्ध रखा जाता है, जिसका आचार सम न हो, उसके साथ नहीं। वृत्तिकार ने '**समणुण्ण**' शब्द का संस्कृत रूपान्तर '**समनोज्ञ**' करके उसका अर्थ किया है—जो दर्शन से और वेष से सम हो, किन्तु भोजनादि व्यवहार से नहीं।[2] सार्धमिक (समान धर्मा) तो मुनि भी हो सकते हैं, गृहस्थ भी। यहाँ—मुनि सार्धमिक ही विवक्षित है। मुनि अपने

---

१. समनोज्ञ या समनुज्ञ के निम्नोक्त अर्थ शास्त्रों में किए गये हैं—(१) एक समाचारी-प्रतिबद्ध (औपपातिक, आचारांग, व्यवहार) (२) सांभोगिक (निशीथ चू० ५ उ० ०।३।३), (३) चारित्रवति संविग्ने (आचा० १, ८।२ उ०), (४) अनुमोदनकर्त्ता (आचा० १।१।१।५), (५) अनुमोदित (आचा० वृ० पाइअसद्द०)

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६४।

साधर्मिक समनोज्ञ को ही आहारादि ले-दे सकता है, किन्तु एक आचार होने पर भी जो शिथिल आचार वाले पार्श्वस्थ, कुशील, अपच्छंद, अपसन्न आदि हों, उन्हें मुनि आदरपूर्वक आहारादि नहीं ले-दे सकता। निशीथसूत्र में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है।[1] असमनोज्ञ के लिए शास्त्रों में 'अन्यतीर्थिक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। 'णो पाएज्जा' आदि तीन निषेधात्मक वाक्यों में प्रयुक्त 'णो' शब्द सर्वथा निषेध अर्थ में है। कदाचित् ऐसा समनोज्ञ या असमनोज्ञ साधु अत्यन्त रुग्ण, असहाय, अशक्त, ग्लान या संकटग्रस्त या एकाकी आदि हो तो आपवादिक रूप से ऐसे साधु को भी आहारादि दिया-लिया जा सकता है, उसे निमन्त्रित भी किया जा सकता है, और उसकी सेवा भी की जा सकती है। वास्तव में तो संसर्ग-जनित दोष से बचने के लिए ही ऐसा निषेध किया गया है। मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावना को हृदय से निकाल देने के लिए नहीं। वस्तुतः यह निषेध भिन्न समनोज्ञ या असमनोज्ञ के साथ राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, विरोध, वैर, भेदभाव आदि बढ़ाने के लिए नहीं किया गया है, यह तो सिर्फ अपनी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निष्ठा में शैथिल्य आने से बचाने के उद्देश्य से है। आगे चलकर तो समाधिमरण की साधना में अपने समनोज्ञ साधर्मिक मुनि से भी सेवा लेने का निषेध किया गया है, वह भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र में दृढ़ता के लिए है।[2] इसी सूत्र १६६ की पंक्ति में **'परं आढायमाणे'** पद दिया गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि अत्यन्त आदर के साथ नहीं, किन्तु कम आदर के साथ अर्थात् आपवादिक स्थिति में समनोज्ञ साधु को आहारादि दिया जा सकता है। इसमें संसर्ग या सम्पर्क बढ़ाने की दृष्टि का निषेध होते हुए, वात्सल्य एवं सेवा-भावना का अवकाश सूचित होता है। शास्त्र में विपरीत (मिथ्या) दृष्टि के साथ संस्तव, अतिपरिचय, प्रशंसा तथा प्रतिष्ठा-प्रदान को रत्नत्रय साधना दूषित करने का कारण बताया गया है।[3] अतः 'परं आदर' शब्द सम्पर्क-निषेध का वाचक समझना चाहिए।

'धुवं चेतं जाणेज्जा' आदि पाठ सूत्र का उत्तरार्ध है। पूर्वार्ध में आहारादि देने का निषेध करके इसमें असमनोज्ञ साधुओं से आहारादि लेने का निषेध किया है, यह सर्वथा निषेध है। तथाकथित असमनोज्ञ—अन्यतीर्थिक भिक्षुओं की ओर से किस-किस प्रकार से साधु को प्रलोभन, आदरभाव, विश्वास आदि से बहकाया, फुसलाया और फँसाया जाता है, यह इस सूत्रपाठ में बताया गया है। अपरिपक्व साधक बहक जाता है, फिसल जाता है। इसलिए शास्त्रकार ने पहले ही मोर्चे पर उनकी बात का आदर न करने, उपेक्षा-सेवन करने का निर्देश किया है।[4]

असमनोज्ञ आचार-विचार-विमोक्ष

२००. इहमेगेसिं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति। ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा—

---

१. निशीथ अध्ययन २।४४, तथा निशीथ अध्ययन १५।७६-७७।

२. आचारांग पूज्य आचार्य श्री आत्माराम जी म० कृत टीका अ० ८, उ० १ के विवेचन पर से पृष्ठ ५४१।

३. (क) तत्त्वार्थ सूत्र पं० सुखलाल जी कृत विवेचन अ० ७। सू० १८ पृ० १८४।
(ख) आवश्यक सूत्र का सम्यक्त्व सूत्र। (ग) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६५।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६५।

हण[1] पाणे घातमाणा, हणतो यावि समणुजाणमाणा, अदुवा अदिन्नमाइयंति, अदुवा वायाओ विउंजंति, तं जहा—अत्थि लोए, णत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, सादिए लोए, अणादिए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडे ति वा दुकडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साधू ति वा असाधू ति वा सिद्धी ति वा असिद्धी ति वा निरए ति वा अनिरए ति वा। जमिणं विप्पडिवण्णा मामगं धम्मं पण्णवेमाणा। एत्थ वि जाणह अकस्मात्।

२००. इस मनुष्य लोक में कई साधकों को आचार-गोचर (शास्त्र-विहित आचरण) सुपरिचित नहीं होता। वे इस साधु-जीवन में (पचन-पाचन आदि सावद्य क्रियाओं द्वारा) आरम्भ के अर्थी हो जाते हैं, आरम्भ करने वाले (अन्यमतीय भिक्षुओं) के वचनों का अनुमोदन करने लगते हैं। वे स्वयं प्राणिवध करते हैं, दूसरों से प्राणिवध कराते हैं और प्राणिवध करने वाले का अनुमोदन करते हैं। अथवा वे अदत्त (बिना दिए हुए पर-द्रव्य) का ग्रहण करते हैं।

अथवा वे विविध प्रकार के (एकान्त व निरपेक्ष) वचनों का प्रयोग (या परस्पर विसंगत अथवा विरुद्ध एकान्तवादों का प्ररूपण) करते हैं। जैसे कि—(कई कहते हैं—) लोक है, (दूसरे कहते हैं—) लोक नहीं है। (एक कहते हैं—) लोक ध्रुव है[2], (दूसरे कहते हैं—) लोक अध्रुव है।[3] (कुछ लोग कहते हैं—) लोक सादि है, (कुछ मतवादी कहते हैं—) लोक अनादि है। (कई कहते हैं—) लोक सान्त है, (दूसरे कहते हैं—) लोक अनन्त है। (कुछ दार्शनिक कहते हैं—) सुकृत है, (कुछ कहते हैं—) दुष्कृत है। (कुछ विचारक कहते हैं—) कल्याण है, (कुछ कहते हैं—) पाप है। (कुछ कहते हैं—) साधु (अच्छा) है, (कुछ कहते हैं—) असाधु (बुरा) है। (कई वादी कहते हैं—) सिद्धि (मुक्ति) है, (कई कहते हैं—) सिद्धि (मुक्ति) नहीं है। (कई दार्शनिक कहते हैं—) नरक है, (कई कहते हैं—) नरक नहीं है।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध वादों को मानते हुए (नाना प्रकार के आग्रहों को स्वीकार किए हुए जो ये मतवादी) अपने-अपने धर्म का प्ररूपण करते हैं, इनके (पूर्वोक्त प्ररूपण) में कोई भी हेतु नहीं है, (ये समस्त वाद ऐकान्तिक एवं हेतु शून्य हैं), ऐसा जानो।

विवेचन—असमनोज्ञ की पहिचान—असमनोज्ञ साधुओं की पहिचान के भिन्न वेष के अलावा दो और आधार इस सूत्र में बताए हैं—

(१) मोक्षार्थ अहिंसादि के आचार में विषमता एवं शिथिलता

(२) एकान्तवाद के सन्दर्भ में एकान्त एवं विरुद्ध दृष्टि-परक श्रद्धा-प्ररूपणा।

---

१. 'हण पाणे घातमाणा' के बदले चूर्णि में पाठान्तर है—'हणपाणघातमाणा। अर्थ किया है—'सयं हणंति एगिंदियाती, घातमाणा रंधावेमाणा—अर्थात्—स्वयं एकेन्द्रियादि प्राणियों का हनन करते हैं, तथा प्राणियों का माँस पकवाते हैं,—इस प्रकार प्राणिघात करवाते हैं।

२. लोक कूटस्थ नित्य है (शाश्वतवाद)।

३. लोक क्षण-क्षण परिवर्तनशील है (परिवर्तनवाद)।

(उस धर्म के) तीन याम १. प्राणातिपात-विरमण २. मृषावाद-विरमण, ३. अदत्तादान विरमण रूप तीन महाव्रत या तीन वयोविशेष (अथवा सम्यक्दर्शनादि तीन रत्न) कहे गए हैं, उन (तीनों यामों) में ये आर्य सम्बोधि पाकर उस त्रियाम रूप धर्म का आचरण करने के लिए सम्यक् प्रकार से (मुनि दीक्षा हेतु) उत्थित होते हैं; जो (क्रोधादि को दूर करके) शान्त हो गए हैं, वे (पापकर्मों के) निदान (मूल कारण भूत राग-द्वेष के बन्धन) से विमुक्त कहे गए हैं।

विवेचन—असमनोज्ञ साधुओं के एकान्तवाद के चक्कर में अनेकान्तवादी एवं शास्त्रज्ञ सुविहित साधु इसलिए न फंसे कि उनका धर्म (दर्शन) न तो सम्यक्रूप से युक्ति, हेतु, तर्क आदि द्वारा कथित ही है, और न ही सम्यक् प्रकार से प्ररूपित है।[1]

भगवान् महावीर ने अनेकान्तरूप सम्यग्वाद का प्रतिपादन किया है। जो अन्यदर्शनी एकान्तवादी साधक सरल हो, जिज्ञासु हो, तत्त्व समझना चाहता हो, उसे शान्ति, धैर्य और युक्ति से समझाए, जिससे असत्य एवं मिथ्यात्व से विमोक्ष हो। यदि असमनोज्ञ साधु जिज्ञासु व सरल न हो, वक्र हो, वितण्डावादी हो,[2] वचन-युद्ध करने पर उतारू हो अथवा द्वेष और ईर्ष्यावश लोगों में जैन साधुओं को बदनाम करता हो, वाद-विवाद और झगड़ा करने के लिए उद्यत हो तो[3] शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—**'अदुवा गुत्ती वयोगोयरस्स'** अर्थात्—ऐसी स्थिति में मुनि वाणी-विषयक गुप्ति रखे। इस वाक्य के दो अर्थ फलित होते हैं—

(१) वह मुनि अपनी (सत्यमयी) वाणी की सुरक्षा करे यानी भाषासमितिपूर्वक वस्तु का यथार्थरूप कहे,

(२) वाग् गुप्ति करे—बिलकुल मौन रखे।[4]

सूत्र २०२ के उत्तरार्ध में धर्म के विषय में विवाद और मूढ़ता से विमुक्ति की चर्चा की गयी है। उस युग में कुछ लोग एकान्ततः ऐसा मानते और कहते थे—गांव, नगर आदि जन-समूह में रहकर ही साधु-धर्म की साधना हो सकती है। अरण्य में एकान्त में रहकर साधु को परीषह सहने का अवसर ही कम आएगा, आएगा तो वह विचलित हो जाएगा। एकान्त में ही तो पाप पनपता है। इसके विपरीत कुछ साधक यह कहते थे कि अरण्यवास में ही साधु-धर्म की सम्यक् साधना की जा सकती है, अरण्य में वनवासी बनकर कंद-मूल-फलादि खाकर ही तपस्या की जा सकती है, बस्ती में रहने से मोह पैदा होता है, इन दोनों एकान्तवादों का प्रतिवाद करते हुए शास्त्रकार कहते हैं।

'णेव गामे, णेव रण्णे'—धर्म न तो ग्राम में रहने से होता है, न अरण्य में आरण्यक बन कर रहने से। धर्म का आधार ग्राम-अरण्यादि नहीं हैं, उसका आधार आत्मा है, आत्मा के

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। २. कहा भी है—'राग-दोसकरो वादो'।

३. आचारांग: आचार्य आत्मारामजी म० पृ० ५५१।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८।

गुण—सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र में धर्म है, जिससे जीव, अजीव आदि का परिज्ञान हो, तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा हो और यथोक्त मोक्षमार्ग का आचरण हो।[1]

वास्तव में आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। पूज्यपाद देवनन्दी ने इसी बात का समर्थन किया है—

> ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
> दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः ॥[2]

—अनात्मदर्शी साधक गाँव या अरण्य में रहता है, किन्तु आत्मदर्शी साधक का वास्तविक निवास निश्चल विशुद्ध आत्मा में रहता है।

'जामा तिण्णि उदाहिआ'—यह पद महत्वपूर्ण है। वृत्तिकार ने याम के तीन अर्थ किए हैं-

(१) तीन याम—महाव्रत विशेष,

(२) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, ये तीन याम।

(३) मुनि धर्म-योग्य तीन अवस्थाएँ—पहली आठ वर्ष से तीस वर्ष तक, दूसरी ३१ से ६० तक और तीसरी—उससे आगे की। ये तीन अवस्थाएँ 'त्रियाम' हैं।[3] स्थानांग सूत्र में इन्हें प्रथम, मध्यम और अन्तिम नाम से कहा गया है।[4]

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह ये तीन महाव्रत तीन याम हैं, इन्हें पातंजल योगदर्शन में 'यम' कहा है।[5] भगवान पार्श्वनाथ के शासन में चार महाव्रतों को 'चातुर्याम' कहा जाता था। यहाँ अचौर्य महाव्रत को सत्य में तथा ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह महाव्रत में समाविष्ट कर लिया है।[6]

मनुस्मृति और महाभारत आदि ग्रन्थों में एक प्रहर को याम कहते हैं, जो दिन का और रात्रि का चतुर्थ भाग होता है। दिन और रात्रि के कुल आठ याम होते हैं।

संसार-भ्रमणादि का जिनसे उपरम होता है, उन ज्ञानादि रत्नत्रय को भी त्रियाम कहा गया है।[7] 'अणियाणा' शब्द का यहाँ अर्थ है—निदान-रहित। कर्मबन्ध का निदान—आदि-कारण राग-द्वेष हैं। उनसे वे (उपशान्त मुनि) मुक्त हो जाते हैं।

दण्ड समारंभ-विमोक्ष

२०३. उड्ढं अधं तिरियं दिसासु सव्वतो सव्वावंति च णं पाडियक्कं[8] जीवेहिं कम्म-समारंभे णं।

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। (ख) 'ण मुणीरण्णवासेणं'—उत्तरा० २५।३१।
२. समाधिशतक ७३।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। ४. स्थानांग स्था० ३।
५. आचार्य समन्तभद्र ने अल्पकालिक व्रत को नियम और आजीवन पालने योग्य अहिंसादि को यम कहा है—**नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमोध्रियते।**
६. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। ७. आचा० शीला० टीका पत्रांक २५८।
८. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। (ख) '**निदानंत्वादि कारणात्**'—अमरकोष।
९. '**पाडिएक्कं**' के बदले पाठ मिलते हैं—**पडिएक्कं, पाडेक्कं, परिक्कं**। चूर्णिकार ने '**पाडियक्कं**' पाठ मानकर उसकी व्याख्या यों की है—'पत्तेयं पत्तेयं समत्तंकायेसु डंडं आरंभंते समारंभंते इति

तं परिण्णाय मेहावी णेव[1] सयं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं एतेहिं काएहिं दंडं समारभावेज्जा, णेवण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारभंते वि समणुजाणेज्जा।

जे चऽण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारभंति तेसिं पि वयं लज्जामो।

तं परिण्णाय मेहावी तं वा दंडं अण्णं वा दंडं णो दंडभी दंडं समारभेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

२०३. ऊँची, नीची एवं तिरछी, सब दिशाओं (और विदिशाओं) में सब प्रकार से एकेन्द्रियादि जीवों में से प्रत्येक को लेकर (उपमर्दनरूप) कर्म-समारम्भ किया जाता है। मेधावी साधक उस (कर्मसमारम्भ) का परिज्ञान (विवेक) करके, स्वयं इन षट्जीवनिकायों के प्रति दण्ड समारम्भ न करे, न दूसरों से इन जीवनिकायों के प्रति दण्ड समारम्भ करवाए और न ही जीवनिकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करने वालों का अनुमोदन करे। जो अन्य दूसरे (भिक्षु) इन जीवनिकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करते हैं, उनके (उस जघन्य) कार्य से भी हम लज्जित होते हैं।

(दण्ड महान् अनर्थ कारक है)—इसे दण्डभीरु मेधावी मुनि परिज्ञात करके उस (पूर्वोक्त जीव-हिंसा रूप) दण्ड का अथवा मृषावाद आदि किसी अन्य दण्ड का दण्ड-समारम्भ न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—शब्द-कोष के अनुसार 'दण्ड' शब्द निम्नोक्त अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) लकड़ी आदि का डंडा (२) निग्रह या सजा करना, (३) अपराधी को अपराध के अनुसार शारीरिक या आर्थिक दण्ड देना, (४) दमन करना, (५) मन-वचन-काया का अशुभ व्यापार, (६) जीवहिंसा तथा प्राणियों का उपमर्दन आदि।[2] यहाँ 'दण्ड' शब्द प्राणियों को पीड़ा देने, उपमर्दन करने तथा मन, वचन और काया का दुष्प्रयोग करने के अर्थ में प्रयुक्त है।

दण्ड के प्रकार—प्रस्तुत प्रसंग में दण्ड तीन प्रकार के बताए हैं—(१) मनोदण्ड, (२)

पाडियक्कं डंडं आरभंति। जतोऽयमुवदेशो, '''त परिण्णाय मेहावी।' अर्थात्—षट्कायों में प्रत्येक—प्रत्येक काय के प्रति दण्ड आरम्भ-समारम्भ करता है, उसे ही शास्त्र में कहा है—**पाडियक्कं डंडं आरभंति**। क्योंकि यह उपदेशात्मक सूत्र पंक्तियाँ है, इसीलिए आगे कहा है—तं परिण्णाय'''।

१. इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर है—**णेव सयं छज्जीवकायेसु डंडं समारंभेज्जा, णो वि अण्णे एतेसु कायेसु डंडं समारंभाविज्जा, जाव समणुजाणिज्जा**। अर्थात्—स्वयं षड्जीवनिकायों के प्रति दण्ड-समारम्भ न करे, न ही दूसरों से इन्हीं जीवकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करावे, और न ही दण्ड-समारम्भ करने वाले का अनुमोदन करें।

२. (क) पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ४५१,
(ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६६।
(ग) अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ४ पृ० २४२० पर देखें—
दण्ड्यते व्यापाद्यते प्राणिनो येन स दण्डः—आचा० १ श्रु० २ अ०।
दुष्प्रयुक्त मनोवाक्कायलक्षणैर्हिंसामात्रे, भूतोपमर्दे—धर्मसार।
दण्डयति पीड़ामुत्पादयतीतिदण्डः दुःखविशेषे—सूत्र कृ० १श्रु० ५ अ० १ उ०।

वचनदण्ड, (३) कायदण्ड। मनोदण्ड के तीन विकल्प हैं—(१) रागात्मक मन, (२) द्वेषात्मक मन और (३) मोहयुक्त मन।

(१) झूठ बोलना, (२) वचन से कह कर किसी के ज्ञान का घात करना, (३) चुगली करना, (४) कठोर वचन कहना, (५) स्व-प्रशंसा और पर-निन्दा करना, (६) संताप पैदा करने वाला वचन कहना तथा (७) हिंसाकारी वाणी का प्रयोग करना—ये वचनदण्ड के सात प्रकार हैं।

(१) प्राणिवध करना, (२) चोरी करना, (३) मैथुन सेवन करना, (४) परिग्रह रखना, (५) आरम्भ करना, (६) ताड़न करना, (७) उग्र आवेशपूर्वक डराना-धमकाना; कायदण्ड के ये सात प्रकार हैं।[1]

दण्ड-समारम्भ का अर्थ यहाँ दण्ड-प्रयोग है। चूंकि मुनि के लिए तीन करण (१. कृत, २. कारित, और ३. अनुमोदन) तथा तीन योग (१. मन, २. वचन और ३. काय के व्यापार) से हिंसादि दण्ड का त्याग करना अनिवार्य है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—मुनि पहले सभी दिशा-विदिशाओं में सर्वत्र, सब प्रकार से, षट्कायिक जीवों में से प्रत्येक के प्रति होने वाले दण्ड-प्रयोग को, विविध हेतुओं से तथा विविध शस्त्रों से उनकी हिंसा की जाती है, इसे भली भाँति जान ले, तत्पश्चात् तीन करण, तीन योग से उन सभी दण्ड-प्रयोगों का परित्याग कर दे। निर्ग्रन्थ श्रमण दण्ड समारम्भ से स्वयं डरे व लज्जित हो, दण्ड-समारम्भकर्ता साधुओं पर साधु होने के नाते लज्जित होना चाहिए; जीवहिंसा तथा इसी प्रकार अन्य असत्य, चोरी आदि समस्त दण्ड-समारम्भों को महान अनर्थकर जानकर साधु स्वयं दण्डभीरु—अर्थात् हिंसा से भय खाने वाला होता है, अतः उसको उन दण्डों से मुक्त होना चाहिए।[2]

प्रस्तुत सूत्र में दण्ड-समारम्भक अन्य भिक्षुओं से लज्जित होने की बात कहकर बौद्ध, वैदिक आदि साधुओं की परम्परा की ओर अंगुलि-निर्देश किया गया है। वैदिक ऋषियों में पचन-पाचनादि के द्वारा दण्ड-समारम्भ होता था। बौद्ध-परम्परा में भिक्षु स्वयं भोजन नहीं पकाते थे, दूसरों से पकवाते थे, या जो भिक्षु-संघ को भोजन के लिए आमंत्रित करता था, उसके यहाँ से अपने लिए बना भोजन ले लेते थे, विहार आदि बनवाते थे। वे संघ के निमित्त होने वाली हिंसा में दोष नहीं मानते थे।[3]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) चारित्रसार ६६।५।
(ख) "पडिक्कमामि तीहिं दंडेहिं—मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदंडेणं—आवश्यक सूत्र।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६६।
३. आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० ३१२।

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अकल्पनीय विमोक्ष

२०४. से भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा णिसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा सुसाणंसि वा सुण्णागारंसि वा रुक्खमूलंसि वा गिरिगुहंसि वा कुंभारायतणंसि वा हुरत्था वा, कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती बूया—आउसंतो समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेमि[2] आवसहं वा समुस्सिणामि, से भुंजह वसह आउसंतो समणा ! ।

तं भिक्खू[3] गाहावतिं समणसं सवयसं पडियाइक्खे—आउसंतो गाहावती ! णो खलु ते वयणं आढामि, णो[4] खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं ४ समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेसि आवसहं वा समुस्सिणासि । से विरतो आउसो गाहावती ! एतस्स अकरणयाए ।

२०५. से भिक्खू परक्कमेज्ज वा जाव[5] हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती आतगताए पहाए असणं वा[6] ४ वत्थं वा[7] ४ पाणाइं ४ समारंभ जाव[8] आहट्टु चेतेति आवसहं वा समुस्सिणाति तं भिक्खुं परिघासेतुं । तं च भिक्खू जाणेज्जा सह-

---

१. चूर्णि में 'सुसाणंसि' का अर्थ इस प्रकार किया है—"सुसाणस्स पासेट्ठाति' अब्भासे वा सुण्णघरे वा ठितओ होज्ज, रुक्खमूले वा, जारिसो रुक्खमूलो णिसीहे भणितो, गिरिगुहाए वा'—इसका अर्थ विवेचन में दिया है।

२. 'चेतेमि' पद के बदले कहीं 'करेमि' पद मिलता है, उसके सम्बन्ध में चूर्णिकार का मत—केयि भणंति करेमि' तंतु ण युज्जति, जेण तं आहियमेव, आहियस्स करणं ण विज्जति', अर्थात्—कई 'करेमि' पाठ कहते हैं, वह उचित नहीं लगता, क्योंकि दाता ने जब सामने लाकर पदार्थ रख दिया, तब उस आहित (सामने रखे हुए) का 'करना' संगत नहीं होता ।

३. इसकी व्याख्या चूर्णिकार करते हैं—एवं णिमंतितो सो साहू''''तो वि पडिसेहेयव्वं, कहं ? वुच्चइ—'तं भिक्खू गाहावतिं समाणं सवयसं पडियाइक्खेज्जा ।' तमिति तं दातारं ।" अर्थात्—इस प्रकार निमंत्रित किये जाने पर उस साधु को (उक्त दाता को) निषेध कर देना चाहिए, कैसे ? कहते हैं—उस दाता गृहस्थ को वह भिक्षु सम्मानपूर्वक, सुवचनपूर्वक मना कर देना चाहिए ।

४. चूर्णि में पाठान्तर है—'णो खलु मे एवं वयणं पडिसुणेमि, कतरं ? जं मम भणसि—आउसंतो समणा ! अहं खलु तुब्भं अट्ठाते असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, जाव आवसहं समुस्सिणामि ।" अर्थात् तुम्हारी यह बात मैं स्वीकार नहीं करता, कौनसी ? जो तुमने मुझे कहा था—"आयुष्मन् श्रमण ! मैं तुम्हारे लिए अशनादि यावत् आवसथ (उपाश्रय) निर्माण करूंगा ।"

५. यहाँ 'जाव' शब्द से पूरा पाठ २०४ सूत्र के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ।

६. यहाँ का पूरा पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करें ।

७. यहाँ का पूरा पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करें ।

८. यहाँ का पूरा पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करें ।

सम्मुतियाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा सोच्चा—अयं खलु गाहावती मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं ४ [1]समारंभ चेतेति आवसहं वा समुस्सिणाति। तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि।

२०६. भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च[2] गंथा फुसंति; से हंता हणह खणह छिंदह[3] दहह पचह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विप्परामुसह[4]। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए। अदुवा आयारगोयरमाइक्खे तक्कियाणमणेलिसं। अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहाए[5] आयगुत्ते। बुद्धेहिं एयं पवेदितं।

२०४. (सावद्यकार्यों से निवृत्त) वह भिक्षु (भिक्षादि किसी कार्य के लिए) कहीं जा रहा हो, श्मशान में, सूने मकान में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष के नीचे, कुम्भार शाला में या गाँव के बाहर कहीं खड़ा हो, बैठा हो या लेटा हुआ हो अथवा कहीं भी विहार कर रहा हो, उस समय कोई गृहपति उस भिक्षु के पास आकर कहे—आयुष्मान् श्रमण! मैं आपके लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पाद प्रोंछन; प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ (उपमर्दन) करके आपके उद्देश्य से बना रहा हूँ या (आपके लिए) खरीद कर उधार लेकर, किसी से छीनकर, दूसरे की वस्तु को उसकी बिना अनुमति के लाकर, या घर से लाकर आपको देता हूँ अथवा आपके लिए उपाश्रय (आवसथ) बनवा देता हूँ। हे आयुष्मान् श्रमण! आप उस (अशन आदि) का उपभोग करें और (उस उपाश्रय में) रहें।"

भिक्षु उस सुमनस् (भद्रहृदय) एवं सुवयस (भद्र वचन वाले) गृहपति को निषेध के स्वर से कहे—आयुष्मान् गृहपति! मैं तुम्हारे इस वचन को आदर नहीं देता, न ही तुम्हारे वचन को स्वीकार करता हूँ; जो तुम प्राणों, भूतों जीवों और सत्त्वों का समारम्भ करके मेरे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल

---

१. यहाँ तीनों जगह का पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करें।
२. 'आहच्च गंथा फुसंति' की चूर्णिकार द्वारा कृत व्याख्या—"आहच्च णाम कताइ……गंथा यदुक्तं भवति वंधा, फुसंति जे भणितं पावेंति।" अर्थात् आहच्च यानी कदाचित् ग्रन्थ अर्थात् बंध, स्पर्श करते हैं—प्राप्त करते हैं।
३. चूर्णि में 'सहसक्कारेह' का अर्थ किया गया है—'सीसं से छिंदह' इसका सिर काट डालो, जब कि शीलांकवृत्ति में अर्थ किया गया है—'शीघ्र मौत के घाट उतार दो।'
४. चूर्णि में इसके बदले 'विप्परामसह' पद मानकर अर्थ किया है—'विवहं परामसह, यदुक्तं भवति 'मुसह' —अर्थात् विविध प्रकार से इसे सताओ या लूट लो।
५. इसकी व्याख्या चूर्णिकार ने यों की है—पडिलेहा=पेक्खित्ता, आयगुत्ते तिहिं गुत्तीहिं। अध उत्तरे वि दिज्जमाणे कुप्पति ण वा स तं उत्तरसमत्थो भवति, ताहे अदुगुत्तीए, गोवणं गुत्ती, वयोगोयरस्स'—अर्थात्—प्रतिलेखन करके देखकर, आत्मगुप्त—तीनों गुप्तियों से गुप्त। उत्तर दिये जाने पर यदि वह कुपित होता है, अथवा वह (मुनि) उत्तर देने में समर्थ नहीं है, तब, कहा—अदुगुत्तीए। अथवा वचन विषयक गोपन करे—मौन रहे।

या पादप्रोंछन बना रहे हो, या मेरे ही उद्देश्य से उसे खरीदकर, उधार लेकर, दूसरों से छीनकर, दूसरे की वस्तु उसकी अनुमति के बिना लाकर अथवा अपने घर से यहाँ लाकर मुझे देना चाहते हो, मेरे लिए उपाश्रय बनवाना चाहते हो । हे आयुष्मान् गृहस्थ ! मैं (इस प्रकार के सावद्य कार्य से सर्वथा) विरत हो चुका हूँ। यह (तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत बात) (मेरे लिए) अकरणीय होने से, (मैं स्वीकार नहीं कर सकता)।

२०५. वह भिक्षु (कहीं किसी कार्यवश) जा रहा है, श्मशान, शून्यगृह, गुफा या वृक्ष के नीचे या कुम्भार की शाला में खड़ा, बैठा या लेटा हुआ है, अथवा कहीं भी विचरण कर रहा है, उस समय उस भिक्षु के पास आकर कोई गृहपति अपने आत्मगत भावों को प्रकट किये बिना (मैं साधु को अवश्य ही दान दूँगा, इस अभिप्राय को मन में संजोए हुए) प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के समारम्भपूर्वक अशन, पान आदि बनवाता है, साधु के उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लाकर, दूसरों से छीनकर, दूसरे के अधिकार की वस्तु उसकी बिना अनुमति के लाकर, अथवा घर से लाकर देना चाहता है या उपाश्रय का निर्माण या जीर्णोद्धार कराता है, वह (यह सब) उस भिक्षु के उपभोग के या निवास के लिए (करता है)।

(साधु के लिए किए गए) उस (आरम्भ) को वह भिक्षु अपनी सद्बुद्धि से, दूसरों (अतिशयज्ञानियों) के उपदेश से या तीर्थंकरों की वाणी से अथवा अन्य किसी उसके परिजनादि से सुनकर यह जान जाए कि यह गृहपति मेरे लिए प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के समारम्भ से अशनादि या वस्त्रादि बनवाकर या मेरे निमित्त मोल लेकर, उधार लेकर, दूसरों से छीनकर, दूसरे की वस्तु उसके स्वामी से अनुमति प्राप्त किए बिना लाकर अथवा अपने धन से उपाश्रय बनवा रहा है भिक्षु उसकी सम्यक् प्रकार से पर्यालोचना (छान-बीन) करके, आगम में कथित आदेश से या पूरी तरह से जानकर उस गृहस्थ को साफ-साफ बता दे कि ये सब पदार्थ मेरे लिए सेवन करने योग्य नहीं हैं; (इसलिए मैं इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता)। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

२०६. भिक्षु से पूछकर (सम्मति लेकर) या बिना पूछे ही (मैं अवश्य दे दूँगा, इस अभिप्राय से) किसी गृहस्थ द्वारा (अन्धभक्तिवश) बहुत धन खर्च करके बनाये हुए ये (आहारादि पदार्थ) भिक्षु के समक्ष भेंट के रूप में लाकर रख देने पर (जब मुनि उसे स्वीकार नहीं करता), तब वह उसे परिताप देता है; वह सम्पन्न गृहस्थ क्रोधावेश में आकर स्वयं उस भिक्षु को मारता है, अथवा अपने नौकरों को आदेश देता है कि इस (—व्यर्थ ही मेरा धन व्यय कराने वाले साधु) को डंडे आदि से पीटो, घायल कर दो, इसके हाथ-पैर आदि अंग काट डालो, इसे जला दो, इसका मांस पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन लो या इसे नखों से नोंच डालो, इसका सब कुछ लूट लो, इसके साथ जबर्दस्ती करो अथवा जल्दी ही इसे मार डालो, इसे अनेक प्रकार से पीड़ित

करो।" उन सब दुःखरूप स्पर्शों (कष्टों) के आ पड़ने पर धीर (अक्षुब्ध) रहकर मुनि उन्हें (समभाव से) सहन करे।

अथवा वह आत्मगुप्त (आत्मरक्षक) मुनि अपने आचार-गोचर (पिण्ड-विशुद्धि आदि आचार) की क्रमशः सम्यक् प्रेक्षा करके (पहले अशनादि बनाने वाले पुरुष के सम्बन्ध में भलीभाँति ऊहापोह करके (यदि वह मध्यस्थ या प्रकृतिभद्र लगे तो) उसके समक्ष अपना अनुपम आचार-गोचर (साध्वाचार) कहे—बताए। अगर वह व्यक्ति दुराग्रही और प्रतिकूल हो, या स्वयं में उसे समझाने की शक्ति न हो तो वचन का संगोपन (मौन) करके रहे। बुद्धों—तीर्थंकरों ने इसका प्रतिपादन किया है।

विवेचन—इस उद्देशक में साधु के लिए अनाचरणीय या अपनी कल्पमार्यादा के अनुसार कुछ अकरणीय बातों से विमुक्त होने का विभिन्न पहलुओं से निर्देश किया है।

से भिक्खू परक्कमेज्ज वा—यहाँ वृत्तिकार ने विमोक्ष के योग्य भिक्षु की विशेषताएं बताई हैं—जिसने यावज्जीवन सामायिक की प्रतिज्ञा ली है, पंचमहाव्रतों का भार ग्रहण किया है, समस्त सावद्य कार्यों का त्याग किया है, और जो भिक्षाजीवी है। वह भिक्षा के लिए या अन्य किसी आवश्यक कार्य से परिक्रमण—विचरण कर रहा है। यहाँ परिक्रमण का सामान्यतया अर्थ गमनागमन करना होता है।[1]

सुसाणंसि—प्रस्तुत सूत्र-पंक्ति में श्मशान में लेटना, करवट बदलना या शयन करना प्रतिमाधारक या जिनकल्पी मुनि के लिए ही कल्पनीय है; स्थविरकल्पी के लिए तो श्मशान में ठहरना, सोना आदि कल्पनीय नहीं है, क्योंकि वहाँ किसी प्रकार के प्रमाद या स्खलन से व्यन्तर आदि देवों के उपद्रव की सम्भावना बनी रहती है। तथा प्राणिमात्र के प्रति आत्म-भावना होने पर भी जिनकल्पी के लिए सामान्य स्थिति में श्मशान में निवास करने की आज्ञा नहीं है। प्रतिमाधारी मुनि के लिए यह नियम है कि जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वहीं उसे ठहर जाना चाहिए। अतः जिनकल्पी प्रतिमाधारक की अपेक्षा से ही श्मशान निवास का उल्लेख प्रतीत होता है।[2] इसीलिए चूर्णि में *व्याख्या की गई है—श्मशान* के पास खड़ा होता है, शून्यगृह के निकट या वृक्ष के नीचे अथवा पर्वतीय गुफा में ठहरता है।[3]

वर्तमान में सामान्यतया स्थविरकल्पी गच्छवासी साधु बस्ती में किसी न किसी उपाश्रय या मकान में ठहरता है। हाँ, विहार कर रहा हो, उस समय कई बार उसे स्थान न मिलने या सूर्यास्त हो जाने के कारण शून्यगृह में, वृक्ष के नीचे, या जंगल में किसी स्थान में ठहरना होता है। प्राचीनकाल में तो गाँव के बाहर किसी बगीचे आदि में ठहरने का आम रिवाज था। साधु कहीं भी ठहरा हो, वह भिक्षा के लिए स्वयं गृहस्थों के घरों में जाता है, और

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७०। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक, २७०।
३. चूर्णि में व्याख्या मिलती है—**'सुसाणस्स पासे ट्ठाति अब्भासे वा सुण्णघरे वा ठितओ होज्ज, रुक्ख-मूले वा, जारिसो रुक्खमूलो णिसीहे भणितो, गिरि गुहाए वा।'**
—आचा० चूर्णि, आचा० मूलपाठ पृ० ७२।

आहारादि आवश्यक पदार्थ अपनी कल्पमर्यादा के अनुसार प्राप्त होने पर ही लेता है। कोई गृहस्थ भक्तिवश या किसी लौकिक स्वार्थवश उसके लिए बनवाकर, खरीद कर, किसी से छीन कर, चुरा कर या अपने घर से सामने लाकर दे तो उस वस्तु का ग्रहण करना उसकी आचार-मर्यादा के विपरीत है। वह ऐसी वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता, जिसमें उसके निमित्त हिंसादि आरम्भ हुआ हो।

अगर ऐसी विवशता की परिस्थिति आ जाए और कोई भावुक गृहस्थ उपर्युक्त प्रकार से उसे आहारादि लाकर देने का अति आग्रह करने लगे तो उसे उस भावुकहृदय हितैषी भक्त को धर्म से, प्रेम से, शान्ति से वैसा आहारादि न देने के लिए समझा देना चाहिए, साथ ही अपनी कल्पमर्यादाएँ भी उसे समझाना चाहिए। यह अकल्पनीय विमोक्ष की विधि है।[1]

अकल्पनीय स्थितियां और विमोक्ष के उपाय—सूत्र २०४ से लेकर २०६ तक में शास्त्रकार ने भिक्षु के समक्ष आने वाली तीन अकल्पनीय परिस्थितियाँ और साथ ही उनसे मुक्त होने या उन परिस्थितियों में अकरणीय-अनाचरणीय कार्यों से अलग रहने या छुटकारा पाने के उपाय भी बताए हैं—

(१) भिक्षु को किसी प्रकार के संकट में पड़ा या कठोर कष्ट पाता देखकर किसी भावुक भक्त द्वारा उसके समक्ष आहारादि बनवा देने, मोल लाने, छीनकर तथा अन्य किसी भी प्रकार से सम्मुख लाकर देने तथा उपाश्रय बनवा देने का प्रस्ताव।

(२) भिक्षु को कहे-सुने बिना अपने मन से ही भक्तिवश आहारादि बनवाकर या उपर्युक्त प्रकारों में से किसी भी प्रकार से लाकर देने लगना तथा उपाश्रय बनवाने लगना और

(३) उन आहारादि तथा उपाश्रय को आरम्भ-समारम्भ जनित एवं अकल्पनीय जानकर भिक्षु जब उन्हें किसी स्थिति में अपनाने से साफ इन्कार कर देता है तो उस दाता की ओर से क्रुद्ध होकर उस भिक्षु को तरह-तरह से यातनाएँ दिया जाना।

प्रथम अकल्पनीय ग्रहण की स्थिति से विमुक्त होने के उपाय—प्रेम से अस्वीकार करे और 'कल्पमर्यादा' समझाए। दूसरी स्थिति से विमुक्त होने का उपाय—किसी तरह से जान-सुनकर उस आहारादि को ग्रहण एवं सेवन करना अस्वीकार करे, और तीसरी स्थिति आ पड़ने पर साधु धैर्य और शान्ति से समभावपूर्वक उस परीषह या उपसर्ग को सहन करे। इस प्रकार उस गृहस्थ को अनुकूल देखे तो साधु के अनुपम आचार के विषय में बताये, प्रतिकूल हो तो मौन रहे। इस प्रकार अकल्पनीय-विमोक्ष की सुन्दर झांकी शास्त्रकार ने प्रस्तुत की है।[2]

एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि साधु के द्वारा उक्त अकल्पनीय पदार्थों को अस्वीकार करने या उस भावुकहृदय गृहस्थ को समझाने का तरीका भी शान्ति, धैर्य एवं प्रेम पूर्ण होना चाहिए। वह दाता गृहस्थ को द्वेषी, वैरी या विद्रोही न समझे, किन्तु भद्रमनस्क और

---

१. आचारांग; आचार्य श्री आत्माराम जी म० कृत टीका के आधार पर पृ० ५५६।

२. आचारांग टीका पत्रांक २७०-२७१-२७२ के आधार पर।

सवचस्क या सवयस्क (मित्र) समझ कर कहे। इसका एक अर्थ यह भी है कि भिक्षु उस गृहस्थ को सम्मान सहित, सुवचनपूर्वक निषेध करे।[1]

समनोज्ञ-असमनोज्ञ आहार-दान विधि-निषेध

२०७. से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा[2] ४ वत्थं वा[3] ४ णो पाएज्जा णो णिमंतेज्जा णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

२०८. धम्ममायाणह पवेदितं माहणेण मतिमता—समणुण्णे समणुण्णस्स असणं[4] वा ४ वत्थं वा[5] ४ पाएज्जा णिमंतेज्जा कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

२०७. वह समनोज्ञ मुनि असमनोज्ञ साधु को अशन-पान आदि तथा वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ अत्यन्त आदरपूर्वक न दे, न उन्हें देने के लिए निमन्त्रित करे और न ही उनका वैयावृत्य करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

२०८. मतिमान् (केवलज्ञानी) महामाहन श्री वर्द्धमान स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म (आचारधर्म) को भली-भाँति समझ लो—कि समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को आदरपूर्वक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि दे, उन्हें देने के लिए मनुहार करे, उनका वैयावृत्य करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—कहाँ निषेध, कहाँ विधान ?—सूत्र २०६ तक अकल्पनीय आहारादि लेने का निषेध किया गया है। २०७ सूत्र में असमनोज्ञ को समनोज्ञ साधु द्वारा आहारादि देने, उनके लिए निमन्त्रित करने और उनकी सेवा करने का निषेध किया है, जबकि २०८ सूत्र में समनोज्ञ साधुओं को समनोज्ञ साधु द्वारा उपर्युक्त वस्तुएं देने का विधान है।[6]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तईओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

गृहवास-विमोक्ष

२०९. मज्झिमेणं वयसा वि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा वयं मेधावी[7] पंडियाण णिसामिया। समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते।

---

१. आचा० टीका पत्रांक २७१, (ख) आचा० चूर्णि, मूल पाठ के टिप्पण।

२.-३. यहाँ दोनों जगह शेष पाठ १९९ सूत्रानुसार पढ़ें।

४.-५. यहाँ दोनों जगह शेष पाठ १९९ सूत्रानुसार पढ़ें। ६. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७३।

७. 'मेरा धावति मेहावी, मेहावीणं वयणं मेहाविवयणं, वा मेहावी सोच्चा तित्थगरवयणं⋯⋯पंडिएहिं गणहरेहिं ता सुत्तीकयं सोच्चा 'णिसम्म' हियए करित्ता'—चूर्णिकारकृत इस व्याख्या का अर्थ है—जो मर्यादा में चलता है वह मेधावी है, मेधावियों के वचन मेधाविवचन अथवा मेधावी तीर्थंकर वचन सुनकर तथा पण्डितों—गणधरों द्वारा सूत्ररूप में निबद्ध वचन सुनकर तथा हृदयंगम करके।

ते अणवकंखमाणा, अणतिवातेमाणा, अपरिग्गहमाणा, णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि, णिहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिते।

ओए जुइमस्स खेतण्णे उववायं चयणं च णच्चा।

२०६. कुछ व्यक्ति मध्यम वय में भी संबोधि प्राप्त करके मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए उद्यत होते हैं।

तीर्थंकर तथा श्रुतज्ञानी आदि पण्डितों के (हिताहित-विवेक-प्रेरित) वचन सुनकर, (हृदय में धारण करके) मेधावी (मर्यादा में स्थित) साधक (समता का आश्रय ले, क्योंकि) आर्यों (तीर्थंकरों) ने समता में धर्म कहा है, अथवा तीर्थंकरों ने समभाव से (माध्यस्थ्य भाव से श्रुत चारित्र रूप) धर्म कहा है।

वे काम-भोगों की आकांक्षा न रखने वाले, प्राणियों के प्राणों का अतिपात और परिग्रह न रखते हुए (निर्ग्रन्थ मुनि) समग्र लोक में अपरिग्रहवान् होते हैं।

जो प्राणियों के लिए (परितापकर) दण्ड का त्याग करके (हिंसादि) पाप कर्म नहीं करता, उसे ही महान् अग्रन्थ (ग्रन्थविमुक्त निर्ग्रन्थ) कहा गया है।

ओज (अद्वितीय) अर्थात् राग-द्वेष रहित, द्युतिमान् (संयम या मोक्ष) का क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता), उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) को जानकर (शरीर की क्षण-भंगुरता का चिन्तन करे)।

विवेचन—मुनि-दीक्षा ग्रहण की उत्तम अवस्था—मनुष्य की तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं—बाल्य, युवा और वृद्धत्व। यों तो प्रथम और अन्तिम अवस्था में भी दीक्षा ली जा सकती है, परन्तु मध्यम अवस्था मुनि-दीक्षा के लिए सर्वसामान्य मानी जाती है, क्योंकि इस वय में बुद्धि परिपक्व हो जाती है, भुक्तभोगी मनुष्य का भोग सम्बन्धी आकर्षण कम हो जाता है, अतः उसका वैराग्य-रंग पक्का हो जाता है। साथ ही वह स्वस्थ एवं सशक्त होने के कारण परीषहों और उपसर्गों का सहन, संयम के कष्ट, तपस्या की कठोरता आदि धर्मों का पालन भी सुखपूर्वक कर सकता है। उसका शास्त्रीय ज्ञान भी अनुभव से समृद्ध हो जाता है। इसलिए मुनि-धर्म के आचरण के लिए मध्यम अवस्था प्रायः प्रमुख मानी जाने से प्रस्तुत सूत्र में उसका उल्लेख किया गया है। गणधर भी प्रायः मध्यमवय में दीक्षित होते थे। भगवान महावीर भी प्रथमवय को पार करके दीक्षित हुए थे। बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था मुनिधर्म के निर्विघ्न आचरण के लिए इतनी उपयुक्त नहीं होती।[1]

संबुज्झमाणा—सम्बोधि प्राप्त करना मुनि-दीक्षा के पूर्व अनिवार्य है। सम्बोधि पाए बिना मुनिधर्म में दीक्षित होना खतरे से खाली नहीं है।

साधक को तीन प्रकार से सम्बोधि प्राप्त होती है—स्वयंसम्बुद्ध हो, प्रत्येक बुद्ध हो अथवा बुद्ध-बोधित हो। प्रस्तुत सूत्र में बुद्ध-बुद्धबोधित (किसी प्रबुद्ध से बोध पाये हुए) साधक की अपेक्षा से कथन है।[2]

सोच्चावयं मेधावी पंडियाण निसामिया—इस पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने कुछ भिन्न किया

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४।

है—पंडितों—गणधरों के द्वारा सूत्ररूप में निबद्ध मेधावियों—तीर्थंकरों के; वचन सुनकर तथा हृदय में धारण करके……। मध्यमवय में प्रव्रजित होते हैं।[3]

'ते अणवकंखमाणा' का तात्पर्य है—"वे जो गृहवास से मुनिधर्म में दीक्षित हुए हैं और मोक्ष की ओर जिन्होंने प्रस्थान किया है, काम-भोगों की आकांक्षा नहीं रखते।"

अणतिवातेमाणा अपरिग्गहमाणा—ये दो शब्द प्राणातिपात-विरमण तथा परिग्रह-विरमण महाव्रत के द्योतक हैं। आदि और अन्त के महाव्रत का ग्रहण करने से मध्य के मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण और मैथुन-विरमण महाव्रतों का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसे महाव्रती अपने शरीर के प्रति भी ममत्वरहित होते हैं। इन्हें ही तीर्थंकर गणधर आदि द्वारा महानिर्ग्रन्थ कहा गया है।

अगंथे—जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों से विमुक्त हो गया है, वह अग्रन्थ है। अग्रन्थ या निर्ग्रन्थ का एक ही आशय है।

उववायं-चयणं—उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) ये दोनों शब्द सामान्यतः देवताओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते हैं। इससे यह तात्पर्य हो सकता है कि दिव्य शरीरधारी देवताओं का शरीर भी जन्म-मरण के कारण नाशमान है, तो फिर मनुष्यों के रक्त, मांस, मज्जा आदि अशुचि पदार्थों से बने शरीर की क्या बिसात है? इसी दृष्टि से चिन्तन करने पर इन पदों से शरीर की क्षण-भंगुरता का निदर्शन भी किया गया है कि 'शरीर' जन्म और मृत्यु के चक्र के बीच चल रहा है, यह क्षणभंगुर है, यह चिन्तन कर आहार आदि के प्रति अनासक्ति रखे।

अकारण-आहार-विमोक्ष

२१०. आहारोवचया देहा परीसहपभंगुणो। पासहेगे सव्विदिएहिं परिगिलायमाणेहिं। ओए दयं दयति जे संणिधाणसत्थस्स खेत्तण्णे, से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मातण्णे खणयण्णे विणयण्णे समयण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाई अपडिण्णे दुहतो छेत्ता णियाति।

२१०. शरीर आहार से उपचित (संपुष्ट) होते हैं, परीषहों के आघात से भग्न हो जाते हैं; किन्तु तुम देखो, आहार के अभाव में कई एक साधक क्षुधा से पीड़ित होकर सभी इन्द्रियों (की शक्ति) से ग्लान (क्षीण) हो जाते हैं। राग-द्वेष से रहित भिक्षु (क्षुधा-पिपासा आदि परीषहों के उत्पन्न होने पर भी) दया का पालन करता है।

जो भिक्षु सन्निधान—(आहारादि के संचय) के शस्त्र (संयमघातक प्रवृत्ति) के मर्मज्ञ है; (वह हिंसादि दोषयुक्त आहार का ग्रहण नहीं करता)। वह भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षणज्ञ (अवसरज्ञाता), विनयज्ञ (भिक्षाचरी के आचार का

---

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४।
३. आचारांग चूर्णि—मूलपाठ टिप्पण पृ० ७४।

ते अणवकंखमाणा, अणतिवातेमाणा, अपरिग्गहमाणा, णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि, णिहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिते।

ओए जुइमस्स खेतण्णे उववायं चयणं च णच्चा।

२०६. कुछ व्यक्ति मध्यम वय में भी संबोधि प्राप्त करके मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए उद्यत होते हैं।

तीर्थंकर तथा श्रुतज्ञानी आदि पण्डितों के (हिताहित-विवेक-प्रेरित) वचन सुनकर, (हृदय में धारण करके) मेधावी (मर्यादा में स्थित) साधक (समता का आश्रय ले, क्योंकि) आर्यों (तीर्थंकरों) ने समता में धर्म कहा है, अथवा तीर्थंकरों ने समभाव से (माध्यस्थ्य भाव से श्रुत चारित्र रूप) धर्म कहा है।

वे काम-भोगों की आकांक्षा न रखने वाले, प्राणियों के प्राणों का अतिपात और परिग्रह न रखते हुए (निर्ग्रन्थ मुनि) समग्र लोक में अपरिग्रहवान् होते हैं।

जो प्राणियों के लिए (परितापकर) दण्ड का त्याग करके (हिंसादि) पाप कर्म नहीं करता, उसे ही महान् अग्रन्थ (ग्रन्थविमुक्त निर्ग्रन्थ) कहा गया है।

ओज (अद्वितीय) अर्थात् राग-द्वेष रहित, द्युतिमान् (संयम या मोक्ष) का क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता), उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) को जानकर (शरीर की क्षण-भंगुरता का चिन्तन करे)।

विवेचन—मुनि-दीक्षा ग्रहण की उत्तम अवस्था—मनुष्य की तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं—बाल्य, युवा और वृद्धत्व। यों तो प्रथम और अन्तिम अवस्था में भी दीक्षा ली जा सकती है, परन्तु मध्यम अवस्था मुनि-दीक्षा के लिए सर्वसामान्य मानी जाती है, क्योंकि इस वय में बुद्धि परिपक्व हो जाती है, भुक्तभोगी मनुष्य का भोग सम्बन्धी आकर्षण कम हो जाता है, अतः उसका वैराग्य-रंग पक्का हो जाता है। साथ ही वह स्वस्थ एवं सशक्त होने के कारण परीषहों और उपसर्गों का सहन, संयम के कष्ट, तपस्या की कठोरता आदि धर्मों का पालन भी सुखपूर्वक कर सकता है। उसका शास्त्रीय ज्ञान भी अनुभव से समृद्ध हो जाता है। इसलिए मुनि-धर्म के आचरण के लिए मध्यम अवस्था प्रायः प्रमुख मानी जाने से प्रस्तुत सूत्र में उसका उल्लेख किया गया है। गणधर भी प्रायः मध्यमवय में दीक्षित होते थे। भगवान महावीर भी प्रथमवय को पार करके दीक्षित हुए थे। बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था मुनिधर्म के निर्विघ्न आचरण के लिए इतनी उपयुक्त नहीं होती।[1]

संबुज्झमाणा—सम्बोधि प्राप्त करना मुनि-दीक्षा के पूर्व अनिवार्य है। सम्बोधि पाए बिना मुनिधर्म में दीक्षित होना खतरे से खाली नहीं है।

साधक को तीन प्रकार से सम्बोधि प्राप्त होती है—स्वयंसम्बुद्ध हो, प्रत्येक बुद्ध हो अथवा बुद्ध-बोधित हो। प्रस्तुत सूत्र में बुद्ध-बुद्धबोधित (किसी प्रबुद्ध से बोध पाये हुए) साधक की अपेक्षा से कथन है।[2]

सोच्चावयं मेधावी पंडियाण निसामिया—इस पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने कुछ भिन्न किया

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४।

है—पंडितों—गणधरों के द्वारा सूत्ररूप में निबद्ध मेधावियों—तीर्थंकरों के; वचन सुनकर तथा हृदय में धारण करके……। मध्यमवय में प्रव्रजित होते हैं।[3]

'ते अणवकंखमाणा' का तात्पर्य है—"वे जो गृहवास से मुनिधर्म में दीक्षित हुए हैं और मोक्ष की ओर जिन्होंने प्रस्थान किया है, काम-भोगों की आकांक्षा नहीं रखते।"

अणतिवातेमाणा अपरिग्गहमाणा—ये दो शब्द प्राणातिपात-विरमण तथा परिग्रह-विरमण महाव्रत के द्योतक हैं। आदि और अन्त के महाव्रत का ग्रहण करने से मध्य के मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण और मैथुन-विरमण महाव्रतों का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसे महाव्रती अपने शरीर के प्रति भी ममत्वरहित होते हैं। इन्हें ही तीर्थंकर गणधर आदि द्वारा महानिर्ग्रन्थ कहा गया है।

अगंथे—जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों से विमुक्त हो गया है, वह अग्रन्थ है। अग्रन्थ या निर्ग्रन्थ का एक ही आशय है।

उववायं-चयणं—उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) ये दोनों शब्द सामान्यतः देवताओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते हैं। इससे यह तात्पर्य हो सकता है कि दिव्य शरीरधारी देवताओं [का] शरीर भी जन्म-मरण के कारण नाशमान है, तो फिर मनुष्यों के रक्त, मांस, मज्जा आदि [अ]शुचि पदार्थों से बने शरीर की क्या बिसात है? इसी दृष्टि से चिन्तन करने पर इन पदों से [श]रीर की क्षण-भंगुरता का निदर्शन भी किया गया है कि 'शरीर' जन्म और मृत्यु के चक्र के [ब]ीच चल रहा है, यह क्षणभंगुर है, यह चिन्तन कर आहार आदि के प्रति अनासक्ति रखे।

प्रकारण-आहार-विमोक्ष

२१०. आहारोवचया देहा परीसहपभंगुणो। पासहेगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं। ओए दयं दयति जे संणिधाणसत्थस्स खेत्तण्णे, से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मातण्णे खणयण्णे विणयण्णे समयण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाई अपडिण्णे दुहतो छेत्ता णियाति।

२१०. शरीर आहार से उपचित (संपुष्ट) होते हैं, परीषहों के आघात से भग्न हो जाते हैं; किन्तु तुम देखो, आहार के अभाव में कई एक साधक क्षुधा से पीड़ित होकर सभी इन्द्रियों (की शक्ति) से ग्लान (क्षीण) हो जाते हैं। राग-द्वेष से रहित भिक्षु (क्षुधा-पिपासा आदि परीषहों के उत्पन्न होने पर भी) दया का पालन करता है।

जो भिक्षु सन्निधान—(आहारादि के संचय) के शस्त्र (संयमघातक प्रवृत्ति) के मर्मज्ञ है; (वह हिंसादि दोषयुक्त आहार का ग्रहण नहीं करता)। वह भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षणज्ञ (अवसरज्ञाता), विनयज्ञ (भिक्षाचरी के आचार का

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४।
३. आचारांग चूर्णि—मूलपाठ टिप्पण पृ० ७४।

मर्मज्ञ), समयज्ञ (सिद्धान्त का ज्ञाता) होता है। वह परिग्रह पर ममत्व न करने वाला, उचित समय पर अनुष्ठान (कार्य) करने वाला, किसी प्रकार की मिथ्या आग्रह-युक्त प्रतिज्ञा से रहित एवं राग और द्वेष के बन्धनों को दोनों ओर से छेदन करके निश्चिन्त होकर नियमित रूप से संयमी जीवन-यापन करता है।

विवेचन—सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं—इस सूत्र में आहार करने का कारण स्पष्ट कर दिया गया है कि आहार करने से शरीर पुष्ट होता है, किन्तु शरीर को पुष्ट और सशक्त रखने के उद्देश्य हैं—संयमपालन करना और परीषहादि सहन करना। किन्तु जो कायर, क्लीब और भोगाकांक्षी होते हैं, शरीर से सम्पुष्ट और सशक्त होते हुए भी जो मन के दुर्बल होते हैं, उनके शरीर परीषहों के आ पड़ते ही वृक्ष की डाली की तरह कट कर टूट पड़ते हैं। सारा देह टूट जाता है, परीषहों के थपेड़ों से इतना ही नहीं, उनकी सभी इन्द्रियाँ मुर्झा जाती हैं। जैसे क्षुधा से पीड़ित होने पर आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है, कानों से सुनना और नाक से सूंघना भी कम हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि आहार केवल शरीर को पुष्ट करने के लिए ही नहीं, अपितु कर्ममुक्ति के लिए है, अतएव शास्त्रोक्त ६ कारण से इसे आहार देना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में एक निष्कर्ष स्पष्टतः प्रतिफलित होता है कि साधक को कारणवश आहार ग्रहण करना चाहिए और अकारण आहार से विमुक्त भी हो जाना चाहिए।[1] उत्तराध्ययन सूत्र में साधु को ६ कारणों से आहार करने का विधान है—

छण्हं अन्नयराए कारणम्मि समुट्ठिए।
वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए॥

—साधु को इन छः कारणों में से किसी कारण के समुपस्थित होने पर आहार करना चाहिए—

(१) क्षुधावेदनीय को शान्त करने के लिए।
(२) साधुओं की सेवा करने के लिए।
(३) ईर्यासमिति-पालन के लिए।
(४) संयम-पालन के लिए।
(५) प्राणों की रक्षा के लिए। और
(६) स्वाध्याय, धर्मध्यान आदि करने के लिए।[2]

इन कारणों के सिवाय केवल बल-वीर्यादि बढ़ाने के लिए आहार करना अकारण-दोष है। उत्तराध्ययन सूत्र में ६ कारणों में से किसी एक के समुपस्थित होने पर आहार-त्याग का भी विधान है—

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४।
२. (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ० २६ गा० ३२-३३ (ख) धर्मसंग्रह अधि० ३ श्लो०—२३ टीका (ग) पिण्डनिर्युक्ति ग्रासैषणाधिकार गा० ६३५।

आयंके उवसग्गे तितिक्खया वंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं सरीरं वोच्छेयणट्ठाए ॥

(१) रोगादि आतंक होने पर, (२) उपसर्ग आने पर, परीषहादि की तितिक्षा के लिए, (३) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, (४) प्राणिदया के लिए, (५) तप के लिए तथा (६) शरीर-त्याग के लिए आहार-त्याग करना चाहिए।[1]

इसीलिए 'ओए दयं दयति' इस वाक्य द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि क्षुधा-पिपासादि परीषहों से प्रताड़ित होने पर भी राग-द्वेष रहित साधु प्राणिदया का पालन करता है, वह दोष-युक्त या अकारण आहार ग्रहण नहीं करता [2]।

'संणिधाणसत्थस्स खेत्तण्णे'—इस सूत्र पंक्ति में 'सन्निधानशस्त्र' शब्द के वृत्तिकार ने दो अर्थ किये हैं—

(१) जो नारकादि गतियों को अच्छी तरह धारण करा देता है, वह सन्निधान—कर्म है। उसके स्वरूप का निरूपक शास्त्र सन्निधानशास्त्र है, अथवा

(२) सन्निधान यानी कर्म, उसका शस्त्र (विघातक) है—संयम, अर्थात् सन्निधान-शस्त्र का मतलब हुआ कर्म का विघातक संयमरूपी शस्त्र। उस सन्निधानशास्त्र या सन्निधान-शस्त्र का खेदज्ञ अर्थात् उसमें निपुण; यही अर्थ चूर्णिकार ने भी किया है। परन्तु सन्निधान का अर्थ यहाँ "आहार योग्य पदार्थों की सन्निधि यानी संचय या संग्रह" अधिक उपयुक्त लगता है। लोकविजय के पाँचवें उद्देशक में इसके सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उसके सन्दर्भ में सन्निधान का यही अर्थ संगत लगता है। अकारण-आहार-विमोक्ष के प्रकरण में आहार योग्य पदार्थों का संग्रह करने के सम्बन्ध में कहना प्रासंगिक भी है। अतः इसका स्पष्ट अर्थ हुआ—भिक्षु आहारादि के संग्रहरूपशस्त्र (अनिष्टकारक बल) का क्षेत्रज्ञ—अन्तरंग मर्म का ज्ञाता होता है। भिक्षु भिक्षाजीवी होता है। आहारादि का संग्रह करना उसकी भिक्षाजीविता पर कलंक है।[3]

कालज्ञ आदि सभी विशेषण भिक्षाजीवी तथा अकारण आहार-विमोक्ष के साधक की योग्यता प्रदर्शित करने के लिए हैं। लोकविजय अध्ययन के पंचम उद्देशक। (सूत्र ८८) में भी इसी प्रकार का सूत्र है, और वहाँ कालज्ञ आदि शब्दों की व्याख्या भी की है।[4] यह सूत्र भिक्षा-जीवी साधु की विशेषताओं का निरूपण करता है।

'णियाति'—का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—'जो संयमानुष्ठान में निश्चय से प्रयाण करता है।' इसका तात्पर्य है—संयम में निश्चिन्त होकर जीवन-यापन करता है।[5]

---

१. उत्तराध्ययन अ० २६ गा० ३५। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७५।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७५।
(ख) आयारो (मुनि नथमल जी) के आधार पर पृ० ६३, ३१३।
(ग) दशवैकालिक सूत्र में अ० ३ में 'सन्निही' नामक अनाचीर्ण बताया गया है तथा 'सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, अणुमायं पि संजए'—(अ० ८, गा० २८) में सन्निधि-संग्रह का निषेध किया है।

४. देखें सूत्र ८८ का विवेचन पृष्ठ ६१। ५. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७५।

अग्नि-सेवन-विमोक्ष

२११. तं भिक्खुं सीतफासपरीवेवमाणगातं उवसंकमित्तु गाहावती बूया—आउसंतो समणा ! णो खलु ते गामधम्मा उब्बाहंति ? आउसंतो[1] गाहावती ! णो खलु मम गामधम्मा उब्बाहंति । सीतफासं[2] णो खलु अहं संचाएमि अहियासेत्तए । णो खलु मे कप्पति अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अण्णेसिं वा वयणाओ ।

२१२. सिया[3] एवं वदंतस्स[4] परो अगणिकायं उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्जा वा पयावेज्जा वा । तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ।

।। तइओ उद्देसओ समत्तो ।।

२११. शीत-स्पर्श से कांपते हुए शरीरवाले उस भिक्षु के पास आकर कोई गृहपति कहे—आयुष्मान् श्रमण । क्या तुम्हें ग्रामधर्म (इन्द्रिय-विषय) तो पीड़ित नहीं कर रहे हैं ? (इस पर मुनि कहता है) आयुष्मान् गृहपति ! मुझे ग्रामधर्म पीड़ित नहीं कर रहे हैं, किन्तु मेरा शरीर दुर्बल होने के कारण मैं शीत-स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ (इसलिए मेरा शरीर शीत से प्रकम्पित हो रहा है) ।

('तुम अग्नि क्यों नहीं जला लेते ?' इस प्रकार गृहपति के द्वारा कहे जाने पर मुनि कहता है—)अग्निकाय को उज्ज्वलित करना, प्रज्ज्वलित करना, उससे शरीर को थोड़ा-सा भी तपाना या दूसरों को कहकर अग्नि प्रज्ज्वलित करवाना अकल्पनीय है ।

२१२. (कदाचित् वह गृहस्थ) इस प्रकार बोलने पर अग्निकाय को उज्ज्वलित-प्रज्ज्वलित करके साधु के शरीर को थोड़ा तपाए या विशेष रूप से तपाए ।

---

१. चूर्णि में इस प्रकार का पाठान्तर है—बेति—'हे **आउसं अप्पं खलु मम गामधम्मा उब्बाहंति"**—इसका अर्थ किया गया है—"अप्पंति अभावे भवति थोवे य, एत्य अभावे ।'—अर्थात् मुनि कहता है—हे आयुष्मन् ! निश्चय ही मुझे ग्रामधर्म बाधित नहीं करता ।' 'अप्प' शब्द अभाव अर्थ में और थोड़े अर्थ में प्रयुक्त होता है । यहाँ अभाव अर्थ में प्रयुक्त है ।

२. यहाँ भी चूर्णि में पाठान्तर है—"**सीयफासं च हं णो सहामि अहियासित्तए**—अर्थात्—मैं शीतस्पर्श को सहन नहीं कर सकता ।

३. '**सिया एवं**' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**सिया**—कयायि, **एवमवधारणे**' सिया का अर्थ कदाचित् एवं यहाँ अवधारण—निश्चय अर्थ में है ।

४. चूर्णि के अनुसार यहाँ पाठान्तर इस प्रकार है—"**से एवं वयंतस्स परो पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता वा तस्स आतावेति वा पतवेति वा । तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ।'** कदाचित् इस प्रकार कहते हुए (सुनकर) कोई पर (गृहस्थ) प्राण, भूत जीव और सत्त्वों का उपमर्दन रूप आरम्भ करके उस भिक्षु के उद्देश्य से खरीदी हुई, उधार ली हुई, छीनी हुई, दूसरे की चीज को उसकी अनुमति के विना ली हुई वस्तु को अग्निकाय जलाकर, विशेष प्रज्वलित करके, उस भिक्षु के शरीर को थोड़ा या अधिक तपाए, तब वह भिक्षु उसे देखकर, आगम से उसके दोष जानकर उक्त गृहस्थ को बतादे कि मेरे लिए इसे सेवन करना उचित नहीं है । ऐसा मैं कहता हूँ ।

उस अवसर पर अग्निकाय के आरम्भ को भिक्षु अपनी बुद्धि से विचारकर आगम के द्वारा भलीभाँति जानकर उस गृहस्थ से कहे कि अग्नि का सेवन मेरे लिए असेवनीय है, (अतः मैं इसका सेवन नहीं कर सकता)।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—ग्रामधर्म की आशंका और समाधान—सूत्र २११ में किसी भावुक गृहस्थ की आशंका और समाधान का प्रतिपादन है। कोई भिक्षाजीवी युवक साधु भिक्षाटन कर रहा है, उस समय शरीर पर पूरे वस्त्र न होने के कारण शीत से थर-थर कांपते देख, उसके निकट आकर ऐश्वर्य की गर्मी से युक्त, तरुण नारियों से परिवृत, शीत-स्पर्श का अनुभवी, सुगन्धित पदार्थों से शरीर को सुगन्धित बनाए हुए कोई भावुक गृहस्थ पूछने लगे कि 'आप कांपते क्यों हैं? क्या आपको ग्राम-धर्म उत्पीड़ित कर रहा है?' इस प्रकार की शंका प्रस्तुत किए जाने पर साधु उसका अभिप्राय जान लेता है कि इस गृहपति को अपनी गलत समझ के कारण—कामिनियों के अवलोकन की मिथ्या शंका पैदा हो गयी है। अतः मुझे इस शंका का निवारण करना चाहिए। इस अभिप्राय से साधु उसका समाधान करता है—'सीतफासं णो खलु····अहियासेत्तए' मैं सर्दी नहीं सहन कर पा रहा हूँ।

अपनी कल्पमर्यादा का ज्ञाता साधु अग्निकाय-सेवन को अनाचरणीय बताता है। इस पर कोई भावुक भक्त अग्नि जलाकर साधु के शरीर को उससे तपाने लगे तो साधु उससे सद्भावपूर्वक स्पष्टतया अग्नि के सेवन का निषेध कर दे।[1]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

उपधि-विमोक्ष

२१३. जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायचउत्थेहिं तस्स णं णो एवं भवति—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि।[2]

२१४. से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं[3] वत्थाइं धारेज्जा,[4] णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे गामंतरेसु, ओमचेलिए। एतं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं।

अह पुण एवं जाणेज्जा 'उवातिक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे', अहापरिजुण्णाइं

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७५-२७६।

२. **'वत्थं धारिस्सामि'** पाठान्तर चूर्णि में है। अर्थ है—वस्त्र धारण करूँगा।

३. इसके बदले **अहापग्गहियाइं** पाठ है, अर्थ है—यथाप्रगृहीत—जैसा गृहस्थ से लिया है।

४. इसका अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—"**णो धोएज्ज रएज्ज** त्ति कसाय धातुकद्दमादीहि, धोतरत्तं णाम जं धोवितुं पुणोरयति।"—प्रासुक जल से भी न धोए, न काषायिक धातु, कर्दम आदि के रंग के रंगे, न ही धोए हुए वस्त्र को पुनः रंगे।"

वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेत्ता अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले। लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेतं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव[1] समभिजाणिया।[2]

२१३. जो भिक्षु तीन वस्त्र और चौथा (एक) पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है, उसके मन में ऐसा अध्यवसाय नहीं होता कि "मैं चौथे वस्त्र की याचना करूँगा।"

२१४. वह यथा-एषणीय (अपनी समाचारी-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय) वस्त्रों की याचना करे और यथापरिगृहीत (जैसे भी वस्त्र मिले हैं या लिए हैं, उन) वस्त्रों को धारण करे।

वह उन वस्त्रों को न तो धोए, और न रंगे, न धोए-रंगे हुए वस्त्रों को धारण करे। दूसरे ग्रामों में जाते समय वह उन वस्त्रों को बिना छिपाए हुए चले। वह (अभिग्रहधारी) मुनि (परिमाण और मूल्य की दृष्टि से) स्वल्प और अतिसाधारण वस्त्र रखे। वस्त्रधारी मुनि की यही सामग्री (धर्मोपकरणसमूह) है।

जब भिक्षु यह जान ले कि 'हेमन्त ऋतु' बीत गयी है, 'ग्रीष्म ऋतु आ गयी है, तब वह जिन-जिन वस्त्रों को जीर्ण समझे, उनका परित्याग कर दे। उन यथा-परिजीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके या तो (उस क्षेत्र में शीत अधिक पड़ता हो तो) एक अन्तर (सूती) वस्त्र और उत्तर (ऊनी) वस्त्र साथ में रखे; अथवा वह एकशाटक (एक ही चादर-पछेवड़ी वस्त्र) वाला होकर रहे। अथवा वह (रजोहरण और मुख-वस्त्रिका के सिवाय सब वस्त्रों को छोड़कर) अचेलक (निर्वस्त्र) हो जाएं।

(इस प्रकार) लाघवता (अल्प उपधि) को लाता या उसका चिन्तन करता हुआ वह (मुनि वस्त्र-परित्याग करे) उस वस्त्र परित्यागी मुनि के (सहज में ही) तप (उपकरण—ऊनोदरी और कायक्लेश) सध जाता है।

भगवान ने जिस प्रकार से इस (उपधि-विमोक्ष) का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में गहराई-पूर्वक जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) (उसमें निहित) समत्व को सम्यक् प्रकार से जाने व कार्यान्वित करे।

विवेचन—विमोक्ष (मुक्ति) की साधना में लीन श्रमण को संयम-रक्षा के लिए वस्त्र-पात्र आदि उपधि भी रखनी पड़ती है। शास्त्र में उसकी अनुमति है। किन्तु अनुमति के साथ यह भी विवेक-निर्देश किया है कि वह अपनी आवश्यकता को कम करता जाय और उपधि-संयम बढ़ाता रहे, उपधि की अल्पता 'लाघव-धर्म' की साधना है। इस दिशा में भिक्षु स्वतः ही विविध प्रकार के संकल्प व प्रतिज्ञा लेकर उपधि आदि की कमी करता रहता है। प्रस्तुत

---

१. किसी प्रति में 'समत्त' शब्द है। उसका अर्थ होता है—समत्व।
२. किसी प्रति में 'समभिजाणिया' के वदले 'समभिजाणिज्जा' शब्द मिलता है, उसका अर्थ है—सम्यक रूप से जाने और आचरण करे।

सूत्र में इसी विषय पर प्रकाश डाला है। वृत्ति-संयम के साथ पदार्थ-त्याग का भी निर्देश किया है।

प्रस्तुत दोनों सूत्र वस्त्र-पात्रादि रूप बाह्य उपधि और राग, द्वेष, मोह एवं आसक्ति आदि आभ्यन्तर उपधि से विमोक्ष की साधना की दृष्टि से प्रतिमाधारी या (जिनकल्पिक) श्रमण के विषय में प्रतिपादित हैं। जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र (पात्रनिर्योगयुक्त), इतनी उपधि रखने की अर्थात् इस उपधि के सिवाय अन्य उपधि न रखने की प्रतिज्ञा लेता है, वह 'कल्पत्रय प्रतिमा-प्रतिपन्न' कहलाता है। उसका कल्पत्रय औघ-औपधिक होता है, औपग्राहिक नहीं। शिशिर आदि शीत ऋतु में दो सूती (क्षौमिक) वस्त्र तथा तीसरा ऊन का वस्त्र—यों कल्पत्रय स्वीकार करता है। जिस मुनि ने ऐसी कल्पत्रय की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि शीतादि का परीषह उत्पन्न होने पर भी चौथे वस्त्र को स्वाकार करने की इच्छा नहीं करे। यदि उसके पास अपनी ग्रहण की हुयी प्रतिज्ञा (कल्प) से कम वस्त्र हैं, तो वह दूसरा वस्त्र ले सकता है।

पात्र-निर्योग—टीकाकार ने पात्र के सन्दर्भ में सात प्रकार के पात्र-निर्योग का उल्लेख किया है और पात्र ग्रहण करने के साथ-साथ पात्र से सम्बन्धित सामान भी उसी के अन्तर्गत माना गया है। जैसे १. पात्र २. पात्रबन्धन, ३. पात्र-स्थापन, ४. पात्र-केसरी (प्रमार्जनिका) ५. पटल, ६. रजस्त्राण और ७. पात्र साफ करने का वस्त्र—गोच्छक, ये सातों मिलकर पात्र-निर्योग कहलाते हैं। ये सात उपकरण तथा तीन पात्र तथा रजोहरण और मुखवस्त्रिका, यों १२ उपकरण जिनकल्प की भूमिका पर स्थित एवं प्रतिमाधारक मुनि के होते हैं। यह उपधि-विमोक्ष की एक साधना है।[1]

उपधि-विमोक्ष का उद्देश्य—इसका उद्देश्य यह है कि साधु आवश्यक उपधि से अतिरिक्त उपधि का संग्रह करेगा तो उसके मन में ममत्वभाव जगेगा, उसका अधिकांश समय उसे संभालने, धोने, सीने आदि में ही लग जाएगा, स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए नहीं बचेगा।[2]

यथाप्राप्त वस्त्रधारण—इस प्रकार के उपधि-विमोक्ष की प्रतिज्ञा के साथ शास्त्रकार एक अनाग्रहवृत्ति का भी सूचन करते हैं। वह है—जैसे भी जिस रूप में ऐषणीय-कल्पनीय वस्त्र मिलें, उसे वह उसी रूप में धारण करे, वस्त्र के प्रति किसी विशेष प्रकार का आग्रह संकल्प-विकल्प पूर्ण बुद्धि न रखे। वह उन्हें न तो फाड़कर छोटा करे, न उनमें टुकड़ा जोड़कर बड़े करे, न उसे धोए और न रंगे। यह विधान भी जिनकल्पी विशिष्ट प्रतिमासम्पन्न मुनि के लिए है। वह भी इसलिए कि वह साधु वस्त्रों को संस्कारित एवं बढ़िया करने में लग जाएगा तो उसमें मोह जागृत होगा, और विमोक्ष साधना में मोह से उसे सर्वथा मुक्त होना है। स्थविर-कल्पी मुनियों के लिए कुछ कारणों से वस्त्र धोने का विधान है, किन्तु वह भी विभूषा एवं

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७।

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ।
पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छओ पायणिज्जोगो॥

२. आचारांग (आ० श्री आत्माराम जी महाराज कृत टीका) पृ० ५७८।

सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं। शृंगार और साज-सज्जा की भावना से वस्त्र ग्रहण करने, पहनने धोने, आदि की आज्ञा किसी भी प्रकार के साधक को नहीं है; और रंगने का तो सर्वथा निषेध है ही।[1]

ओमचेले—'अवम' का अर्थ अल्प या साधारण होता है। 'अवम' शब्द यहाँ संख्या, परिमाण (नाप) और मूल्य—तीनों दृष्टियों से अल्पता या साधारणता का द्योतक है। संख्या में अल्पता का तो मूलपाठ में उल्लेख है ही, नाप और मूल्य में भी अल्पता या न्यूनता का ध्यान रखना आवश्यक है। कम से कम मूल्य के, साधारण से और थोड़े से वस्त्र से निर्वाह करने वाला भिक्षु 'अवमचेलक' कहलाता है।[2]

'**अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा**—यह सूत्र प्रतिमाधारी उपधि-विमोक्ष साधक की उपधि विमोक्ष की साधना का अभ्यास करने की दृष्टि से इंगित है। वह अपने शरीर को जितना कस सके कसे, जितना कम से कम वस्त्र से रह सकता है, रहने का अभ्यास करे। इसीलिए कहा गया है कि ज्यों ही ग्रीष्म ऋतु आ जाए, साधक तीन वस्त्रों में से एक वस्त्र, जो अत्यन्त जीर्ण हो, उसका विसर्जन कर दे। रहे दो वस्त्र, उनमें से भी कर सकता हो तो एक वस्त्र कम कर दे, सिर्फ एक वस्त्र में रहे, और यदि इससे भी आगे हिम्मत कर सके तो बिलकुल वस्त्ररहित हो जाए। इससे साधक को तपस्या का लाभ तो है ही, वस्त्र सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त होने, लघुभूत (हलके-फुलके) होने का महालाभ भी मिलेगा।

शास्त्र में बताया गया है कि पाँच कारणों से अचेलक प्रशस्त होता है। जैसे कि—

(१) उसकी प्रतिलेखना अल्प होती है।
(२) उसका लाघव प्रशस्त होता है।
(३) उसका रूप (वेश) विश्वास योग्य होता है।
(४) उसका तप जिनेन्द्र द्वारा अनुज्ञात होता है।
(५) उसे विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।[3]

सम्मत्तमेव समभिजाणिया—वृत्तिकार ने 'सम्मत्तं' शब्द के दो अर्थ किये हैं—(१) सम्यक्त्व और समत्व। जहाँ 'सम्यक्त्व' अर्थ होगा, वहाँ इस वाक्य का अर्थ होगा—भगवत्कथित इस उपधि-विमोक्ष के सम्यक्त्व (सत्यता या सचाई) को भली-भाँति जानकर आचरण में लाए। जहाँ 'समत्व' अर्थ मानने पर इस वाक्य का अर्थ होगा—भगवदुक्त उपधि-विमोक्ष को सब प्रकार से सर्वात्मना जानकर सचेलक-अचेलक दोनों अवस्थाओं में समभाव का आचरण करे।[4]

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७,
   (ख) आचारांग (आत्मारामजी महाराज कृत टीका पृ० ५७८ पर से।
२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७।
३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७-२७८।
   (ख) स्थानांग, स्था० ५, उ० ३ सू० २०१।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७८।

शरीर-विमोक्ष : वैहानसादिमरण

२१५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'पुट्ठो खलु अहमंसि, नालमहमंसि सीतफासं अहियासेत्तए', से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे।

तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमादिए। तत्थावि तस्स कालपरियाए। से वि तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हियं सुहं खमं[1] णिस्सेसं[2] आणुगामियं ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

२१५. जिस भिक्षु को यह प्रतीत हो कि मैं (शीतादि परीषहों या स्त्री आदि के उपसर्गों से) आक्रान्त हो गया हूँ, और मैं इस अनुकूल (शीत) परीषह को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ, (वैसी स्थिति में) कोई-कोई संयम का धनी (वसुमान्) भिक्षु स्वयं को प्राप्त सम्पूर्ण प्रज्ञान एवं अन्तःकरण (स्व-विवेक) से उस स्त्री आदि उपसर्ग के वश न होकर उसका सेवन न करने के लिए हट (—दूर हो) जाता है।

उस तपस्वी भिक्षु के लिए वही श्रेयस्कर है, (जो एक ब्रह्मचर्यनिष्ठ संयमी भिक्षु को स्त्री आदि का उपसर्ग उपस्थित होने पर करना चाहिए) ऐसी स्थिति में उसे वैहानस (गले में फांसी लगाने की क्रिया, विषभक्षण, झंपापात आदि से) मरण स्वीकार करना—श्रेयस्कर है।

ऐसा करने में भी उसका वह (—मरण) काल-पर्याय-मरण (काल-मृत्यु) है।

वह भिक्षु भी उस मृत्यु से अन्तक्रियाकर्ता (सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर्ता) भी हो सकता है।

इस प्रकार यह मरण प्राण-मोह से मुक्त भिक्षुओं का आयतन (आश्रय), हितकर, सुखकर, कालोपयुक्त या कर्मक्षय-समर्थ, निःश्रेयस्कर, परलोक में साथ चलने वाला होता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—आपवादिक-मरण द्वारा शरीर-विमोक्ष—वैसे तो शरीर धर्म-पालन में अक्षम, असमर्थ एवं जीर्ण-शीर्ण, अशक्त हो जाए तो उस भिक्षु के द्वारा संल्लेखना द्वारा—समाधिमरण (भक्तपरिज्ञा, इंगितमरण एवं पादपोपगमन) स्वीकार करके शरीर-विमोक्ष करने का औत्सर्गिक विधान है, किन्तु इसकी प्रक्रिया तो काफी लम्बी अवधि की है। कोई आकस्मिक कारण उपस्थित हो जाए और उसके लिए तात्कालिक शरीर-विमोक्ष का निर्णय लेना हो तो वह क्या करे? इस आपवादिक स्थिति के लिए शास्त्रकारों ने वैहानस जैसे मरण की सम्मति दी है, और उसे भगवद् आज्ञानुमत एवं कल्याण कर माना है।

धर्म-संकटापन्न आपवादिक स्थिति—शास्त्रकार तो सिर्फ सूत्र रूप में उसका संकेत भर

---

१. 'खमं' के वदले 'खेमं' शब्द किसी प्रति में मिलता है। क्षेम अर्थ कुशल रूप है।
२. 'निस्सेसं' के वदले 'निस्सेसिमं' पाठान्तर है। अर्थ है—'निःश्रेयसकर्ता।'

करते हैं, वृत्तिकार ने उस स्थिति का स्पष्टीकरण किया है—कोई भिक्षु गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए गया। वहाँ कोई काम-पीड़िता, पुत्राकांक्षिणी, पूर्वाश्रम (गृहस्थ-जीवन) की पत्नी या कोई व्यक्ति उसे एक कमरे में उक्त स्त्री के साथ बन्द कर दे या उसे वह स्त्री रतिदान के लिए बहुत अनुनय विनय करे, वह स्त्री या उसके पारिवारिकजन उसे भावभक्ति से, प्रलोभन से, काम-सुख के लिए विचलित करना चाहें, यहाँ तक कि उसे इसके लिए विवश कर दे; अथवा वह स्वयं ही वातादि जनित काम-पीड़ा या स्त्री आदि के उपसर्ग को सहन करने में असमर्थ हो, ऐसी स्थिति में उस साधु के लिए झटपट निर्णय करना होता है, जरा-सा भी विलम्ब उसके लिए अहितकर या अनुचित हो सकता है। उस धर्म-संकटापन्न स्थिति में साधु उस स्त्री के समक्ष श्वास बन्द कर मृतकवत् हो जाए, अवसर पाकर गले में झूठ-मूठ फांसी लगाने का प्रयत्न करे, यदि इस पर उसका छुटकारा हो जाए तो ठीक, अन्यथा फिर वह गले में फांसी लगाकर, जीभ खींचकर मकान से कूदकर, झंपापात करके या विष-भक्षण आदि करके किसी भी प्रकार से शरीर-त्याग कर दे, किन्तु स्त्री-सहवास आदि उपसर्ग या स्त्री-परिषह के वश न हो, किसी भी मूल्य पर मैथुन-सेवन आदि स्वीकार न करे।

२२ परीषहों में स्त्री और सत्कार, ये दो शीत-परीषह हैं, शेष बीस परीषह उष्ण हैं।[1] —प्रस्तुत सूत्र में शीतस्पर्श, स्त्री-परीषह या काम-भोग अर्थ में ही अधिक संगत प्रतीत होता है। अतः यहाँ बताया गया है कि दीर्घकाल तक शीतस्पर्शादि सहन न कर सकने वाला भिक्षु सुदर्शन सेठ की तरह अपने प्राणों का परित्याग-कर दे।

शास्त्रकार यही बात कहते हैं—'**तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाविए**'—अर्थात् उस तपस्वी के लिए बहुत समय तक अनेकप्रकार के अन्यान्य उपाय अजमाए जाने पर भी उस स्त्री आदि के चंगुल से छूटना दुष्कर मालूम हो, तो उस तपस्वी के लिए यही एकमात्र श्रेयस्कर है कि वह वैहानस आदि उपायों में से किसी एक को अपना कर प्राणत्याग कर दे।

तत्थावि तस्स कालपरियाए—यहाँ शंका हो सकती है कि वैहानस आदि मरण तो बाल-मरण कहा गया है, वर्तमान युग की भाषा में इसे आत्म-हत्या कहा जाता है, वह तो साधक के लिए महान् अहितकारी है, क्योंकि उससे तो अनन्तकाल तक नरक आदि गतियों में परि-भ्रमण करना पड़ता है।" इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'तत्थावि…।' ऐसे अवसर पर इस प्रकार वैहानस या गृद्धपृष्ठ आदि मरण द्वारा शरीर-विमोक्ष करने पर भी वह काल-मृत्यु होती है। जैसे काल-पर्यायमरण गुणकारी होता है, वैसे ही ऐसे अवसर पर वैहानसादि मरण भी गुणकारी होता है।

जैनधर्म अनेकान्तवादी है। यह सापेक्ष दृष्टि से किसी भी बात के गुणावगुण पर विचार करता है। ब्रह्मचर्य साधना (मैथुन-त्याग) के सिवाय एकान्तरूप से किसी भी बात का विधि या निषेध नहीं है; अपितु जिस बात का निषेध किया जाता है, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से उसका स्वीकार भी किया जा सकता है। कालज्ञ साध के लिए उत्सर्ग भी कभी दोषकारक

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७९।

और अपवाद भी गुणकारक हो जाता है। इसीलिए कहा—'से वि तत्थ वियंतिकारए—तात्पर्य यह है कि क्रमशः भक्तपरिज्ञा अनशन आदि करने वाला ही नहीं, वैहानसादि मरण को अपनाने वाले भिक्षु के लिए वैहानसादि मरण भी औत्सर्गिक बन जाता है। क्योंकि इस मरण के द्वारा भी भिक्षु आराधक होकर सिद्ध-मुक्त हुए हैं, होंगे। यही कारण है कि शास्त्रकार इस आपवादिक मरण को भी प्रशंसनीय बताते हुए कहते हैं—'इच्चेतं विमोहायतणं····।'[1] यह उसके विमोह (वैराग्य का) केन्द्र, आश्रय है।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

द्विवस्त्रधारी श्रमण का समाचार

२१६. जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायततिएहिं तस्स णं णो एवं भवति—ततियं वत्थं जाइस्सामि।

२१७. से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा जाव[2] एयं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं।

अह पुण एवं जाणेज्जा 'उवातिक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे', अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेत्ता अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेयं भगवता पवेदितं। तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२१६. जो भिक्षु दो वस्त्र और तीसरे (एक) पात्र रखने की प्रतिज्ञा में स्थित है, उसके मन में यह विकल्प नहीं उठता कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूं।

२१७. (अगर दो वस्त्रों से कम हो तो) वह अपनी कल्पमर्यादानुसार ग्रहणीय वस्त्रों की याचना करे। इससे आगे वस्त्र-विमोक्ष के सम्बन्ध में पूर्व उद्देशक में—"उस वस्त्रधारी भिक्षु की यही सामग्री है; तक वर्णित पाठ के अनुसार पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

यदि भिक्षु यह जाने कि हेमन्त ऋतु व्यतीत हो गयी है, ग्रीष्म ऋतु आ गयी है, तब वह जैसे-जैसे वस्त्र जीर्ण हो गए हों, उनका परित्याग कर दे। (इस प्रकार) यथा परिजीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके या तो वह एक शाटक (आच्छादन पट—चादर) में रहे, या वह अचेल (वस्त्र-रहित) हो जाए। (इस प्रकार) वह लाघवता का सर्वतोमुखी विचार करता हुआ (क्रमशः वस्त्र-विमोक्ष प्राप्त करे)।

(इस प्रकार वस्त्र-विमोक्ष या अल्पवस्त्र से) मुनि को (उपकरण-अवमौदर्य एवं कायक्लेश) तप सहज ही प्राप्त हो जाता है।

---

१. निर्युक्ति गाथा गा० २०२

२. यहाँ 'जाव' शब्द के अन्तर्गत समग्र पाठ २१४ सूत्रानुसार समझें।

भगवान् ने इस (वस्त्रविमोक्ष के तत्त्व) को जिस रूप में प्रतिपादित किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से—सर्वात्मना (उसमें निहित) समत्व को सम्यक् प्रकार से जाने व क्रियान्वित करे।

विवेचन—उपधि-विमोक्ष का द्वितीय कल्प—प्रस्तुत सूत्रों में उपधि-विमोक्ष के द्वितीय कल्प का विधान है। प्रथम कल्प का अधिकारी जिनकल्पिक के अतिरिक्त स्थविरकल्पी भिक्षु भी हो सकता था, किंतु इस द्वितीय कल्प का अधिकारी नियमतः जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिक, यथालन्दिक एवं प्रतिमा-प्रतिपन्न भिक्षुओं में से कोई एक हो सकता है।[1]

यह भी उपधि-विमोक्ष की द्विकल्प साधना है। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने वाले भिक्षु के लिए यह भी उचित है कि वह अन्त तक अपनी कृत प्रतिज्ञा पर दृढ रहे, उससे विचलित न हो।

द्विवस्त्र-कल्प में स्थित भिक्षु के लिए बताया गया है कि वह दो वस्त्रों में से एक वस्त्र सूती रखे, दूसरा ऊनी रखे। ऊनी वस्त्र का उपयोग अत्यन्त शीत ऋतु में ही करे।

ग्लान-अवस्था में आहार-विमोक्ष

२१८. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—पुट्ठो[2] अबलो अहमंसि, णालमहमंसि गिहंतर-संकमणं भिक्खायरियं गमणाए।[3] से[4] सेवं वदंतस्स परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसंतो गाहावती! णो खलु मे कप्पति अभिहडं[5] असणं वा ४ भोत्तए वा पातए वा अण्णे वा एतप्पगारे।

२१८. जिस भिक्षु को ऐसा प्रतीत होने लगे कि मैं (वातादि रोगों से) ग्रस्त

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८०।

२. चूर्णि में पाठान्तर है—'**पुट्ठो अहमंसि अबलो अहमंसि गिहंतरं भिक्खायरिआए गमणा**' अर्थात्—(एक तो) मैं वातादि रोगों से आक्रान्त हूँ, (फिर) शरीर से इतना दुर्बल—अशक्त हूँ कि भिक्षाचर्या के लिए घर-घर जा नहीं सकता।

३. किसी प्रति में ऐसा पाठान्तर मिलता है—'**तं भिक्खु केइ गाहावती उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा! अहं णं तव अट्ठाए असणं वा ४ अभिहडं दलामि। से पुव्वामेव जाणेज्जा आउसंतो गाहा-वई! जं णं तुमं मम अट्ठाए असणं वा ४ अभिहडं चेतेसि, णो य खलु मे कप्पइ एयप्पगारं असणं वा ४ भोत्तए वा पायए वा, अन्ने वा तहप्पगारे**' अर्थात्—कोई गृहपति उस भिक्षु के पास आकर कहे—आयुष्मन् श्रमण! मैं आपके लिए अशनादि आहार सामने लाकर देता हूँ। वह पहले ही यह जान ले, (और कहे—) आयुष्मान गृहपति! जो तुम मेरे लिए आहार आदि लाकर देना चाहते हो, एसे या अन्य दोष से युक्त अशनादि आहार खाना या पीना मेरे लिए कल्पनीय नहीं है।

४. चूर्णि में इसके बदले पाठान्तर है—**सिया से य वदंतस्स वि परो असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा**—अर्थ इस प्रकार है—**परो जं भणितं तं दुक्खं अकहेंतस्स परो······अणुकम्पापरिणतो····**आहट्टु आणित्ता दलएज्जा-दद्यात्। अर्थात्—कदाचित् ऐसा कहने पर दूसरा कोई (जो कहा हुआ, दुःख दूसरे को न कहने वाला अनुकम्पायुक्त गृहस्थ) अशनादि लाकर दे····।

५. अभिहडं के अभिहृते या अभ्याहृतं दोनों रूप समानार्थक हैं।

होने से दुर्बल हो गया हूँ। अतः मैं भिक्षाटन के लिए एक घर से दूसरे घर जाने में समर्थ नहीं हूं। उसे इस प्रकार कहते हुए (सुनकर) कोई गृहस्थ अपने घर से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर देने लगे। (ऐसी स्थिति में) वह भिक्षु पहले ही गहराई से विचारे (और कहे)—'आयुष्मान् गृहपति! यह अभ्याहृत—(घर से सामने लाया हुआ) अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मेरे लिए सेवनीय नहीं है, इसी प्रकार दूसरे (दोषों से दूषित आहारादि भी मेरे लिए ग्रहणीय नहीं है)।

विवेचन—ग्लान द्वारा अभिहृत आहार-निषेध—सू० २१८ में ग्लान भिक्षु को भिक्षाटन करने की असमर्थता की स्थिति में कोई भावुक भक्त उपाश्रय में या रास्ते में लाकर आहारादि देने लगे, उस समय भिक्षु द्वारा किए जाने वाले निषेध का वर्णन है। **पुट्ठो अबलो अहमंसि**—का तात्पर्य है—वात, पित्त, कफ आदि रोगों से आक्रान्त हो जाने के कारण शरीर से मैं दुर्बल हो गया हूँ। शरीर की दुर्बलता का मन पर भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए ऐसा अशक्त भिक्षु सोचने लगता है—मैं अब भिक्षा के लिए घर-घर घूमने में असमर्थ हो गया हूँ।[1]

दुर्बल होने पर भी अभिहृतदोष युक्त आहार-पानी न ले—इसी सूत्र के उत्तरार्ध का तात्पर्य यह है कि ऐसे भिक्षु को दुर्बल जान कर या सुनकर कोई भावुक हृदय गृहस्थादि अनुकम्पा और भक्ति से प्रेरित होकर उसके लिए भोजन बनाकर उपाश्रयादि में लाकर देने लगे तो वह पहले सोच ले कि ऐसा सदोष आरम्भ जनित आहार लेना मेरे लिए कल्पनीय नहीं है। तत्पश्चात् वह उस भावुक गृहस्थ को अपने आचार-विचार समझाकर उस दोष से या अन्य किसी भी दोष से युक्त आहार को लेने या खाने-पीने से इन्कार कर दे।[2]

शंका-समाधान—जो भिक्षु स्वयं भिक्षा के लिए जा नहीं सकता, गृहस्थादि द्वारा लाया हुआ ले नहीं सकता, ऐसी स्थिति में वह शरीर को आहार-पानी कैसे पहुँचाएगा? इस शंका का समाधान अगले सूत्र में किया गया है। मालूम होता है—ऐसा साधु प्रायः एकलविहारी होता है।

वैयावृत्य-प्रकल्प

२१९. जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे[3] (१) अहं च खलु पडिण्णत्तो अपडिण्णत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साधम्मिएहिं[4] कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि, (२) अहं चावि खलु अपडिण्णत्तो[5] पडिण्णत्तस्स[6] अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख[7] साधम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८०। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८०।

३. 'कप्पे' पाठान्तर है, अर्थ चूर्णि में यों है—कप्पो समाचारीमज्जाता (समाचारी-मर्यादा का नाम कल्प है)।

४. इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर है—'**साहम्मियवेयावडियं कीरमाणं सातिज्जिस्सामि**' अर्थात्—साधर्मिक (साधु) द्वारा की जाती हुई सेवा का ग्रहण करूँगा।

५. 'अपडिण्णत्त' शब्द का अर्थ चूर्णि में यों हैं—अपडिण्णत्तो णामं णाहं साहंमियवेयावच्चे केणयि अब्भत्थेयव्वो इति अपडिण्णत्तो। अर्थात्—अप्रतिज्ञप्त उसे कहते हैं, जो किसी भी साधर्मिक से वैयावृत्य की अपेक्षा—अभ्यर्थना नहीं करता।

(३) आहट्टु परिण्णं आणक्खेस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि (४) आहट्टु परिण्णं आणक्खेस्सामि आहडं च नो सातिज्जिस्सामि (५) आहट्टु परिण्णं नो आणक्खेस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि (६) आहट्टु परिण्णं णो आणक्खेस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि। [लाघवियं[1] आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेतं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया]

एवं से अहाकिट्टितमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरते सुसमाहितलेस्से। तत्थावि तस्स कालपरियाए। से तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हितं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

२१६. जिस भिक्षु का यह प्रकल्प (आचार-मर्यादा) होता है कि मैं ग्लान हूँ, मेरे साधर्मिक साधु अग्लान हैं, उन्होंने मुझे सेवा करने का वचन दिया है, यद्यपि मैंने अपनी सेवा के लिए उनसे निवेदन नहीं किया है, तथापि निर्जरा की अभिकांक्षा (उद्देश्य) से साधर्मिकों द्वारा की जानी वाली सेवा मैं रुचिपूर्वक स्वीकार करूँगा।(१)

(अथवा) मेरा साधर्मिक भिक्षु ग्लान है, मैं अग्लान हूँ; उसने अपनी सेवा के लिए मुझे अनुरोध नहीं किया है, (पर) मैंने उसकी सेवा के लिए उसे वचन दिया है। अतः निर्जरा के उद्देश्य से तथा परस्पर उपकार करने की दृष्टि से उस साधर्मी की मैं सेवा करूँगा। जिस भिक्षु का ऐसा प्रकल्प हो, वह उसका पालन करता हुआ भले ही प्राण त्याग कर दे, (किन्तु प्रतिज्ञा भंग न करे)।(२)

कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि मैं अपने ग्लान साधर्मिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा, तथा उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन भी करूँगा। (३)

(अथवा) कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि मैं अपने ग्लान साधर्मिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन नहीं करूँगा।(४)

(अथवा) कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि मैं साधर्मिकों के लिए आहारादि नहीं लाऊँगा किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ सेवन करूँगा (५)

(अथवा) कोई भिक्षु प्रतिज्ञा करता है कि न तो मैं साधर्मिकों के लिए आहारादि लाऊँगा और न ही मैं उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन करूँगा। (६)

(यों उक्त छः प्रकार की प्रतिज्ञाओं में से किसी प्रतिज्ञा को ग्रहण करने के

---

६. इसका अर्थ चूर्णि में यह है—पडिण्णत्तस्स अह तव इच्छाकारेण वेयावडियं करेमि····जाव गिलायसि।' अर्थात्—मैं प्रतिज्ञा लिये हुए तुम्हारी सेवा तुम्हारी इच्छा होगी, तो करूँगा, ग्लान मत हो।

७. 'अभिकंख' का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—'वेयावच्चगुणे अभिकंखित्ता वेयावडियं करिस्सामि' वैयावृत्त्य का गुण प्राप्त करने की इच्छा से वैयावृत्त्य करूँगा।

१. (क) 'लाघवियं आगममाणे' का अर्थ चूर्णि में यों है—"लाघवितं—लघुता। लाघवितं दव्वे भावे य। तं आगममाणे-इच्छमाणे····।" (ख) कोष्ठकान्तर्गत पाठ चूर्णि व वृत्ति में है। अन्य प्रतियों में नहीं मिलता।

बाद अत्यन्त ग्लान होने पर या संकट आने पर) भी प्रतिज्ञा भंग न करे, भले ही वह जीवन का उत्सर्ग कर दे।

(लाघव का सब तरह से चिन्तन करता हुआ (आहारादि का क्रमशः विमोक्ष करे।) आहार-विमोक्ष साधक को अनायास ही तप का लाभ प्राप्त हो जाता है। भगवान् ने जिस रूप में इस (आहार-विमोक्ष) का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में निकट से जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (इसमें निहित) समत्व या सम्यक्त्व का सेवन करे।)

इस प्रकार वह भिक्षु तीर्थकरों द्वारा जिस रूप में धर्म प्ररूपित हुआ है, उसी रूप में सम्यक्रूप से जानता और आचरण करता हुआ, शान्त, विरत और अपने अन्तःकरण की प्रशस्त वृत्तियों (लेश्याओं) में अपनी आत्मा को सुसमाहित करने वाला होता है।

(ग्लान भिक्षु भी ली हुई प्रतिज्ञा का भंग न करते हुए यदि भक्त-प्रत्याख्यान आदि के द्वारा शरीर-परित्याग करता है तो) उसकी वह मृत्यु काल-मृत्यु है। समाधि-मरण होने पर भिक्षु अन्तक्रिया (सम्पूर्ण कर्मक्षय) करने वाला भी हो सकता है।

इस प्रकार यह (सब प्रकार का विमोक्ष) शरीरादि मोह से विमुक्त भिक्षुओं का आयतन—आश्रयरूप है, हितकर है, सुखकर है, सक्षम (क्षमारूप या कालोचित) है, निःश्रेयस्कर है, और परलोक में भी साथ चलने वाला है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भिक्षु की ग्लानता के कारण और कर्तव्य—ग्लान होने का अर्थ है—शरीर का अशक्त, दुर्बल, रोगाक्रान्त एवं जीर्ण-शीर्ण हो जाना। ग्लान होने के मुख्य कारण चूर्णिकार ने इस प्रकार बताए हैं—

(१) अपर्याप्त या अपोषक भोजन।
(२) अपर्याप्त वस्त्र।
(३) निर्वस्त्रता।
(४) कई पहरों तक उकडू आसन से बैठना।
(५) उग्र एवं दीर्घ तपस्या।[1]

शरीर जब रुग्ण या अस्वस्थ (ग्लान) हो जाए, हड्डियों का ढांचा मात्र रह जाए, उठते-बैठते समय पीड़ा हो, शरीर में रक्त और मांस अत्यन्त कम हो जाए, स्वयं कार्य करने की, धर्म क्रिया करने की शक्ति भी क्षीण हो जाए, तब उस भिक्षु को समाधिमरण की; संल्लेखना की तैयारी प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

छह प्रकार की प्रतिज्ञाएं—इस सूत्र में परिहारविशुद्धिक या यथालन्दिकभिक्षु द्वारा ग्रहण की जाने वाली छह प्रतिज्ञाओं का निरूपण है। इन्हें शास्त्रीय भाषा में प्रकल्प (पगप्पे)

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २८१, (ख) आचारांग चूर्णि।

कहा है। प्रकल्प का अर्थ है—विशिष्ट आचार-मर्यादाओं का संकल्प या प्रतिज्ञा। यहाँ ६ प्रकल्पों का वर्णन है—

(१) मैं ग्लान हूँ, साधर्मिक भिक्षु अग्लान हैं, स्वेच्छा से उन्होंने मुझे सेवा का वचन दिया है, अतः वे सेवा करेंगे तो मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

(२) मेरा साधर्मिक भिक्षु ग्लान है, मैं अग्लान हूँ, उसके द्वारा न कहने पर भी मैंने उसे सेवा का वचन दिया है, अतः निर्जरादि की दृष्टि से मैं उसकी सेवा करूँगा।

(३) साधर्मिकों के लिए आहारादि लाऊँगा, और उनके द्वारा लाए हुए आहारादि का सेवन भी करूँगा।

(४) साधर्मिकों के लिए आहारादि लाऊँगा, किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन नहीं करूँगा।

(५) साधर्मिकों के लिए आहारादि नहीं लाऊँगा, किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन करूँगा।

(६) मैं न तो साधर्मिकों के लिए आहारादि लाऊँगा और न उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन करूँगा।[1]

सहयोग भी अदीनभाव से—ऐसा दृढ़प्रतिज्ञ साधक अपनी प्रतिज्ञानुसार यदि अपने साधर्मिक भिक्षुओं का सहयोग लेता भी है तो अदीनभाव से, उनकी स्वेच्छा से ही। न तो वह किसी पर दबाव डालता है, न दीनस्वर से गिड़गिड़ाता है। वह अस्वस्थ दशा में भी अपने साधर्मिकों को सेवा के लिए नहीं कहता। वह कर्मनिर्जरा समझ कर करने पर ही उसकी सेवा को स्वीकार करता है। स्वयं भी सेवा करता है, बशर्ते कि वैसी प्रतिज्ञा ली हो।[2]

प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे—इन छह प्रकार की प्रतिज्ञाओं में से परिहारविशुद्धिक या यथालन्दिक भिक्षु अपनी शक्ति, रुचि और योग्यता देखकर चाहे जिस प्रतिज्ञा को अंगीकार करे, चाहे वह उत्तरोत्तर क्रमशः सभी प्रतिज्ञाओं को स्वीकार करे, लेकिन वह जिस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण करे, जीवन के अन्त तक उस पर दृढ़ रहे। चाहे उसका जंघाबल क्षीण हो जाए, वह स्वयं अशक्त, जीर्ण, रुग्ण या अत्यन्त ग्लान हो जाये, लेकिन स्वीकृत प्रतिज्ञा भंग न करे, उस पर अटल रहे। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए मृत्यु भी निकट दिखाई देने लगे या मारणान्तिक उपसर्ग या कष्ट आये तो वह भिक्षु भक्त-प्रत्याख्यान (या भक्तपरिज्ञा) नामक अनशन (संल्लेखनापूर्वक) करके समाधिमरण का सहर्ष आलिंगन करे किन्तु किसी भी दशा में प्रतिज्ञा न तोड़े।[3]

इन प्रकल्पों के स्वीकार करने से लाभ—साधक के जीवन में इन प्रकल्पों से आत्मबल

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८१।
२. (क) आचा० शीला टीका पत्रांक २८२।
   (ख) आचारांग (आ० श्री आत्मारामजी महाराज कृत टीका) पृष्ठ ५९१।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८२।

बढ़ता है। स्वावलम्बन का अभ्यास बढ़ता है, आत्मविश्वास की मात्रा में वृद्धि होती है, बड़े से बड़े परीषह, उपसर्ग, संकट एवं कष्ट से हंसते-हंसते खेलने का आनन्द आता है। ये प्रतिज्ञाएं भक्तपरिज्ञा अनशन की तैयारी के लिए बहुत ही उपयोगी और सहायक हैं। ऐसा साधक आगे चलकर मृत्यु का भी सहर्ष वरण कर लेता है। उसकी वह मृत्यु भी कायर की मृत्यु नहीं प्रतिज्ञा-वीर की-सी मृत्यु होती है। वह भी धर्म-पालन के लिए होती है। इसीलिए शास्त्रकार इस मृत्यु को संलेखनाकर्ता के काल-पर्याय के समान मानते हैं। इतना ही नहीं, इस मृत्यु को वे कर्म या संसार का सर्वथा अन्त करने वाली, मुक्ति-प्राप्ति में साधक मानते हैं।[1]

भक्त-परिज्ञा-अनशन—भक्त-परिज्ञा-अनशन का दूसरा नाम 'भक्तप्रत्याख्यान' भी है। इसके द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने वाले भिक्षु के लिए शास्त्रों में विधि इस प्रकार बताई है—कि वह जघन्य (कम से कम) ६ मास मध्यम ४ वर्ष, उत्कृष्ट और १२ वर्ष तक कषाय और शरीर की सलेखना एवं तप करे। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आचरण से कर्म निर्जरा करे और आत्म-विकास के सर्वोच्च शिखर को प्राप्त करे।[2]

।। पंचम उद्देशक समाप्त ।।

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

एकवस्त्रधारी श्रमण का समाचार

२२०. जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायबितिएण तस्स णो एवं भवति—बितियं वत्थं जाइस्सामि।

२२१. से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा, अहापरिग्गहितं वत्थं धारेज्जा जाव[3] गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णं[4] वत्थं परिट्ठवेत्ता अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं[5] आगममाणे जाव[6] सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२२०. जो भिक्षु एक वस्त्र और दूसरा (एक) पात्र रखने की प्रतिज्ञा स्वीकार

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८२।
२. (क) आचारांग (आ० श्री आत्मारामजी म० कृत टीका) पृष्ठ ५६२।
(ख) संलेखना के विषय में विस्तारपूर्वक जानने के इच्छुक देखें—'संलेखना : एक श्रेष्ठ मृत्युकला' (लेखक : मालवकेशरी श्री सौभाग्यमल जी म०) प्रवर्तक पूज्य अम्बालालजी म० अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ४०४।
३. जाव शब्द के अन्तर्गत यहाँ २१४ सूत्रानुसार सारा पाठ समझ लेना चाहिए।
४. किसी-किसी प्रति में इसके बदले पाठान्तर है—'अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेत्ता अचेले' अर्थात्—यथा-परिजीर्ण वस्त्र का परित्याग करके अचेल हो जाए।
५. 'लाघवियं' के बदले किसी-किसी प्रति में 'लाघवं' शब्द मिलता है।
६. यहाँ 'जाव' शब्द के अन्तर्गत १७७ सूत्रानुसार सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

कर चुका है, उसके मन में ऐसा अध्यवसाय नहीं होता कि मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूँगा।

२२१. (यदि उसका वस्त्र अत्यन्त फट गया हो तो) वह यथा—एषणीय (अपनी कल्पमर्यादानुसार ग्रहणीय) वस्त्र की याचना करे। यहाँ से लेकर आगे 'ग्रीष्म ऋतु आ गई है', तक का वर्णन [चतुर्थ उद्देशक के सूत्र २१४ की तरह] समझ लेना चाहिए।

भिक्षु यह जान जाए कि अब ग्रीष्म ऋतु आ गयी है, तब वह यथापरिजीर्ण वस्त्रों का परित्याग करे। यथापरिजीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके वह (या तो) एक शाटक (आच्छादन पट) में ही रहे, (अथवा) वह अचेल (वस्त्ररहित) हो जाए।

वह लाघवता का सब तरह से विचार करता हुआ (वस्त्र का परित्याग करे)।

वस्त्र-विमोक्ष करने वाले मुनि को सहज ही तप (उपकरण-अवमौदर्य एवं कायक्लेश) प्राप्त हो जाता है।

भगवान् ने जिस प्रकार से उस (वस्त्र-विमोक्ष) का निरूपण किया है, उसे उसी रूप में निकट से जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (उसमें निहित) सम्यक्त्व या समत्व को भलीभाँति जानकर आचरण में लाए।

विवेचन—सूत्र २२० एवं २२१ में उपधि-विमोक्ष के तृतीयकल्प का निरूपण किया गया है। पिछले द्वितीय कल्प में दो वस्त्रों को रखने का विधान था, इसमें भिक्षु एक वस्त्र रखने की प्रतिज्ञा करता है। ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला मुनि सिर्फ एक ही वस्त्र में रहता है। शेष वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

उपधि-विमोक्ष के सन्दर्भ में वस्त्र विमोक्ष का उत्तरोत्तर दृढ़तर अभ्यास करना ही इस प्रतिज्ञा का उद्देश्य है। आत्मा के पूर्ण विकास के लिए ऐसी प्रतिज्ञा सोपान रूप है। वस्त्र-पात्रादि उपधि की आवश्यकता शीत आदि से शरीर की सुरक्षा के लिए है, अगर साधक शीतादि परीषहों को सहने में सक्षम हो जाता है तो उसे वस्त्रादि रखने की आवश्यकता नहीं रहती। उपधि जितनी कम होगी, उतना ही आत्मचिंतन बढ़ेगा, जीवन में लाघव भाव का अनुभव करेगा, तप की भी सहज ही उपलब्धि होगी।[1]

पर-सहाय-विमोक्ष : एकत्व अनुप्रेक्षा के रूप में

२२२. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—एगो अहमंसि, ण मे अत्थि कोइ, ण याहमवि कस्सइ। एवं से एगागिणमेव[2] अप्पाणं समभिजाणेज्जा लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

---

१. आचारांग (आ० श्री आत्माराम जी म० कृत टीका) पृ० ५९४।

२. इसके बदले 'एगाणियमेव अप्पाणं' पाठ भी है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—'एगाणियं अब्बितियं एगमेव अप्पाणं'—अद्वितीय अकेले ही आत्मा को ……।

२२२. जिस भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो जाए कि 'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है, और न मैं किसी का हूँ', वह अपनी आत्मा को एकाकी ही समझे। (इस प्रकार) लाघव का सर्वतोमुखी विचार करता हुआ (वह सहाय-विमोक्ष करे) ऐसा करने से) उसे (एकत्व-अनुप्रेक्षा का) तप सहज में ही प्राप्त हो जाता है।

भगवान् ने इसका (सहाय-विमोक्ष के सन्दर्भ में—एकत्वानुप्रेक्षा के तत्त्व का) जिस रूप में प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (इसमें निहित) सम्यक्त्व (सत्य) या समत्व को सम्यक् प्रकार से जानकर क्रियान्वित करे।

विवेचन—पर-सहाय विमोक्ष भी आत्मा के पूर्ण विकास एवं पूर्ण स्वातंत्र्य के लिए आवश्यक है। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता भी तभी सिद्ध हो सकती है, जब वह उपकरण, आहार, शरीर, संघ तथा सहायक आदि से भी निरपेक्ष होकर एकमात्र आत्मावलम्बी बनकर जीवन-यापन करे। समाधि-मरण की तैयारी के लिए सहाय-विमोक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २६) में इससे सम्बन्धित वर्णित अप्रतिबद्धता, संभोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, आहार-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान एवं सहाय-प्रत्याख्यान आदि आवश्यक विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं मननीय हैं।[1]

सहाय-विमोक्ष से आध्यात्मिक लाभ—उत्तराध्ययन सूत्र में सहाय-प्रत्याख्यान से लाभ बताते हुए कहा है—"सहाय-प्रत्याख्यान से जीवात्मा एकीभाव को प्राप्त करता है, एकीभाव से ओत-प्रोत साधक एकत्व भावना करता हुआ बहुत कम बोलता है, उसके झंझट बहुत कम हो जाते हैं, कलह भी अल्प हो जाते हैं, कषाय भी कम हो जाते हैं, तू-तू, मैं-मैं भी समाप्त प्राय हो जाती है, उसके जीवन में संयम और संवर प्रचुर मात्रा में आ जाते हैं, वह आत्म-समाहित हो जाता है।"[2]

सहाय-विमोक्ष साधक की भी यही स्थिति होती है, जिसका शास्त्रकार ने निरूपण किया है—"**एगे अहमंसि ······ एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा।**" इसका तात्पर्य यह है कि उस सहाय-विमोक्षक भिक्षु को यह अनुभव हो जाता है कि मैं अकेला हूँ, संसार-परिभ्रमण करते हुए मेरा पारमार्थिक उपकारकर्ता आत्मा के सिवाय कोई दूसरा नहीं है और न ही मैं किसी दूसरे का दुःख-निवारण करने में (निश्चयदृष्टि से) समर्थ हूँ, इसलिए मैं किसी अन्य का नहीं हूँ। सभी प्राणी स्वकृत-कर्मों का फल भोगते हैं। इस प्रकार वह भिक्षु अन्तरात्मा को सम्यक् प्रकार से एकाकी समझे। नरकादि दुःखों से रक्षा करने वाला शरणभूत आत्मा के

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ० २६, बोल ३०, ३३, ३४, ३५, ३८, ३९, ४० देखिये।

२. 'सहायपच्चक्खाणेणं जीवे एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए य ण जीवे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले समाहिए यावि भवइ।'

—उत्तरा० अ० २६, बोल ३९

सिवाय और कोई नहीं है। ऐसा समझकर रोगादि परीषहों के समय दूसरे की शरण से निरपेक्ष रहकर समभाव से सहन करे।[1]

स्वाद-परित्याग-प्रकल्प

२२३. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा ४[2] आहारेमाणे णो वामातो हणुयातो दाहिणं हणुयं संचारेज्जा[3] आसाएमाणे[4], दाहिणातो वा हणुयातो वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसादेमाणे। से अणासादमाणे लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२२३. वह भिक्षू या भिक्षुणी अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का आहार करते समय (ग्रास का) आस्वाद लेते हुए बांए जबड़े से दाहिने जबड़े में न ले जाए; (इसी प्रकार) आस्वाद लेते हुए दाहिने जबड़े से बाँए जबड़े में न ले जाए।

वह अनास्वाद वृत्ति से (पदार्थों का स्वाद न लेते हुए) (इस स्वाद-विमोक्ष में) लाघव का समग्र चिन्तन करते हुए (आहार करे)।

(स्वाद-विमोक्ष से) वह (अवमौदर्य, वृत्तिसंक्षेप एवं कायक्लेश) तप का सहज लाभ प्राप्त कर लेता है।

भगवान् ने जिस रूप में स्वाद-विमोक्ष का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (उसमें निहित) सम्यक्त्व या समत्व को जाने और सम्यक् रूप से परिपालन करे।

विवेचन—आहार में अस्वादवृत्ति—भिक्षु शरीर से धर्माचरण एवं तप-संयम की आराधना के लिए आहार करता है, शरीर को पुष्ट करने, उसे सुकुमार, विलासी एवं स्वादलोलुप बनाने की उसकी दृष्टि नहीं होती। क्योंकि उसे तो शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों पर से आसक्ति या मोह का सर्वथा परित्याग करना है। यदि वह शरीर निर्वाह के लिए यथोचित आहार में स्वाद लेने लगेगा तो मोह पुनः उसे अपनी ओर खींच लेगा।[5]

इसी स्वाद-विमोक्ष का तत्व शास्त्रकार ने इस सूत्र द्वारा समझाया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी बताया गया है कि 'जिह्वा को वश में करने वाला अनासक्त

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८३।
२. यहाँ 'वा ४' के अन्तर्गत १९९ सूत्रानुसार समग्र पाठ समझ लें।
३. चूर्णि में **'संचारेज्जा'** के बदले **'साहरेज्जा'** पाठ है। तात्पर्य वही है।
४. यहाँ **'आसाएमाणे'** के बदले **'आढायमाणे'** और आगे **'अणाढायमाणे'** पाठ चूर्णिकार ने माना है, अर्थ किया है—आढा णाम आयरो······अमणुण्णे वा अणाढायमाणे····तं दुग्गंधं वा णो वामातो दाहिणं हणुयं साहरेज्जा **अणाढायमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ णो वामं हणुयं साहरेज्जा।**"—भावार्थ यह है कि वह···मनोज्ञ वस्तु हो तो आदर—रुचिपूर्वक और अमनोज्ञ दुर्गन्धयुक्त वस्तु हो तो अनादर—अरुचिपूर्वक बांए जबड़े से दाहिने जबड़े में या दाहिने जबड़े से बाँए जबड़े में न ले जाए।
५. आचारांग (पू० आ० आत्माराम जी म० कृत टीका) पृ० ५९७।

मुनि सरस आहार में या स्वाद में लोलुप और गृद्ध न हो। महामुनि स्वाद के लिए नहीं, अपितु संयमी जीवन-यापन करने के लिए भोजन करे।[1]

'गच्छाचारपइन्ना' में भी बताया है कि जैसे पहिये को बराबर गति में रखने के लिए तेल दिया जाता है, उसी प्रकार शरीर को संयम यात्रा के योग्य रखने के लिए आहार करना चाहिए, किन्तु स्वाद के लिए, रूप के लिए, वर्ण (यश) के लिए या बल (दर्प) के लिए नहीं।[2]

इसी अध्ययन में पहले के सूत्रों में आहार से सम्बद्ध गवेषणैषणा के ३२ और ग्रहणैषणा के १० यों ४२ दोषों से रहित निर्दोष आहार लेने का निर्देश किया गया था। अब इस सूत्र में शास्त्रकार ने 'परिभोगैषणा' के पाँच दोषों—(अंगार, धूम आदि) से बचकर आहार करने का संकेत किया है। अंगार आदि ५ दोषों के कारण तो राग-द्वेष-मोह आदि ही हैं। इन्हें मिटाए बिना स्वाद-विमोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।[3]

इसीलिए चूर्णि मान्य पाठान्तर में स्पष्ट कर दिया गया है कि मनोज्ञ ग्रास को आदर-रुचिपूर्वक और अमनोज्ञ अरुचिकर को अनादर-अरुचिपूर्वक मुँह में इधर-उधर न चलाए। इस प्रकार निगल जाए कि उस पदार्थ के स्वाद की अनुभूति मुँह के जिस भाग में कौर रखा है, उसी भाग को हो, दूसरे को नहीं। मूल में तो आहार के साथ राग-द्वेष, मोहादि का परित्याग करना ही अभीष्ट है।[4]

संलेखना एवं इंगितमरण

२२४. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'से गिलामि च खलु अहं इमंसि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण[5] परिवहित्तए' से आणुपुव्वेण आहारं संवट्टेज्जा, आणुपुव्वेण आहारं संवट्टेत्ता कसाए पतणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे[6] अणुपविसित्ता गामं वा णगरं वा खेडं वा कब्बडं वा मडंबं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा संणिवेसं वा णिगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंग-

---

१. अलोलो न रसे गिद्धो, जिब्भादंतो अमुच्छिओ।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी॥ —उत्तरा० अ० ३५, गा० १७।

२. तंपि रूवरसत्थं, न य वण्णत्थं न चेव दप्पत्थं।
संजमभरवहणत्थं, अक्खोवगं व वहणत्थं॥ —गच्छाचारपइन्ना गा० ५८।

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक २८३। ४. आचारांग चूर्णि, आचा० मूल पाठ टिप्पण सूत्र २२३।

५. इसके बदले चूर्णिकार ने 'से अणुपुव्वीए आहारं संवट्टित्ता....' पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—गिलाणो अणुपुव्वीए........आहारं सम्मं संवट्टेइ, यदुक्तं भवति संखिवति, अणुपुव्वीते संवट्टिता....।" अर्थात्—वह ग्लानभिक्षु क्रमशः आहार को सम्यक्रूप से कम करता जाता है, क्रमशः आहार को कम करके....।

६. इसके बदले चूर्णि में 'अभिणिव्वुडप्पा' पाठ है, अर्थ होता है—शान्तात्मा।

पणग-दगमट्टिय-मक्कडासंताणए पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तणाइं संथरेज्जा, तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए इत्तिरियं[1] कुज्जा।

तं सच्चं सच्चवादी ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आतीतट्ठे अणातीते चिच्चाण भेदुरं कायं संविधुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिण्णे। तत्थावि तस्स कालपरियाए। से वि तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हितं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

२४४. जिस भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो जाता है कि सचमुच में इस समय (साधुजीवन की आवश्यक क्रियाएं करने के लिए) इस (अत्यन्त जीर्ण एवं अशक्त) शरीर को वहन करने में क्रमशः ग्लान (असमर्थ) हो रहा हूँ, (ऐसी स्थिति में) वह भिक्षु क्रमशः (तप के द्वारा) आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे और क्रमशः आहार का संक्षेप करके वह कषायों को कृश (स्वल्प) करे। कषायों को स्वल्प करके समाधि युक्त लेश्या (अन्तःकरण की वृत्ति) वाला, तथा फलक की तरह शरीर और कषाय दोनों ओर से कृश बना हुआ वह भिक्षु समाधिमरण के लिए उत्थित होकर शरीर के सन्ताप को शान्त कर ले।

(वह संलेखना करने वाला भिक्षु शरीर में चलने की शक्ति हो, तभी) क्रमशः ग्राम में, नगर में, खेड़े में, कर्बट में, मडंब में, पट्टन, में, द्रोणमुख में, आकर में, आश्रम में, सन्निवेश में, निगम में या राजधानी में (किसी भी वस्ती में) प्रवेश करके घास (सूखा तृण-पलाल) की याचना करे। घास की याचना करके (प्राप्त होने पर) उसे लेकर (ग्राम आदि के बाहर) एकान्त में चला जाए। वहाँ एकान्त स्थान में जाकर जहाँ कीड़े आदि के अंडे, जीव-जन्तु, बीज, हरियाली (हरीघास), ओस, उदक, चींटियों के बिल (कीड़ीनगरा), फफूंदी, काई, पानी का दलदल या मकड़ी के जाले न हों, वैसे स्थान का बार-बार प्रतिलेखन (निरीक्षण) करके, उसका बार-बार प्रमार्जन (सफाई) करके, घास का संथारा (संस्तारक-बिछौना) करे। घास का बिछौना बिछाकर उस पर स्थित हो, उस समय इत्वरिक अनशन ग्रहण कर ले।

वह (इत्वरिक-इंगित-मरणार्थ ग्रहण किया जाने वाला अनशन) सत्य है। वह सत्यवादी (प्रतिज्ञा में पूर्णतः स्थित रहने वाला), राग-द्वेष रहित, संसार-सागर को पार करने वाला, 'इंगितमरण की प्रतिज्ञा निभेगी या नहीं ?' इस प्रकार के लोगों के कहकहे (शंकाकुल-कथन) से मुक्त या किसी भी रागात्मक कथा—कथन से दूर जीवादि पदार्थों का सांगोपांग ज्ञाता अथवा सब बातों (प्रयोजनों) से अतीत, संसार

---

१. इत्तिरियं' का अर्थ चूर्णि में किया गया है—'इत्तिरियं णाम अप्पकालियं' इत्वरिक अर्थात् अल्प-कालिक।

पारगामी अथवा परिस्थितियों से अप्रभावित, (अनशन स्थित मुनि इंगितमरण की साधना को अंगीकार करता है)।

वह भिक्षु प्रतिक्षण विनाशशील शरीर को छोड़कर नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके ('शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं') इस (सर्वज्ञ प्ररूपितभेद विज्ञान) में पूर्ण विश्वास के साथ इस घोर (भैरव) अनशन का (शास्त्र-विधि के अनुसार) अनुपालन करे।

तब ऐसा (रोगादि आतंक के कारण इंगितमरण स्वीकार—) करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु (सहज मरण) होती है। उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (पूर्णतः कर्म क्षय) करने वाला भी हो सकता है।

इस प्रकार यह (इंगितमरण के रूप में शरीर विमोक्ष) मोहमुक्त भिक्षुओं का आयतन (आश्रय) हितकर, सुखकर, क्षमारूप या कालोपयुक्त, निःश्रेयस्कर और भवान्तर में साथ चलने वाला होता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—शरीरविमोक्ष के हेतु इंगितमरण साधना—इस अध्ययन के चौथे उद्देशक में विहायोमरण, पांचवें में भक्तप्रत्याख्यान और छठें में इंगितमरण का विधान शरीर-विमोक्ष के सन्दर्भ में किया गया है। इसकी पूर्व तैयारी के रूप में शास्त्रकार ने उपधि-विमोक्ष, वस्त्र-विमोक्ष, आहार-विमोक्ष, स्वाद-विमोक्ष, सहाय-विमोक्ष आदि विविध पहलुओं से शरीर विमोक्ष का अभ्यास करने का निर्देश किया है। इस सूत्र (२२४) के पूर्वार्ध में संलेखना का विधि-विधान बताया है।

संलेखना कब और कैसे?—संलेखना का अवसर कब आता है? इस सम्बन्ध में वृत्तिकार सूत्रपाठानुसार स्पष्टीकरण करते हैं—

(१) रूखा-सूखा नीरस आहार लेने से, या तपस्या में शरीर अत्यन्त ग्लान हो गया हो।
(२) रोग से पीड़ित हो गया हो।
(३) आवश्यक क्रिया करने में अत्यन्त अक्षम हो गया हो।
(४) उठने-बैठने, करवट बदलने आदि नित्यक्रियाएँ करने में भी अशक्त हो गया हो।

इस प्रकार शरीर अत्यन्त ग्लान हो जाए तभी भिक्षु को त्रिविध समाधिमरण में से अपनी योग्यता, क्षमता और शक्ति के अनुसार किसी एक का चयन करके उसकी तैयारी के लिए सर्वप्रथम संलेखना करनी चाहिए।[1]

संलेखना के मुख्य अंग—इसके तीन अंग बताए हैं—

(१) आहार का क्रमशः संक्षेप।
(२) कषायों का अल्पीकरण एवं उपशमन और
(३) शरीर को समाधिस्थ, शान्त एवं स्थिर रखने का अभ्यास।

साधक इसी क्रम का अनुसरण करता है।[2]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८४।

संलेखना विधि—यद्यपि संलेखना की उत्कृष्ट अवधि १२ वर्ष की होती है। परन्तु यहाँ वह विवक्षित नहीं है। क्योंकि ग्लान की शारीरिक स्थिति उतने समय तक टिके रहने की नहीं होती। इसलिए संलेखना-साधक को अपनी शारीरिक स्थिति को देखते हुए तदनुरूप योग्यतानुसार समय निर्धारित करके क्रमशः बेला, तेला, चौला, पंचौला, उपवास, आयंबिल आदि क्रम से द्रव्य-संलेखना हेतु आहार में क्रमशः कमी (संक्षेप) करते जाना चाहिए। साथ ही भाव संलेखना के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों को अत्यन्त शांत एवं अल्प करना चाहिए। इसके साथ ही शरीर, मन, वचन की प्रवृत्तियों को स्थिर एवं आत्मा में एकाग्र करना चाहिए। इसमें साधक को काष्ठफलक की तरह शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बन जाना चाहिए।

'उट्ठाय भिक्खू·····'—इसका तात्पर्य यह है—समाधिमरण के लिए उत्थित होकर··· । शास्त्रीय भाषा में उत्थान तीन प्रकार का प्रतीत होता है—

(१) मुनि दीक्षा के लिए उद्यत होना—संयम में उत्थान,

(२) ग्रामानुग्राम उग्र व अप्रतिबद्ध विहार करना—अभ्युद्यतविहार का उत्थान तथा

(३) ग्लान होने पर संलेखना करके समाधिमरण के लिए उद्यत होना—समाधिमरण का उत्थान।[1]

यहाँ तृतीय उत्थान विवक्षित है।

इंगितमरण का स्वरूप और अधिकारी—पादपोपगमन की अपेक्षा से इंगितमरण में संचार (चलन) की छूट है। इसे 'इंगितमरण' इसलिए कहा जाता है कि इसमें संचार का क्षेत्र (प्रदेश) इंगित-नियत कर लिया जाता है, इस मरण का आराधक उतने ही प्रदेश में संचरण कर सकता है। इसे इत्वरिक अनशन भी कहते हैं। यहाँ 'इत्वर' शब्द थोड़े काल के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है और न ही इत्वर **'सागार-प्रत्याख्यान'**[2] के अर्थ में यहाँ अभीष्ट है, अपितु थोड़े-से निश्चित प्रदेश में यावज्जीवन संचरण करने के अर्थ में है। जिनकल्पिक आदि के लिए जब अन्य काल में भी सागार-प्रत्याख्यान करना असम्भव है; तब फिर यावत्कथिक भक्त-प्रत्याख्यान का अवसर कैसे हो सकता है? रोगातुर श्रावक इत्वर-अनशन करता है, वह इस प्रकार से कि 'अगर मैं इस रोग से पाँच-छह दिनों में मुक्त हो जाऊँ तो आहार कर लूँगा, अन्यथा नहीं।[3] चूर्णिकार ने 'इत्वरिक' का अर्थ अल्पकालिक किया है, वह विचारणीय है।

---

१. आयारो (मुनि नथमलजी कृत विवेचन) पृ० ३१५।

२. **'सागार-प्रत्याख्यान'**—आगार या विशेष काल तक के लिए त्याग तो श्रावक करता है। सामान्य साधु भी कर सकता है, पर जिनकल्पी श्रमण सागार प्रत्याख्यान नहीं करता।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २८५-२८६।

(ख) देखिए इंगतिमरण का स्वरूप दो गाथाओं में—

पच्चक्खइ आहारं चउव्विहं णियमओ गुरुसमीवे।

[illegible] तहा [illegible] य णियमओ कुणइ ॥१॥

इंगित-मरण ग्रहण की विधि—संलेखना से आहार और कषाय को कृश करता हुआ साधक शरीर में जब थोड़ी-सी शक्ति रहे तभी निकटवर्ती ग्राम आदि से सूखा घास लेकर ग्राम आदि से बाहर किसी एकान्त निरवद्य, जीव-जन्तुरहित शुद्ध स्थान में पहुँचे। स्थान को पहले भलीभाँति देखे, उसका भलीभाँति प्रमार्जन करे, फिर वहाँ उस घास को बिछाले, लघुनीति-बड़ीनीति के लिए स्थंडिलभूमि की भी देखभाल कर ले। फिर उस घास के संस्तारक (बिछौने) पर पूर्वाभिमुख होकर बैठे, दोनों करतलों से ललाट को स्पर्श करके वह सिद्धों को नमस्कार करे, फिर पंचमरमेष्ठी को नमस्कार करके 'नमोत्थुणं' का पाठ दो बार पढ़े, और तभी इत्वरिक—इंगितमरण रूप अनशन का संकल्प करे। अर्थात्—धृति—संहनन आदि बलों से युक्त तथा करवट बदलना आदि क्रियाएँ स्वयं करने में समर्थ साधक जीवनपर्यन्त के लिए नियमतः चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) गुरु या दीक्षाज्येष्ठ साधु के सान्निध्य में करे, साथ ही 'इंगित'—मन में निर्धारित क्षेत्र में संचरण करने का नियम भी कर ले। तत्पश्चात् शांति, समता और समाधिपूर्वक इसकी आराधना में तल्लीन रहे।[1]

इंगित-मरण का माहात्म्य—शास्त्रकार ने इसे सत्य कहा है। तथा इसे स्वीकार करने वाला सत्यवादी (अपनी प्रतिज्ञा के प्रति अन्त तक सच्चा व वफादार), राग-द्वेषरहित, दृढ़ निश्चयी, सांसारिक प्रपंचों से रहित, परीषह-उपसर्गों से अनाकुल, इस अनशन पर दृढ़ विश्वास होने से भयंकर उपसर्गों के आ पड़ने पर भी अनुद्विग्न, कृतकृत्य एवं संसार सागर से पारगामी होता है। और एक दिन इस समाधिमरण के द्वारा अपने जीवन को सार्थक करके चरमलक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सचमुच समभाव और धैर्यपूर्वक इंगितमरण की साधना से अपना शरीर तो विमोक्ष होता ही है, साथ ही अनेको मुमुक्षुओं एवं विमोक्ष साधकों के लिए वह प्रेरणादायक बन जाता है।[2]

'अणातीते' के अर्थ में टीकाकार व चूर्णिकार के अर्थ कुछ भिन्न है। चूर्णि में दो अर्थ इस प्रकार किये हैं—

(१) जो जीवादि पदार्थों, ज्ञानादि पंच का ग्रहण कर लिया है, वह उनसे अतीत नहीं है, तथा

(२) जिसने महाव्रत भारवहन का अतीत—अतिक्रमण नहीं किया है, वह अनातीत है अर्थात् महाव्रत का भार जैसा लिया था, वैसा ही निभाने वाला है। समाधिमरण का साधक ऐसा ही होता है।[3]

उव्वत्तइ परिअत्तइ काइगमाईऽवि अप्पणा कुणइ।
सव्वमिह अप्पणच्चिअण अन्नजोगेण धितिबलिओ ॥२॥ —आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६

अर्थ—नियमपूर्वक गुरु के समीप चारों आहार का त्याग करता है और मर्यादित स्थान में नियमित चेष्टा करता है। करवट बदलना, उठना या कायिक गमन (लघुनीति-बड़ीनीति) आदि भी स्वयं करता है। धैर्य, बल युक्त मुनि सब कार्य अपने आप करे, दूसरों की सहायता न लेवे।

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८५-२८६। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।

३. 'अणातीते' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'**आतीतं णाम गहितं, अत्था जीवादि णाणादीवा पंच, ण अतीतो जहारोवियभारवाही,** ।—आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पणी पृष्ठ ८१

'छिण्णकहंकहे'—इस शब्द के वृत्तिकार ने दो अर्थ किए हैं—

(१) किसी भी प्रकार से होने वाली राग-द्वेषात्मक कथाएं (बातें) जिसने सर्वथा बन्द कर दी हैं, अथवा

(२) 'मैं कैसे इस इंगितमरण की प्रतिज्ञा को निभा पाऊंगा।' इस प्रकार की शंकाग्रस्त कथा ही जिसने समाप्त कर दी है।

एक अर्थ यह भी सम्भव है—इंगितमरण साधक को देखकर लोगों की ओर से तरह-तरह की शंकाएँ उठायी जाएं, ताने कसे जाएँ, या कहकहे गूंजे, उपहास किया जाय, तो भी वह विचलित या व्याकुल नहीं होता। ऐसा साधक 'छिन्न कथंकथ' होता है।[1]

'आतीतट्ठे'—इस शब्द के विभिन्न नयों से वृत्तिकार ने चार अर्थ बताए हैं—

(१) जिसने जीवादि पदार्थ सब प्रकार से ज्ञात कर लिए हैं, वह आतीतार्थ।

(२) जिसने पदार्थों को आदत्त-गृहीत कर लिया है, वह आदत्तार्थ।

(३) जो अनादि-अनन्त संसार में गमन से अतीत हो चुका है।

(४) संसार को जिसने आदत्त-ग्रहण नहीं किया—अर्थात् जो अब निश्चय ही संसार-सागर का पारगामी हो चुका है।[2]

चूर्णिकार ने प्रथम अर्थ का स्वीकार किया है।

भेरवमणुचिण्णे या भेरवमणुविण्णे—दोनों ही पाठ मिलते हैं। 'भेरवमणुचिण्णे' पाठ मानने पर भैरव शब्द इंगितमरण का विशेषण बन जाता है, अर्थ हो जाता है—जो घोर अनुष्ठान है, कायरों द्वारा जिसका अध्यवसाय भी दुष्कर है, ऐसे भैरव इंगितमरण को अनुचीर्ण—आचरित कर दिखाने वाला। चूर्णिकार ने दूसरा पाठ मानकर अर्थ किया है—जो भयोत्पादक परीषहों और उपसर्गों से तथा डांस, मच्छर, सिंह, व्याघ्र आदि से एवं राक्षस, पिशाच आदि से उद्विग्न नहीं होता, वह भैरवों से अनुद्विग्न है।[3]

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

अचेल-कल्प

२१५- जे भिक्खू अचेले परिवुसिते तस्स णं एवं भवति—चाएमि अहं तण-फासं अहिया-

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।
३. **'भेरवमणुचिण्णे'** के स्थान पर चूर्णि में **''भेरवमणुविण्णे'** पाठ मिलता है जिसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—**भयं करोतीति भेरवं भेरवेहि परीसहोवसग्गेहि अणुविज्जमाणो अणुविण्णो, दंसमसग-सीह वग्घातिएहि य रक्ख-पिसायादिहि य।'** —आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृष्ठ ८१

सेत्तए, सीतफासं अहियासेत्तए, तेउफासं अहियासेत्तए,[1] दंस-मसगफासं अहियासेत्तए, एगतरे अण्णतरे विरूवरूवे फासे अहियासेत्तए, हिरिपडिच्छादणं च हं णो संचाएमि अहियासेत्तए। एवं से कप्पति कडिबंधणं धारित्तए।

२२६. अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीतफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंस-मसगफासा फुसंति, एगतरे अण्णतरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति।

जहेतं भगवया पवेदितं तमेव अभिसमेच्च सव्वतो सव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२२५. जो (अभिग्रहधारी) भिक्षु अचेल-कल्प में स्थित है, उस भिक्षु का ऐसा अभिप्राय हो कि मैं घास के तीखे स्पर्श को सहन कर सकता हूं, सर्दी का स्पर्श सह सकता हूं, गर्मी का स्पर्श सहन कर सकता हूं, डांस और मच्छरों के काटने को सह सकता हूं, एक जाति के या भिन्न-भिन्न जाति के, नाना प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शों को सहन करने में समर्थ हूँ, किन्तु मैं लज्जा निवारणार्थ (गुप्तांगों के—) प्रतिच्छादन-वस्त्र को छोड़ने में समर्थ नहीं हूं। ऐसी स्थिति में वह भिक्षु कटिबन्धन (कमर पर बांधने का वस्त्र) धारण कर सकता है।

२२६. अथवा उस (अचेलकल्प) में ही पराक्रम करते हुए लज्जाजयी अचेल भिक्षु को बार-बार घास का तीखा स्पर्श चुभता है, शीत का स्पर्श होता है, गर्मी का स्पर्श होता है, डांस और मच्छर काटते हैं, फिर भी वह अचेल (अवस्था में रहकर) उन एकजातीय या भिन्न-भिन्न जातीय नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन करे।

लाघव का सर्वांगीण चिन्तन करता हुआ (वह अचेल रहे)।

अचेल मुनि को (उपकरण-अवमौदर्य एवं काय-क्लेश) तप का सहज लाभ मिल जाता है।

अत: जैसे भगवान ने अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जान कर, सब प्रकार से, सर्वात्मना (उसमें निहित) सम्यक्त्व (सत्य) या समत्व को भली-भाँति जानकर आचरण में लाए।

विवेचन—उपधि-विमोक्ष का चतुर्थकल्प—इन दो सूत्रों में (२२५-२२६) में प्रतिपादित है। इसका नाम अचेलकल्प है। इस कल्प में साधक वस्त्र का सर्वथा त्याग कर देता है। इस कल्प को स्वीकार करने वाले साधक का अन्त:करण धृति, संहनन, मनोबल, वैराग्य-भावना आदि के रंग में इतना रंगा होता है, और आगमों में वर्णित नारकों एवं तिर्यञ्चों को प्राप्त होने वाली असह्य वेदना की ज्ञानबल से अनुभूति हो जाने से घास, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि तीव्र स्पर्शों या अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्शों को सहने में जरा-सा भी कष्ट नहीं वेदता। किन्तु कदाचित् ऐसे उच्च साधक में एक विकल्प हो सकता है, जिसकी ओर शास्त्रकार ने इंगित

---

१. 'अहियासेत्तए' के बदले चूर्णि में पाठ है—'ण सो अहं अवाउडो' अर्थात्—मैं अपावृत (नंगा) होने में समर्थ नहीं हूँ। मैं लज्जित हो जाता हूँ।

किया है। वह है—लज्जा जीतने की असमर्थता। इसलिए शास्त्रकार ने उसके लिए कटिबन्धन (चोलपट) धारण करने की छूट दी है। किन्तु साथ ही ऐसी कठोर शर्त भी रखी है कि अचेल अवस्था में रहते हुए—शीतादि को या अनुकूल किसी भी स्पर्श से होने वाली पीड़ा को उसे समभावपूर्वक सहन करना है। उपधि-विमोक्ष का यह सबसे बड़ा कल्प है। शरीर के प्रति आसक्ति को दूर करने में यह बहुत ही सहायक है।[1]

अभिग्रह एवं वैयावृत्य-प्रकल्प

२२७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु[2] दलयिस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि [१], जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलयिस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि [२] जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु असणं वा[3] ४ आहट्टु णो दलयिस्सामि[4] आहडं च सातिज्जिस्सामि [३], जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च अण्णेसिं खलु भिक्खूणं असणं वा[5] ४ आहट्टु णो दलयिस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि[6] [४], [जस्स[7] णं भिक्खुस्स एवं भवति—]अहं[8] च खलु तेण अहातिरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण अस-

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्र २८७। (ख) भगवद्गीता में भी बताया है—
'ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते'
—शीतोष्ण आदि संस्पर्श से होने वाल भोग दु:ख की उत्पत्ति के कारण ही हैं।

२. इसके बदले चूर्णिमान्य पाठ और उसका अर्थ इस प्रकार है—"आहट्टुपरिण्णं दाहामि (ण) पुण गिलायमाणो विसरि (स) कप्पियस्सावि गिण्हिस्सामो (मि) असणादि बितियो।.......अर्थात्—प्रतिज्ञानुसार आहार लाकर दूँगा, किन्तु ग्लान होने पर भी असमानकल्प वाले मुनि के द्वारा लाया हुआ अशनादि आहार ग्रहण नहीं करूँगा, यह द्वितीय कल्प है।

३. **'वा'** शब्द से यहाँ का सारा पाठ १९९ सूत्रानुसार समझना चाहिए।

४. **'दलयिस्सामि'** के बदले किसी-किसी प्रति में **'दासामि'** पाठ है, अर्थ एक-सा है।

५. यहाँ भी **'वा'** शब्द से सारा पाठ १९९ सूत्रानुसार समझना चाहिए।

६. यहाँ चूर्णि में इतना पाठ अधिक है—**'चउत्थे उभयपडिसेहो'**. चौथे संकल्प में दूसरे भिक्षुओं से अशनादि देने-लेने दोनों का प्रतिषेध है।

७. (क) कोष्टकान्तर्गत पाठ शीलांक वृत्ति में नहीं है।
(ख) चूर्णि के अनुसार यहाँ अधिक पाठ मालूम होता है—"चत्तारि पडिमा अभिग्गहविसेसा वुत्ता, इदाणिं पंचमो, सो पुण तेसिं चेव तिण्हं आदिल्लाणं पडिमाविसेसाणं विसेसो।"—चार प्रतिमाएँ अभिग्रहविशेष कहे गए हैं, अब पांचवां अभिग्रह (बता रहे हैं) वह भी उन्हीं प्रारम्भ की तीन प्रतिमाविशेषों से विशिष्ट है।

८. यहाँ चूर्णि में पाठान्तर इस प्रकार है—**"अहं च खलु अन्नेसिं साहम्मियाणं अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहितेण अहातिरित्तेण असणेण वा ४ अगिलाए अभिकंख वेयावडियं करिस्सामि, अहं वा वि खलु तेण अहातिरित्तेण अभिकंख साहम्मिएण अगिलायंतएणं वेयावडियं कीरमाणं सातिज्जिस्सामि।"**—मैं भी अग्लान हूँ अत: अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय, जैसा भी गृहस्थ के यहाँ से लाया गया है, तथा आवश्यकता से अधिक अशनादि आहार से निर्जरा के उद्देश्य से अन्य साधर्मिकों की सेवा करूँगा,

णेण वा[1] ४ अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाय[2] अहं वा वि तेण अहातिरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा ४ अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि [५] लाघवियं आगममाणे जाव[3] सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२२७. जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा (संकल्प) होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर दूँगा और उनके द्वारा लाये हुए (आहार) का सेवन करूँगा।(१)

अथवा जिस भिक्षु की ऐसी (प्रतिज्ञा) होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर दूँगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए (आहारादि) का सेवन नहीं करूँगा।(२)

अथवा जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर नहीं दूँगा, लेकिन उनके द्वारा लाए हुए (आहारादि) का सेवन करूँगा।

अथवा जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर नहीं दूँगा और न ही उनके द्वारा लाए हुए (आहारादि) का सेवन करूँगा।(४)

(अथवा जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि) मैं अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय एवं ग्रहणीय तथा अपने लिए यथोपलब्ध लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य में से निर्जरा के उद्देश्य से, परस्पर उपकार करने की दृष्टि से साधर्मिक मुनियों की सेवा करूँगा, (अथवा) मैं भी उन साधर्मिक मुनियों द्वारा अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय-ग्रहणीय तथा स्वयं के लिए यथोपलब्ध लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य में से निर्जरा के उद्देश्य से उनके द्वारा की जाने वाली सेवा का रुचिपूर्वक स्वीकार करूँगा।(५)

वह लाघव का सर्वांगीण विचार करता हुआ (सेवा का संकल्प करे)।

(इस प्रकार सेवा का संकल्प करने वाले) उस भिक्षु को (वैयावृत्य और काय-क्लेश) तप का लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

भगवान् ने जिस प्रकार से इस (सेवा के कल्प) का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जान-समझ कर सब प्रकार से सर्वात्मना (उसमें निहित) सम्यक्त्व या समत्व को भलीभाँति जान कर आचरण में लाए।

तथा मैं भी अग्लान साधर्मिकों द्वारा आवश्यकता से अधिक लाए आहार से निर्जरा के उद्देश्य से की जाने वाली सेवा ग्रहण करूँगा।

१. यहाँ 'वा' शब्द से सारा पाठ १९९ सूत्रानुसार समझना चाहिए।

२. 'करणाय' के बदले 'करणाए' तथा 'करणायते' पाठ मिलता है। अर्थ होता है—उपकार करने के लिए।

३. यहाँ 'जाव' शब्द से समग्र पाठ १८७ सूत्रानुसार समझना चाहिए।

विवेचन—परस्पर वैयावृत्य कर्म-विमोक्ष में सहायक—प्रस्तुत सूत्र में आहार के परस्पर लेन-देन के सम्बन्ध में जो चार भंगों का उल्लेख है, वह पंचम उद्देशक में भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ अग्लान साधु ग्लान की सेवा करने का और ग्लान साधु अग्लान साधुओं से सेवा लेने का संकल्प करता है, उसी संदर्भ में आहार के लेन-देन की चतुर्भंगी—बताई गई है। परन्तु यहाँ निर्जरा के उद्देश्य से तथा परस्पर उपकार की दृष्टि से आहारादि सेवा के आदान-प्रदान का विशेष उल्लेख पांचवें भंग में किया।

वैयावृत्य करना, कराना और वैयावृत्य करने वाले साधु की प्रशंसा करना, ये तीनों संकल्प कर्म-निर्जरा, इच्छा-निरोध एवं परस्पर उपकार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस तरह, मन, वचन, काया से सेवा करने, कराने एवं अनुमोदन करने वाले साधक के मन में अपूर्व आनन्द एवं स्फूर्ति की अनभूति होती है तथा उत्साह की लहर दौड़ जाती है। उससे कर्मों की निर्जरा होती है, केवल शारीरिक सेवा ही नहीं, समाधिमरण या संलेखना की साधना के समय स्वाध्याय, जप, वैचारिक पाथेय, उत्साह-संवर्द्धन, आदि के द्वारा परस्पर सहयोग एवं उपकार की भावना भी कर्म-विमोक्ष में बहुत सहायक है। सेवा भावना से साधक की साधना तेजस्वी और अन्तर्मुखी बनती है।[1]

परस्पर वैयावृत्य के छह प्रकल्प—इस (२२७) सूत्र में साधक के द्वारा अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार की जाने वाली ६ प्रतिज्ञाओं का उल्लेख है—

(१) स्वयं दूसरे साधुओं को आहार लाकर दूँगा, उनके द्वारा लाया हुआ लूँगा।

(२) दूसरों को लाकर दूँगा, उनके द्वारा लाया हुआ नहीं लूँगा।

(३) स्वयं दूसरों को लाकर न दूँगा, उनके द्वारा लाया हुआ लूँगा।

(४) न स्वयं दूसरों को लाकर दूँगा, न ही उनके द्वारा लाया हुआ लूँगा।

(५) आवश्यकता से अधिक कल्पानुसार यथाप्राप्त आहार में से निर्जरा एवं परस्पर उपकार की दृष्टि से साधार्मिकों की सेवा करूँगा।

(६) उन साधर्मिकों से भी इसी दृष्टि से सेवा लूँगा।[2]

इन्हें चूर्णिकार ने प्रतिमा तथा अभिग्रह विशेष बताया है।

संल्लेखना-पादोपगमम अनशन

२२८. जस्सं णं भिक्खुस्स एवं भवति 'से गिलामि च खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेणं परिवहित्तए से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेज्जा, अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेत्ता कसाए पतणुए किच्चा समाहियच्चे[3] फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे

---

१. आचारांग (पू० आ० श्री आत्माराम जी म० कृत टीका) पृ० ६१०।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८८।

३. इसके बदले किसी प्रति में 'समाहडच्चे' पाठ मिलता है। अर्थ होता है—जिसने अर्चा—संताप को समेट लिया है।

अणुपविसित्ता गामं वा जाव[1] रायहाणिं वा तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता अप्पंडे[2] जाव तणाइं संथरेज्जा[3], [तणाइं संथरेत्ता] एत्थ वि समए कायं च जोगं च इरियं च पच्चक्खाएज्जा।[4]

तं सच्चं सच्चवादी ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आतीतट्ठे[5] अणातीते चेच्चाण भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहुवसग्गे अस्सिं विसंभणताए भेरवमणुचिण्णे। तत्थावि तस्स काल-परियाए। से तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हितं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

॥ सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥

२२८. (शरीर विमोक्ष : संल्लेखना सहित प्रायोपगमन अनशन के रूप में)–जिस भिक्षु के मन में यह अध्यवसाय होता है कि मैं वास्तव में इस समय (आवश्यकक्रिया करने के लिए) इस (अत्यन्त जीर्ण एवं अशक्त) शरीर को क्रमशः वहन करने में ग्लान (असमर्थ) हो रहा हूँ। वह भिक्षु क्रमशः आहार का संक्षेप करे। आहार को क्रमशः घटाता हुआ कषायों को भी कृश करे।

यों करता हुआ समाधिपूर्ण लेश्या—(अन्तःकरण की वृत्ति) वाला, तथा फलक की तरह शरीर और कषाय, दोनों ओर से कृश बना हुआ वह भिक्षु समाधि-मरण के लिए उत्थित होकर शरीर के सन्ताप को शान्त कर ले।

इस प्रकार संल्लेखना करने वाला वह भिक्षु (शरीर में थोड़ी-सी शक्ति रहते ही) ग्राम, नगर, खेड़ा, कर्वट, मडंब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर (खान), आश्रम, सन्निवेश (मुहल्ला या एक जाति के लोगों की बस्ती), निगम या राजधानी में प्रवेश करके (सर्वप्रथम) घास की याचना करे। जो घास प्राप्त हुआ हो, उसे लेकर ग्राम आदि के बाहर एकान्त में चला जाए। वहाँ जाकर जहाँ कीड़ों के अंडे, जीव-जन्तु, बीज, हरित, ओस, काई, उदक, चींटियों के बिल, फफुंदी, गीली मिट्टी या दल-दल या मकड़ी के जाले न हों, ऐसे स्थान को बार-बार प्रतिलेखन (निरीक्षण) कर फिर उसका कई बार प्रमार्जन (सफाई) करके घास का बिछौना करे। घास का बिछौना बिछाकर इसी समय शरीर, शरीर की प्रवृत्ति और गमनागमन आदि ईर्या का प्रत्या-ख्यान (त्याग) करे (इस प्रकार प्रायोपगमन अनशन करके शरीर विमोक्ष करे)।

यह (प्रायोपगमन अनशन) सत्य है। इसे सत्यवादी (प्रतिज्ञा पर अन्त तक

१-२. 'जाव' शब्द के अन्तर्गत २२४ सूत्रानुसार यथा योग्य पाठ समझ लेना चाहिए।

३. इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर है—'संथारगं संथरेइ संथारगं संथरेत्ता……।' अर्थात् संस्तारक (बिछौना) बिछा लेता है, संस्तारक बिछा कर……।

४. 'पच्चक्खाएज्जा' के बदले 'पच्चक्खाएज्ज' शब्द मानकर चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या की है—"पाओवगमणं भणितं समे विसमे वा पादवो विव जह पडिओ। णागज्जुणा तु कट्ठमिव अचेट्ठे।"

५. 'आतीतट्ठे' के बदले आइयट्ठे, अतीट्ठे पाठ मिलते हैं, अर्थ प्रायः समान हैं।

दृढ़ रहने वाला) वीतराग, संसार-पारगामी, अनशन को अन्त तक निभायेगा या नहीं? इस प्रकार की शंका से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, जीवादि पदार्थों का सांगोपांग ज्ञाता, अथवा समस्त प्रयोजनों (बातों) से अतीत (परे), परिस्थितियों से अप्रभावित (अनशन-स्थित मुनि प्रायोपगमन—अनशन को स्वीकार करता है)।

वह भिक्षु प्रतिक्षण विनाशशील शरीर को छोड़ कर, नाना प्रकार के उपसर्गों और परीषहों पर विजय प्राप्त करके ('शरीर और आत्मा पृथक-पृथक हैं') इस (सर्वज्ञ प्ररूपित भेद-विज्ञान) में पूर्ण विश्वास के साथ इस घोर अनशन का (शास्त्रीय विधि के अनुसार) अनुपालन करे।

ऐसा (रोगादि आतंक के कारण प्रायोपगमन स्वीकार) करने पर भी उसकी यह काल-मृत्यु (स्वाभाविक मृत्यु) होती है। उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (समस्त कर्म क्षय) करने वाला भी हो सकता है।

इस प्रकार यह (प्रायोपगमन के रूप में किया गया शरीर-विमोक्ष) मोहमुक्त भिक्षुओं का आयतन (आश्रय) हितकर, सुखकर, क्षमारूप तथा समयोचित, निःश्रेयस्कर और जन्मान्तर में भी साथ चलने वाला है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रायोपगमन अनशन : स्वरूप, विधि और माहात्म्य—प्रस्तुत सूत्र में समाधिमरण के तीसरे अनशन का वर्णन हैं। इसके दो नाम मिलते हैं—प्रायोपगमन और पादपोपगमन।

प्रायोपगमन का लक्षण है—जहाँ और जिस रूप में इसके साधक ने अपना अंग रख दिया है, वहाँ और उसी रूप में वह आयु की समाप्ति तक निश्चल पड़ा रहता है,[1] अंग को बिलकुल हिलाता-डुलाता नहीं। 'स्व' और 'पर' दोनों के प्रतीकार से—सेवा-शुश्रूषा से रहित मरण का नाम ही प्रायोपगमन-मरण है।[2]

पादपोपगमन मरण का लक्षण है—जिस प्रकार पादप—वृक्ष सम या विषम अवस्था में निश्चेष्ट पड़ा रहता है, उसी प्रकार सम या विषम, जिस स्थिति में स्थित हो पड़ जाता है; अपना अंग रखता है, उसी स्थिति में आजीवन निश्चल-निश्चेष्ट पड़ा रहता है। पादपोपगमन अनशन का साधक दूसरे से सेवा नहीं लेता और न ही दूसरों की सेवा करता है। दोनों का लक्षण मिलता-जुलता है।[3]

इसकी और सब विधि तो इंगित-मरण की तरह हैं, लेकिन इंगित-मरण में पूर्व नियत क्षेत्र में हाथ-पैर आदि अवयवों का संचालन किया जाता है, जबकि पादपोपगमन में एक ही नियत स्थान पर भिक्षु निश्चेष्ट पड़ा रहता है।[4]

---

१. भगवती आराधना मू० २०६३ से २०७१।

२. प्रायोपगमनमरण की विशेष व्याख्या के लिए देखिए—जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष भाग ४ पृष्ठ ३६०-३६१।

३. भगवती सूत्र श० २५, उ० ७ की टीका।

४. पादपोपगमन की विशेष व्याख्या के लिए देखिये—अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ५, पृष्ठ ८१६।

पादपोपगमन में विशेषतया तीन बातों का—प्रत्याख्यान (त्याग) अनिवार्य होता है—
(१) शरीर।
(२) शरीरगत योग—आकुञ्चन, प्रसारण, उन्मेष, निमेष आदि काय व्यापार और
(३) ईर्या—वाणीगत, मनोगत, सूक्ष्म तथा अप्रशस्त हलन-चलन।[1]
इसका माहात्म्य भी इंगित मरण की तरह बताया गया है।
शरीर-विमोक्ष में प्रायोपगमन प्रबल सहायक है।

॥ सातवां उद्देशक समाप्त ॥

अट्ठमो उद्देसओ

अष्टम उद्देशक

आनुपूर्वी-अनशन

२२९. अणुपुव्वेण विमोहाइं जाइं[2] धीरा समासज्ज।
वसुमंतो[3] मतिमंतो सव्वं णच्चा अणेलिसं॥ १६॥

२२९. जो (भक्त प्रत्याख्यान, इंगितमरण एवं प्रायोपगमन, ये तीन) विमोह या विमोक्ष क्रमशः (समाधिमरण के रूप में बताए गए) हैं, धैर्यवान, संयम का धनी (वसुमान्) एवं हेयोपादेय-परिज्ञाता (मतिमान) भिक्षु उनको प्राप्त करके (उनके सम्बन्ध में) सब कुछ जानकर (उनमें से) एक अद्वितीय (समाधिमरण को अपनाए)।

विवेचन—अनशन का आन्तरिक विधि-विधान : पूर्व उद्देशकों में जिन तीन समाधिमरण रूप अनशनों का निरूपण किया गया है, उन्हीं के विशेष आन्तरिक विधि-विधानों के सम्बन्ध में आठवें उद्देशक में क्रमशः वर्णन किया गया है।[4]—

'अणुपुव्वेण विमोहाइं'—इस पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने दो प्रकार के अनशनों की ओर इंगित कर दिया है, वे हैं—(१) सविचार और (२) अविचार।[5] इन्हें ही दूसरे शब्दों में

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८९।
२. इसके बदले पाठान्तर हैं—**जाणि वीरा समासज्ज**—जिन्हें वीर प्राप्त करके.......
३. **'वसुमंतो'** के बदले चूर्णिकार ने **'वुसीमंतो'** पाठ मानकर अर्थ किया है—संजमो वुसी, सो जत्थ अत्थि, जत्थ वा विज्जति सो वुसिमां,....वुसिमं च वुसिमंतो।...अर्थात्—वुसी (वृषि) संयम को कहते हैं, जहाँ वृषि है या जिसमें वृषि संयम है, वह वृषिमान् कहलाता है, उसके बहुवचन का रूप है—वुसीमंतो।
४, आचा० शीला० टीका पत्रांक २८९।
५. **विचरणं नानागमनं विचारः विचारेण सह वर्तते इति सविचारम्**—विचरण—नाना प्रकार के संचरण से युक्त जो अनशन किया जाता है, वह सविचार अनशन होता है, यह अनागाढ़, सहसा अनुपस्थित और चिरकालभावी मरण भी कहलाता है। इसके विपरीत अनशन (समाधिमरण) अविचार कहलाता है। —भगवती आराधना वि० ६४/१९२/६

क्रमप्राप्त और आकस्मिक अथवा सपरिक्रम—(सपराक्रम) और अपरिक्रम (अपराक्रम) अथवा[1] अव्याघात और सव्याघात कहा गया है।

सविचार अनशन—तब किया जाता है, जब तक जंघाबल क्षीण न हो (अर्थात्—शरीर समर्थ हो) जब काल-परिपाक से आयु क्रमशः क्षीण होती जा रही हो, जिसमें विधिवत् क्रमशः द्वादश वर्षीय संल्लेखना[2] की जाती हो। इसका क्रम इस प्रकार है—[3] प्रव्रज्याग्रहण, गुरु समीप रहकर सूत्रार्थ-ग्रहण शिक्षा, उसके साथ ही आसेवना-शिक्षा द्वारा सक्रिय अनुभव, दूसरों को सूत्रार्थ का अध्यापन, फिर गुरु से अनुज्ञा प्राप्त करके तीन अनशनों में से किसी एक का चुनाव और (१) आहार, (२) उपधि, (३) शरीर—इन तीनों से विमुक्त होने का प्रतिदिन अभ्यास करना, अन्त में सबसे क्षमा-याचना, आलोचना-प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धीकरण करके समाधिपूर्वक शरीर-विसर्जन करना। इसी को आनुपूर्वी अनशन (अर्थात्—अनशन की अनुक्रमिक साधना) भी कहते हैं। इसमें दुर्भिक्ष, बुढ़ापा, दुःसाध्य मृत्युदायक रोग और शरीर बल की क्रमशः क्षीणता आदि कारण भी होते हैं।[4]

आकस्मिक अनशन—सहसा उपसर्ग उपस्थित होने पर या अकस्मात् जंघाबल आदि क्षीण हो जाने पर,[5] शरीर शून्य या बेहोश हो जाने पर, हठात् बीमारी का प्राणान्तक आक्रमण हो जाने पर तथा स्वयं में उठने-बैठने आदि की बिलकुल शक्ति न होने पर किया जाता है।

पूर्व उद्देशकों में आकस्मिक अनशनों का वर्णन था, इस उद्देशक में क्रमप्राप्त अनशन का वर्णन है। इसे आनुपूर्वी अनशन, अव्याघात, सपराक्रम और सविचार अनशन भी कहा जाता है।

समाधिमरण के लिए चार बातें आवश्यक—(१) संयम, (२) ज्ञान, (३) धैर्य और (४) निर्मोहभाव; इन चारों का संकेत इस गाथा में दिया गया है।[6]

'विमोहाइं···समासज्ज···सव्वं णच्चा अणेलिसं'—इस गाथा में वैहानसमरण सहित चार मरणों को विमोह कहा गया है। क्योंकि इन सब में शरीरादि के प्रति मोह सर्वथा छोड़ना होता है। इन्हीं को 'विमोक्ष' कहा गया है। इस गाथा का तात्पर्य यह है कि इन सब विमोहों को, बाह्य-आभ्यन्तर, क्रमप्राप्त—आकस्मिक, सविचार-अविचार आदि को सभी प्रकार से भलीभाँति जानकर, इनके विधि-विधानों, कृत-अकृत्यों को समझकर अपनी धृति, संहनन, बलाबल आदि का नाप-तौल करके संयम के धनी, धीर और हेयोपादेय विवेक-बुद्धि से ओत-

---

१. जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवीयारा, कायचेट्ठं पई भवे ॥१२॥
अहवा सपडिकम्मा अपरिक्कम्मा य आहिया।
नीहारिमनीहारी आहारच्छेओ दोसु वि ॥१३॥ —अभिधान रा० कोष भा० १ पृ० ३०३–३०४

२. सागारधर्मामृत ८/६–१०   ३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।

४. उपसर्गे, दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु संल्लेखनामार्याः ॥ —रत्नकरण्डक श्रावकाचार १२२।

५. अभिधान राजेन्द्र कोष भा० १ पृ० ३०३।   ६. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।

प्रोत भिक्षु को अपने लिए इनमें से यथायोग्य एक ही समाधिमरण का चुनाव करके समाधि-पूर्वक उसका अनुपालन करना चाहिए।[1]

भक्तप्रत्याख्यान अनशन तथा संलेखना विधि

२३०. दुविहं[2] पि विदित्ता णं बुद्धा धम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीए संखाए आरंभाए तिउट्टति[3] ॥ १७ ॥

२३१. कसाए पयणुए किच्चा अप्पाहारो तितिक्खए[4]।
अह भिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव[5] अंतियं ॥ १८ ॥

२३२. जीवियं णाभिकंखेज्जा मरणं णो वि पत्थए।
दुहतो वि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा ॥ १९ ॥

२३३. मज्झत्थो णिज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अंतो बहिं वियोसज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥ २० ॥

२३४. जं किंचुवक्कमं जाणे आउखेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरद्धाए खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिते ॥ २१ ॥

२३५. गामे अदुवा रण्णे थंडिलं पडिलेहिया।
अप्पपाणं तु विण्णाय तणाइं संथरे मुणी ॥ २२ ॥

२३६. अणाहारो तुवट्टेज्जा पुट्ठो तत्थ हियासए।
णातिवेलं उवचरे माणुस्सेहिं वि पुट्ठवं ॥ २३ ॥

२३७. संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुंजंते मंससोणियं ण छणे ण पमज्जए ॥ २४ ॥

२३८. पाणा देहं विहिंसंति ठाणातो ण वि उब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं तिप्पमाणोऽधियासए ॥ २५ ॥

२३९. गंथेहिं विवित्तेहिं आयुकालस्स पारए।
पग्गहिततरगं चेतं दवियस्स वियाणतो ॥ २७ ॥

२३०. वे धर्म के पारगामी प्रबुद्ध भिक्षु दोनों प्रकार से (शरीर उपकरण आदि बाह्य पदार्थों तथा रागादि आन्तरिक विकारों की) हेयता का अनुभव करके

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।
२. इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर मिलता है—'दुविहं पि विगिंचित्ता बुद्धा'—प्रबुद्ध साधक दोनों प्रकार से विशिष्ट रूप से विश्लेषण करके....।
३. इसके बदले चूर्णिकार मान्य पाठान्तर है—'कम्मुणा य तिउट्टति' अन्य भी पाठान्तर है—कम्मुणाओ तिउट्टति, अर्थात्—कर्म से अलग हो जाता है—सम्बन्ध टूट जाता है।
४. 'तितिक्खए' के बदले चूर्णि में 'तिउट्टति' पाठ है। अर्थ होता है—कर्मों को तोड़ता है।
५. इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर है—'आहारस्सेव कारणा'। अर्थ होता है—आहार के कारण ही भिक्षु ग्लान हो जाए तो......।

(प्रव्रज्या आदि के) क्रम से (चल रहे संयमी शरीर को) विमोक्ष का अवसर जानकर आरंभ (बाह्य प्रवृत्ति) से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं ॥१७॥

२३१. वह कषायों को कृश (अल्प) करके, अल्पाहारी बन कर परीषहों एवं दुर्वचनों को सहन करता है, यदि भिक्षु ग्लानि को प्राप्त होता है, तो वह आहार के पास ही न जाये (आहार-सेवन न करे) ॥१८॥

२३२. (संल्लेखना एवं अनशन-साधना में स्थित श्रमण) न तो जीने की आकांक्षा करे, न मरने की अभिलाषा करे। जीवन और मरण दोनों में भी आसक्त न हो ॥१९॥

२३३. वह मध्यस्थ (सुख, दुःख में सम) और निर्जरा की भावना वाला भिक्षु समाधि का अनुपालन करे। वह (राग, द्वेष, कषाय आदि) आन्तरिक तथा (शरीर, उपकरण आदि) बाह्य पदार्थों का व्युत्सर्ग—त्याग करके शुद्ध अध्यात्म की एषणा (अन्वेषण) करे ॥२०॥

२३४. (संलेखना काल में भिक्षु को) यदि अपनी आयु के क्षेम (जीवन-यापन) में जरा-सा भी (किसी आतंक आदि का) उपक्रम (प्रारम्भ) जान पड़े तो उस संलेखना काल के मध्य में ही पण्डित भिक्षु शीघ्र (भक्त-प्रत्याख्यान आदि से) पण्डितमरण को अपना ले ॥२१॥

२३५. (संल्लेखना-साधक) ग्राम या वन में जाकर स्थण्डिलभूमि का प्रतिलेखन (अवलोकन) करे, उसे जीव-जन्तु रहित स्थान जानकर मुनि (वहीं) घास बिछा ले ॥२२॥

२३६. वह वहीं (उस घास के बिछौने पर) निराहार हो (त्रिविध या चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान) कर (शान्तभाव से) लेट जाये। उस समय परीषहों और उपसर्गों से आक्रान्त होने पर (समभावपूर्वक) सहन करे। मनुष्यकृत (अनुकूल-प्रतिकूल) उपसर्गों से आक्रान्त होने पर भी मर्यादा का उल्लंघन न करे ॥२३॥

२३७. जो रेंगने वाले (चींटी आदि) प्राणी हैं, या जो (गिद्ध आदि) ऊपर आकाश में उड़ने वाले हैं, या (सर्प आदि) जो नीचे बिलों में रहते हैं, वे कदाचित् अनशनधारी मुनि के शरीर का मांस नोंचे और रक्त पीएँ तो मुनि न तो उन्हें मारे और न ही रजोहरणादि से प्रमार्जन (निवारण) करे ॥२४॥

२३८. (वह मुनि ऐसा चिन्तन करे) ये प्राणी मेरे शरीर का विघात (नाश) कर रहे हैं, (मेरे ज्ञानादि आत्म-गुणों का नहीं, ऐसा विचार कर उन्हें न हटाए) और न ही उस स्थान से उठकर अन्यत्र जाए। आस्रवों (हिंसादि) से पृथक् हो जाने के कारण (अमृत से सिंचित की तरह) तृप्ति अनुभव करता हुआ (उन उपसर्गों को) सहन करे ॥२५॥

२३९. उस संल्लेखना-साधक की (शरीर उपकरणादि बाह्य और रागादि

अन्तरंग) गांठें (ग्रन्थियाँ) खुल जाती हैं, (तब मात्र आत्मचिन्तन में संलग्न वह मुनि) आयुष्य (समाधिमरण) के काल का पारगामी हो जाता है।

विवेचन—भक्तप्रत्याख्यान अनशन की पूर्व तैयारी—इन गाथाओं में इसका विशद वर्णन किया गया है। समाधिमरण के लिए पूर्वोक्त तीन अनशनों में से भक्तप्रत्याख्यानरूप एक अनशन का चुनाव करने के बाद उसकी क्रमशः पूर्व तैयारी की जाती है, जिसकी झांकी सू० २३० से २३४ तक में दी गई है। सूत्र २३० से भक्तप्रत्याख्यानरूप अनशन का निरूपण है। यहाँ सविचार भक्तप्रत्याख्यान का प्रसंग है। इसलिए इसमें सभी कार्यक्रम क्रमशः सम्पन्न किये जाते हैं। भक्तप्रत्याख्यान अनशन को पूर्णतः सफल बनाने के लिए अनशन का पूर्ण संकल्प लेने से पूर्व मुख्यतया निम्नोक्त क्रम अपनाना आवश्यक है—जिसका निर्देश उक्त गाथाओं में है। वह क्रम इस प्रकार है—

(१) संल्लेखना के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों को जाने और हेय का त्याग करे।

(२) प्रव्रज्याग्रहण, सूत्रार्थग्रहण शिक्षा; आसेवना-शिक्षा आदि क्रम से चल रहे संयम-पालन में शरीर के असमर्थ हो जाने पर शरीर-विमोक्ष का अवसर जाने।

(३) समाधिमरण के लिए उद्यत भिक्षु क्रमशः कषाय एवं आहार की संल्लेखना करे।

(४) संल्लेखना काल में उपस्थित रोग, आतंक, उपद्रव एवं दुर्वचन आदि परीषहों को समभाव से सहन करे।

(५) द्वादशवर्षीय संल्लेखना काल में आहार कम करने से समाधि भंग होती हो तो संल्लेखना क्रम छोड़कर आहार कर ले, यदि आहार करने से समाधि भंग होती हो तो वह आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन स्वीकार कर ले।

(६) जीवन और मरण में समभाव रखे।

(७) अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में मध्यस्थ और निर्जरादर्शी रहे।

(८) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, समाधि के इन पांच अंगों का अनुसेवन करे।

(९) भीतर की रागद्वेषादि ग्रन्थियों और बाहर की शरीरादि से सम्बद्ध प्रवृत्तियों तथा ममता का व्युत्सर्ग करके शुद्ध अध्यात्म की झांकी देखे।

(१०) निराबाध संल्लेखना में आकस्मिक विघ्न-बाधा उपस्थित हो तो संल्लेखना के क्रम को बीच में ही छोड़कर भक्तप्रत्याख्यान अनशन का संकल्प कर ले।

(११) विघ्न-बाधा न हो तो संल्लेखनाकाल पूर्ण होने पर ही भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करे।[1]

संल्लेखना : स्वरूप; प्रकार और विधि—सम्यक् रूप से काय और कषाय का—बाह्य और आभ्यन्तर का सम्यक् लेखन—(कृश) करना संल्लेखना है। इस दृष्टि से संल्लेखना दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य संल्लेखना शरीर में और आभ्यन्तर कषायों में होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से भाव संल्लेखना वह है; जिसमें आत्म-संस्कार के अनन्तर उसके

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८९, २९०।

लिए ही क्रोधादि कषाय रहित अनन्तज्ञानादि गुणों से सम्पन्न परमात्म-पद में स्थित होकर रागादि विकल्पों को कृश किया जाए और उस भाव संलेखना की सहायता के लिए काय-क्लेश रूप अनुष्ठान-भोजनादि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है।[1]

काल की अपेक्षा से संलेखना तीन प्रकार की होती है—जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा। जघन्या संलेखना १२ पक्ष की, मध्यमा १२ मास की और उत्कृष्टा १२ वर्ष की होती है।

द्वादशवर्षीय संलेखना की विधि इस प्रकार है—प्रथम चार वर्ष तक कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला, चोला या पंचोला, इस प्रकार विचित्र तप करता है, पारणे के दिन उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध आहार करता है। तत्पश्चात् फिर चार वर्ष तक उसी तरह विचित्र तप करता है, पारणा के दिन विगय रहित (रस रहित) आहार लेता है। उसके बाद दो वर्ष तक एकान्तर तप करता है, पारणा के दिन आयम्बिल तप करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम ६ मास तक उपवास या बेला तप करता है, द्वितीय ६ मास में विकृष्ट तप—तेला-चोला आदि करता है। पारणे में कुछ ऊनोदरीयुक्त आयम्बिल करता है। उसके पश्चात् १२वें वर्ष में कोटी-सहित लगातार आयम्बिल करता है, पारणा के दिन आयंबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में साधक भोजन में प्रतिदिन एक-एक ग्रास को कम करते-करते एक सिक्थ भोजन पर आ जाता है।[2]

बारहवें वर्ष के अन्त में वह अर्धमासिक या मासिक अनशन या भक्तप्रत्याख्यान आदि कर लेता है। दिगम्बर परम्परा में भी आहार को क्रमशः कम करने के लिए उपवास, आचाम्ल, वृत्ति-संक्षेप, फिर रसवर्जित आदि विविध तप करके शरीर संलेखना करने का विधान है। यदि आयु और शरीर-शक्ति पर्याप्त हो तो साधक बारह भिक्षु प्रतिमाएँ स्वीकार करके शरीर को कृश करता है। शरीर-संलेखना के साथ राग-द्वेष-कषायादि रूप परिणामों की विशुद्धि अनिवार्य है, अन्यथा केवल शरीर को कृश करने से संलेखना का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता।[3]

संलेखना के पांच अतिचारों से सावधान—संलेखना क्रम में जीवन और मरण की आकांक्षा तो बिलकुल ही छोड़ देनी चाहिए, यानी 'मैं अधिक जीऊँ या शीघ्र ही मेरी मृत्यु हो जाए तो इस रोगादि से पिंड छूटे', ऐसा विकल्प मन में नहीं उठना चाहिए।[4] काम-भोगों की तथा इहलोक-परलोक सम्बन्धी कोई भी आकांक्षा या निदान नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि संलेखना के ५ अतिचारों से सावधान रहना चाहिए।[5]

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ७।२२।३६३। (ख) भगवती आराधना मूल २०६।४२३।
(ग) पंचास्तिकाय ता० बृ० १७३।२५३।१७।

२. अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ७ पृ० २१८, नि०, पं० व०, आ० चू०।

३. भगवती आराधना मू० २४६ से २४९, २५७ से २५९, सागारधर्मामृत ८।२३।

४. सू० २३२ में इसका उल्लेख है, आचा० शीला० टीका पत्रांक २८९।

५. संलेखना के ५ अतिचार—इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग, और कामभोगाशंसाप्रयोग। —आवश्यक अ० ५ हारि० वृत्ति पृ० ८३८।

'आरम्भाओ तिउट्टइ'—इस वाक्य में आरम्भ शब्द हिंसा अर्थ में नहीं है, किन्तु शरीर धारण करने के लिए आहार-पानी के अन्वेषण आदि की जो प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें भी आरम्भ शब्द से सूचित किया है। साधक उनसे सम्बन्ध तोड़ देता है, यानी अलग रहता है। हिंसात्मक आरम्भ का त्याग तो मुनि पहले से ही कर चुका होता है, इस समय तो वह संल्लेखना—संथारा की साधना में संलग्न है, इसलिए आहारादि की प्रवृत्तियों से विमुक्त होना आरम्भ से मुक्ति है। यदि वह आहारादि की खटपट में पड़ेगा तो वह अधिकाधिक आत्मचिन्तन नहीं कर सकेगा।[1]—यहाँ चूर्णिकार कम्मुणाओ तिउट्टइ' ऐसा पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं, अष्ट विध कर्मों को तोड़ता है—तोड़ना प्रारम्भ कर देता है।

'अह भिक्खु गिलाएज्जा····'—वृत्तिकार ने इस सूत्रपंक्ति के दो फलितार्थ प्रस्तुत किए हैं—(१) संल्लेखना-साधना में स्थित भिक्षु को आहार में कमी कर देने से कदाचित् आहार के बिना मूर्च्छा-चक्कर आदि ग्लानि होने लगे तो संल्लेखना-क्रम को छोड़कर विकृष्ट तप न करके आहार सेवन करना चाहिए। (२) अथवा आहार करने से अगर ग्लानि—अरुचि होती हो तो भिक्षु को आहार के समीप ही नहीं जाना चाहिए। अर्थात्—यह नहीं सोचना चाहिए कि 'कुछ दिन संल्लेखना क्रम तोड़कर आहार कर लूँ; फिर शेष संल्लेखना क्रम पूर्ण कर लूंगा', अपितु आहार करने के विचार को ही पास में नहीं फटकने देना चाहिए।[2]

'किं चुवक्कमं जाणे·····'—यह गाथा भी संल्लेखना काल में सावधानी के लिए है। इसका तात्पर्य यह है कि संल्लेखना काल के बीच में ही यदि आयुष्य के पुद्‌गल सहसा क्षीण होते मालूम दें तो विचक्षण साधक को उसी समय बीच में ही संल्लेखना क्रम छोड़कर भक्तप्रात्याख्यान आदि अनशन स्वीकार कर लेना चाहिए। भक्तप्रत्याख्यान की विधि पहले बताई जा चुकी है। इसका नाम भक्तपरिज्ञा भी है।[3]

संल्लेखना काल पूर्ण होने के बाद—सूत्र २३५ से भक्तप्रत्याख्यान आदि में से किसी एक अनशन को ग्रहण करने का विधान प्रारम्भ हो जाता है। संल्लेखनाकाल पूर्ण हो जाने के बाद साधक को गाँव में या गाँव के बाहर स्थण्डिलभूमि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके जीव-जन्तुरहित निरवद्य स्थान में घास का संथारा-बिछौना बिछाकर पूर्वोक्तविधि से अनशन का संकल्प कर लेना चाहिए। भक्तप्रत्याख्यान का स्वीकार कर लेने के बाद जो भी अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग या परीषह आये उन्हें समभावपूर्वक सहना चाहिए। गृहस्थाश्रमपक्षीय या साधु संघीय पारिवारिक जनों के प्रति मोहवश आर्तध्यान न करना चाहिए, न ही किसी पीड़ा देने वाले मनुष्य या जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प आदि प्राणी से घबरा कर रौद्रध्यान करना चाहिए। डांस, मच्छर आदि या सांप, बिच्छू आदि कोई प्राणी शरीर पर आक्रमण कर रहा हो, उस समय भी विचलित न होना चाहिए, न स्थान बदलना चाहिए।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६०।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६०।

अनशन साधक स्वयं को आस्रवों से शरीरादि तथा राग-द्वेष-कषायादि से बिलकुल मुक्त समझे। जीवन के अन्त तक शुभ अध्यवसायों में लीन रहे।[1]

इंगितमरण रूप विमोक्ष और यह इंगितमरण पूर्वगृहीत (भक्तप्रत्याख्यान) से विशिष्टतर है। इसे विशिष्ट ज्ञानी (कम से कम नौ पूर्व का ज्ञाता गीतार्थ) संयमी मुनि ही प्राप्त कर सकता है ॥२६॥

इंगितमरणरूप विमोक्ष

२४०. अयं से अवरे धम्मे णायपुत्तेण साहिते।
आयवज्जं पडियारं विजहेज्जा तिधा तिधा ॥ २७ ॥

२४१. हरिएसु ण णिवज्जेज्जा थंडिलं मुणिआ[2] सए।
विउसिज्ज[3] अणाहारो पुट्ठो तत्थऽधियासए ॥ २८ ॥

२४२. इंदिएहिं गिलायंतो समियं साहरे मुणी[4]।
तहावि से अगरहे अचले जे समाहिए ॥ २९ ॥

२४३. अभिक्कमे पडिक्कमे संकुचए पसारए।
कायसाहारणट्ठाए एत्थं वा वि अचेतणे ॥ ३० ॥

२४४. परिक्कमे परिकिलंते अदुवा चिट्ठे अहायते।
ठाणेण परिकिलंते णिसीएज्ज य अंतसो ॥ ३१ ॥

२४५. आसीणेऽणेलिसं[5] मरणं इंदियाणि समीरते।
कोलावासं समासज्ज वितहं पादुरेसए[6] ॥ ३२ ॥

२४६. जतो वज्जं समुप्पज्जे ण तत्थ अवलंबए।
ततो उक्कसे अप्पाणं सव्वे फासेऽधियासए ॥ ३३ ॥

२४०. ज्ञात-पुत्र भगवान महावीर ने भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न इंगितमरण

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २९१ के आधार पर।

२. 'मुणिआसए' के बदले चूर्णि में 'मुणी आसए' पाठ है, अर्थ किया गया हैं—मुणी पुव्वभणितो, आसीत आसए। अर्थात्—पूर्वोक्त मुनि (स्थण्डिलभूमि पर) बैठे।

३. 'विउसिज्ज' के बदले वियोसज्ज, वियोसेज्ज, विउसेज्ज, विउसज्ज, विओसिज्ज आदि पाठान्तर मिलते हैं, अर्थ प्रायः एक-समान है।

४. इसके बदले चूर्णिकार ने 'समितं साहरे मुणी' पाठ मान कर अर्थ किया है—"संकुडितो परिकिलंतो वा ताहे सम्मं पसारेइ, पसारिय किलंतो वा पमज्जित्ता साहरइ।" इन्द्रियों (हाथ पैर आदि) को सिकोड़ने में ग्लानि—बेचैनी हो तो उन्हें सम्यक्रूप (ठीक तरह) से पसार ले। पसारने पर भी पीड़ित होते हो तो उसका प्रमार्जन करके समेट ले।

५. चूर्णिकार ने इसके बदले 'आसीणे मणेलिसं पाठ मान्य करके अर्थ किया है—"आसीण इति उदासीणो अहवा धम्मं अस्सितो।"—अर्थात् आसीन यानी उदासीन अथवा धर्म के आश्रित।

६. 'पादुज्जतेसते' पाठान्तर मान्य करके चूर्णिकार ने अर्थ किया है—"पादु पकास अवट्ठितं, तं········ एसति—अर्थात्—प्रादुः का अर्थ है प्रकट (प्रकाश) में अवस्थित, उसकी एषणा करे।

अनशन का यह आचार-धर्म बताया है। इस अनशन में भिक्षु (मर्यादित भूमि के बाहर) किसी भी अंगोपांग के व्यापार (संचार) का, अथवा उठने-बैठने आदि की क्रिया में अपने सिवाय किसी दूसरे के सहारे (परिचर्या) का (तीन करण, तीन योग से) मन, वचन और काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करे ॥२७॥

२४१. वह हरियाली पर शयन न करे, स्थण्डिल (हरित एवं जीव-जन्तुरहित स्थल) को देखकर वहाँ सोए। वह निराहार भिक्षु बाह्य एवं आभ्यन्तर उपधि का व्युत्सर्ग करके भूख-प्यास आदि परीषहों तथा उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे ॥२८॥

२४२. आहारादि का परित्यागी मुनि इन्द्रियों से ग्लान (क्षीण) होने पर समित (यतनासहित, परिमित मात्रायुक्त) होकर हाथ-पैर आदि सिकोड़े (पसारे); अथवा शमिता—शान्ति या समता धारण करे। जो अचल (अपनी प्रतिज्ञा पर अटल) है तथा समाहित (धर्म-ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान में मन को लगाये हुए) है, वह परिमित भूमि में शरीर चेष्टा करता हुआ भी निन्दा का पात्र नहीं होता ॥२९॥

२४३. (इस अनशन में स्थित मुनि बैठे-बैठे या लेटे-लेटे थक जाये तो) वह शरीर-संधारणार्थ गमन और आगमन करे, (हाथ-पैर आदि को) सिकोड़े और पसारे। (यदि शरीर में शक्ति हो तो) इस (इंगितमरण अनशन) में भी अचेतन की तरह (निश्चेष्ट होकर) रहे ॥३०॥

२४४. (इस अनशन में स्थित मुनि) बैठा-बैठा थक जाये तो, नियत प्रदेश में चले या, थक जाने पर बैठ जाए, अथवा सीधा खड़ा हो जाये या सीधा लेट जाये। यदि खड़े होने में कष्ट होता हो तो अन्त में बैठ जाए ॥३१॥

२४५. इस अद्वितीय मरण की साधना में लीन मुनि अपनी इन्द्रियों को सम्यक्रूप से संचालित करे। (यदि उसे ग्लानावस्था में सहारे के लिए किसी काष्ठ स्तम्भ या पट्टे की आवश्यकता हो तो) घुन-दीमकवाले काष्ठ स्तम्भ या पट्टे का सहारा न लेकर घुन आदि रहित व निश्छिद्र काष्ठ स्तम्भ या पट्टे का अन्वेषण करे ॥३२॥

२४६. जिससे वज्रवत् कर्म या वर्ज्य—पाप उत्पन्न हों, ऐसी घुण, दीमक, आदि से युक्त) वस्तु का सहारा न ले। उससे या दुर्ध्यान एवं दुष्ट योगों से अपने आपको हटाले और उपस्थित सभी दुःखस्पर्शों को सहन करे ॥३३॥

विवेचन—इंगितमरण : स्वरूप, सावधानी और आन्तरिकविधि—सूत्र २३९ से २४६ तक की गाथाओं में इंगितमरण का निरूपण किया गया है, जो समाधिमरण रूप अनशन का द्वितीय प्रकार है। भक्तप्रत्याख्यान से यह विशिष्टतर है। इसकी भी पूर्वतैयारी तथा संकल्प करने तक की क्रमशः सब विधि भक्तप्रत्याख्यान की तरह ही समझ लेनी चाहिए। इतना ही नहीं, भक्तप्रत्याख्यान में जिन सावधानियों का निर्देश किया है, उनसे इस अनशन में भी सावधान रहना आवश्यक है।

इंगितमरण में कुछ विशिष्ट बातों का निर्देश शास्त्रकार ने किया है, जैसे कि इंगित-मरण साधक अपना अंगसंचार, उठना, बैठना, करवट बदलना, शौच, लघुशंका आदि समस्त शारीरिक कार्य वह स्वयं करता है। इतना ही नहीं, दूसरों के द्वारा करने, कराने, दूसरे द्वारा किसी साधक के निमित्त किये जाते हुए का अनुमोदन करने का भी वह मन, वचन, काया से त्याग करता है। वह संकल्प के समय निर्धारित भूमि में ही गमनागमन आदि करता है, उससे बाहर नहीं। वह स्थण्डिलभूमि भी जीव-जन्तु, हरियाली, आदि से रहित हो, जहाँ वह इच्छा-नुसार बैठे, लेटे या सो सके। जहाँ तक हो सके, वह अंगचेष्टा कम से कम करे। हो सके तो वह पादपोपगमन की तरह अचेतनवत् सर्वथा निश्चेष्ट-निःस्पन्द होकर रहे। यदि बैठा-बैठा या लेटा-लेटा थक जाये तो जीव जन्तुरहित काष्ठ की पट्टी आदि किसी वस्तु का सहारा ले सकता है। किन्तु किसी भी स्थिति में आर्तध्यान या राग-द्वेषादि का विकल्प जरा भी मन में न आने दे।[1]

दिगम्बर परम्परा में यह 'इंगितमरण' के नाम से प्रसिद्ध है। भक्तपरिज्ञा में जो प्रयोग विधि कही गयी है, वही यथासम्भव इस मरण में भी समझनी चाहिए।....इसमें मुनिवर शौच आदि शारीरिक तथा प्रतिलेखन आदि धार्मिक क्रियाएँ स्वयं ही करते हैं। जगत् के सम्पूर्ण पुद्गल दुःखरूप या सुखरूप परिणमित होकर उन्हें सुखी या दुःखी करने को उद्यत हों, तो भी उनका मन (शुक्ल) ध्यान में च्युत नहीं होता। वे वाचना, पृच्छना, धर्मोपदेश, इन सबका त्याग करके सूत्रार्थ का अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं। मौनपूर्वक रहते हैं। तप के प्रभाव से प्राप्त लब्धियों का उपयोग तथा रोगादि का प्रतीकार नहीं करते। पैर में काँटा या नेत्र में रजकण पड़ जाने पर भी वे स्वयं नहीं निकालते।[2]

प्रायोपगमन अनशन-रूप विमोक्ष

२४७. अयं चाततरे[3] सिया जे एवं अणुपालए।
सव्वगायणिरोधे वि ठाणातो ण वि उब्भमे ॥ ३४ ॥

२४८. अयं से उत्तमे धम्मे पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता विहरे चिट्ठ माहणे ॥ ३५ ॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २९१-२९२।

२. **जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो।**
सो चेव जधाजोग्गो उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०३०॥
ठिच्चा निसिदित्ता वा तुवट्टिदूण व सकायपडिचरणं।
सयमेव निरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०४१॥
सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंचदे विधिणा ॥२०४२॥ —भगवती आराधना

३. **'अयं चाततरे सिया'** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"अंत (अन्त) तरो, आततरो वा आततरो। आयतरे-दढगाहतरे धम्मे-मरणधम्मे, इंगिणिमरणातो आयतरे उत्तमतरे।" अर्थात्—अंततर या अन्ततर ही आततर हैं। तात्पर्य यह है—आयतर यानी ग्रहण करने में दृढ़तर, धर्म—मरणधर्म है यह। इंगिनिमरण से यह धर्म (पादपोपगमन) आयतर यानी उत्तमतर हैं।

२४९. अचित्तं[1] तु समासज्ज ठावए तत्थ अप्पगं।
वोसिरे सव्वसो कायं ण मे देहे परीसहा ॥ ३६ ॥

२५०. जावज्जीवं[2] परीसहा उवसग्गा (य) इति संखाय।
संवुडे देहभेदाए इति पण्णेऽधियासए ॥ ३७ ॥

२५१. भिदुरेसु[3] ण रज्जेज्जा कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छालोभं ण सेवेज्जा धुववण्णं[4] सपेहिया ॥ ३८ ॥

२५२. सासएहिं णिमंतेज्जा दिव्वमायं[5] ण सद्दहे।
तं पडिबुज्झ माहणे सव्वं नूमं[6] विधूणिता ॥ ३९ ॥

२५३. सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए आयुकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं णच्चा विमोहण्णतरं हितं ॥ ४० ॥ त्ति बेमि।

॥ अष्टम विमोक्षाध्ययनं समाप्तम् ॥

---

१. इसके बदले चूर्णिकार ने पाठान्तर माना है—**अचित्तं तु समासज्ज तत्थवि किर कीरति।**

२. इसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"परीसहा—दिगिंछादि, उवसग्गा य अणुलोमा पडिलोमा या इति संखाय—एवं संखाता तेण भवति, यदुक्तं तेन भवति नाता, अणहियासंते पुण सुद्धते पडुच्च ण संखाता भवंति। अहवा जावज्जीवं एते परीसहा उवसग्गा वि ण मे मतस्स भविस्संतीति एवं संखाए अहियासए। अहवा परीसहा एव उवसग्गा, तप्पुरिसो समासो। अहवा (परीसहा) उवसग्गा य जावदेह भाविणो, ततो वुच्चति-जावज्जीवं परीसहा, एवं संखाय, संवुडे देहभेदाय····इति पण्णे अहियासए।" अर्थात्—परीषह=जुगुप्सा आदि तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग हैं, यह जानकर तात्पर्य यह है कि इस प्रकार उसके द्वारा ये ज्ञात हो जाते हैं। जो परीषह और उपसर्गों को सहन नहीं कर पाते। इस शुद्धता की अपेक्षा से संख्यात—संज्ञात नहीं होते। अथवा जीवनपर्यन्त ये परीषह और उपसर्ग भी मेरे मानने के अनुसार नहीं होंगे, यों समझकर इन्हें सहन करे। अथवा तत्पुरुष समास मानने पर—परीषह ही उपसर्ग हैं, ऐसा अर्थ होता है। अथवा परीषह और उपसर्ग भी जब तक शरीर है, तभी तक हैं। इसीलिए कहते हैं—जिंदगी रहने तक ही तो परीषह हैं, ऐसा जानकर शरीरभेद के लिए समुद्यत संवृत प्राज्ञ भिक्षु इसे समभाव से सहन करे।

३. इसके बदले '**भेउरेसु**' पाठान्तर है। अर्थ समान है।

४. '**धुववण्णं सपेहिया**' पाठ के अतिरिक्त चूर्णिकार ने '**धुवमन्नं समेहिता,**' '**धुवमन्नं सपेहिया**' तथा '**सुहुमं वण्णं समेहिता**' ये पाठान्तर भी माने है। अर्थ क्रमशः यों किया है—"धुवो अव्वभिचारी वण्णो संजमो,"—धुव यानी अव्यभिचारी-निर्दोष संयम (वर्ण) को देखकर। "धुवो-मोक्खो सो य अण्णो संसाराओ तं सद्दोहिता—अर्थात्—ध्रुव=मोक्ष, वह संसार से अन्य-भिन्न है, उसका सदा ऊहापोह करके। **धुवमन्नं थिरसंजमं समेहिता—समपेहिज्ज,** ध्रुव=स्थिर, वर्ण=संयम का अवलोकन करके। अथवा सुहुमरूवे उवसग्गे सूयणीया सुहुमा, वण्णो नाम संजमो, सोय सुहुमो थोवेणवि विराहिज्जति वाल-पद्मवत्।" उपसर्ग सूक्ष्मरूप होने से सूत्रनीति से वे सूक्ष्म कहलाते हैं। वर्ण कहते हैं—संयम को, वह भी सूक्ष्म है, थोड़े-से दोष से बालकमल की तरह विराधित—खण्डित हो जाते हैं।

५. चूर्णि में इसके बदले पाठान्तर है—'**दिव्वं आयं ण सद्दहे**' अर्थात् दिव्य लाभ पर विश्वास न करे।

६. चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—अहवा नूमंति दव्वमुच्चति, विविहं धूमिता विधूमिता विमोक्खिया। अर्थात्—नूम द्रव्य को भी कहते हैं। उस द्रव्य को विविध प्रकार से धूमित—विमोक्षित—पृथक् करके माहन (साधु) भलीभाँति समझ ले।

२४७. यह प्रायोपगमन अनशन भक्तप्रत्याख्यान से और इंगितमरण से भी विशिष्टतर है और विशिष्ट यतना से पार करने योग्य है। जो साधु इस विधि से (इसका) अनुपालन करता है, वह सारा शरीर अकड़ जाने पर भी अपने स्थान से चलित नहीं होता ।।३४।।

२४८. यह (प्रायोपगमन अनशन) उत्तम धर्म है। यह पूर्व स्थानद्वय—भक्त प्रत्याख्यान और इंगितमरण से प्रकृष्टतर ग्रह (नियन्त्रण) वाला है। प्रायोपगमन अनशन साधक (माहन-भिक्षु) जीव-जन्तुरहित स्थण्डिलस्थान का सम्यक् निरीक्षण करके वहाँ अचेतनवत् स्थिर होकर रहे ।।३५।।

२४९. अचित्त (फलक, स्तम्भ आदि) को प्राप्त करके वहाँ अपने आपको स्थापित कर दे। शरीर का सब प्रकार से व्युत्सर्ग कर दे। परीषह उपस्थित होने पर ऐसी भावना करे—"यह शरीर ही मेरा नहीं है, तब परीषह (—जनित दुःख मुझे कैसे होंगे) ? ।।३६।।

२५०. जब तक जीवन (प्राणधारण) है, तब तक ही ये परीषह और उपसर्ग (सहने) हैं, यह जानकर संवृत्त (शरीर को निश्चेष्ट बनाकर रखने वाला) शरीर भेद के लिए (ही समुद्यत) प्राज्ञ (उचित-विधिवेत्ता) भिक्षु उन्हें (समभाव से) सहन करे ।।३७।।

२५१. शब्द आदि सभी काम विनाशशील हैं; वे प्रचुरतर मात्रा में हों तो भी भिक्षु उनमें रक्त न हो। ध्रुव वर्ण (शाश्वत मोक्ष या निश्चल संयम के स्वरूप) का सम्यक् विचार करके भिक्षु इच्छालोलुपता का भी सेवन न करे ।।३८।।

२५२. शासकों द्वारा अथवा आयुपर्यन्त शाश्वत रहने वाले वैभवों या कामभोगों के लिए कोई भिक्षु को निमन्त्रित करे तो वह उसे (मायाजाल) समझे। (इसी प्रकाह) दैवी माया पर भी श्रद्धा न करे। वह माहन साधु उस समस्त माया को भलीभाँति जानकर उसका परित्याग करे ।।३९।।

२५३. दैवी और मानुषी—सभी प्रकार के विषयों में अनासक्त और मृत्युकाल का पारगामी वह मुनि तितिक्षा को सर्वश्रेष्ठ जानकर हितकर विमोक्ष(भक्त-प्रत्याख्यान, इंगतिमरण, प्रायोपगमन रूप त्रिविध विमोक्ष में से) किसी एक विमोक्ष का आश्रय ले ।।४०।। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रायोपगमन रूप : स्वरूप। विधि, सावधानी और उपलब्धि—सू० २४७ से २५३ तक प्रायोपगमन अनशन का निरूपण किया गया है। प्रायोपगमन या पादपोपगमन अनशन का लक्षण सातवें उद्देशक के विवेचन में बता चुके हैं।[1]

भगवतीसूत्र में पादपोपगमन के स्वरूप के सम्बन्ध में जब पूछा गया तो उसके उत्तर

१. (क) देखिए अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ५ पृ० ८१९-८२०।
(ख) देखे, सूत्र २२८ का विवेचन पृ० २८८ पर

में भगवान् महावीर ने बताया कि 'पादपोपगमन दो प्रकार का है—निर्हारिम और अनिर्हारिम —यह अनशन यदि ग्रामआदि (वस्ती) के अन्दर किया जाता है तो निर्हारिम होता है।[1] अर्थात् प्राणत्याग के पश्चात् शरीर का दाहसंस्कार किया जाता है और यदि वस्ती से बाहर जंगल में किया जाता है तो अनिर्हारिम होता है—दाह संस्कार नहीं किया जाता। नियमतः यह अनशन अप्रतिकर्म है। इसका तात्पर्य यह है कि पादपोपगमन अनशन में साधक पादप—वृक्ष की तरह निश्चल-निःस्पन्द रहता है। वृत्तिकार ने बताया है—पादपोपगमन अनशन का साधक ऊर्ध्वस्थान से बैठता है; पार्श्व से नहीं, अन्य स्थान से भी नहीं। वह जिस स्थान से बैठता या लेटता है, उसी स्थान में वह जीवन-पर्यन्त स्थिर रहता है, स्वतः वह अन्य स्थान में नहीं जाता। इसीलिए कहा गया है—'**सव्वगायनिरोहेऽवि ठाणातो न वि उब्भमे।**'—

प्रायोपगमन में ७ बातें विशेष रूप से आचरणीय होती है—(१) निर्धारित स्थान से स्वयं चलित न होना, (२) शरीर का सर्वथा व्युत्सर्ग, (३) परीषहों और उपसर्गो से जरा भी विचलित न होना, अनुकूल-प्रतिकूल को समभाव से सहना, (४) इहलोक-परलोक सम्बन्धी काम-भोगों में जरा-सी भी आसक्ति न रखना, (५) सांसारिक वासनाओं और लोलुपताओं को न अपनाना, (६) शासकों या दिव्य भोगों के स्वामियों द्वारा भोगों के लिए आमन्त्रित किए जाने पर भी ललचाना नहीं, (७) सब पदार्थों से अनासक्त होकर रहना।[2]

दिगम्बर परम्परा में प्रायोपगमन के बदले **प्रायोग्यगमन** एवं पादपोपगमन के स्थान पर **पादोपगमन** शब्द मिलते हैं। भव का अन्त करने के योग्य संहनन और संस्थान को प्रायोग्य कहते हैं। प्रायोग्य की प्राप्ति होना—प्रायोग्यगमन है। पैरों से चलकर योग्य स्थान में जाकर जो मरण स्वीकारा जाता है, उसे पादोपगमन कहते हैं। यह अनशन आत्म-परोपकार निरपेक्ष होता है। इसमें स्व-पर—दोनों के प्रयोग (सेवा-शुश्रूषा) का निषेध है। इस अनशन में—साधक मल-मूत्र का भी निराकरण न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है। कोई उस पर सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि फेंके या कूड़ाकर्कट फेंके, अथवा गंध पुष्पादि से पूजा करे या अभिषेक करे तो न वह रोष करता है, न प्रसन्न होता है, न ही उनका निराकरण करता है; क्योंकि वह इस अनशन में स्व-पर प्रतीकार से रहित होता है।[3]

---

१. भगवती सूत्र शतक २५ उ० ७ का मूल एवं टीका देखिए—
'से किं तं पाओवगमणे ?'
'पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—णीहारिमे या अणीहारिमे य णियमा अपडिक्कमे। से तं पाओवगमणे।'

२. आचारांग मूल एवं वृत्ति पत्रांक २९४, २९५।

३. (क) भगवती आराधना वि० २९।११३।६।
(ख) धवला १।१।२३।४।
(ग) **सो सल्लेहियदेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि।**
उच्चारादि वि किंचणमवि णत्थि पवोगदो तम्हा ॥२०६५॥

'**अयं चाततरे**'—का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—यह आयतर है—यानी ग्रहण करने में दृढ़तर है। इसीलिए कहा है '**अयं से उत्तमे धम्मे।**' अर्थात्—यह सर्वप्रधान मरण विशेष है।[1]

न मे देहे परीसहा—इस पंक्ति से आत्मा और शरीर की भिन्नता का बोध सूचित किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि परीषह और उपसर्ग तभी तक हैं, जब तक जीवन है। अनशन साधक जब स्वयं ही शरीर-भेद के लिए उद्यत है, तब वह इन परीषह—उपसर्गों से क्यों घबराएगा? वह तो इन्हें शरीर-भेद में सहायक या मित्र मानेगा।[2]

'**धुववण्णं सपेहिया**'—शास्त्रकार ने इस पंक्ति से यह ध्वनित कर दिया है कि प्रायोपगमन अनशन साधक की दृष्टि जब एकमात्र ध्रुववर्ण–मोक्ष या शुद्ध संयम की ओर रहेगी तो वह मोक्ष में विघ्नकारक या संयम को अशुद्ध—दोषयुक्त बनाने वाले विनश्वर काम-भोगों में, चक्रवर्ती—इन्द्र आदि पदों या दिव्य सुखों के निदानों में क्यों लुब्ध होगा? वह इन समस्त सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति अनासक्त एवं सर्वथा मोहमुक्त रहेगा। इसी में उसके प्रायोपगमन अनशन की विशेषता है। इसीलिए कहा है—

'**दिव्वमायं ण सद्दहे**'—दिव्य माया पर विश्वास न करे, सिर्फ मोक्ष में उसका विश्वास होना चाहिए। जब उसकी दृष्टि एकमात्र मोक्ष की ओर है तो उसे मोक्ष के विरोधी संसार की ओर से अपनी दृष्टि सर्वथा हटा लेनी चाहिए।[3]

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

॥ अष्टम विमोक्ष अध्ययन सम्पूर्ण ॥

पुढवी आऊ तेऊवणप्फदित तेसु जद्दि वि साहरिदो।
वोसट्ठचत्तदेहो अधायुगं पालए तत्थ ॥२०६६॥
मज्जणयगंध पुप्फोवयार पडिचारणे किरंत।
वोसट्ठ चत्तदेहो अधायुगं पालए तधवि ॥२०६७॥
वोसट्ठचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं।
जावज्जीवं तु सयं तहिं, तमंगं ण चालेज्ज ॥२०६८॥ —भगवती आ० मूल

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २९५।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २९५।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २९५।

'उपधान-श्रुत' नवम अध्ययन

प्राथमिक

✫ आचारांग सूत्र के नवम अध्ययन का नाम 'उपधान श्रुत' है।

✫ उपधान का सामान्य अर्थ होता है—शय्या आदि पर सुख से सोने के लिए सिर के नीचे (पास में) सहारे के लिए रखा जाने वाला साधन–तकिया। परन्तु यह द्रव्य-उपधान है।

✫ भाव-उपधान ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है, जिनसे चारित्र परिणत भाव को सुरक्षित रखने के लिए सहारा मिलता है। इनसे साधक को अनन्तसुख-शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए ये ही साधक के शाश्वत सुखदायक उपधान हैं।[1]

✫ उपधान का अर्थ उपधूनन भी किया जा सकता है। जैसे मलिन वस्त्र जल आदि द्रव्यों से धोकर शुद्ध किया जाता है, वहाँ जल आदि द्रव्य द्रव्य-उपधान होते हैं, वैसे ही आत्मा पर लगे हुए कर्म मैल बाह्य-आभ्यन्तर तप से धुल जाते—नष्ट हो जाते हैं। आत्मा शुद्ध हो जाती है। अतः कर्म मलिनता को दूर करने के लिए यहाँ भाव-उपधान का अर्थ 'तप' है।[2]

✫ उपधान के साथ श्रुत शब्द जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ होता है—सुना हुआ। इसलिए 'उपधान-श्रुत' अध्ययन का विशेष अर्थ हुआ—जिसमें दीर्घतपस्वी भगवान महावीर के तपोनिष्ठ ज्ञान, दर्शन, चारित्र-साधनारूप उपधानमय जीवन का उनके श्रीमुख से सुना हुआ वर्णन हो।[3]

✫ इसमें भगवान महावीर की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की मुख्य जीवन-घटनाओं का उल्लेख है। भगवान ने यों साधना की, वीतराग हुए, धर्मोपदेश (देशना) दिया, और अन्त में 'अभिणिव्वुडे' अर्थात् निर्वाण प्राप्त किया।[4] इन्हें पढ़ते समय ऐसा लगता है कि आर्य सुधर्मा ने भगवान महावीर के साधना-काल की प्रत्यक्ष-दृष्ट विवरणी (रिपोर्ट या डायरी) प्रस्तुत की है।

---

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० २८२, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २९७।

२. (क) जह खलु मइलं वत्थं सुज्झइ उवगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्मट्ठविहं— —आचा० निर्युक्ति गा० २८३
(ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २९७।

३. आचारांग निर्युक्ति गा० २७६, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २९६।

४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १०८।

- इस अध्ययन के चार उद्देशक है, चारों में भगवान के तपोनिष्ठ जीवन की झलक है।
- प्रथम उद्देशक में भगवान की चर्या का, द्वितीय उद्देशक में उनकी शय्या (आसेवितस्थान और आसन) का, तृतीय उद्देशक में भगवान द्वारा सहे गये परीषह-उपसर्गों का और चतुर्थ उद्देशक में क्षुधा आदि से आतंकित होने पर उनकी चिकित्सा का वर्णन है।[1]
- **अध्ययन का उद्देश्य**—पूर्वोक्त आठ अध्ययनों में प्रतिपादित साध्वाचार विषयक साधना कोरी कल्पना ही नहीं है, इसके प्रत्येक अंग को भगवान ने अपने जीवन में आचरित किया था, ऐसा दृढ़ विश्वास प्रत्येक साधक के हृदय में जाग्रत हो और वह अपनी साधना निःशंक व निश्चलभाव के साथ संपन्न कर सके, यह प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।[2]
- इस अध्ययन में सूत्र संख्या २५४ से प्रारम्भ होकर ३२३ पर समाप्त होती है। इसी के साथ प्रथम श्रुतस्कंध भी पूर्ण हो जाता है।

---

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० २७६, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६६।
२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० २७६, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६६।

'उवहाणसुयं' नवमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

उपधान-श्रुत : नवम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

भगवान महावरी की विहारचर्या

२५४. अहासुतं वदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाय ।
संखाए तंसि हेमंते अहुणा पव्वइए रीइत्था ॥ ४१ ॥

२५५. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते ।
से पारए आवकहाए एतं खु अणुधम्मियं तस्स ॥ ४२ ॥

२५६. चत्तारि साहिए मासे बहवे पाणजाइया[1] आगम्म ।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु आरुसियाणं तत्थ हिंसिसु ॥ ४३ ॥

२५७. संवच्छरं साहियं मासं जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।
अचेलए ततो चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे ॥ ४४ ॥

२५४. (आर्य सुधर्मा स्वामी ने कहा—जम्बू !) श्रमण भगवान् ने दीक्षा लेकर जैसे विहारचर्या की, उस विषय में जैसा मैंने सुना है, वैसा मैं तुम्हें बताऊँगा । भगवान ने दीक्षा का अवसर जानकर (घर से अभिनिष्क्रमण किया) । वे उस हेमन्त ऋतु में (मार्गशीर्ष कृष्णा १० को) प्रव्रजित हुए और तत्काल (क्षत्रियकुण्ड से) विहार कर गए ॥४१॥

२५५. (दीक्षा के समय कंधे पर डाले हुए देवदूष्य वस्त्र को वे निर्लिप्त भाव से रखे हुए थे, उसी को लेकर संकल्प किया—) "मैं हेमन्त ऋतु में इस वस्त्र से शरीर को नहीं ढकूँगा ।" वे इस प्रतिज्ञा का जीवनपर्यन्त पालन करने वाले और (अत:) संसार या परीषहों के पारगामी बन गए थे । यह उनकी अनुधर्मिता ही थी ।

२५६. (अभिनिष्क्रमण के समय भगवान के शरीर और वस्त्र पर लिप्त दिव्य सुगन्धिद्रव्य से आकर्षित होकर) भौंरे आदि बहुत-से प्राणिगण आकर उनके शरीर पर चढ़ जाते और (रसपान के लिए) मँडराते रहते । (रस प्राप्त न होने पर)

---

१ 'पाणजाइया आगम्म' के बदले 'पाणजातीया आगम्म' एवं 'पाणजाति आगम्म' पाठ मिलता है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ यों किया है—'भमरा मधुकराय पाणजातीया बहवो आगमिति ······पाणजातीओ आरुज्झ कायं विहरंति ।" अर्थात्—भौंरे या मधुमक्खियाँ आदि बहुत-से प्राणि समूह आते थे, वे प्राणि समूह उनके शरीर पर चढ़कर स्वच्छन्द विचरण करते थे ।

वे रुष्ट होकर (रक्त-मांस के लिए उनका शरीर) नोंचने लगते। यह क्रम चार मास से अधिक समय तक चलता रहा ।।४३।।

२५७. भगवान ने तेरह महीनों तक (दीक्षा के समय कंधे पर रखे) वस्त्र का त्याग नहीं किया। फिर अनगार और त्यागी भगवान् महावीर उस वस्त्र का परित्याग करके अचेलक हो गए ।।४४।।

विवेचन—दीक्षा से लेकर वस्त्र-परित्याग तक की चर्या—पिछले चार सूत्रों में भगवान् महावीर की दीक्षा, कब, कैसे हुयी ? वस्त्र के सम्बन्ध में क्या प्रतिज्ञा ली ? क्यों और कब तक उसे धारण करते रहे, कब छोड़ा ? उनके सुगन्धित तन पर सुगन्ध-लोलुप प्राणी कैसे उन्हें सताते थे ? आदि चर्या का वर्णन है।

'उट्ठाए' का तात्पर्य पूर्वोक्त तीन प्रकार के उत्थानों में से मुनि दीक्षा के लिए उद्यत होना है। वृत्तिकार इसकी व्याख्या करते हैं—समस्त आभूषणों को छोड़कर, पंचमुष्टिक लोच करके, इन्द्र द्वारा कन्धे पर डाले हुए एक देवदूष्य वस्त्र से युक्त, सामायिक की प्रतिज्ञा लिए हुए मनःपर्यायज्ञान को प्राप्त भगवान् अष्टकर्मों का क्षय करने हेतु तीर्थ-प्रवर्तनार्थ दीक्षा के लिए उद्यत होकर……।[1]

तत्काल विहार क्यों ?—भगवान दीक्षा लेते कुण्डग्राम (दीक्षास्थल) से दिन का एक मुहूर्त शेष था, तभी विहार करके कर्मारग्राम पहुंचे।[2] इस तत्काल विहार के पीछे रहस्य यह था कि अपने पूर्व परिचित सगे-सम्बन्धियों के साथ साधक के अधिक रहने से अनुराग एवं मोह जागृत होने की अधिक सम्भावना है। मोह; साधक को पतन की ओर ले जाता है। अतः भगवान् ने भविष्य में आने वाले साधकों के अनुसरणार्थ स्वयं आचरण करके बता दिया। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—**'अहुणा पव्वइए रीइत्था'**।[3]

भगवान् का अनुधार्मिक आचरण—सामायिक की प्रतिज्ञा लेते ही इन्द्र ने उनके कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र डाल दिया। भगवान् ने भी निःसंगता की दृष्टि से तथा दूसरे मुमुक्षु धर्मोपकरण के बिना संयमपालन नहीं कर सकेंगे, इस भावी अपेक्षा से मध्यस्थवृत्ति से उस वस्त्र को धारण कर लिया, उनके मन में उसके उपभोग की कोई इच्छा नहीं थी। इसीलिए उन्होंने प्रतिज्ञा की कि "मैं लज्जा निवारणार्थ या सर्दी से रक्षा के लिए वस्त्र से अपने शरीर को आच्छादित नहीं करूंगा।"

प्रश्न होता है कि जब वस्त्र का उन्हें कोई उपयोग ही नहीं करना था, तब उसे धारण ही क्यों किया ? इसी समाधान में कहा गया है—**'एतं खु अणुधम्मियं तस्स'**, उनका यह आचरण अनुधार्मिक था। वृत्तिकार ने इसका अर्थ यों किया है कि यह वस्त्र-धारण पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरित धर्म का अनुसरण मात्र था। अथवा अपने पीछे आने वाले साधु-साध्वियों के लिए अपने आचरण के अनुरूप मार्ग को स्पष्ट करने हेतु एक वस्त्र धारण किया।[4]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०१। २, आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग पृ० २६८।
३. आचारांग टीका (पू० आ० श्री आत्माराम जी महाराज कृत) पृ० ६४३।
आचा० शीला० टीका पत्रांक २६४।

इस स्पष्टीकरण को आगम का पाठ भी पुष्ट करता है, जैसे—मैं कहता हूँ, जो अरिहन्त भगवन्त अतीत हो चुके हैं, वर्तमान में हैं, और जो भविष्य में होंगे, उन्हें सोपधिक (धर्मोपकरणयुक्त) धर्म को बताना होता है, इस दृष्टि से तीर्थधर्म के लिए यह अनुधर्मिता है। इसीलिए तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए हैं, प्रव्रजित हैं, या प्रव्रजित होंगे।'[1]

एक आचार्य ने कहा भी है—

गरीयस्त्वात् सचेलस्य धर्मस्यान्यैस्तथागतैः।
शिष्यस्य प्रत्ययाच्चैव वस्त्रं दध्रे न लज्जया॥

—सचेलक धर्म की महत्ता होने से तथा शिष्यों को प्रतीति कराने हेतु ही अन्य तीर्थंकरों ने वस्त्र धारण किया था, लज्जादि निवारण हेतु नहीं।[2]

चूर्णिकार अनुधर्मिता शब्द के दो अर्थ करते हैं—(१) गतानुगतिकता और (२) अनुकाल धर्म। पहला अर्थ तो स्पष्ट है। दूसरे का अभिप्राय है—शिष्यों की रुचि, शक्ति, सहिष्णुता, देश, काल, पात्रता आदि देखकर तीर्थंकरों को भविष्य में वस्त्र-पात्रादि उपकरण सहित धर्माचरण का उपदेश देना होता है। इसी को अनुधर्मिता कहते हैं।[3]

पाली शब्द कोष में 'अनुधम्मता' शब्द मिलता है जिसका अर्थ होता है—धर्मसम्मतता, धर्म के अनुरूप।[4] इस दृष्टि से भी 'पूर्व तीर्थंकर आचरित धर्म के अनुरूप' अर्थ संगत होता है।

भगवान महावीर के द्वारा वस्त्र-त्याग—मूल पाठ में तो यहाँ इतनी-सी संक्षिप्त झांकी दी है कि १३ महीने तक उस वस्त्र को नहीं छोड़ा, बाद में उस वस्त्र को छोड़कर वे अचेलक हो गये। टीकाकार भी इससे अधिक कुछ नहीं कहते किन्तु पश्चाद्वर्ती महावीर-चरित्र के लेखक ने वस्त्र के सम्बन्ध में एक कथा कही है—ज्ञातखण्डवन से ज्यों ही महावीर आगे बढ़े कि दरिद्रता पीड़ित सोम नामका ब्राह्मण कातर स्वर में चरणों से लिपट कर याचना करने लगा। परम कारुणिक उदारचेता प्रभु ने उस देवदूष्य का एक पट उस ब्राह्मण के हाथ में थमा दिया। किन्तु रफूगर ने जब उसका आधा पट और ले आने पर पूर्ण शाल तैयार कर देने को कहा तो ब्राह्मण लालसावश पुनः भगवान महावीर के पीछे दौड़ा, लगातार १३ मास तक वह उनके पीछे-पीछे घूमता रहा। एक दिन वह वस्त्र किसी झाड़ी के कांटों में उलझकर स्वतः गिर पड़ा। महावीर आगे बढ़ गये, उन्होंने पीछे मुड़कर भी न देखा। वे वस्त्र का विसर्जन कर चुके थे। कहते हैं—ब्राह्मण उसी वस्त्र को झाड़ी से निकाल कर ले आया और रफू करा कर महाराज नन्दीवर्द्धन को उसने लाख दीनार में बेच दिया।[5]

---

१. 'से बेमि जे य अईया, जे य पडुपन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो जे य पव्वयंति जे अ पव्वइस्संति सव्वे ते सोवहीधम्मो देसिअव्वो त्ति कट्टु तित्थधम्मयाए एसा अणुधम्मिगत्ति एगं देवदूस मायाए पव्वइंसु वा पव्वयंति वा, पव्वइस्संति व त्ति।" —आचारांग टीका पत्रांक ३०१।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०१।
३. आचारांग चूर्णि।
४. पाली शब्दकोष।
५. इस घटना का वर्णन देखिये— (अ) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित १०/३
(ब) महावीर चरियं (गुणचन्द्र)

चूर्णिकार भी इसी बात का समर्थन करते हैं—भगवान ने उस वस्त्र को एक वर्ष तक यथारूप से धारण करके रखा, निकाला नहीं। अर्थात् तेरहवें महीने तक उनका कन्धा उस वस्त्र से रिक्त नहीं हुआ। अथवा उन्हें उस वस्त्र को शरीर से अलग नहीं करना था। क्योंकि सभी तीर्थंकर उस या अन्य वस्त्र सहित दीक्षा लेते हैं।...भगवान ने तो उस वस्त्र का भाव से परित्याग कर दिया था, किन्तु स्थितिकल्प के कारण वह कन्धे पर पड़ा रहा। स्वर्णबालुका नदी के प्रवाह में वह कर आये हुए कांटों में उलझा हुआ देख पुनः उन्होंने कहा—मैं वस्त्र का व्युत्सर्जन करता हूँ।[1] इस पाठ से ब्राह्मण को वस्त्रदान का संकेत नहीं मिलता है।

निष्कर्ष यह है कि भगवान पहले एक वस्त्रसहित दीक्षित हुए, फिर निर्वस्त्र हो गये, यह परम्परा के अनुसार किया गया था।

पाणजाइया—का अर्थ वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों 'भ्रमर आदि'[2] करते हैं।

आरुसियाणं—का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'अत्यन्त रुष्ट होकर'[3] जबकि वृत्तिकार अर्थ करते हैं—मांस व रक्त के लिए शरीर पर चढ़कर....

ध्यान-साधना

२५८. अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झाति।
अह चक्खुभीतसहिया ते हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥ ४५ ॥

२५९. सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थीओ तत्थ से परिण्णाय।
सागारियं[4] न से सेवे इति से सयं पवेसिया झाति ॥ ४६ ॥

२६०. जे केयिमे अगारत्था मीसीभावं पहाय से झाति।
पुट्ठो[5] वि णाभिभासिंसु गच्छति णाइवत्तती अंजू ॥४७॥

---

१. इसी सन्दर्भ में '**जं ण रिक्कासि**' का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—"**सो हि भगवं तं वत्थं संवच्छरमेगं अहाभावेण धरितवां, ण तु णिक्कासते, सहियं मासेण साहियं मासं, तं तस्स खंधं तेण वत्थेणं ण रिक्कं णासि। अहवा ण णिक्कासितवं तं वत्थं सरीराओ।—सव्वतित्थगराणं वा तेण अन्नेण वा साहिज्जइ, भगवता तु तं पव्वइयमित्तेण भावतो णिसट्ठं तहा वि सुवण्णवालुग नदीपूरअवहिते कंठए लग्गं दट्ठुं पुणो वि वुच्चइ वोसिरामि।**"—आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० ८९ (मुनि जम्बूविजयजी)

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०१।

३. आरुसियाणं का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**अच्चत्थं रुस्सित्ताणं आरुस्सित्ताणं।**

४. '**सागारियं ण से सेवे**' का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—"सागारियं णाम मेहुणं तं ण सेवति।"—अर्थात्—सागारिक यानी मैथुन का सेवन नहीं करते थे।

५. इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर है—"**पुट्ठे व से अपुट्ठे वा गच्छति णातिवत्तए अंजू।**" अर्थ इसप्रकार है—किसी के द्वारा पूछने या न पूछने पर भगवान् बोलते नहीं थे, वे अपने कार्य में ही प्रवृत्त रहते। उनके द्वारा (भला-बुरा) कहे जाने पर भी वे सरलात्मा मोक्षपथ या ध्यान का अतिक्रमण नहीं करते थे। नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर यों हैं—"**पुट्ठो व सो अपुट्ठो वा णो अणुजाणाति पावगं भगवं**'—अर्थात्—पूछने पर या न पूछने पर भगवान् किसी पाप कर्म की अनुज्ञा अथवा अनुमोदना नहीं करते थे।'

२६१. णो सुकरमेतमेगेसिं णाभिभासे अभिवादमाणे ।
हयपुव्वो तत्थ दंडेहिं लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहिं ॥४८॥
२६२. फरिसाइं दुत्तितिक्खाइं अतिअच्च मुणी परक्कमाणे ।
आघात-णट्ट-गीताइं दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ॥४९॥
२६३. गढिए[1] मिहोकहासु समयम्मि णातसुते विसोगे अदक्खु ।
एताइं से उरालाइं गच्छति णायपुत्ते असरणाए ॥५०॥
२६४. अवि[2] साधिए दुवे वासे सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते ।
एगत्तिगते[3] पिहितच्चे से अभिण्णायदंसणे संते ॥५१॥

२५८. भगवान एक-एक प्रहर तक तिरछी भीत पर आँखे गड़ा कर अन्तरात्मा में ध्यान करते थे । (लम्बे समय तक अपलक रखने से पुतलियाँ ऊपर को उठ जाती) अतः उनकी आँखें देखकर भयभीत बनी बच्चों की मण्डली 'मारो-मारो' कहकर चिल्लाती, बहुत से अन्य बच्चों को बुला लेती ॥४५॥

२५९. (किसी कारणवश) गृहस्थ और अन्यतीर्थिक साधु से संकुल स्थान में ठहरे हुए भगवान को देखकर, कामाकुल स्त्रियाँ वहाँ आकर प्रार्थना करती, किन्तु वे भोग को कर्मबन्ध का कारण जानकर सागारिक (मैथुन) सेवन नहीं करते थे । वे अपनी अन्तरात्मा में गहरे प्रवेश कर ध्यान में लीन रहते ॥४६॥

२६०. यदि कभी गृहस्थों से युक्त स्थान प्राप्त हो जाता तो भी वे उनमें घुलते-मिलते नहीं थे । वे उनके संसर्ग (मिश्रीभाव) का त्याग करके धर्मध्यान में मग्न रहते । वे किसी के पूछने (या न पूछने) पर भी नहीं बोलते थे । (कोई बाध्य करता तो) वे अन्यत्र चले जाते, किन्तु अपने ध्यान या मोक्षपथ का अतिक्रमण नहीं करते थे ॥४७॥

२६१. वे अभिवादन करने वालों को आशीर्वचन नहीं कहते थे, और उन

---

१ **"गढिए मिहोकहा समयम्मि गच्छति णातिवत्तए अदक्खु"** आदि पाठान्तर मान कर चूर्णिकार ने इस प्रकार अर्थ किया है—गढिते विधूतसमयं ति गढितं, यदुक्तं भवति बद्धं.....**'मिहो कहा समयो'** एवमादी **यो गच्छति णातिवत्तए'**=गतहरिसे-अरत्ते अदुट्ठे अणुलोमपडिलोमेसु विसोगे विगतहरिसे अदक्खु त्ति दट्ठुं ।" अर्थात्—परस्पर कामकथा आदि बातों में व्यर्थ समय को खोते देख कर अथवा उन बातों में परस्पर उलझे देखकर भगवान चल पड़ते, न तो वे हर्षित होते, न अनुरक्त और न ही द्वेष करते। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ देखकर वे हर्ष-शोक से रहित रहते थे ।

२ **'अवि साधिए दुवेवासे'** का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—"अह तेसिं तं अवत्थं णच्चा साधिते दुहे (वे) वासे"—(माता-पिता के स्वर्गवास के अनन्तर) उन (पारिवारिक जनों) का मन अस्वस्थ जान कर दो वर्ष से अधिक समय गृहवास में बिताया ।

३ **एगत्तिगते** का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया हैं—"एगत्तं एगत्ती, एगत्तिगतो णाम, 'ण मे कोति, णाहम वि कस्सति"—एकत्व को प्राप्त का नाम एकत्वीगत है, मेरा कोई नही है, न मैं किसी का हूँ' इस प्रकार की भावना का नाम एकत्वगत होता है ।

अनार्य देश आदि में डंडों से पीटने, फिर उनके बाल खींचने या अंग-भंग करने वाले अभागे अनार्य लोगों को वे शाप नहीं देते थे। भगवान की यह साधना अन्य साधकों के लिए सुगम नहीं थी ॥४८॥

२६२. (अनार्य पुरुषों द्वारा कहे हुए) अत्यन्त दुःसह्य, तीखे वचनों की परवाह न करते हुए मुनीन्द्र भगवान उन्हें सहन करने का पराक्रम करते थे। वे आख्यायिका नृत्य, गीत, दण्डयुद्ध और मुष्टियुद्ध आदि (कौतुकपूर्ण प्रवृत्तियों) में रस नहीं लेते थे ॥४९॥

२६३. किसी समय परस्पर कामोत्तेजक बातों या व्यर्थ की गप्पों में आसक्त लोगों को ज्ञातपुत्र भगवान महावीर हर्ष-शोक से रहित होकर (मध्यस्थभाव से) देखते थे। वे इन दुर्दमनीय (अनुकूल-प्रतिकूल परीषहोपसर्गों) को स्मरण न करते हुए विचरण करते थे ॥५०॥

२६४. (माता-पिता के स्वर्गवास के बाद) भगवान ने दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहवास में रहते हुए भी सचित्त (भोजन) और जल का उपभोग नहीं किया। परिवार के साथ रहते हुए भी वे एकत्वभावना से ओत-प्रोत रहते थे, उन्होंने क्रोध-ज्वाला को शान्त कर लिया था, वे सम्यग्ज्ञान-दर्शन को हस्तगत कर चुके थे और शान्तचित्त हो गये थे। (यों गृहवास में साधना करके) उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया ॥५१॥

विवेचन—ध्यान साधना और उसमें आने वाले विघ्नों का परिहार—सूत्र २५८ से २६४ तक भगवान महावीर की ध्यानसाधना का मुख्यरूप से वर्णन है। धर्म तथा शुक्लध्यान की साधना के समय तत्सम्बन्धित विघ्न-बाधाएँ भी कम नहीं थीं, उनका परिहार उन्होंने किस प्रकार किया और अपने ध्यान में मग्न रहे? इसका निरूपण भी इन गाथाओं में है।

'तिरियभित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झाति'—इस पंक्ति में **'तिर्यक्‌भित्ति'** का अर्थ विचारणीय है। भगवती सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि **'तिर्यक्‌भित्ति'** का अर्थ करते हैं—प्राकार, वरण्डिका आदि की भित्ति अथवा पर्वतखण्ड।[1] बौद्ध साधकों में भी भित्ति पर दृष्टि टिका कर ध्यान करने की पद्धति रही है। इसलिए तिर्यक्‌भित्ति का अर्थ **'तिरछी भीत'** ध्यान की परम्परा के उपयुक्त लगता है, किन्तु वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने इस सूत्र को ध्यानपरक न मान कर गमनपरक माना है। 'झाति' शब्द का अर्थ उन्होंने ईर्यासमितिपूर्वक गमन करना बताया है तथा 'पौरुषी वीथी' संस्कृत रूपान्तर मानकर अर्थ किया है—पीछे से पुरुष प्रमाण (आदमकद) लम्बी वीथी (गली) और आगे से बैलगाड़ी के धूसर की तरह फैली हुयी (विस्तीर्ण) जगह पर नेत्र जमा कर यानी दत्तावधान हो कर चलते थे[2]। ऐसा अर्थ करने में वृत्तिकार को बहुत खींचातानी करनी पड़ी है। इसलिए ध्यानपरक अर्थ ही अधिक सीधा और संगत प्रतीत होता है। जो ऊपर किया गया है।

---

१. भगवती सूत्र वृत्ति पत्र ६४३-६४४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०२।

ध्यान-साधना में विघ्न—पहला विघ्न—भगवान महावीर जव पहर-पहर तक तिर्यक्भित्ति पर दृष्टि जमाकर ध्यान करते थे, तव उनकी आँखों की पुतलियाँ ऊपर उठ जातीं, जिन्हें देख कर वालकों की मण्डली डर जाती और वहुत-से वच्चे मिलकर उन्हें 'मारो-मारो' कह कर चिल्लाते। वृत्तिकार ने 'हंता हंता वहवे कंदिसु' का अर्थ किया है—"वहुत-से वच्चे मिलकर भगवान को धूल से भरी मुट्ठियों से मार-मार कर चिल्लाते, दूसरे वच्चे हल्ला मचाते कि देखो, देखो इस नंगे मुण्डित को, यह कौन है? कहाँ से आया है? किसका सम्बन्धी है? आशय यह है कि वच्चों की टोली मिलकर इस प्रकार चिल्ला कर उनके ध्यान में विघ्न करती। पर महावीर अपने ध्यान में मग्न रहते थे। यह पहला विघ्न था।[1]

दूसरा विघ्न—भगवान् एकान्त स्थान न मिलने पर जव गृहस्थों और अन्यतीर्थिकों से संकुल स्थान में ठहरते तो उनके अद्भुत रूप-यौवन से आकृष्ट होकर कुछ कामातुर स्त्रियाँ आकर उनसे प्रार्थना करतीं, वे उनके ध्यान में अनेक प्रकार विघ्न डालतीं, मगर महावीर अब्रह्मचर्य-सेवन नहीं करते थे, वे अपनी अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर ध्यान लीन रहते थे।[2]

तीसरा विघ्न—भगवान को ध्यान के लिए एकान्त शान्त स्थान नहीं मिलता, तो वे गृहस्थ-संकुल स्थान में ठहरते, पर वहाँ उनसे कई लोग तरह-तरह की वातें पूछकर या न पूछकर भी हल्ला-गुल्ला मचाकर ध्यान में विघ्न डालते, मगर भगवान किसी से कुछ भी नहीं कहते। एकान्त क्षेत्र की सुविधा होती तो वे वहाँ से अन्यत्र चले जाते, अन्यथा मन को उन सब परिस्थितियों से हटाकर एकान्त वना लेते थे, किन्तु ध्यान का वे हर्गिज अतिक्रमण नही करते थे।[3]

चौथा विघ्न—भगवान् अभिवादन करने वालों को भी आशीर्वचन नहीं कहते थे, और पहले (चोरपल्ली आदि में) जब उन्हें कुछ अभागों ने डंडों से पीटा और उनके अंग भंग कर दिए या काट खाया, तव भी उन्होंने शाप नहीं दिया था। स-मौन अपने ध्यान में मग्न रहे। यह स्थिति अन्य सव साधकों के लिए बड़ी कठिन थी।[4]

पांचवां विघ्न—उनमें से कोई कठोर दुःसह्य वचनों से क्षुब्ध करने का प्रयत्न करता, तो कोई उन्हें आख्यायिका, नृत्य, संगीत, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध आदि कार्यक्रमों में भाग लेने को कहता, जैसे कि एक वीणावादक ने भगवान् को जाते हुए रोक कर कहा था—"देवार्य! ठहरो, मेरा वीणावादन सुन जाओ।"[5] भगवान् प्रतिकूल-अनुकूल—दोनों प्रकार की परिस्थिति को ध्यान में विघ्न समझकर उनसे विरत रहते थे। वे मौन रह कर अपने ध्यान में ही पराक्रम करते रहते।

छठा विघ्न—कहीं परस्पर कामकथा या गप्पें हाँकने में आसक्त लोगों को भगवान् हर्ष-शोक से मुक्त (तटस्थ) होकर देखते थे। उन अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग रूप विघ्नों को वे स्मृतिपट पर नहीं लाते थे, केवल आत्मध्यान में तल्लीन रहते थे।[6]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र ३०२।
२. आचा० शीला० टीका पत्र ३०२।
३. आचा० शीला० टीका पत्र ३०२।
४. (क) आचा० शीला० टीका पत्र ३०२। (ख) आचारांग चूर्णि, पृ० ३०३।
५. आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० ३४३।
६. आचा० शीला० टीका पत्र ३०३।

सातवाँ विघ्न—यह भी एक ध्यान विघ्न था बड़े भाई नंदीवर्द्धन के आग्रह से दो वर्ष तक गृहवास में रहने का। माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् २८ वर्षीय भगवान् ने प्रव्रज्या लेने की इच्छा प्रगट की, इस पर नंदीवर्द्धन आदि ने कहा—"कुमार! ऐसी बात कहकर हमारे घाव पर नमक मत छिड़को। माता-पिता के वियोग का दुःख ताजा है, उस पर तुम्हारे श्रमण बन जाने से हमें कितना दुःख होगा?"

भगवान् ने अवधिज्ञान में देखकर सोचा—"इस समय मेरे प्रव्रजित हो जाने से बहुत-से लोक शोक-संतप्त होकर विक्षिप्त हो जाएँगे, कुछ लोग प्राण त्याग देंगे।" अतः भगवान् ने पूछा—"आप ही बतलाएँ, मुझे यहाँ कितने समय तक रहना होगा?" उन्होंने कहा—"माता-पिता की मृत्यु का शोक दो वर्ष में दूर होगा। अतः दो वर्ष तक तुम्हारा घर में रहना आवश्यक है।"

भगवान् ने उन्हें इस शर्त के साथ स्वीकृति दे दी कि, "मैं भोजन आदि के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रहूँगा।" नन्दीवर्द्धन आदि ने इसे स्वीकार किया।[1] और सचमुच ध्यान-विघ्नकारक गृहवास में भी निर्लिप्त रहकर साधु-जीवन की साधना की।

एगत्तिगते—एकत्व भावना से भगवान् का अन्तःकरण भावित हो गया था। तात्पर्य यह है कि "मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ।" इस प्रकार की एकत्व भावना से वे ओत-प्रोत हो गए थे। वृत्तिकार और चूर्णिकार को यही व्याख्या अभीष्ट है।[2]

पिहितच्चे'—शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किए हैं—अर्चा का अर्थ आस्रव करके इसका एक अर्थ किया है—जिसके आस्रव द्वार बन्द हो गए हैं। (२) अथवा जिसकी अप्रशस्तभाव रूप अर्चियाँ अर्थात्—राग-द्वेष रूप अग्नि की ज्वालाएँ शान्त हो गयी हैं, वह भी पिहिताच्चें है। वृत्तिकार ने इससे भिन्न दो अर्थ किए हैं—(१) जिसने अर्चा—क्रोध ज्वाला स्थगित कर दी हैं, वह पिहिताच्चें है, अथवा (२) अर्चा यानी तनु (शरीर) को जिसने पिहित-संगोपित कर लिया है, वह भी पिहिताच्चें है।[3]

अहिंसा-विवेकयुक्त चर्या

२६५. पुढविं च आउकायं च तेउकायं च वायुकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सव्वसो णच्चा ॥५२॥

२६६. एताइं संति पडिलेहे चित्तमंताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जियाण विहरित्था इति संखाए से महावीरे ॥५३॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र ३०३।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्र ३०३। (ख) आचारांग चूर्णि—आचा० मूलपाठ टिप्पण पृ० ९१।

३. (क) पिहितच्चा के अर्थ चूर्णिकार ने यों किए हैं—**पिहिताओ अच्चाओ- जस्स भवति पिहितासवो, अच्चा पुव्वभणिता····भावच्चातो वि अप्पसत्थाओ पिहिताओ रागदोसाणिलजाला पिहिता।'**
—आचारांग चूर्णि-आचा० मूलपाठ टिप्पण पृ ९१।

(ख) आचा० शीला० टीका पत्र ३०३।

२६७. अदु थावरा य तसत्ताए तसजीवा य थावरत्ताए।
अदुवा[1] सव्वजोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥५४॥

२६८. भगवं[2] च एवमण्णेसि सोवधिए हु लुप्पती बाले।
कम्मं च सव्वसो णच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ॥५५॥

२६९. दुविहं[3] समेच्च मेहावी किरियमक्खायमणेलिसिं णाणी।
आयाणसोतमतिवातसोतं जोगं च सव्वसो णच्चा ॥५६॥

२७०. अतिवत्तियं[4] अणाउट्टिं सयमण्णेसिं अकरणयाए।
जस्सित्थीओ परिण्णाता सव्वकम्मावहाओ सेऽदक्खू ॥५७॥

२७१. अहाकडं ण से सेवे सव्वसो[5] कम्मुणा य अदक्खू।
जं किंचि पावगं भगवं तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ॥५८॥

२७२. णासेवइय परवत्थं परपाए वि से ण भुंजित्था।
परिवज्जियाण ओमाणं गच्छति संखडिं असरणाए ॥५९॥

२७३. मातण्णे असणपाणस्स णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे।
अच्छिं पि णो पमज्जिया णो वि य कंडुयए मुणी गातं ॥६०॥

२७४. अप्पं[6] तिरियं पेहाए अप्पं पिट्ठओ उप्पेहाए।
अप्पं[7] बुइए पडिभाणी पंथपेही चरे जतमाणे ॥६१॥

---

१ 'अदु (वा) सव्वजोणिया सत्ता' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'अदुति अधसद्दा अवब्भंसो सुहदुह-उच्चारणत्ता।'—'अदु' शब्द 'अधसद्दा' या 'अदुहा' का अपभ्रंश है, इसका अर्थ होता है—जो अपने सुख-दुःख का उच्चारण कर (कह) नहीं सकते, ऐसे अर्द्ध शब्द सर्वयौनिक प्राणी।

२ **भगवं च एवमण्णेसिं**—का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—च पूरणे, एवमवधारणे, एवं अन्निसित्ता जं भणितं भवति अणुचिंतेत्ता।'—इस प्रकार भगवान को अनिश्चित-अज्ञानी जो कुछ वचन बोलते थे, उस पर वे अनुचिन्तन करते। यानी सिद्धान्तानुसार चिन्तन करते थे।

३ इसका अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—"**दुविहं कीरतीति कम्मं···सव्वतित्थगरक्खाय अन्ने-लिसं—असरिसं···किरियं च।**"—दो प्रकार के कर्म···जो कि समस्त तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित थे (उन्हें जानकर) असदृश-अनुपम क्रिया का प्रतिपादन किया।'

४ **अतिवत्तियं** के बदले किसी-किसी प्रति में "**अतिवाइमं**' '**अतिवातिय**' पाठ मिलते हैं, इन दोनों का अर्थ है—पातक (पाप) से अतिक्रान्त—निर्दोष (निष्पाप)। **अतिवत्तियं** का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—**अतिवत्तिय अणाउट्टिं अतिवादिज्जति जेण सो अतिवादो हिंसादि,** आउंटणं करणं तं अतिवातं णाउट्टति—जिससे अतिपाद किया जाता है, वह अतिपाद-हिंसादि है। आकुट्टण करना अतिपात है—हिंसा है इसलिए अनाकुट्टि अहिंसा-अनतिपात का नाम है।

५ '**सव्वसो कम्मुणा य अदक्खू**' से लेकर '**जं किं चि पावगं**' तक एक पंक्ति में पाठान्तर चूर्णिसम्मत यों है—**कम्मुणा य अदक्खू जं किंचि अपावगं**' अर्थात्—जो कुछ पापरहित है, उसे कर्म से देख लिया था।

६ '**अप्पं**' आदि पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—"अप्पमिति अभावे, ण गच्छंतो तिरियं पेहितवां, ण वा पिट्ठतो पच्चवलोगितवां।'—अप्पं यहाँ अभाव अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात्—भगवान् चलते समय न तिरछा (दांए-बांए) देखते थे, और न पीछे देखते थे।

२७५. सिसिरंसि अद्धपडिवण्णे तं वोसज्ज वत्थमणगारे।
पसारेत्तु[1] बाहुं परक्कमे णो अवलंबियाण कंधंसि ॥६२॥

२७६. एस विधी अणुक्कंतो[2] माहणेण मतीमता।
बहुसो[3] अपडिण्णेण भगवया एवं रीयंति ॥६३॥ त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

२६५. पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, निगोद-शैवाल आदि, बीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एवं त्रसकाय—इन्हें सब प्रकार से जानकर ॥५२॥

२६६. 'ये अस्तित्ववान् हैं', यह देखकर 'ये चेतनावान् हैं' यह जानकर, उनके स्वरूप को भलीभाँति अवगत करके वे भगवान् महावीर उनके आरम्भ का परित्याग करके विहार करते थे ॥५३॥

२६७. स्थावर (पृथ्वीकाय आदि) जीव त्रस (द्वीन्द्रियादि) के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं और त्रस जीव स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों से पृथक्-

---

७. **'अप्पं वुतिए पडिभाणी'** इस प्रकार का पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—**'पुच्छिते अप्पं पडिभणति, अभावे दट्ठव्वो अप्पसद्दो, मोणेण अच्छति'**—पूछने पर अल्प—नहीं बोलते थे, यहाँ भी अप्पशब्द अभाव अर्थ में समझना चाहिए। यानी भगवान मौन हो जाते थे।

१. इसके बदले **'पसारेतु बाहुं पक्कम्म'** पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—"बाहं (हं) पसारिय कमति, णो अविलंबिताण कंठंसि, बाहूहि कंठोवलंब्रितेहिं हिययस्स उब्भा भवति, तेण संभिज्जइ सरीरं, स तु भगवं सतुसारेवि सीते जहापणिहिते बाहूहि परिक्कमितवां, ण कंठे अवलंबितवां। अर्थात्—भगवान बाहें (नीचे) पसारः कर चलते थे, कंठ में लटका कर नहीं, भुजाओं को कंठ में लटकाने से छाती का उभार हो जाता है, जिससे शरीर एकदम सट जाता है, किन्तु भगवान शीतऋतु में हिमपात होने पर भी स्वाभाविक रूप से बाँहों को नीचे फैलाए हुए चलते थे, कंठ का सहारा लेकर नहीं।

२. इसके बदले पाठान्तर हैं—**'अणोकंतो'**, **'अण्णोक्कंतो'**, **'यऽणोकंतो'**। चूर्णिकार ने **अण्णोणोक्कंतो** और **अणुक्कंतो'** ये दो पाठ मानकर अर्थ क्रमशः यों किया है—**'चरियाहिगारपडिसमाणणत्थि (त्थं) इमं भण्णति-एस विही अण्णो (णो) क्कंतो···अणु पच्छाभावे, जहा अण्णेहिं तित्थगरेहिं कतो, तहा तेणावि, अतो अणुक्कंतो।'** यह विधि अन्याऽनक्रान्त है—यानी दूसरे तीर्थंकरों के मार्ग का अतिक्रमण नहीं किया। चरिताधिकार प्रति सम्माननार्थ यह कहा गया है—एसविधी।—यह विधि अनुक्रान्त है। अनुपश्चाद् भाव अर्थ में है। जैसे अन्य तीर्थंकरों ने किया, वैसे ही उन्होंने भी किया, इसलिए कहा—अणुक्कंतो।

३. चूर्णि में पाठान्तर है—**अपडिण्णेण वीरेण कासेवण महेसिणा।** अर्थात्—अप्रतिज्ञ काश्यपगोत्रीय महर्षि महावीर ने···।
बहुसो अपडिण्णेण····रीयं (य) ति' का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—'बहुसो इति अणेगसो पडिण्णो भणितो, भगवता रीयमाणेण रीयता एवं बेमि जहा मया सुतं।'—बहुसो का अर्थ है—अनेक बार, अपडिण्णो का अर्थ कहा जा चुका है। भगवान ने (इस चर्या के अनुसार) चलकर···। चूर्णिकार को **रीयंति** के बदले **'रीयता'** पाठ सम्मत मालूम होता है।

पृथक् रूप से संसार में स्थित हैं या अज्ञानी जीव अपने कर्मों के कारण पृथक्-पृथक् रूप रचते हैं ॥५४॥

२६८. भगवान् ने यह भलीभाँति जान-मान लिया था कि द्रव्य-भाव-उपधि (परिग्रह) से युक्त अज्ञानी जीव अवश्य ही (कर्म से) क्लेश का अनुभव करता है। अतः कर्मबन्धन को सर्वांग रूप से जानकर भगवान् ने कर्म के उपादान रूप पाप का प्रत्याख्यान (परित्याग) कर दिया था ॥५५॥

२६९. ज्ञानी और मेधावी भगवान् ने दो प्रकार के कर्मों (ईर्याप्रत्यय और साम्परायिक कर्म) को भलीभांति जानकर तथा आदान (दुष्प्रयुक्त इन्द्रियों के) स्रोत, अतिपात (हिंसा, मृषावाद आदि के) स्रोत और योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) को सब प्रकार से समझकर दूसरों से विलक्षण (निर्दोष) क्रिया का प्रतिपादन किया है ॥५६॥

२७०. भगवान् ने स्वयं पाप-दोष से रहित—निर्दोष अनाकुट्टि (अहिंसा) का आश्रय लेकर दूसरों को भी हिंसा न करने की (प्रेरणा दी)। जिन्हें स्त्रियाँ (स्त्री सम्बन्धी काम-भोग के कटु परिणाम) परिज्ञात हैं, उन भगवान् महावीर ने देख लिया था कि 'ये काम-भोग समस्त पाप-कर्मों के उपादान कारण हैं', (ऐसा जानकर भगवान् ने स्त्री-संसर्ग का परित्याग कर दिया) ॥५७॥

२७१. भगवान् ने देखा कि आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार ग्रहण सब तरह से कर्मबन्ध का कारण है, इसलिए उन्होंने आधाकर्मादि दोष युक्त आहार का सेवन नहीं किया। भगवान उस आहार से सम्बन्धित कोई भी पाप नहीं करते थे। वे प्रासुक आहार ग्रहण करते थे ॥५८॥

२७२. (भगवान् स्वयं वस्त्र व पात्र नहीं रखते थे इसलिए) दूसरे (गृहस्थ या साधु) के वस्त्र का सेवन नहीं करते थे, दूसरे के पात्र में भी भोजन नहीं करते थे। वे अपमान की परवाह न करके किसी की शरण लिए बिना (अदीनमनस्क होकर) पाकशाला (भोजनगृहों) में भिक्षा के लिए जाते थे ॥५९॥

२७३. भगवान् अशन-पान की मात्रा को जानते थे, वे रसों में आसक्त नहीं थे, वे (भोजन-सम्बन्धी) प्रतिज्ञा भी नहीं करते थे, मुनीन्द्र महावीर आँख में रजकण आदि पड़ जाने पर भी उसका प्रमार्जन नहीं करते थे, और न शरीर को खुज-लाते थे ॥६०॥

भगवान चलते हुए न तिरछे (दाए-बाँए) देखते थे, और न पीछे-पीछे देखते थे, वे मौन चलते थे, किसी के पूछने पर बोलते नहीं थे। वे यतनापूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे ॥६१॥

२७५. भगवान उस (एक) वस्त्र का भी—(मन से) व्युत्सर्ग कर चुके थे। अतः शिशिर ऋतु में वे दोनों बाँहें फैलाकर चलते थे, उन्हें कन्धों पर रखकर खड़े नहीं होते थे ॥६२॥

२७६. ज्ञानवान् महामाहन भगवान महावीर ने इस (पूर्वोक्त क्रिया—) विधि के अनुरूप आचरण किया। अनेक प्रकार से (स्वयं आचरित क्रियाविधि) का उपदेश दिया। अतः मुमुक्षुजन कर्मक्षयार्थ इसका अनुगमन करते हैं ॥६३॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अहिंसा का विवेक—सूत्र २६५ से २७६ तक भगवान की अहिंसा युक्त विवेक चर्या का वर्णन है।

पुनर्जन्म और सभी योनियों में जन्म का सिद्धान्त—पाश्चात्य एवं विदेशी धर्म पुनर्जन्म को मानने से इन्कार करते हैं, चार्वाक आदि नास्तिक तों कतई नहीं मानते, न वे शरीर में आत्मा नाम का कोई तत्त्व मानते हैं, न ही जीव का अस्तित्व वर्तमान जन्म के वाद मानते हैं। परन्तु पूर्वजन्म की घटनाओं को प्रगट कर देने वाले कई व्यक्तियों से प्रत्यक्ष मिलने और उनका अध्ययन करने से परामनोवैज्ञानिक भी इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पुनर्जन्म है, पूर्वजन्म है, चैतन्य इसी जन्म के साथ समाप्त नहीं होता।

भगवान महावीर के समय में यह लोक-मान्यता प्रचलित थी कि स्त्री मरकर स्त्री योनि में ही जन्म लेती है, पुरुष मरकर पुरुष ही होता है। तथा जो जिस योनि में वर्तमान में है, वह अगले जन्म में उसी योनि में उत्पन्न होगा। पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीव पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव ही बनेंगे, त्रसकायिक किसी अन्य योनि में उत्पन्न नहीं होंगे, त्रसयोनि में ही उत्पन्न होंगे। भगवान् ने इस धारणा का खण्डन किया और युक्ति, सूक्ति एवं अनुभूति से यह निश्चित रूप से जानकर प्रतिपादन किया कि अपने-अपने कर्मोदयवश जीव एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता है, त्रस, स्थावर रूप में जन्म ले सकता है और स्थावर, त्रस रूप में।[1]

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी द्वारा यह पूछे जाने पर कि "भगवन्! यह जीव पृथ्वीकाय के रूप से लेकर त्रसकाय के रूप तक में पहले भी उत्पन्न हुआ है?"

उत्तर में कहा है—"अवश्य, बार-बार ही नहीं, अनन्त बार सभी योनियों में जन्म ले चुका है।"[2] इसीलिए कहा गया—"**अदु थावरा·······अदुवा सव्वजोणिया सत्ता**"

कर्मबन्धन के स्रोतों की खोज और कर्ममुक्ति की साधना—यह निश्चित है कि भगवान महावीर ने सर्वथा परम्परा की लीक पर न चलकर अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा और अनुभूति से सत्य की खोज करके आत्मा को बांधने वाले कर्मों से सर्वथा मुक्त होने की साधना की। उनकी इस साधना का लेखा-जोखा बहुत संक्षेप में यहाँ अंकित है। उन्होंने कर्मों के तीन स्रोतों को सर्वथा जान लिया था—

(१) **आदान स्रोत**—कर्मों का आगमन दो प्रकार की क्रियाओं से होता है—साम्परायिक

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र ३०४।

२. "**अयं णं भंते! जीवे पुढविकाइयत्ताए जाव तस्सकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे?' हंता गोयमा! असइं अदुवा अणंतखुत्तो जाव उववण्णपुव्वे।**"—भगवतीसूत्र १२।७ सूत्र १४० (अंग सु०)

क्रिया से और ईर्याप्रत्ययिक क्रिया से। अयत्नापूर्वक कषाययुक्त प्रमत्त योग से की जाने वाली साम्परायिक क्रिया से कर्मबन्ध तीव्र होता है, संसार परिभ्रमण बढ़ता है, जबकि यत्नापूर्वक कषाय रहित होकर अप्रमत्तभाव से की जाने वाली ईर्याप्रत्ययक्रिया से कर्मों का बन्धन बहुत ही हलका होता है, संसार परिभ्रमण भी घटता है। परन्तु हैं दोनों ही आदानस्रोत।

(२) **अतिपातस्रोत**—अतिपात शब्द में केवल हिंसा ही नहीं, परिग्रह, मैथुन, चोरी, असत्य आदि का भी ग्रहण होता है। ये आस्रव भी कर्मों के स्रोत हैं जिनसे अतिपातक (पाप) होता है, वे सब (हिंसा आदि) अतिपात हैं। यही अर्थ चूर्णिकार सम्मत हैं।

(३) **त्रियोगरूप स्रोत**—मन-वचन-काया इन तीनों का जब तक व्यापार (प्रवृत्ति) चलता रहेगा, तब तक शुभ या अशुभ कर्मों का स्रोत जारी रहेगा।

यही कारण है कि भगवान् ने अशुभ योग से सर्वथा निवृत्त होकर सहजवृत्या शुभयोग में प्रवृत्ति की। इस प्रकार कर्मों के स्रोतों को बन्द करने के साथ-साथ उन्होंने कर्ममुक्ति की विशेषतः पापकर्मों से सर्वथा मुक्त होने की साधना की।[1]

भगवान महावीर की दृष्टि में निम्नोक्त कर्मस्रोत तत्काल बन्द करने योग्य प्रतीत हुए, जिन्होंने बन्द किया—

(१) प्राणियों का आरम्भ।
(२) उपधि—बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह।
(३) हिंसा की प्रवृत्ति।
(४) स्त्री-प्रसंग रूप अब्रह्मचर्य।
(५) आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार।
(६) पर-वस्त्र और पर-पात्र का सेवन।
(७) आहार के लिए सम्मान और पराश्रय की प्रतीक्षा।
(८) अतिमात्रा में आहार।
(९) रस-लोलुपता।
(१०) मनोज्ञ एवं सरस आहार लेने की प्रतिज्ञा।
(११) देहाध्यास—आँखों में पड़ा रजकण निकालना, शरीर खुजलाना आदि।
(१२) अयत्ना एवं चंचलता से गमन।
(१३) शीतकाल में शीत निवारण का प्रयत्न।[2]

कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला—का तात्पर्य है—राग-द्वेष से प्रेरित होकर किये हुए अपने-अपने कर्मों के कारण अज्ञ जीव पृथक्-पृथक् बार-बार सभी योनियों में अपना स्थान बना लेते हैं।[3]

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०४।
२. आचारांग मूल पाठ एवं वृत्ति-पत्र ३०४-३०५ के आधार पर।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०४।

'सोवधिए हु लुप्पती'—इस पंक्ति में 'उपधि' शब्द विशेष अर्थ को सूचित करता है। उपधि तीन प्रकार की बतायी गयी है—(१) शरीर, (२) कर्म और (३) उपकरण आदि परिग्रह। वैसे बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह को भी उपधि कहते हैं। भगवान मानते थे कि इन सब उपधियों से मनुष्य का संयमी जीवन दब जाता है। ये उपधियाँ लुम्पक—लुटेरी हैं।[1]

जस्सित्थीओ परिण्णाता—स्त्रियों से यहाँ अब्रह्म—कामवासनाओं से तात्पर्य है। 'स्त्री' शब्द को अब्रह्मचर्य का प्रतीक माना है। जो इन्हें भली-भाँति समझकर त्याग देता है, वह कर्मों के प्रवाह को रोक देता है। यह वाक्य उपदेशात्मक है, ऐसा चूर्णिकार मानते हैं।[2]

परवस्त्र, परपात्र के सेवन का त्याग—चूर्णि के अनुसार भगवान ने दीक्षा के समय जो देवदूष्य वस्त्र धारण किया था, उसे १३ महीने तक सिर्फ कंधे पर टिका रहने दिया, शीतादि निवारणार्थ उसका उपयोग बिलकुल नहीं किया। वही वस्त्र उनके लिए स्ववस्त्र था, जिसका उन्होंने १३ महीने बाद व्युत्सर्ग कर दिया था, फिर उन्होंने पाडिहारिक रूप में भी कोई वस्त्र धारण नहीं किया।[3] जैसे कि कई संन्यासी गृहस्थों से थोड़े समय तक उपयोग के लिए वस्त्र ले लेते हैं, फिर वापस उन्हें सौंप देते हैं। भगवान महावीर ने अपने श्रमण संघ में गृहस्थों के वस्त्र-पात्र का उपयोग करने की परिपाटी को सचित्त पानी आदि से सफाई करने के कारण पश्चात्कर्म आदि दोषों का जनक माना है।

भगवान ने प्रव्रजित होने के बाद प्रथम पारणे में गृहस्थ के पात्र में भोजन किया था, तत्पश्चात् वे कर-पात्र हो गए थे। फिर उन्होंने किसी के पात्र में आहार नहीं किया। बल्कि नालन्दा की तन्तुवायशाला में जब भगवान विराजमान थे, तब गोशालक ने उनके लिए आहार ला देने की अनुमति माँगी, तो 'गृहस्थ के पात्र में आहार लाएगा' इस सम्भावना के कारण उन्होंने गोशालक को मना कर दिया।

केवल ज्ञानी तीर्थंकर होने पर उनके लिए—लोहार्य मुनि गृहस्थों के यहाँ से आहार लाता था, जिसे वे पात्र में लेकर नहीं, हाथ में लेकर करते थे।[4]

आहार-सम्बन्धी दोषों का परित्याग—आहार ग्रहण करने के समय भी जैसे दोषों से साव-

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०४।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०५।
   (ख) इसके बदले चूर्णिकार '**तस्सित्थीओ परिण्णाता**' पाठ मानते हैं, उसका अर्थ भगवान महावीर परक करके फिर कहते हैं—'**अहवा उवदेसिगमेव ···जस्सित्थीओ परिण्णाता।**' अर्थात् अथवा यह उपदेश परक वाक्य ही है 'जिसको स्त्रियाँ (स्त्रियों की प्रकृति) परिज्ञात हो जाती है।'
   —आचा० चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ९२

३. चूर्णिकार ने '**णा सेवई य परवत्थं**' मानकर अर्थ किया है—"**जं तं दिव्वं देवदूसं पव्वयंतेण गहितं तं साहियं वरिसं खंधेण चेव धरितं ण वि पाउयं तं मुइत्ता सेसं परवत्थं पाडिहारितमवि ण धरितवां। के वि इच्छंति सवत्थं तस्स तत्, सेसं परवत्थं जंगादि तं णासेवितवा।**"
   —आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० ९२।

४. आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग पृ० २७१।

धान रहना पड़ता है, वैसे ही आहार का सेवन करते समय भी। भगवान् ने आहार सम्बन्धी निम्नोक्त दोषों को कर्मबन्धजनक मानकर उनका परित्याग कर दिया था—

(१) आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार।

(२) सचित्त आहार।

(३) पर-पात्र में आहार-सेवन।

(४) गृहस्थ आदि से आहार मँगा कर लेना, या आहार के लिए जाने में निमंत्रण, मनुहार या सम्मान की अपेक्षा रखना।

(५) मात्रा से अधिक आहार करना।

(६) स्वाद लोलुपता।

(७) मनोज्ञ भोजन का संकल्प।[1]

'अप्पं तिरियं·····' आदि गाथा में 'अप्प' शब्द अल्पार्थक न होकर निषेधार्थक है। चलते समय भगवान का ध्यान अपने सामने पड़ने वाले पथ पर रहता था, इसलिए न तो वे पीछे देखते थे, न दाँए-बाँए, और न ही रास्ते चलते बोलते थे।[2]

अणुक्कंतो—का अर्थ वृत्तिकार करते हैं अनुचीर्ण—आचरित। किन्तु चूर्णिकार इसके दो अर्थ फलित करते हैं—

(१) अन्य तीर्थंकरों के द्वारा आचरित के अनुसार आचरण किया।

(२) दूसरे तीर्थंकरों के मार्ग का अतिक्रमण न किया। अतः यह अन्याऽतिक्रान्त विधि है।[3]

'अपडिण्णेण भगवया'—भगवान् किसी विधि-विधान में पूर्वाग्रह से, निदान से या हठाग्रह-पूर्वक बंध कर नहीं चलते थे। वे सापेक्ष-अनेकान्तवादी थे। यह उनके जीवन में हम देख सकते हैं।[4]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

शय्या-आसन चर्या

२७७. चरियासणाइं[5] सेज्जाओ एगतियाओ जाओ बूइताओ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्थ से महावीरे ॥६४॥

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्र ३०५ के आधार पर। २. आचा० शीला० टीका पत्र ३०५।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०५। (ख) चूर्णि मूल पाठ सू० २७६ का टिप्पण देखें।

४. आचा० शीला० टीका पत्र ३०६ के आधार पर।

५. चूर्णिकार ने दूसरे उद्देशक की प्रथम गाथा के साथ संगति बिठाते हुए कहा—चरियाणंतरं सेज्जा, तद्विभागो अवदिस्सति—**चरितासणाइं सिज्जाओ एगतियाओ जाओ वुतिताओ। आइक्ख तातिं सयणासणाइं जाइं सेवित्थ से महावीरे।** एसा पुच्छा। चर्या के अनन्तर शय्या (वासस्थान) है, उसके विभाग का

२७८. आवेसण-सभा-पवासु[1] पणियसालासु एगदा वासो।
अदुवा पलियट्ठाणेसु पलालपुंजेसु एगदा वासो ॥६५॥
२७९. आगंतारे[2] आरामागारे नगरे वि एगदा वासो।
सुसाणे सुण्णगारे वा रुक्खमूले वि एगदा वासो ॥६६॥
२८०. एतेहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरस[3] वासे।
राइंदिवं पि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिते झाती ॥६७॥

२७७. (जम्बू स्वामी ने आर्य सुधर्मास्वामी से पूछा)—'भंते ! चर्या के साथ-साथ एक वार आपने कुछ आसन और वासस्थान बताये थे, अतः मुझे आप उन वास स्थानों और आसनों को बताएँ, जिनका सेवन भगवान महावीर ने किया था ॥६४॥

२७८. भगवान कभी सूने खण्डहरों में, कभी सभाओं (धर्मशालाओं) में, कभी प्याउओं में और कभी पण्यशालाओं (दुकानों) में निवास करते थे। अथवा कभी लुहार, सुथार, सुनार आदि के कर्मस्थानों (कारखानों) में और जिस पर पलाल पुँज रखा गया हो, उस मंच के नीचे उनका निवास होता था ॥६५॥

२७९. भगवान कभी यात्रीगृह में, कभी आरामगृह में, अथवा गाँव या नगर में निवास करते थे। अथवा कभी श्मशान में, कभी शून्यगृह में तो कभी वृक्ष के नीचे ही ठहर जाते थे ॥६६॥

२८०. त्रिजगत्वेत्ता मुनीश्वर इन (पूर्वोक्त) वासस्थानों में साधना काल के बारह वर्ष, छह महीने, पन्द्रह दिनों में शान्त और समत्वयुक्त मन से रहे। वे रात-दिन (मन-वचन-काया की) प्रत्येक प्रवृत्ति में यतनाशील रहते थे तथा अप्रमत्त और समाहित (मानसिक स्थिरता की) अवस्था में ध्यान करते थे ॥६७॥

निद्रात्याग-चर्या

२८१. णिद्दं[4] पि णो पगामाए सेवइया भगवं उट्ठाए।
जग्गावतीय[5] अप्पाणं ईसिं साईय अपडिण्णे ॥६८॥

व्यपदेश करते हैं—"आपने एक दिन भगवान की चर्या आसन और शय्या के विषय में कहा था, अतः उन शयनों (वासस्थानों) और आसनों के विषय में बताइए, जिनका भगवान महावीर ने सेवन किया था।" यह सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी का प्रश्न है।

१. '**पणियसालासु**' के वदले '**पणियगिहेसु**' पाठ है। अर्थ समान है।
२. इसके वदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'''**आरामागारे गामे रण्णे वि एकता वासो**। अर्थात् आराम-गृह में, गाँव में या वन में भी कभी-कभी निवास करते थे।
३. '**पतरस वासे**' के वदले पाठान्तर '**पतेलसवासे**' भी है। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'पगतं पत्थियं वा तेरसमं वरिसं, जेसिं वरिसाणं ताणि माणि—पतेरसवरिसाणि।"—तेरहवां वर्ष प्रगत—चल रहा था, प्रस्थित था—प्रस्थान कर चुका था। प्रत्रयोदश वर्ष से सम्वन्धित को 'प्रत्रयोदशवर्षः' कहते हैं।
४. चूर्णिकार ने स्वसम्मत तथा नागार्जुनीयसम्मत दोनों पाठ दिये हैं—**णिद्दं णो पगामादे सेवइया भगवं,**

२८२. संबुज्झमाणे[1] पुणरवि आसिसु भगवं उट्ठाए।
णिक्खम्म एगया राओ बहिं चंकमिया[2] मुहुत्तागं ॥६९॥

२८१. भगवान निद्रा भी बहुत नहीं लेते थे, (निद्रा आने लगती तो) वे खड़े होकर अपने आपको जगा लेते थे। (चिरजागरण के बाद शरीर धारणार्थ कभी जरा-सी नींद ले लेते थे। वह भी सोने के अभिप्राय से नहीं सोते थे ॥६८॥

२८२. भगवान क्षण भर की निद्रा के बाद फिर जागृत होकर (संयमोत्थान से उठकर) ध्यान में बैठ जाते थे। कभी-कभी (शीतकाल की) रात में (निद्रा प्रमाद मिटाने के लिए) मुहूर्त भर बाहर घूमकर (पुनः अपने स्थान पर आकर ध्यान-लीन हो जाते थे) ॥६९॥

विविध उपसर्ग

२८३. सयणेहिं तस्सुवसग्गा[3] भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगा य जे पाणा अदुवा पक्खिणो उवचरंति ॥७०॥

२८४. अदु कुचरा उवचरंति गामरक्खा य सत्तिहत्था य।
अदु गामिया उवसग्गा इत्थी एगतिया पुरिसा य ॥७१॥

२८३. उन आवास स्थानों में भगवान को अनेक प्रकार के भयंकर उपसर्ग आते थे। (वे ध्यान में रहते, तब) कभी सांप और नेवला आदि प्राणी काट खाते, कभी गिद्ध आदि पक्षी आकर मांस नोचते ॥७०॥

२८४. अथवा कभी (शून्य गृह में ठहरते तो) उन्हें चोर या पारदारिक (व्यभिचारी पुरुष) आकर तंग करते, अथवा कभी हाथ में शस्त्र लिए हुए ग्रामरक्षक (पहरेदार) या कोतवाल उन्हें कष्ट देते, कभी कामासक्त स्त्रियाँ और कभी पुरुष उपसर्ग देते थे ॥७१॥

तथा **णिद्दा वि ण प्पगामा आसी तहेव उट्ठाए'**—अर्थ—भगवान् ने (खड़े होकर) गाढ रूप से निद्रा का सेवन नहीं किया।' भगवान की निद्रा अत्यन्त नहीं थी, तथैव वे खड़े हो जाते थे।

५. इस पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**'जग्गाइतवां अप्पाणं झाणेण'**, भगवान ने अपनी आत्मा को ध्यान से जागृत कर लिया था।

६. चूर्णिकार ने इसके बदले **'ईसिं सतितासि'** पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—इत्तरकालं णिमेस-उम्मेसमेत्तं व (प) लमित्तं वा ईसिं सइतवां आसी···अपडिण्णो।"—अर्थात्—ईषत् का अर्थ है—थोड़े काल तक, निमेष-उन्मेषमात्र या पलमात्र काल। भगवान सोये थे। वे निद्रा की प्रतिज्ञा से रहित थे।

१. इसके बदले **'संबुज्झमाणे पुणरावि'**····पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने तात्पर्य बताया है—'····**ण पडिसेहाते, ण पज्झायति, ण णिद्दापमादं चिरं करोति'** निद्रा आने लगती तो वे उसका निषेध नहीं करते थे, न अत्यन्त ध्यान करते थे और न ही चिरकाल तक निद्रा-प्रमाद करते थे।

२. इसके बदले **'चक्कमिया चंक्कमिया, चंकमित, चक्कमित्त** आदि पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ एक-सा है।

३. **'तस्स'** का तात्पर्य चूर्णिकार ने लिखा है—'तस्स छउमत्थकाले अरुहतो···।' छद्मस्थ अवस्था में आरूढ़ उन भगवान् के····।

स्थान-परीषह

२८५. इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं ।
अवि सुब्भिदुब्भिगंधाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥७२॥

२८६. अहियासए सया समिते फासाइं विरूवरूवाइं ।
अरतिं रतिं अभिभूय रीयति माहणे अबहुवादी ॥७३॥

२८७. स जणेहिं[1] तत्थ पुच्छिसु एगचरा वि एगदा रातो ।
अव्वाहिते[2] कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे[3] ॥७४॥

२८८. अयमंतरंसि को एत्थ अहमंसि त्ति भिक्खू आहट्टु ।
अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए सकसाइए[4] झाति ॥७५॥

२८५. भगवान ने इहलौकिक (मनुष्य-तिर्यञ्च सम्बन्धी) और पारलौकिक (देव सम्बन्धी) नाना प्रकार के भयंकर उपसर्ग सहन किये। वे अनेक प्रकार के सुगन्ध और दुर्गन्ध में तथा प्रिय और अप्रिय शब्दों में हर्ष-शोक रहित मध्यस्थ रहे ॥७२॥

२८६. उन्होंने सदा समिति—(सम्यक् प्रवृत्ति) युक्त होकर अनेक प्रकार के स्पर्शों को सहन किया। वे संयम में होने वाली अरति और असंयम में होने वाली रति को (ध्यान द्वारा) शांत कर देते थे। वे महामाहन महावीर बहुत ही कम बोलते थे। वे अपने संयमानुष्ठान में प्रवृत्त रहते थे ॥७३॥

२८७. (जब भगवान जन-शून्य स्थानों में एकाकी होते तब) कुछ लोग आकर पूछते—"तुम कौन हो? यहाँ क्यों खड़े हो?" कभी अकेले घूमने वाले लोग रात में आकर पूछते—'इस सूने घर में तुम क्या कर रहे हो?' तब भगवान कुछ नहीं बोलते,

---

१. इस पंक्ति का तात्पर्य चूर्णिकार ने लिखा है—'एवं गुत्तागुत्तेसु 'संयणेहिं तत्थ पुच्छिसु एगचारा वि एगदा राओ, एगा चरंति एगचरा, उब्भामियाओ उब्भामगं पुच्छंति'''अहवा दोविजणाइं आगम्म पुच्छंति'''मोणेण अच्छति।' —इस प्रकार वासस्थानों (शयन स्थान) से गुप्त या अगुप्त होने पर भी रात को वहाँ कभी अकेले घूमने वाले या अवारागर्द या अवारागर्द से पूछते, या दोनों व्यक्ति भगवान् के पास आकर पूछते थे'''भगवान् मौन रहते।

२. 'अव्वाहित कसाइत्थ', का भावार्थ चूर्णिकार यों करते हैं—"पुच्छिज्जंतो विवायं ण देइ त्ति काउणं रुस्संति पिट्टंति"—अर्थात्—पूछे जाने पर भी जब कोई उत्तर वे नहीं देते, इस कारण वे रोष में आ जाते थे, और पीटते थे।

३. 'समाहिं अपडिण्णे' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों में—"विसयसमासनिरोही णेव्वाणसुहसमाहिं च पेहमाणो विसयसंगदोसे य पेहमाणो इह परत्थ य अपडिण्णो"—अर्थात्—विषयसुखों की आशा के निरोधक भगवान् मोक्षसुख समाधि की प्रेक्षा करते हुए विषयासक्ति के दोषों को देखकर इहलोक-परलोक के विषय में अप्रतिज्ञ थे।

४. 'ए कसाइए', 'ए स कसातिते', 'ए सक्कसाइए' ये तीन पाठान्तर हैं। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—"गिहत्थे समत्तं कसाइते संकसाइते, ते संकसाइते णातु झातिमेव।" गृहस्थ का पूरी तरह से क्रोधादि कषायाविष्ट हो जाना संकषायित कहलाता है। भगवान् गृहस्थ (पूछने वाले) को संकषायित जानकर ध्यानमग्न हो जाते थे।

इससे रुष्ट होकर दुर्व्यवहार करते, फिर भी भगवान समाधि में लीन रहते, परन्तु उनसे प्रतिशोध लेने का विचार भी नहीं उठता ॥७४॥

२८८. उपवन के अन्तर-आवास में स्थित भगवान से पूछा—'यहाँ अन्दर कौन है ?' भगवान ने कहा—'मैं भिक्षु हूँ।' यह सुनकर यदि वे क्रोधान्ध होकर कहते —'शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ।' तब भगवान वहाँ से चले जाते। यह (सहिष्णुता) उनका उत्तम धर्म है। यदि भगवान पर क्रोध करते तो वे मौन रहकर ध्यान में लीन रहते थे ॥७५॥

शीत-परीषह

२८९. जंसिप्पेगे[1] पवेदेंति सिसिरे मारुए पवायंते।
तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाते णिवायमेसंति ॥७६॥
२९०. संघाडीओ पविसिस्सामो[2] एधा य समादहमाणा।
पिहिता वा सक्खामो 'अतिदुक्खं हिमगसंफासा' ॥७७॥
२९१. तंसि भगवं अपडिण्णे अहे विगडे अहियासए दविए।
णिक्खम्म एगदा राओ चाएति[3] भगवं समियाए ॥७८॥
२९२. एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता।
बहुसो अपडिण्णेणं भगवया एवं रीयं ति ॥७९॥ त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

२८९. शिशिरऋतु में ठण्डी हवा चलने पर कई (अल्पवस्त्रवाले) लाग कांपने लगते, उस ऋतु में हिमपात होने पर कुछ अनगार भी निर्वातस्थान ढूँढ़ते थे ॥७६॥

२९० हिमजन्य शीत-स्पर्श अत्यन्त दुःखदायी हैं, यह सोचकर कई साधु संकल्प करते थे कि चादरों में घुस जाएँगे या काष्ठ जलाकर किवाड़ों को बन्द करके इस ठंड को सह सकेंगे, ऐसा भी कुछ साधु सोचते थे ॥७७॥

२९१. किन्तु उस शिशिर ऋतु में भी भगवान (निर्वात स्थान की खोज या

---

१. चूर्णिकार ने इस पंक्ति की व्याख्या यों की है—**जति वि जम्हिकाले** एते अन्नतित्थिया गिहत्था [illegible] णिवेदंति सिसिरं, सिसिरे वा मारुतो पवायति भिसं वायति तंसिप्पेगे अण्णतित्थिया''—जिस काल को अन्यतीर्थिक या गृहस्थ शिशिर कहते हैं, शिशिर में ठंडी हवाएँ बहुत चलती हैं। उस काल में [illegible] अन्यतीर्थिक लोग.........।'

२. इस पंक्ति के शब्दों का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—**पविसिस्सामो=पाउणिस्सामो समिहातो कट्ठा समाडहमाणा''** अर्थात्—प्रविष्ट हो जायेंगे, आच्छादित कर (ढक) लेंगे। समिधा यानी लकड़ियों [illegible] ढेर से लकड़ियाँ निकालकर जलाते हैं।

३. **चाएति** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**'सहति'** भावार्थ—भगवं समियाए सम्मं, ण गारवभयट्ठाए[illegible] सहति। अर्थात्—भगवान् समताभाव से सम्यक् सहन करते थे, गौरव या भय से नहीं।

वस्त्र पहनने-ओढ़ने अथवा आग जलाने आदि का) संकल्प नहीं करते। कभी-कभी रात्रि में (सर्दी प्रगाढ़ हो जाती तब) भगवान उस मंडप से बाहर चले जाते, वहाँ मुहूर्तभर ठहर कर फिर मंडप में आ जाते। इस प्रकार भगवान शीतादि परीषह सम-भाव से या सम्यक् प्रकार से सहन करने में समर्थ थे ॥७८॥

२९२. मतिमान् महामाहन महावीर ने इस विधि का आचरण किया। जिस प्रकार अप्रतिबद्धविहारी भगवान ने बहुत बार इस विधि का पालन किया, उसी प्रकार अन्य साधु भी आत्म-विकासार्थ इस विधि का आचरण करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भगवान द्वारा सेवित वासस्थान—सूत्र २७८ और २७९ में उन स्थानों के नाम बताए हैं जहाँ ठहरकर भगवान ने उत्कृष्ट ध्यान-साधना की थी। वे १३ स्थान इस प्रकार हैं—

(१) आवेशन (खण्डहर)। (२) सभा। (३) प्याऊ। (४) दूकान। (५) कारखाने। (६) मंच। (७) यात्रिगृह। (८) आरामगृह। (९) गांव या नगर। (१०) श्मशान। (११) शून्य गृह। (१६) वृक्ष के नीचे।

भगवान की संयम-साधना के अंग—मुख्यतया ८ रहे हैं—

(१) शरीर-संयम। (२) अनुकूल-प्रतिकूल परीषह-उपसर्ग के समय मनःसंयम। (३) आहार-संयम। (४) वासस्थान-संयम। (५) इन्द्रिय-संयम। (६) निद्रा-संयम। (७) क्रिया-संयम। (८) उपकरण-संयम।

भगवान की संयम-साधना का रथ इन्हीं ८ चक्रों द्वारा अन्त तक गतिमान रहा। वे इनमें से किसी भी अंग से सम्बन्धित आग्रह से चिपक कर नहीं चलते थे। शरीर और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए (आहार, निद्रा, स्थान, आसन आदि के रूप में) वे अपने मन में अनाग्रही थे। 'अपडिण्णे' शब्द का पुनः पुनः प्रयोग यह ध्वनित करता है कि सहजभाव से साधना के अनुकूल जैसा भी आचरण शक्य होता वे उसे स्वीकार लेते थे।[1]

अमुक आसनों तथा त्राटक आदि सहजयोग की क्रियाओं से शरीर को स्थिर, संतुलित और मोह-ममता रहित स्फूर्तिमान रखने का वे प्रयत्न करते थे।

वे सभी प्रकार के संयम, आन्तरिक आनन्द, आत्मदर्शन, विश्वात्मचिन्तन आदि के माध्यम से करते थे।

भगवान की निद्रा-संयम की विधि भी बहुत ही अद्भुत थी। वे ध्यान के द्वारा निद्रा संयम करते थे। निद्रा पर विजय पाने के लिए वे कभी खड़े हो जाते, कभी स्थान से बाहर जाकर टहलने लगते। इस प्रकार हर सम्भव उपाय से निद्रा पर विजय पाते थे।[2]

वासस्थानों-शयनों में विभिन्न उपसर्ग—भगवान को वासस्थानों में मुख्य रूप से निम्नोक्त उपसर्ग सहने पड़ते थे—

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०७।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०७-३०८ के आधार पर।

(१) सांप और नेवलों आदि द्वारा काटा जाना।

(२) गिद्ध आदि पक्षियों द्वारा मांस नोचना।

(३) चींटी, डाँस, मच्छर, मक्खी आदि का उपद्रव।

(४) शून्य गृह में चोर या लंपट पुरुषों द्वारा सताया जाना।

(५) सशस्त्र ग्रामरक्षकों द्वारा सताया जाना।

(६) कामासक्त स्त्री-पुरुषों का उपसर्ग।

(७) कभी मनुष्य-तिर्यञ्चों और कभी देवों द्वारा उपसर्ग।

(८) जनशून्य स्थानो में अकेले या आवारागर्द लोगों द्वारा ऊटपटांग प्रश्न पूछ कर तंग करना।

(९) उपवन के अन्दर की कोठरी आदि में घुसकर ध्यानावस्था में सताना आदि।[1]

वासस्थानों में परीषह—(१) दुर्गन्धित स्थान, (२) ऊबड़-खाबड़ विषम या भयंकर स्थान, (३) सर्दी का प्रकोप, (४) चारों ओर से बंद स्थान का अभाव आदि। परन्तु इन वासस्थानों में साधनाकाल में भगवान् साढ़े बारह वर्ष तक अहर्निश यतनाशील अप्रमत्त और समाहित होकर ध्यानमग्न रहते थे। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—'**एतेहिं मुणी सयणेहिं……समाहिते झाती।**'

'**संसप्पगा य जे पाणा……**'—वृत्तिकार ने इस पद की व्याख्या की है—'भुजा से चलने वाले शून्य-गृह आदि में विशेष रूप में पाए जाने वाले सांप, नेवला आदि प्राणी।'

'**पक्खिणो उवचरंति**'—श्मशान आदि में गीध आदि पक्षी आकर उपसर्ग करते थे।[2]

'**कुचरा उवचरंति……**'—कुचर का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—चोर, परस्त्रीलंपट आदि लोग कहीं-कहीं सूने मकान आदि में आकर उपसर्ग करते थे। तथा जब भगवान तिराहों या चौराहों पर ध्यानस्थ खड़े होते तो ग्रामरक्षक शस्त्रों से लैस होकर उनके पास आकर तंग किया करते।[3]

'**अदु गामिया……इत्थी एगतिया पुरिसा य**'—इस पंक्ति का तात्पर्य वृत्तिकार ने बताया है—कभी भगवान अकेले एकान्त स्थान में होते तो ग्रामिक—इन्द्रियविषय-सम्बन्धी उपसर्ग होते थे, कोई कामासक्त स्त्री या कोई कामुक पुरुष आकर उपसर्ग करता था।[4] भगवान के रूप पर मुग्ध होकर स्त्रियाँ उनसे काम-याचना करतीं, जब भगवान उनसे विचलित नहीं होते तो वे क्षुब्ध और उत्तेजित रमणियाँ अपने पतियों को भगवान के विरुद्ध भड़कातीं और वे (उनके पति आदि स्वजन) आकर भगवान को कोसते, उत्पीड़ित करते।[5]

'**अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए**'—भगवान् के न बोलने पर या पूछने पर जवाब न देने पर तुच्छ प्रकृति के लोग रुष्ट हो जाते, मारते-पीटते, सताते या वहाँ से निकल जाने को कहते।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०७।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०७।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०७।
४. आचा० शीला टीका पत्र ३०७।
५. आचा० शीला० टीका पत्र ३०७।

इन सब परीषहों-उपसर्गों के समय भगवान मौन को सर्वोत्तम धर्म मानकर अपने ध्यान में मग्न हो जाते थे। वे अशिष्ट व्यवहार करने वाले के प्रति बदला लेने का जरा भी विचार मन में नहीं लाते थे। वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों इसी आशय की व्याख्या करते हैं।[1]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तईओ उद्देसओ

(लाढ देश में) उत्तम तितिक्षा-साधना

२९३. तणफास सीतफासे य तेउफासे य दंसमसगे य।
अहियासते सया समिते फासाइं विरूवरूवाइं ॥८०॥

२९४. अह दुच्चरलाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सेज्जं सेविंसु आसणगाइं चेव पंताइं ॥८१॥

२९५. लाढेहिं[2] तस्सुवसग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवतिंसु ॥८२॥

२९६. अप्पे जणे णिवारेति लूसणए[3] सुणए डसमाणे।
छुच्छुकारेंति आहंतु समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति ॥८३॥

२९७. एलिक्खए जणे भुज्जो बहवे वज्जभूमि फरूसासी।
लट्ठिं गहाय णालीयं समणा तत्थ एव विहरिंसु ॥८४॥

२९८. एवं पि तत्थ विहरंता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं दुच्चरगाणि[4] तत्थ लाढेहिं ॥८५॥

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्र ३०८। (ख) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण सूत्र २८८।

२. इसका पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ कर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—**एरिसेसु सयण-आसणेसु वसमाणस्स 'लाढेसु ते उवसग्गा बहवे जाणवता आगम्म लूसिंसु'—'लूस हिंसायाम्' कट्ठमुट्ठिप्पहारादिएहिं उमग्गेहि य लूसेंति। एगे आहु—दंतेहिं खायंते त्ति।**"—अर्थात्—ऐसे शयनासनों में निवास करते हुए भगवान को लाढदेश के गाँवों में बहुत-से उपसर्ग हुए। बहुत-से उस देश के लोग ऊजड़ मार्गों में आकर भगवान को लकड़ी, मुक्के आदि के प्रहारों से सताते थे। लूस धातु हिंसार्थक है, इसलिए ऐसा अर्थ होता है। कई कहते हैं—भगवान को वे दांतों से काट खाते थे।'—चूर्णिसम्मत यह अर्थ है।

३. '**लूसणगा**' जं भणितं होति त (भ) क्खणगा, भसंतीति **भसमाणा,** जे वि णाम ण खायंति ते वि **छच्छुकारेंति आहंसु।** आहंसुत्ति आहणेत्ता केति चोरं चारियं ति च मण्णमाणा केइ पदोसेण"—कुत्ते जो लूषणक होते हैं वे काट खाते हैं, जो भौंकते है, वे काट नहीं खाते। कई लोग कुत्तों को छुछकार कर पीछे लगा देते थे। कई लोग रात्रि काल में भगवान को चोर या गुप्तचर समझ कर पीटते थे। यह अर्थ चूर्णिकार ने किया है।

४. चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—**दुक्खं चरिज्जति दुच्चरगाणि गामादीणि**……—जहाँ दुःख से विचरण हो सके, उन्हें दुश्चरक ग्राम आदि कहते हैं।

२९९. णिहाय डंडं पाणेहिं तं वोसज्ज कायमणगारे ।
अह गामकंटए भगवं ते अहियासए अभिसमेच्चा ।।८६।।
३००. णाओ संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे ।
एवं पि तत्थ लाढेहिं[1] अलद्धपुव्वो वि एगदा गामो ।।८७।।
३०१. उवसंकमंतमपडिण्णं गामंतियं[2] पि अपत्तं ।
पडिणिक्खमित्तु लूसिंसु एत्तातो परं पलेहि त्ति ।।८८।।
३०२. हतपुव्वो तत्थ डंडेणं अदुवा[3] मुट्ठिणा अदु फलेणं ।
अदु लेलुणा कवालेणं हंता हंता बहवे कंदिंसु ।।८९।।
३०३. मंसाणि[4] छिण्णपुव्वाइं उट्ठंभियाए एगदा कायं ।
परिस्सहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा अवकरिंसु ।।९०।।
३०४. उच्चालइय[5] णिहणिंसु अदुवा आसणाओ खलइंसु ।
वोसट्ठकाए पणतासी दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे ।।९१।।
३०५. सूरो संगामसीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे ।
पडिसेवमाणो[6] फरुसाइं अचले भगवं रीयित्था ।।९२।।
३०६. एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता ।
बहुसो अपडिण्णेणं भगवया एवं रीयति ।।९३।। त्ति बेमि ।

।। तइओ उद्देसओ समत्तो ।।

२९३. (लाढ़ देश में विहार करते समय) भगवान् घास-कंटकादि का कठोर

---

1 यहाँ चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'तत्थ विहरतो ण लद्धपुव्वो'—अर्थात्—वहाँ (लाढ़देश में) विहार करते हुए भगवान को पहले-पहल कभी-कभी ग्राम नहीं मिलता था (निवास के लिए ग्राम में स्थान नहीं मिलता था) ।

2 यहाँ चूर्णिकार ने पाठान्तर माना है—**गामणियंति अपत्तं** ।" अर्थ यों किया है—**गामणियंतियं** गाम-ब्भासं, ते लाढा **पडिनिक्खमेतु लूसेंति** ।" ग्राम के अन्तिक यानी निकट वे लाढ़निवासी अनार्यजन ग्राम से बाहर निकलते हुए भगवान पर प्रहार कर देते थे ।

3 **अदुवा मुट्ठिणा**·······आदि पदों का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—दंडो, मुट्ठी कंठं, फलं चवेडा । अर्थात्—दण्ड और मुष्टि का अर्थ तो प्रसिद्ध है । फल से—यानी चपेटा—थप्पड़ से ।

4 इसके बदले पाठान्तर है—**मंसूणि पुव्वछिण्णाइं** । चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—**अन्नेहि पुण मंसूणि छिन्नपुव्वाणि, केयि थूमा तेणं उट्ठुभंति धिक्कारेंति य** ।' दूसरे लोगों ने पहले भगवान के शरीर का मांस (या उनकी मूँछें) काट लिया था । कई प्रशंसक उन दुष्टों को इसके लिए रोकते थे, धिक्कारते थे ।

5 '**उच्चालइय**' के बदले चूर्णिकार ने '**उच्चालइता**' पाठ माना है—उसका अर्थ होता है—ऊपर उछाल कर······· ।

6 चूर्णिकार ने इसके बदले '**पतिसेवमाणो रीयन्त**' पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—'सहमाणे······· रीयन्त'—अर्थात् सहन करते हुए भगवान विचरण करते थे ।

स्पर्श, शीत स्पर्श, भयंकर गर्मी का स्पर्श, डांस और मच्छरों का दंश; इन नाना प्रकार के दु:खद स्पर्शों (परीषहों) को सदा सम्यक् प्रकार से सहन करते थे ॥८०॥

२९४. दुर्गम लाढ़ देश के वज्र (वीर) भूमि और सुम्ह (शुभ्र या सिंह) भूमि नामक प्रदेश में भगवान ने विचरण किया था। वहाँ उन्होंने बहुत ही तुच्छ (ऊबड़-खाबड़) वासस्थानों और कठिन आसनों का सेवन किया था ॥८१॥

२९५. लाढ़ देश के क्षेत्र में भगवान् ने अनेक उपसर्ग सहे। वहां के बहुत से अनार्य लोग भगवान् पर डण्डों आदि से प्रहार करते थे; (उस देश के लोग ही रूखे थे, अत:) भोजन भी प्राय: रूखा-रूखा ही मिलता था। वहाँ के शिकारी कुत्ते उन पर टूट पड़ते और काट खाते थे ॥८२॥

२९६. कुत्ते काटने लगते या भौंकते तो बहुत थोड़े-से लोग उन काटते हुए कुत्तों को रोकते, (अधिकांश लोग तो) इस श्रमण को कुत्ते काटें, इस नीयत से कुत्तों को बुलाते और छुछकार कर उनके पीछे लगा देते थे ॥८३॥

२९७. वहाँ ऐसे स्वभाव वाले बहुत से लोग थे, उस जनपद में भगवान् ने (छ: मास तक) पुन:-पुन: विचरण किया। उस वज्र (वीर) भूमि के बहुत-से लोग रूक्षभोजी होने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे। उस जनपद में दूसरे श्रमण अपने (शरीर-प्रमाण) लाठी और (शरीर से चार अंगुल लम्बी) नालिका लेकर विहार करते थे ॥८४॥

२९८. इस प्रकार से वहां विचरण करने वाले श्रमणों को भी पहले कुत्ते (टांग आदि से) पकड़ लेते, और इधर-उधर काट खाते या नोंच डालते। सचमुच उस लाढ़ देश में विचरण करना बहुत ही दुष्कर था ॥८५॥

२९९. अनगार भगवान् महावीर प्राणियों के प्रति मन-वचन-काया से होने वाले दण्ड का परित्याग और अपने शरीर के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करके (विचरण करते थे)। अत: भगवान् उन ग्राम्यजनों के कांटों के समान तीखे वचनों को (निर्जरा का हेतु समझकर सहन) करते थे ॥८६॥

३००. हाथी जैसे युद्ध के मोर्चे पर (शस्त्र से विद्ध होने पर भी पीछे नहीं हटता, वैरी को जीतकर—) युद्ध का पार पा जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर उस लाढ़ देश में परीषह-सेना को जीतकर पारगामी हुए। कभी-कभी लाढ़ देश में उन्हें (गाँव में स्थान नहीं मिलने पर) अरण्य में रहना पड़ा ॥८७॥

३०१. भगवान् नियत वासस्थान या आहार की प्रतिज्ञा नहीं करते थे। किन्तु आवश्यकतावश निवास या आहार के लिए वे ग्राम की ओर जाते थे। वे ग्राम के निकट पहुँचते, न पहुँचते तब तक तो कुछ लोग उस गाँव से निकलकर भगवान् को रोक लेते, उन पर प्रहार करते और कहते—"यहाँ से आगे कहीं दूर चले जाओ ॥८८॥

३०२. उस लाढ़ देश में (गाँव से बाहर ठहरे हुए भगवान् को) बहुत से लोग

डण्डे से या मुक्के से अथवा भाले आदि शस्त्र से या फिर मिट्टी के ढेले या खप्पर (ठीकरे) से मारते, फिर 'मारो-मारो' कहकर होहल्ला मचाते ॥८९॥

३०३. उन अनार्यों ने पहले एक बार ध्यानस्थ खड़े भगवान् के शरीर को पकड़कर मांस काट लिया था। उन्हें (प्रतिकूल) परीषहों से पीड़ित करते थे, कभी-कभी उन पर धूल फेंकते थे ॥९०॥

३०४. कुछ दुष्ट लोग ध्यानस्थ भगवान् को ऊँचा उठाकर नीचे गिरा देते थे कुछ लोग आसन से (धक्का मारकर) दूर धकेल देते थे, किन्तु भगवान् शरीर का व्युत्सर्ग किए हुए परीषह सहन के लिए प्रणबद्ध, कष्टसहिष्णु-दुःखप्रतीकार की प्रतिज्ञा से मुक्त थे। अतएव वे इन परीषहों-उपसर्गों से विचलित नहीं होते थे ॥९१॥

३०५. जैसे कवच पहना हुआ योद्धा युद्ध के मोर्चे पर शस्त्रों से विद्ध होने पर भी विचलित नहीं होता, वैसे ही संवर का कवच पहने हुए भगवान् महावीर लाढ़ादि देश में परीषह-सेना से पीड़ित होने पर भी कठोरतम कष्टों का सामना करते हुए—मेरुपर्वत की तरह ध्यान में निश्चल रहकर मोक्षपथ में पराक्रम करते थे ॥९२॥

३०६. (स्थान और आसन के सम्बन्ध में) किसी प्रकार की प्रतिज्ञा से मुक्त मतिमान, महामाहन भगवान् महावीर ने इस (पूर्वोक्त) विधि का अनेक बार आचरण किया; उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट विधि का अन्य साधक भी इसी प्रकार आचरण करते हैं ॥९३॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—लाढ़देश में विहार क्यों?—भगवान् ने दीक्षा लेते ही अपने शरीर का व्युत्सर्ग कर दिया था।[1] इसलिए वे व्युत्सर्जन की कसौटी पर अपने शरीर को कसने के लिए लाढ़ देश जैसे दुर्गम और दुश्चर क्षेत्र में गए। आवश्यक चूर्णि में बताया गया है कि भगवान् यह चिन्तन करते हैं कि 'अभी मुझे बहुत से कर्मों की निर्जरा करनी है, इसलिए लाढ़ देश में जाऊँ। वहाँ अनार्य लोग हैं, वहाँ कर्मनिर्जरा के निमित्त अधिक उपलब्ध होंगे।' मन में इस प्रकार का विचार करके भगवान् लाढ़ देश के लिए चल पड़े और एक दिन लाढ़ देश में प्रविष्ट हो गए। इसीलिए यहाँ कहा गया—"अह दुच्चरलाढमचारी....''[2]

लाढ देश कहाँ और दुर्गम-दुश्चर क्यों?—ऐतिहासिक खोजों के आधार पर पता चला है कि वर्तमान में वीरभूम, सिंहभूम एवं मानभूम (धनबाद आदि) जिले तथा पश्चिम बंगाल के तमलूक, मिदनापुर, हुगली तथा बर्दवान जिले का हिस्सा लाढ़देश माना जाता था।

लाढ़ देश, पर्वतों, झाड़ियों और घने जंगलों के कारण बहुत दुर्गम था, उस प्रदेश में घास बहुत होती थी। चारों ओर पर्वतों से घिरा होने के कारण वहाँ सर्दी और गर्मी दोनों

---

१. "तओ णं समणे भगवं महावीरे....एतारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति बारसवासाइं वोसट्ठकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति, तंजहा....अहियासइस्सामि।" —आचा० सूत्र ७६९

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३१०। (ख) आवश्यक चूर्णि पूर्वभाग पृ० २९०।

ही अधिक पड़ती थीं। इसके अतिरिक्त वर्षा ऋतु में पानी अधिक होने से वहाँ दल-दल हो जाती जिससे डांस, मच्छर, जलौका आदि अनेक जीव-जन्तु पैदा हो जाते थे। इनका बहुत ही उपद्रव होता था। लाढ़ देश के वज्रभूमि और सुम्हभूमि नामक जनपदों में नगर बहुत कम थे। गाँव में बस्ती भी बहुत कम होती थी।

वहाँ लोग अनार्य (क्रूर) और असभ्य होते थे। साधुओं—जिसमें भी नग्न साधुओं से परिचित न होने कारण वे साधु को देखते ही उस पर टूट पड़ते थे। कई कुतूहलवश और कुछ लोग जिज्ञासावश एक साथ कई प्रश्न करते थे, परन्तु भगवान् की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलता, तो वे उत्तेजित होकर या शंकाशील होकर उन्हें पीटने लगते। भगवान् को नग्न देखकर कई बार तो वे गाँव में प्रवेश नहीं करने देते थे। अधिकतर सूने घरों, खण्डहरों, खुले छप्परों या पेड़, वन अथवा श्मशान में ही भगवान् को निवास मिलता था, जगह भी ऊबड़-खाबड़, खड्डों और धूल से भरी हुई मिलती, कहीं काष्ठासन, फलक और पट्टे मिलते, पर वे भी धूल, मिट्टी एवं गोबर से सने हुए होते।

लाढ़ देश में तिल नहीं होते थे, गाएँ भी बहुत कम थी, इसलिए वहाँ घी-तेल सुलभ नहीं था, वहाँ के लोग रूखा-सूखा खाते थे, इसलिए वे स्वभाव से भी रूखे थे, बात-बात में उत्तेजित होना, गाली देना या झगड़ा करना, उनका स्वभाव था। भगवान् को भी प्रायः उनसे रूखा-सूखा आहार मिलता था।[1]

वहाँ सिंह आदि वन्य हिंस्र पशुओं या सर्पादि विषैले जन्तुओं का उपद्रव था या नहीं, इसका कोई उल्लेख शास्त्र में नहीं मिलता, लेकिन वहाँ कुत्तों का बहुत अधिक उपद्रव था। वहाँ के कुत्ते बड़े खूँख्वार थे। वहाँ के निवासी या उस प्रदेश में विचरण करने वाले अन्य तीर्थिक भिक्षु कुत्तों से बचाव के लिए लाठी और डण्डा रखते थे, लेकिन भगवान् तो परम अहिंसक थे, उनके पास न लाठी थो, न डण्डा। इसलिए कुत्ते निःशंक होकर उन पर हमला कर देते थे। कई अनार्य लोग छू-छू करके कुत्तों को बुलाते और भगवान को काटने के लिए उकसाते थे।[2]

निष्कर्ष यह है कि कठोर क्षेत्र, कठोर जन समूह, कठोर और रूखा खान-पान, कठोर और रूक्ष-व्यवहार, एवं कठोर एवं ऊबड़-खाबड़ स्थान आदि के कारण लाढ़ देश साधुओं के विचरण के लिए दुष्कर और दुर्गम था। परन्तु परीषहों और उपसर्गों से लोहा लेने वाले महा-योद्धा भगवान महावीर ने तो उसी देश में अपनी साधना की अलख जगाई; इन सब दुष्परि-स्थितियों में भी वे समता का अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

वास्तव में, कर्म क्षय के जिस उद्देश्य से भगवान उस देश में गए थे, उसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—"**नागो संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे।**" जैसे संग्राम के मोर्चे पर खड़ा हाथी भालों आदि से बींधे जाने पर भी पीछे नहीं हटता, वह

---

१. आवश्यक चूर्णि पृ० ३१८।
२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३१०-३११।
　(ख) आयारो (मुनि नथमलजी) पृ० ३४७ के आधार पर।

युद्ध में विजयी बनकर पार पा लेता है, वैसे ही भगवान महावीर परीषह-उपसर्गों की सेना का सामना करने में अड़े रहे और पार पाकर ही पारगामी हुए।[1]

'मंसाणि छिण्ण पुव्वाइं……'—इस पंक्ति का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—एक बार पहले भगवान के शरीर को पकड़कर उनका मांस काट लिया था। परन्तु—चूर्णिकार इसकी व्याख्या यों करते हैं—'दूसरे लोगों ने पहले भगवान के शरीर का मांस (या उनकी मूँछें) काट लिया, किन्तु कई सज्जन (भगवान के प्रशंसक) इसके लिए उन दुष्टों को रोकते-धिक्कारते थे।[2]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

[भगवान महावीर का उग्र तपश्चरण]

अचिकित्सा-अपरिकर्म

३०७. ओमोदरियं[3] चाएति अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे[4] व से अपुट्ठे वा णो से सातिज्जती तेइच्छं ॥९४॥

३०८. संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं सिणाणं च।
संबाहणं न से कप्पे दंतपक्खालणं परिण्णाए[5] ॥९५॥

३०९. विरते य गामधम्मेहिं रीयति माहणे अबहुवादी।
सिसिरंपि एगदा भगवं छायाए[6] झाति आसी य ॥९६॥

३०७ भगवान् रोगों से आक्रान्त न होने पर भी अवमौदर्य (अल्पाहार) तप करते थे। वे रोग से स्पृष्ट हों या अस्पृष्ट, चिकित्सा में रुचि नहीं रखते थे ॥९४॥

३०८ वे शरीर को आत्मा से अन्य जानकर विरेचन, वमन, तैलमर्दन, स्नान और मर्दन (पगचंपी) आदि परिकर्म नहीं करते थे, तथा दन्तप्रक्षालन भी नहीं करते थे ॥९५॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३११।
२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३११,
(ख) आचारांग चूर्णि—मूलपाठ टिप्पण सू० ३०३ का देखें।
३. चूर्णिकार ने 'ओमोयरियं चाएति' पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—"चाएति—अहियासेति।"—अवमौदर्य को सहते थे या अवमौदर्य का अभ्यास था।
४. इस पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"वातातिएहिं रोगेहिं अपुट्ठो वि ओमोदरियं कृतवां।"—अर्थात्—वातादिजन्य रोगों से अस्पृष्ट होते हुए भी भगवान् ऊनोदरी तप करते थे।
५. 'परिण्णाए' का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—"परिण्णाते—जाणितु ण करेति।"
६. चूर्णिकार ने इसके बदले 'छावीए झाति आसीता', पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—"छायाए ण आतवं गच्छति तत्थेव झाति यासित्ति अतिक्कंतकाले।"—भगवान् छाया से धूप में नहीं जाते थे, वहीं ध्यान करते थे, काल व्यतीत हो जाने पर फिर वे जाते थे।

३०९ महामाहन भगवान् शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों से विरत होकर विचरण करते थे। वे बहुत नहीं बोलते थे। कभी-कभी भगवान् शिशिर ऋतु में छाया में स्थित होकर ध्यान करते थे ॥९६॥

विवेचन—ऊनोदरी तप का सहज अभ्यास—भोजन सामने आने पर मन को रोकना बहुत कठिन कार्य है। साधारणतया मनुष्य तभी अल्पाहार करता है, जब वह रोग से घिर जाता है, अन्यथा स्वादिष्ट मनोज्ञ भोजन स्वाद वश वह अधिक ही खाता है। परन्तु भगवान् को वातादिजनित कोई रोग नहीं था, उनका स्वास्थ्य हर दृष्टि से उत्तम व नीरोग था। स्वादिष्ट भोजन भी उन्हें प्राप्त हो सकता था, किन्तु साधना की दृष्टि से किसी प्रकार का स्वाद लिए बिना वे अल्पाहार करते थे।[1]

चिकित्सा से अरुचि—रोग दो प्रकार के होते हैं—वातादि के क्षुब्ध होने से उत्पन्न तथा आगन्तुक। साधारण मनुष्यों की तरह भगवान के शरीर में वातादि से उत्पन्न खांसी, दमा, पेट-दर्द आदि कोई देहज रोग नहीं होते, शस्त्रप्रहारादि से जनित आगन्तुक रोग हो सकते हैं, परन्तु वे दोनों ही प्रकार के रोगों की चिकित्सा के प्रति उदासीन थे। अनार्य देश में कुत्तों के काटने, मनुष्यों के द्वारा पीटने आदि से आगन्तुक रोगों के शमन के लिए भी वे द्रव्यौषधि का उपयोग नहीं करना चाहते थे।[2]

हाँ, असातावेदनीय आदि कर्मों के उदय से निष्पन्न भाव-रोगों की चिकित्सा में उनका दृढ विश्वास था।

शरीर-परिकर्म से विरत—दीक्षा लेते ही भगवान् ने शरीर के व्युत्सर्ग का संकल्प कर लिया था, तदनुसार वे शरीर की सेवा-शुश्रूषा, मंडन, विभूषा, साज-सज्जा, सार-संभाल आदि से मुक्त रहते थे, वे आत्मा के लिए सर्मपित हो गए थे, इसलिए शरीर को एक तरह से विस्मृत करके साधना में लीन रहते थे। यही कारण है कि वमन, विरेचन, मर्दन आदि से वे बिलकुल उदासीन थे, शब्दादि विषयों से भी वे विरक्त रहते थे, मन, वचन, काया की प्रवृत्तियाँ भी वे अति अल्प करते थे।[3]

<u>तप एवं आहारचर्या</u>

३१०. आयावइ[4] य गिम्हाणं अच्छति उक्कुडए अभितावे।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयण-मंथु-कुम्मासेणं ॥९७॥
३११. एताणि तिण्णि पडिसेवे अट्ठ मासे अ जावए भगवं।
अपिइत्थ एगदा भगवं अद्धमासं अदुवा मासं पि ॥९८॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र ३१२। २. आचा० शीला० टीका पत्र ३१२।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३१२-३१३।
४. चूर्णिकार ने इसके बदले—"**आयावयति गिम्हासु उक्कुडुयासणेण अभिमुहवाते**'—उण्हे रुक्खे य वायते।" अर्थात्—ग्रीष्म ऋतु में उकडू आसन से बैठकर भगवान गर्म लू या रूखी जैसी भी हवा होती, उसके अभिमुख होकर आतापना लेते थे।

३१२. अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा अपिवित्था[1]।
राओवरातं अपडिण्णे अण्णगिलायमेगता[2] भुंजे ॥९९॥

३१३. छट्ठेण एगया भुंजे अदुवा अट्ठमेण दसमेण।
दुवालसमेण एगदा भुंजे पेहमाणे[3] समाहिं अपडिण्णे ॥१००॥

३१४. णच्चाण से महावीरे णो वि य पावगं सयमकासी।
अण्णेहिं वि ण कारित्था कीरंतं पि णाणुजाणित्था ॥१०१॥

३१५. गामं[4] पविस्स णगरं वा घासमेसे[5] कडं परट्ठाए।
सुविसुद्धमेसिया[6] भगवं आयतजोगताए सेवित्था ॥१०२॥

३१६. अदु वायसा दिगिंछत्ता[7] जे अण्णे रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठंते सययं[8] णिवतिते य पेहाए ॥१०३॥

३१७. अदु माहणं व समणं वा गामपिंडोलगं च अतिहिं वा।
सोवाग मूसियारिं वा कुक्कुरं वा[9] वि विट्ठितं पुरतो ॥१०४॥

---

१. इसके बदले 'अपिवित्थ', 'पिवत्थ', 'अप्प विहरित्था', 'अपवित्ता', 'अपि विहरित्था' आदि पाठान्तर मिलते हैं। इनका अर्थ क्रमशः यों है—नहीं पिया, पिया, अल्प विहार किया, अल्पाहारी रहे बिना पिये बिहार किया।

२. इसके बदले 'अण्ण (ण्णं) गिलागमे, 'अण्णेगिलाणमे', 'अन्नइलायमे' 'अन्न इलात' 'एगता भुंजे', 'अन्नगिलायं', आदि पाठान्तर मिलते हैं। चूर्णिकार ने "अन्न इलात एगता भुंजे" पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—*'अन्नमेव गिलाणं अन्नगिलाणं दोसीणं'—अर्थात्—जो अन्न ही ग्लान—सत्त्वहीन,* बासी और नीरस हो गया है, उस कई रात्रियों के अन्न को 'अन्नग्लान' कहते हैं। उसी का कभी-कभी भगवान सेवन करते थे। वृत्तिकार ने "अन्नगिलायं' पाठ मानकर अर्थ किया है—पर्युषितम्—वासी अन्न।

३. 'पेहमाणे समाहिं' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—समाधिमिति तव समाधी, णेव्वाणसमाधी, तं पेहमाणे।' समाधि का अर्थ है—तपःसमाधि या निर्वाणसमाधि, उसका पर्यालोचन करते हुए।

४. इसके बदले—चूर्णि में पाठान्तर है—'अएणेहिं ण कारित्था, कीरमाणं पि नाणुमोतित्था', अर्थात्—दूसरों से पाप नहीं कराते थे, पाप करते हुए या करने वाले का अनुमोदन नहीं करते थे।

५. इसके बदले पाठान्तर है—'घासमेसे करं परट्ठाए', 'घासमातं कडं परट्ठाए' (चूर्णि) चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर का अर्थ—'घासमाहारं अद भक्खणे'—अर्थात्—भगवान दूसरों (गृहस्थों) के लिए बनाए हुए आहार का सेवन करते थे।

६. चूर्णि में पाठान्तर है—'सुविसुद्धं एसिया भगवं आयतजोगता गवेसित्था'-भगवान् आहार की सुविशुद्ध एषणा करते ते, तथा आयतयोगता की अन्वेषणा करते थे।

७. 'दिगिछत्ता' का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—'दिगिंछा छुहा ताए अत्ता तिसिया वा।' अर्थात् दिगिंछा क्षुधा का नाम है, उससे आर्त्त—पीड़ित, अथवा तृषित—प्यासे।

८. 'समयं णिवतिते' के बदले पाठान्तर है 'संथरे (डे) णिवतिते' अर्थ चूर्णिकार ने किया है—संथडा = सततं संणिवतिया—निरन्तर बैठे देखकर।

९. इसके बदले 'वा विट्ठितं' पाठान्तर स्वीकार करके चूर्णिकार ने अर्थ किया है—विट्ठितं उपविष्ट-मित्यर्थः। अर्थात्—बैठे हुए।

३१८. वित्तिच्छेदं वज्जेंतो तेसऽप्पत्तियं[1] परिहरंतो।
मंदं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥१०५॥

३१९. अवि सूइयं व सुक्कं वा[2] सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु बक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धए दविए ॥१०६॥

३१० भगवान ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेते थे। वे उकडू आसन से सूर्य के ताप के सामने मुख करके बैठते थे। और वे प्रायः रुखे आहार को दो—कोद्रव व बेर आदि का चूर्ण, तथा उड़द आदि से शरीर-निर्वाह करते थे ॥९७॥

३११ भगवान ने इन तीनों का सेवन करके आठ मास तक जीवन यापन किया। कभी-कभी भगवान् ने अर्ध मास (पक्ष) या मास भर तक पानी नहीं पिया ॥९८॥

३१२ उन्होंने कभी-कभी दो महीने से अधिक तथा छह महीने तक भी पानी नहीं पिया। वे रात भर जागृत रहते, किन्तु मन में नींद लेने का संकल्प नहीं होता। कभी-कभी वे वासी (रस-अविकृत) भोजन भी करते थे ॥९९॥

३१३ वे कभी बेले (दो दिन के उपवास) के अनन्तर, कभी तेले (अट्ठम), कभी चौले (दशम) और कभी पंचौले (द्वादश) के अनन्तर भोजन (पारणा) करते थे। भोजन के प्रति प्रतिज्ञा रहित (आग्रह-मुक्त) होकर वे (तप) समाधि का प्रेक्षण (पर्यालोचन) करते थे ॥१००॥

३१४ वे भगवान महावीर (आहार के दोषों को) जानकर स्वयं पाप (आरम्भ-समारंभ) नहीं करते थे, दूसरों से भी पाप नहीं कराते थे और न पाप करने का अनुमोदन करते थे ॥१०१॥

३१५ भगवान ग्राम या नगर में प्रवेश करके दूसरे (गृहस्थों) के लिए बने हुए भोजन की एषणा करते थे। सुविशुद्ध आहार ग्रहण करके भगवान् आयतयोग (संयत-विधि) से उसका सेवन करते थे ॥१०२॥

३१६-३१७-३१८. भिक्षाटन के समय, रास्ते में क्षुधा से पीड़ित कौओं तथा पानी पीने के लिए आतुर अन्य प्राणियों को लगातार बैठे हुए देखकर अथवा ब्राह्मण, श्रमण, गाँव के भिखारी या अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्ते को आगे मार्ग में बैठा देखकर उनकी आजीविका का विच्छेद न हो, तथा उनके मन में अप्रीति (द्वेष) या अप्रतीति (भय) उत्पन्न न हो, इसे ध्यान में रखकर भगवान धीरे-धीरे चलते थे किसी

---

१ इसके बदले **'तेस्सऽप्पत्तियं' 'तेसि अपत्तियं'** पाठान्तर मिलते हैं।

२ चूर्णिकार इसके बदले **'अवि सूचितं वा सुक्कं वा'**····पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—"सूचितं णाम कुसणितं"—अर्थात्—सूचितं का अर्थ है—दही के साथ भात मिलाकर करबा बनाया हुआ। वृत्तिकार शीलांकाचार्य 'सूइयं' पाठ मानकर अर्थ करते हैं—सूइयं ति दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि।" अर्थात् दही आदि से भात को गीला करके भी····।

को जरा-सा भी त्रास न हो, इसलिए हिंसा न करते हुए आहार की गवेषणा करते थे ।।१०३-१०४-१०५।।

३१९. भोजन व्यंजनसहित हो या व्यंजन रहित सूखा हो, अथवा ठंडा-वासी हो, या पुराना (कई दिनों का पकाया हुआ) उड़द हो, पुराने धान का ओदन हो या पुराना सत्तु हो, या जौ से बना हुआ आहार हो, पर्याप्त एवं अच्छे आहार के मिलने या न मिलने पर इन सब स्थितियों में संयमनिष्ठ भगवान राग-द्वेष नहीं करते थे ।।१०६।।

ध्यान-साधना

३२०. **अवि झाति से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढं[1] अहे य तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ।।१०७।।**

३२१. **अकसायी विगतगेही य सद्द-रूवेसुऽमुच्छिते[2] झाती ।
छउमत्थे[3] विप्परक्कममाणे ण पमायं सइं पि कुव्वित्था ।।१०८।।**

३२२. **सयमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहीए ।
अभिणिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समितासी ।।१०९।।**

३२३. **एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता ।
बहुसो अपडिण्णेणं भगवया एवं रीयंति ।।११०।। त्ति बेमि ।**

।। चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।।

३२०. भगवान महावीर उकड़ू आदि यथोचित आसनों में स्थित और स्थिर-चित्त होकर ध्यान करते थे । वे ऊँचे, नीचे और तिरछे लोक में स्थित जीवादि पदार्थों के द्रव्य-पर्याय-नित्यानित्यत्व को ध्यान का विषय बनाते थे । वे असम्बद्ध बातों के संकल्प से दूर रहकर आत्म-समाधि में ही केन्द्रित रहते थे ।।१०७।।

३२१. भगवान क्रोधादि कषायों को शान्त करके, आसक्ति को त्याग कर, शब्द और रूप के प्रति अमूर्च्छित रहकर ध्यान करते थे । छद्मस्थ (ज्ञानावरणीयादि घातिकर्म चतुष्टययुक्त) अवस्था में सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने एक बार भी प्रमाद नहीं किया ।।१०८।।

---

१ 'उड्ढं अहे य तिरियं च' के आगे चूर्णिकार ने 'लोए झायती (पेहमाणे]' पाठान्तर माना है । अर्थ होता है—ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक्‌लोक का (प्रेक्षण करते हुए) ध्यान करते थे ।

२ इसका अर्थ चूर्णिकार यों करते हैं—"सद्दादिएहिं य अमुच्छितो झाती झायति—अर्थात्—शब्दादि विषयों में अमूर्च्छित-अनासक्त होकर भगवान ध्यान करते थे ।

३ चूर्णिकार इसके बदले 'छउमत्थे विप्परक्कम्मा ण पमायं....' पाठान्तर मान्य करके व्याख्या की है—छउमत्थकाले विहरंतेण भगवता जयंतेण घटंतेणं परक्कंतेणं ण कयाइ पमातो कयतो । अविसद्दा णवरिं एक्कसि एक्कं अंतोमुहुत्तं अट्ठियगामे ।" छद्मस्थकाल में यतनापूर्वक विहार करते हुए या अन्य संयम सम्बन्धी क्रियाओं में कभी प्रमाद नहीं किया था । अपि शब्द से एक दिन एक अन्तमुहुर्त तक अस्थिकग्राम में (निद्रा) प्रमाद किया था ।

३२२. आत्म-शुद्धि के द्वारा भगवान ने स्वयमेव आयतयोग (मन-वचन-काया की संयत प्रवृत्ति) को प्राप्त कर लिया। तथा उनके कषाय उपशान्त हो गये। उन्होंने जीवन पर्यन्त माया से रहित तथा समिति-गुप्ति से युक्त होकर साधना की ॥१०६॥

३२३. किसी प्रतिज्ञा (आग्रहबुद्धि या संकल्प) से रहित ज्ञानी महामाहन भगवान ने अनेक वार इस (पूर्वोक्त) विधि का आचरण किया है, उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट विधि का अन्य साधक भी अपने आत्म-विकास के लिए इसी प्रकार आचरण करते हैं। —ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—भगवान की तप साधना—भगवान की तपःसाधना आहार-पानी पर स्वैच्छिक नियन्त्रण को लेकर बताई गयी है। इस प्रकार की बाह्य तपःसाधना के वर्णन को देखकर कुछ लोग कह बैठते हैं कि भगवान ने शरीर को जान-बूझ कर कष्ट देने के लिए यह सब किया था, परन्तु इस चर्या के साथ-साथ उनकी सतत जागृत, यतना और ध्यान-निमग्नता का वर्णन पढ़ने से यह भ्रम दूर हो जाता है।

भगवान का शरीर धर्मयात्रा में बाधक नहीं था, फिर वे उसे कष्ट देते ही क्यों? भगवान आत्मा में इतने तल्लीन हो गये थे कि शरीर की बाह्य अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न गौण हो गया था। शारीरिक कष्टों की अनुभूति उसे अधिक होती है, जिसकी चेतना का स्तर निम्न हो; भगवान की चेतना का स्तर उच्च था। भगवान की तपःसाधना के साथ जागृति के दो पंख लगे हुए थे—(१) समाधि-प्रेक्षा और (२) अप्रतिज्ञा। अर्थात् वे चाहे जितना कठोर तप करते, लेकिन साथ में अपनी समाधि का सतत प्रेक्षण करते रहते, और वह किसी प्रकार के पूर्वाग्रह या हठाग्रह से प्रेरित संकल्प से युक्त नहीं था।[1]

आयतयोग—का अर्थ वृत्तिकार ने मन-वचन-काया का संयत योग (प्रवृत्ति) किया है। परन्तु आयतयोग को तन्मयतायोग कहना अधिक उपयुक्त होगा। भगवान जिस किसी भी क्रिया को करते, उसमें तन्मय हो जाते थे। यह योग अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना से बचकर केवल वर्तमान में रहने की क्रिया में पूर्णतया तन्मय होने की प्रक्रिया है। वे चलने, खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने-जागने के समय सदैव सतत इस आयतयोग का आश्रय लेते थे। वे चलते समय केवल चलते थे। वे चलते समय न तो इधर-उधर झांकते, न बातें या स्वाध्याय करते, और न ही चिन्तन करते थे। यही बात खाते समय थी, वे केवल खाते थे, न तो स्वाद की ओर ध्यान देते, न चिन्तन, न बात-चीत। वर्तमान क्रिया के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित थे। इसीलिए वे आत्म-विभोर हो जाते थे, जिससे उन्हें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की कोई अनुभूति भी नहीं होती थी। उन्होंने चेतना की समग्र धारा आत्मा की ओर प्रवाहित कर दी थी। उनका मन, बुद्धि, इन्द्रिय-विषय, अध्यवसाय और भावना; ये सब एक ही दिशा में गतिमान हो गए थे।

अपने शरीर-निर्वाह की न तो वे चिन्ता करते थे, न ही वे आहार-प्राप्ति के विषय में

---

१. आचारांग वृत्ति, मूलपाठ, पत्र ३१२ के आधार पर।

किसी प्रकार का ऐसा संकल्प ही करते थे कि "ऐसा सरस स्वादिष्ट आहार मिलेगा, तभी लूँगा, अन्यथा नहीं।" आहार-पानी प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का पाप-दोष होने देना, उन्हें जरा भी अभीष्ट नहीं था। अपने लिए आहार की गवेषणा में जाते समय रास्ते में किसी भी प्राणी के आहार में अन्तराय न लगे, किसी की भी वृत्तिच्छेद न हो, किसी को भी अप्रतीति (भय) या अप्रीति (द्वेष) उत्पन्न न हो, इस बात की वे पूरी सावधानी रखते थे।[1]

'अण्णगिलायं'—शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने पर्युषित-वासी भोजन किया है। भगवती सूत्र की टीका में 'अन्नग्लायक' शब्द की व्याख्या की गई है—जो अन्न के विना ग्लान हो जाता है, वह अन्नग्लायक कहलाता है। क्षुधातुर होने के कारण वह प्रातः होते ही जैसा भी, जो कुछ बासी, ठंडा भोजन मिलता है, उसे खा लेता है।[2] यद्यपि भगवान क्षुधातुर स्थिति में नहीं होते थे, किन्तु ध्यान आदि में विघ्न न आये तथा समभाव साधना की दृष्टि से समय पर जैसा भी बासी-ठण्डा भोजन मिल जाता, बिना स्वाद लिए उसका सेवन कर लेते थे।

'सूइयं' आदि शब्दों का अर्थ—'सूइयं' के दो अर्थ है—दही आदि से गीले किए हुए भात अथवा दही के साथ भात मिलाकर करबा बनाया हुआ। **सुक्कं**=सूखा, **सीयं पिंडं**=ठण्डा भोजन, **पुराण कुम्मासं**=बहुत दिनों से सिजोया हुआ उड़द, **बुक्कसं**=पुराने धान का चावल, पुराना सत्तुपिण्ड, अथवा बहुत दिनों का पड़ा हुआ गोरस, या गेहुँ का मांडा, **पुलागं**=जौ का दलिया।

ऐसा रुखा-सूखा जैसा भी भोजन प्राप्त होता, वह पर्याप्त और अच्छा न मिलता तो भी भगवान राग-द्वेष रहित होकर उसका सेवन करते थे, यदि वह निर्दोष होता।[3]

भगवान की ध्यान-परायणता—भगवान शरीर की आवश्यकताएं होती तो उन्हें सहजभाव से पूर्ण कर लेते और शीघ्र ही ध्यान-साधना में संलग्न हो जाते। वे गोदुह, वीरासन, उत्कट आदि आसनों में स्थित होकर मुख को टेढ़ा या भींचकर विकृत किए बिना ध्यान करते थे। उनके ध्यान के आलम्बन मुख्यतया ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में स्थित जीव-अजीव आदि पदार्थ होते थे।[4] इस पंक्ति की मुख्यतया पाँच व्याख्याएं फलित होती हैं—

(१) ऊर्ध्वलोक=आकाश दर्शन, अधोलोक=भूगर्भदर्शन और मध्यलोक=तिर्यग्भित्ति दर्शन। इन तीनों लोकों में विद्यमान तत्त्वों का भगवान ध्यान करते थे। लोक चिन्तन क्रमशः चिन्तन-उत्साह, चिन्तन-पराक्रम और चिन्तन-चेष्टा का आलम्बन होता है।

---

१. आचारांग वृत्ति मूलपाठ पत्रांक ३१३ के आधार पर।
२. (क) भगवती सूत्र वृत्ति पत्र ७०५। (ख) आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण सूत्र ३१२।
३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३१३। (ख) आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण सूत्र ३१९।
४. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३१५। (ख) आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण सूत्र ३२०।
देखिए आवश्यक चूर्णि पृ० ३२४ में त्रिलोकध्यान का स्वरूप—'उड्ढं अहेयं तिरियं च, सव्वलोए झायति समितं। उड्ढ लोए जे अहेवि तिरिए वि, जेहिंवा कम्मादाणेहिं उडढ गंमति, एवं अहे तिरियं च। अहे संसार संसारहेउं च कम्मविवागं च ज्झायति, तं मोक्ख मोक्खहेउं मोक्खसुहं च ज्झायति, पेच्चमाणो आयसमाहिं परसमाहिं च अहवा नाणादि समाहिं।'

(२) दीर्घदर्शी साधक ऊर्ध्वगति, अधोगति, और तिर्यग् (मध्य) गति के हेतु बनने वाले भावों को तीनों लोकों के दर्शन से जान लेता है।

(३) आँखों को अनिमेष विस्फारित करके ऊर्ध्व, अधो और मध्यलोक के बिन्दु पर स्थिर (त्राटक) करने से तीनों लोकों को जाना जा सकता है।

(४) लोक का ऊर्ध्व, अधो और मध्यभाग विषय-वासना में आसक्त होकर शोक से पीड़ित है,' इस प्रकार दीर्घदर्शी त्रिलोक-दर्शन करता है।

(५) लोक का एक अर्थ है—भोग्य वस्तु या विषय। शरीर भोग्यवस्तु है, उसके तीन भाग करके त्रिलोक-दर्शन करने से चित्त कामवासना से मुक्त होता है। नाभि से नीचे—अधोभाग, नाभि से ऊपर-ऊर्ध्वभाग और नाभिस्थान तिर्यग्भाग।[1]

भगवान अकषायी, अनासक्त, शब्द और रूप आदि में अमूच्छित एवं आत्मसमाधि (तप:समाधि या निर्वाणसमाधि) में स्थित होकर ध्यान करते थे। वे ध्यान के लिए समय, स्थान या वातावरण का आग्रह नहीं रखते थे।

ण पमायं सइ वि कुव्वित्था—छद्मस्थ अवस्था तब तक कहलाती है, जब तक ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्म सर्वथा क्षीण न हों। प्रमाद के पाँच भेद मुख्य हैं—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। इस पंक्ति का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—भगवान ने कषायादि प्रमादों का सेवन नहीं किया। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—भगवान ने छद्मस्थ दशा में अस्थिक ग्राम में एक बार अन्तर्मुहूर्त्त को छोड़कर निद्रा प्रमाद का सेवन नहीं किया। इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि भगवान अपनी साधना में सर्वत्र प्रतिपल अप्रमत्त रहते थे।[2]

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ ओहाणसुयं समत्तं । नवममध्ययनं समाप्तम ॥

॥ आचारांग सूत्र—प्रथम श्रुतस्कंध समाप्त ॥

---

१. आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० ११३ के आधार पर।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३१५।

(ख) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण सू० ३२१।

परिशिष्ट

- 'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना
- विशिष्ट शब्द सूची
- गाथाओं की अनुक्रमणिका
- विवेचन में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ

'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना

प्राचीनकाल में आगम तथा श्रुत ज्ञान प्रायः कण्ठस्थ रखा जाता था । स्मृति-दौर्बल्य के कारण आगम ज्ञान लुप्त होता देखकर वीरनिर्वाण संवत ९०० के लगभग आगम लिखने की परिपाटी प्रारम्भ हुई ।

लिपि-सुगमता की दृष्टि से सूत्रों में आये वहुत-से समान पद जो बार-बार आते थे, उन्हें संकेत द्वारा संक्षिप्त कर दिया गया था । इससे पाठ लिखने में वहुत-सी पुनरावृत्तियों से वचा जाता था ।

इस प्रकार के संक्षिप्त संकेत आगमों में प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं ।

१: **वण्णओ**—(वर्णक; अमुक के अनुसार इसका वर्णन समझें) भगवती, ज्ञाता, उपासक दशा आदि अंग व उपांग आदि आगमों में इस संकेत का काफी प्रयोग हुआ है । उववाई सूत्र में वहुत-से वर्णनक हैं, जिनका संकेत अन्य सूत्रों में मिलता है ।

२. **जाव**—(यावत्) एक पद से दूसरे पद के बीच के दो, तीन, चार आदि अनेक पद बार-बार न दुहराकर 'जाव' शब्द द्वारा सूचित करने की परिपाटी आचारांग आदि सूत्रों में मिलती है । जैसे—सूत्र २२४ में पूर्ण पाठ है—

'अप्पंडे अप्पपाणे, अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे, अप्पोदए, अप्पुत्तिग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडा-संताणए'

आगे जहाँ इसी भाव को स्पष्ट करना है वहाँ सूत्र २२८ तथा ४१२, ४५५, ५७० आदि में **'अप्पंडे जाव'** के द्वारा संक्षिप्त कर संकेत मात्र कर दिया गया है । इसी प्रकार **'जाव'** पद से अन्यत्र भी समझना चाहिए । हमने प्रायः टिप्पण में **'जाव'** पद से अभीष्ट सूत्र की संख्या सूचित करने का ध्यान रखा है ।

☆ कहीं विस्तृत पाठ का बोध भी 'जाव' से किया गया है । जैसे सूत्र २१७ में 'अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा जाव' यहाँ पर सूत्र २१४ के 'अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोत-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे गामंतरेसु, ओमचेलिए ।' इस समग्र पाठ का 'जाव' पद द्वारा बोध कराया है । इस प्रकार अनेक स्थानों पर स्वयं समझ लेना चाहिए ।

☆ **जाव**—कहीं पर भिन्न पदों का व कहीं विभिन्न क्रियाओं का सूचक है, जैसे सूत्र २०५ में **'परक्कमेज्ज जाव'** सूत्र २०४ के अनुसार **'परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्जा वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा'** चार क्रियाओं का बोधक है ।

३. **अंक-संकेत**—संक्षिप्तीकरण की यह भी एक शैली है । जहाँ दो, तीन, चार या अधिक समान पदों का बोध कराना हो, वहाँ अंक २, ३, ४ ,६ आदि अंकों द्वारा संकेत किया गया है । जैसे—

(क) सूत्र ३२४ में—**से भिक्खू वा भिक्खूणी वा**

(ख) सूत्र १९९—असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा आदि।

'से भिक्खूवा २' संक्षिप्त कर दिया गया है।

इसी प्रकार 'असणं वा ४, जाव' या 'असणेण वा ४' संक्षिप्त करके आगे के सूत्रों में संकेत मात्र किये गये हैं।

(ख) **पुनरावृत्ति**—कहीं-कहीं '२' का चिन्ह द्विरुक्ति का सूचक भी हुआ है—जैसे सूत्र ३६० में **पगिज्झिय** २ **'उद्दिसिय'** २। इसका संकेत है—**पगिज्झिय पगिज्झिय, उद्दिसिय उद्दिसिय।** अन्यत्र भी यथोचित समझें।

☆ क्रिया पद के आगे '२' का चिन्ह कहीं क्रिया काल के परिवर्तन का भी सूचन करता है, जैसे सूत्र ३५७ में—'**एगंतमवक्कमेज्जा** २' यहाँ '**एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता**' पूर्वकालिक क्रिया का सूचक है। इसी प्रकार अन्यत्र भी।

क्रियापद के आगे '३' का चिन्ह तीनों काल के क्रियापद के पाठ का सूचन करता है, जैसे सूत्र ३६२ में '**रुंचिसु वा**' ३ यह संकेत-**रुंचिसु वा रुचंति वा रुंचिस्संति वा**' इस—त्रैकालिक क्रियापद का सूचक है, ऐसा अन्यत्र भी है।

मूल पाठ में ध्यान पूर्वक ये संकेत रखे गए हैं, फिर भी विज्ञ पाठक स्व-विवेकबुद्धि से यथा योग्य शुद्ध अन्वेषण करके पढ़ेंगे—विनम्र निवेदन है। **—सम्पादक**]

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
२२८	अप्पंडे जाव	२२४
२२७	असणेण वा ४	१९९
२०७, २०८, २१८, २२३, २२७	असणं वा ४	१९९
२२१, २२७	आगममाणे जाव	१८७
२२८	गामं वा जाव	२२४
२२१	धारेज्जा जाव	२१४
२०५	परक्कमेज्ज वा जाव	२०४
२०५	पाणाइं ४	२०४
२१७	वत्थाइं जाएज्जा जाव	२१४
२०५, २०७, २०८	वत्थं वा ४	१९९
२०५	समारंभ जाव	२०४

□

विशिष्ट शब्द-सूची

[यहाँ विशिष्ट शब्द-सूची में प्रायः वे संज्ञाएं तथा विशेष शब्द लिए गए हैं जिनके आधार पर पाठक सरलतापूर्वक मूल विषय की आधारभूत अन्वेषणा कर सके। इस सूची में क्रिया-पदों को प्रायः छोड़ दिया गया है। —सम्पादक]

□□

परिशिष्ट : ३

आचाराङ्गसूत्रान्तर्गत गाथाओं की अकारादि सूची

□□

सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

आगम ग्रन्थ

आयारंग सुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई० १९७७)

सम्पादक : मुनि श्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र

टीकाकार : श्री शीलांकाचार्य
प्रकाशक : आगमोदय समिति

आयारो

सम्पादक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) (प्रकाशन वर्ष वि० २०३१)

आयारो तह आयारचूला

सम्पादक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च' (निर्युक्ति टीका सहित) (श्री भद्रबाहु स्वामि विरचित निर्युक्ति —श्री शीलांकाचार्य विरचित टीका)

सम्पादक-संशोधक : मुनि जम्बूविजय जी
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलौजिक ट्रस्ट,
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

आचारांग सूत्र

सम्पादक : आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज
प्रकाशक : आचार्य श्री आत्माराम जी जैन प्रकाशन समिति, लुधियान (पंजाब)

आचारांग सूत्र

अनुवादक : मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज
सम्पादक : पं० श्री बसन्तीलाल नलवाया
प्रकाशक : जैन साहित्य समिति, नयापुरा उज्जैन (म० प्र०)

आचारांग : एक अनुशीलनः

लेखक : मुनि समदर्शी
प्रकाशक : आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैनस्थानक
लुधियाना (पंजाब)

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक : आचार्य श्री तुलसी।
प्रकाशक , जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

अर्थागम (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा पं० श्री फूलचन्द जी महाराज 'पुप्फभिक्खू'
प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट, एस० एस० जैन बाजार, गुड़गाव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन; सांडेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र

सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक : वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)

सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्त

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र

सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)

सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)

सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

मूल सुत्ताणि

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल बी० शेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र

व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक : अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्मज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

स्थानांग सूत्र

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

व्याख्या ग्रन्थ

आचारांग चूर्णि (आचारांग सूत्र में टिप्पण में उद्धृत)
कर्ता : श्री जिनदासगणी महत्तर
सम्पादक : मुनि श्री जम्बूविजय जी

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : पं० सुखलाल जी
प्रकाशक : भारत जैन महामंडल, बम्बई

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम्
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

निशीथ चूर्णि (सभाष्य)
सम्पादक : उपाध्याय श्री अमर मुनि
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : *आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि*
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५।४७ कनॉटप्लेस नयी दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक : पं० हरगोविंददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

तीर्थंकर महावीर
लेखकगण : श्री मधुकर मुनि, श्री रतन मुनि, श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, आदि

जैन साहित्य का बृहद इतिहास (भाग १)
लेखक : पं० बेचरदास दोशी, न्यायतीर्थ
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

चार तीर्थंकर
लेखक : पं० सुखलालजी
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

भगवद्गीता
प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

ईशावास्योपनिषद्
कौशीतकी उपनिषद्
छान्दोग्य उपनिषद्
प्रकाशक : गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

विसुद्धिमग्गो
प्रकाशक : भारतीय विद्याभवन, मुंबई

समयसार
नियमसार
प्रवचनसार
सम्पादक : आचार्य श्री कुन्दकुन्द

□□